ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ११

प आशाधर कृत

जिनसहस्रनाम

सम्पादन-अनुवाद

प हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री
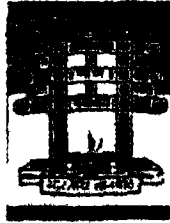
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रथम संस्करण : मूल्य दस रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी कन्नड़ तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक दार्शनिक पौराणिक साहित्यिक ऐतिहासिक आदि विविध विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी
सूचियाँ शिलालेख-संग्रह विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन
ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी
इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ हीरालाल जैन एम ए डी लिट
डॉ आ ने उपाध्ये, एम ए डी लिट

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय बी/४५-४ कनॉट प्लेस नयी दिल्ली
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी
मुद्रक सन्मति मुद्रणालय दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९ वीर नि २४७० विक्रम सं २००० १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्वर्गीय मूर्तिदेवी मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

समर्पण

स्व श्रद्धेय विद्वद्वर्य पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थ

की

पवित्र

स्मृतिमें

सविनय

समर्पित

जिनके चरणोंके समीप बैठकर दो अक्षरोंका ज्ञान
प्राप्त किया और जिन्होंने सदा उन्नत एवं
विशुद्ध भावनाओंसे प्रोत्साहन देकर
ज्ञान प्राप्तिके मार्ग पर
अग्रसर किया

श्रद्धावनत—
हीरालाल

विषयानुक्रमणिका

प्राथमिक वक्तव्य

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाकी संस्कृत शाखाके अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथको पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। यह बड़े सन्तोषकी बात है कि यह ग्रन्थमाला अविरत रूपसे अपने कर्तव्य पालनमें उन्नति कर रही है। इसका परम श्रेय है ज्ञानपीठके संस्थापक धर्मरुचि श्रीमान् सेठ शान्तिप्रसादजी और उनकी साहित्य प्रिय पत्नी श्रीमती रमारानीजीको, जो ज्ञानपीठके सचालन और विशेषतः धार्मिक साहित्यके प्रकाशनमें अत्यन्त उदार रहते हैं। प्रकाशन कार्यको गतिशील बनाये रखनेमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय तथा संस्थाके अन्य कार्य कर्ताओंकी तत्परता और अध्यवसाय भी प्रशंसनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक विशेषता रखता है और वह यह है कि इसका विषय कोई कथानक दार्शनिक विवेचन व आचारादि सम्बन्धी उपदेश न होकर जिनभगवान्‌की सहस्रनामात्मक स्तुति है। एक सहस्र नामोंके उल्लेख द्वारा भगवान्‌की वन्दना करनेकी परम्परा प्राचीन कालसे हिन्दू तथा जैनधर्ममें समान रूपसे प्रचलित रही है। न केवल इतना ही किन्तु सबसे बड़ी ध्यान देने योग्य बात यह है कि परमात्माके नाम निर्देशमें वैदिक बौद्ध और जैनधर्मोंके परस्पर भेद सब विलुप्त होकर उनके बीच एकीकरणकी भावना पाई जाती है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत आशाधर कृत जिनसहस्रनाममें ब्रह्मशतम् और बुद्धशतम नामक परिच्छेदोंको देखिये जहा जिन भगवान्‌के ब्रह्मा चतुर्मुख विधाता कमलासन प्रजापति हिरण्यगर्भ आदि स्पष्टत वैदिक परम्पराके ईश्वराभिधानों तथा बुद्ध दशबल शाक्य सुगत, मारजित् बोधिसत्व आदि बौद्धधर्मके सुविख्यात बुद्धनामोंका भी संग्रह किया गया है। यह कोई चोरी या अज्ञात अनुकरणकी बात नहीं है क्योंकि कवि स्पष्टत जान बूझकर और सोच समझ कर इन अन्य धर्म विख्यात नामोंको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा करनेमें उनका अभिप्राय निस्सन्देह यही है कि भक्त जन भगवान्‌के विषयमें ऐक्यकी भावनाका अनुभव करें। हिन्दू जिन्हें ब्रह्मा और विधाता कहते हैं एवं बौद्ध बुद्ध व शाक्य आदि कहते हैं उन्हीं परमेष्ठीको जैन जिन व अरहन्त कहते हैं। हाँ ईश्वरके सम्बन्धमें जैनियोंकी दार्शनिक मान्यता अन्य धर्मोंसे भिन्न है। अतएव उस विषयमें भ्रान्ति उत्पन्न न हो इसीलिए संभवत कविने स्वयं अपनी रचनाकी टीका लिखना भी आवश्यक समझा जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिभाके बलसे उक्त नामोंकी व्युत्पत्ति अपने धर्मकी मान्यतानुसार बिठलाकर बतला दी है। यही तो भारतीय संस्कृतिकी और विशेषत जैन अनेकान्तकी वह दिव्य सर्वतोमुखी दृष्टि है जो भेदमें अभेद और अभेदमें भेदकी स्थापना कर इतर जनोंके मनमें एक उलझन व विस्मय उत्पन्न कर देती है। यही हमारे प्राचीन ऋषियोंकी वह प्रेरणा है जो आज भी हमसे गान करा रही है—

बुद्ध, वीर, जिन, हरि हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥

अथवा

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम।
सबको सन्मति दे भगवान्॥

आजकलके सम्प्रदायवादी, प्राचीन आचार्योंकी इस उदार और उदात्त भूमिकाको समझें और अपनावें, इसीमें स्वहित और लोककल्याण है।

इस ग्रंथके सम्पादनमें पं हीरालालजी शास्त्रीने जो परिश्रम किया है वह ग्रन्थावलोकनसे पाठकोंको स्पष्ट हो जायगा। अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने ग्रन्थके विषय और ग्रन्थकार सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातोंपर पर्याप्त प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। टीकाके संशोधनमें खूब सावधानी रखी गई है और अनुवाद भी मार्मिक ढंगसे किया गया है जिससे शब्द-व्युत्पत्ति जैसी शुष्क चर्चा भी सरस और रोचक हो उठी है और उसके द्वारा अनेक जैन मान्यताओंका स्पष्टीकरण भी हो गया है। शब्दानुक्रमणीके द्वारा यह ग्रन्थ एक कोश विशेषका भी काम दे सकेगा। इस परिश्रमके लिए हम सब पंडितजीके कृतज्ञ हैं।

हमें आशा और भरोसा है कि ग्रन्थमालाके अन्य प्रकाशनोंके समान इस ग्रन्थका भी समुचित सम्मान और उपयोग होगा।

हीरालाल जैन
आदिनाथ उपाध्ये
[ग्रन्थमाला सम्पादक]

प्रकाशन व्यय

८६६।=)	कागज २२ × २९=२८ पौंड ४ रीम १ दिस्ता	५५८)	सम्पादन पारिश्रमिक
७६८)	छपाई ३) प्रति पृष्ठ	१५)	कार्यालय व्यवस्था प्रूफ संशोधनादि
५५)	जिल्द बधाई	२२५)	भेंट आलोचना ७५ प्रति
४)	कवर कागज	७५)	पोस्टेज ग्रंथ भेंट भेजनेका
२)	कवर डिजाइन तथा ब्लाक	१७)	विज्ञापन
४)	कवर छपाई	९२५)	कमीशन २५ प्रतिशत

कुल लागत ४४९६।=)

१००० प्रति छपी। लागत एक प्रति ४॥)

मूल्य ४ रुपये

सम्पादकीय

आजसे ठीक ४५ वर्ष पूर्व जब मैं स्व अद्धेय प घनश्यामदासजी न्यायतीर्थ (महरौनी) के चरण सान्निध्यमें बैठकर अपनी जन्मभूमिस्थ पाठशालामें अध्ययन कर रहा था, तब श्रुतपंचमीके दिन पंडितजीने हम लोगोंके साथ स्थानीय मन्दिरके शास्त्र भंडारकी छान बीन की और एक रद्दी पत्रोंके बस्तेको संभालते हुए वे सहसा आनन्दोल्लासके साथ विस्मय और दु ख प्रकट करते हुए बोल उठे कि देखो, कितना सुन्दर अपूर्व ग्रन्थ यह रद्दीके बस्तेमें बंधा हुआ है। उन्होंने तभी एक पृथक वेष्टनमें उस प्रतिको बांधा उस पर अपने हाथसे सहस्रनामसटीक' लिखा और हम लोगोंको बताया कि यह पंडित आशाधरजीके सहस्रनामकी सुन्दर टीका है। उनके हाथसे नाम लिखे वेष्टनमें यह प्रति आज भी सुरक्षित है।

पंडितजीकी उक्त बात मेरे हृदयमें अंकित हो गई और अध्ययन-समाप्तिके बाद जबसे मैं ग्रन्थोंके सम्पादनादि कार्यमें लगा तभीसे सोच रहा था कि कब पं आशाधरजीके सटीक सहस्रनामका सम्पादन करू। मैं इस टीकाको प आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्ति ही समझ रहा था ? किन्तु एक बार जब सुप्रसिद्ध साहित्यज्ञ प नाथूरामजी प्रेमीके साथ बम्बईमे आशाधरजीके सहस्रनामकी बात चल रही थी तो मैंने कहा कि उनकी लिखी टीका मेरे गावके शास्त्र भंडारमें है। श्री प्रेमीजी बोले, वह स्वोपज्ञवृत्ति न होकर श्रुत सागरी टीका होगी जाकर देखना। जब मैं देश आया और उसे देखा तो प्रेमीजीका कहना यथार्थ निकला। तभीसे मैं आशाधरजीकी लिखी सहस्रनाम टीकाकी खोजमें रहने लगा। दो वर्ष पूर्व जब मै वसुनन्दिश्रावका चारके सम्पादनमे व्यस्त था और उसकी प्राचीन प्रतिकी खोजमें ललितपुरके बड़े मन्दिरजीके शास्त्र भंडारके शास्त्रोंके वेष्टन खोल खोलकर उनकी छान बीन कर रहा था तब अकस्मात् मुझे पंडितजीके सहस्रनामकी वह स्वोपज्ञवृत्ति प्राप्त हुइ जो कि आज तक अन्यत्र अप्राप्य थी और जिसे श्री प्रेमीजी आजसे लगभग ४५ वर्ष पूर्वसे खोजनेका प्रयत्न कर रहे थे। मैं हर्षसे फूला न समाया अधिकारियोंसे आज्ञा लेकर घर ले आया और उसकी प्रतिलिपि कर उसके सम्पादनका समुचित अवसर देखने लगा।

हर्ष है कि इन दो वर्षोंमें अनेक आपत्तियोंके आने पर भी मैं श्री जिनेन्द्रके स्तवन-स्वरूप इस पवित्र ग्रथको उ हींके प्रसादसे सम्पादित कर सका।

प्रस्तुत ग्र थका सम्पादन अ आ द और स प्रतियाके आधारसे किया गया है। प्रयत्न करने पर भी अन्य भडाराकी प्रतियोंको मै प्राप्त नहीं कर सका। फिर भी अधिक चिन्ताकी कोई बात इसलिए नहीं है कि अ और स ये दोनों ही प्रतिया अत्यन्त शुद्ध थी और उनको ही आदर्श मानकर उक्त दोनों टीकाओंकी प्रेस कापी तैयार की गई है।

प्रस्तुत संस्करणमें सबसे ऊपर मूल श्लोक उसके नीचे स्वोपज्ञवृत्ति और उसके बाद हिन्दीमें मूल श्लोकका अर्थ शब्दश देकर उसके नीचे दोनों टीकाओंके आश्रयसे लिखी व्याख्या दी गई है और यह प्रयत्न किया है कि मूल नामके अर्थको व्यक्त करनेवाला दोनों टीकाओंका अभिप्राय उसमें व्यक्त कर दिया जाय।

प्रस्तावनामें यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि सहस्रनामोंकी प्रथा कबसे वा कैसे चली। प्रस्तुत संस्करणमें प आशाधरजीके सहस्रनामके अतिरिक्त आ जिनसेन आ हेमचन्द्र और भट्टारक सकलकीर्तिके जिनसहस्रनामोंका भी संकलन किया है। पाठकगण इन चार सहस्रनामोंके पाठ करनेके अनन्तर यह जान सकेंगे कि साहित्यके भीतर परस्परमें कितना आदान प्रदान होता रहा है।

प्रस्तावनामें आशाधर सहस्रनामकी विशेषताको व्यक्त करनेका प्रयास किया गया है, उसमें मैं कितना सफल हो सका हूं, यह पाठकोंको उसका अध्ययन करने पर ज्ञात हो सकेगा। प्रारंभमें श्रुतसागरी टीकागत कुछ ज्ञातव्य विशेषताओंका भी उल्लेख किया गया है। परिशिष्टमें मूल श्लोकोंकी, सहस्र नामोंकी, टीकामें

उद्धृत व्याकरण सूत्रोंकी और पद्योंकी अकाराद्यनुक्रमणिका दी गई है। टीकामें उदधृत पद्य किस ग्रन्थके हैं यह जहांतक मेरसे बन सका कोष्ठक (   ) में निर्देश कर दिया है और अज्ञात स्थलोंके आगे कोष्ठकको रिक्त छोड़ दिया गया है। पाठक गण उन्हें अपने श्रुताध्ययनके साथ स्थल परिज्ञात होने पर पूरा कर सकते हैं।

मैंने श्रीमान् पं नाथूरामजी प्रमीके द्वारा लिखे गये पं आशाधर और श्रुतसागरसूरि सम्बन्धी दोनों लेखोंका उनकी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकसे लेकर अपनी प्रस्तावनामें भर पूर उपयोग किया है अत मैं उनका अत्यन्त आभारी हू।

प आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्ति और श्रुतसागरी टीका ये दोनों ही विद्यार्थियोंके संस्कृत ज्ञानके लिए बहुत ही उपयोगी हैं। प्रत्येक नामकी निरुक्तिसे उन्हें संस्कृतका परिष्कृत ज्ञान हो सकेगा। जैन परीक्षालयोंको चाहिए कि वे इसे विशारद परीक्षाके पठनक्रममें पाठ्य पुस्तकके रूपमें स्वीकार करे। इसके प्रारम्भिक तीन शतक विशारद प्रथम खंडमें मध्यवर्त्ती तीन शतक विशारद द्वितीय खंडमे और अन्तिम चार शतक विशारद तृतीय खंडमें पढानेके योग्य हैं। इनसे छात्रोंका व्युत्पत्ति ज्ञान तो बढ़ेगा ही साथ ही व जैन सिद्धान्तके उन अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंसे भी परिचित हो सकेंगे जिनका कि परिज्ञान उन्हें अनेकों शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी नहीं हो सकता है। मैं तो अपने जैन विद्वानोंसे आग्रह करूगा कि वे ऐसे व्याकरण धर्म और न्याय विषयक व्युत्पत्ति करानेवाले ग्रन्थोंको राजकीय संस्कृत महाविद्यालय बनारस और हिन्दू विश्वविद्यालय काशीकी मध्यमा परीक्षाके पाठ्यक्रममें स्वीकार करानेका प्रयत्न करे।

प्रस्तुत ग्रन्थके सुन्दर सम्पादनके लिए मैंने यथाशक्ति समुचित प्रयत्न किया है फिर भी पाठकगण रह गई त्रुटियोंसे मुझे अवगत करावेंगे जिससे उनका आगामी संस्करणमे यथास्थान संशोधन किया जा सके।

दर्याव निवास
साढमल पो मड़ावरा (झासी)
१५।१२।५३

विनम्र—
हीरालाल

आदर्श प्रतियोंका परिचय

अ प्रति—आशाधर सहस्रनामकी स्वोपज्ञवृत्ति सहित यह प्रति ललितपुरके श्री बड़े मन्दिरजीके भंडारकी है। इसका आकार १ ु ६ इंच है। पत्र संख्या ५४ है। प्रति पत्र पंक्ति संख्या ११ और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३१-३३ है। वि स १६५४ के श्रावण शुक्ला १ की लिखी हुई है। किसी प्राचीन प्रति परसे इसकी प्रतिलिपि की गइ है। वह संभवत अतिजीर्ण शीर्ण रही होगी अतएव जहा पर पत्र टूट जानेसे वह पढी नहीं जा सकी वहा लेखकने इस प्रकार बिन्दुओंको रखकर स्थान छोड़ दिया है। मध्यमें संभवत उस प्राचीन प्रतिके २ ३ पत्र भी गायब रहे हैं, जिससे इस प्रतिमे मूल सहस्र नामके श्लोकाङ्क ६३ से ६८ तककी टीका नहीं लिखी हुई है। प्रस्तुत प्रतिके मध्यमें श्लोकाङ्क १ ३ की टीकाके अनन्तर लिखा है—

मुनिश्रीविनयचन्द्रेण कर्मक्षयाय लिखितम्' । तथा अन्तिम पुष्पिकामें लिखा है— इत्याशाधर सूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम्। मुनिश्रीविनयचन्द्रेण लिखितम्॥ × × × पचाचारादि व्रततपोद्यापनयमनियमेत्यादिसमस्तपापदोष प्रायश्चित्तनि समस्तकर्मक्षयविनाशननि शुद्धचिद्रूप प्राप्तिनिमित्तवेषधरेण मनिविनयचन्द्रेण भावना भाविता'॥

इस प्रकार तीन बार मुनिविनयचन्द्रका नामोल्लेख होनेसे विदित होता है कि ये वही विनयचन्द्र मुनि हैं जिनका उल्लख स्वयं पंडितजीने भ यचकोरचन्द्र कह कर किया और जिनकी प्रेरणासे इष्टो पदेशकी टीका लिखी है। यदि यह सत्य है तो नि सन्देह वह प्रति अति प्राचीन और प्रामाणिक रही होगी। ललितपुरके शास्त्र भडारक जीर्ण शीर्ण पत्रोंका कई बार अनुसन्धान करने पर भी उस प्राचीन प्रतिके पत्रोंका कुछ भी पता नहीं लग सका। अभी तक आशाधरजीकी स्वोपज्ञ टीकाकी यही एक मात्र प्रति उपल ध हुई है जो कि अभीकी लिखी होने पर भी बहुत शुद्ध है। इसीके आधार पर स्वोपज्ञवृत्तिकी प्रेसकापी तैयारकी गई है।

ज प्रति—यह जयपुरके तेरा पंथी बड़ मन्दिरकी प्रति है। इसका आकार ११ × ६ इंच है। पत्र संख्या ११७ है। प्रति पत्र पंक्ति-संख्या १३ है और प्रति पंक्ति-अक्षर-संख्या ४ -४२ है। प्रति लेखन काल १८५८ है। इस प्रतिमे प्रारंभसे ६ठें अध्याय तक सहस्रनामके मूल श्लोक नहीं है किन्तु ७वें अध्यायसे टीकाके साथ मूल श्लोक भी लिखे गये हैं। इसमें प्राय 'ब' के स्थान पर 'व लिखा गया है। प्रति प्रायः अशुद्ध है। कई स्थलोंपर दो दो पंक्तिया छूट गई हैं फिर भी इससे अनेक स्थलों पर पाठ सशोधनमें सहा यता मिली है। प्रति हमे श्रीमान् प कस्तूरचद्रजी शास्त्री एम ए जयपुरकी कृपासे प्राप्त हुइ। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

द प्रति—यह देहलीके पचायती मन्दिर (खजूर मसजिद) की है। इसका आकार ५॥ × १ ॥। इंच है। पत्र संख्या २१३ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ११ और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या २५-२६ है। कागज मोटा बदामी रंगका है। इसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है —

सं० १८११ वर्षे भाद्रपदमासे कृष्णपक्ष ६ चन्द्रवासरे लिखितं मिश्र हरिश्चन्द्रस्य इदं पुस्तकं। लिखा इतं सिंघई लालमनि तत्पुत्र लाला भगवानदासस्य पंडितदयारामस्य पठनार्थ दत्त। सिरोंजमध्ये चन्द्रप्रभु चैत्यालये जिनसहस्रनामटीका संपून ॥ श्री ॥

स प्रति—यह मेरी जन्मभूमि साढूमल (झांसी) के जैनमन्दिरकी श्रुतसागरी टीकाकी प्रति है जो अत्यन्त शुद्ध और प्राचीन है। इसका उद्धार आजसे ३५ वर्ष पूर्व स्व० पं घनश्यामदासजीने रद्दी पत्रोंके साथ बंधे बस्तेमेंसे किया था। इसका अन्तिम पत्र न होनेसे प्रति लिखनेका समय तो ज्ञात नहीं हो सका, पर

आकार प्रकार कागज, स्याही आदिको देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह कमसे कम ३०० वर्ष पुरानी तो अवश्य है। इसका आकार ५×११ इंच है। पत्र सख्या १४६ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ११ और प्रतिपंक्ति अक्षर संख्या ३८-४० है। प्रति अत्यन्त शुद्ध है। सहस्रनामका प्रत्येक नाम लाल रगसे चिन्हित है, जिससे उसकी याख्याका प्रारम्भ सहजमें ज्ञात हो जाता है। प्रतिके सबसे ऊपरी पत्रके ऊपर लिखा हुआ है —

भ श्रीधर्मकीर्त्तिपटे भ श्रीपद्मकीर्त्तिने पुस्तक आपज्यो सिरोजनगर वास्त य ॥ शुभ भवतु ॥ ब्रह्मश्रीसुमतिसागरस्य प्रेषिता। श्रीसूरतनगरात् ॥ श्रीरस्तु ॥

इस लेखसे विदित होता है कि यह प्रति सूरत (गुजरात) से ब्रह्म श्रीसुमतिसागरने सिरोज (म य भारत) नगरवासी भट्टारक श्रीपद्मकीर्त्तिके पास भेजी थी। वहासे यह हमार ग्राममे कब कैसे आई इसका कुछ पता नहीं चलता। इतना ज्ञात अवश्य हुआ कि आजसे लगभग १ वर्ष पूर्वतक हमारे ग्रामके मन्दिरमें सोनागिर भट्टारककी गद्दी थी संभव है वहाके भट्टारकजीके साथ वह यहां आई हो।

स और द इन दोनों प्रतियोंमें कई बातोंमें समानताए पाई जाती हैं। एक अंतिम बातकी समानता तो यह माननेके लिए विवश करती है कि द प्रतिकी प्रतिलिपि स प्रतिके आधारसे ही हुई है। वह समता यह है कि स प्रतिमें भी श्रुतसागरकी प्रशस्तिको दूसर श्लोकके दूसरे चरणका 'देवेन्द्रकीर्त्ति तकका पाठ स प्रतिमें पाया जाता है और इतना ही द प्रतिमें भी। इसके अतिरिक्त स प्रति सरतसे सिरोंज भेजी गई और यह द प्रति भी सिरोंजमें ही लिखी गई। इसलिए बहुत सभव यही है कि यत स प्रतिम अन्तिम पत्र नहीं होनेसे श्रुतसागरकी प्रशस्ति अधूरी थी अत उससे प्रतिलिपि की जानेवाली द प्रतिम भी वह अधूरी ही लिखी गई। दूसरे इससे एक बात और सिद्ध होती है कि जब द प्रति पूरे २ वर्ष प्राचीन है तो जिसके आधार पर यह लिखी गइ है वह अवश्य इससे अधिक प्राचीन होगी। साथ ही यह भी पता चलता है कि आजसे २ वर्ष पूर्व ही स प्रतिका अन्तिम पत्र गायब हो चुका था।

द प्रति यद्यपि अपेक्षाकृत अशुद्ध लिखी गयी है तथापि उससे उन कई स्थलोंपर पाठ संशोधनमें मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है, जो कि स प्रतिकी प्राचीन लिखावट होनेसे मुझसे ठीक ठीक पढे नहीं जा सके थे।

श्रुतसागरकी प्रशस्तिकी पूर्त्ति श्री प्रमीजीकी पुस्तक जैनसाहित्य और इतिहास के श्रुतसागरके लेखसे की गई है जिसमें कि उनकी प्रशस्ति सेठ माणिकचंद्रजी बम्बईके ग्र थ संग्रहकी प्रति जिनसहस्रनाम टीकासे उद्धृतकी गई है।

स प्रे —यह सोलापुरके श्री ब्र जीवराज गौतमचन्दजी दोशीके निजी भडारकी प्रेस कापी है जो कि ईडर भडारकी प्रति परसे कराई गई है इस प्रतिमें भी अनेक स्थलोंपर पाठ छूटे हुए हैं फिर भी अनेक पाठोंके शुद्ध करनेमें हमे इससे साहाय्य प्राप्त हुआ है। यह प्रेस कापी ३१ १ ५१ को लिखकर तैयारकी गई है। इस प्रेस कापीमें टीकाके पूर्व सर्वत्र मूल श्लोक दिये हुए हैं। और अन्तमे श्रुतसागरी टीकाका प्रमाण श्लो०३०७५ दिया हुआ है। यह प्रेस कापी जीवराज ग्रन्थमालाके संस्थापक श्रीमान् ब्र जीवराजजी गौतमचन्दजी दोशी सोलापुरकी कृपासे प्राप्त हुई है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

—:—

प्रस्तावना

श्री मूलाचारमें स्तव या स्तवनके छह भेद बतलाये गये हैं—नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, क्षेत्रस्तवन, कालस्तवन और भावस्तवन। नामस्तवनकी व्याख्या टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने इस प्रकारकी है —

चतुर्विंशतितीर्थकराणां यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभि स्तवन चतुर्विंशतिनामस्तव। (मूलाचार ७ ४१ टीका)

अर्थात् चौबीस तीर्थकरोंके वास्तविक अर्थवाले एक हजार आठ नामोंसे स्तवन करनेको नामस्तव कहते हैं।

मूलाचारके ही आधार पर प. आशाधरजीने भी अपने अनगारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें स्तवनके ये ही उपर्युक्त छह भेद बताये हैं और नामस्तवका स्वरूप इस प्रकार कहा है —

अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम्। वीरान्तानां निरुक्त यत्सोऽत्र नामस्तवो मत ॥ ३१ ॥

अर्थात् वृषभादि वीरान्त तीर्थकर परमदेवका एक हजार आठ सार्थक नामोंसे स्तवन करना सो नाम स्तवन है।

जैनवाङ्मयका परिशीलन करनेसे विदित होता है कि यह एक अनादिकालीन परम्परा चली आती है कि प्रत्येक तीर्थकरके केवल ज्ञान होने पर इन्द्रके आदेशसे कुबेर आकर भगवान्के समवसरण (सभामंडप) की रचना करता है और देव मनुष्य तथा पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च तीर्थकर भगवान्का उपदेश सुननेके लिए पहुंचते हैं। उस समय सदाके नियमानुसार इन्द्र भी आकर भगवान्की वन्दना करता है और एक हजार आठ नामोंसे उनकी स्तुति करता है। आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें इन्द्रके द्वारा भगवान् ऋषभ नाथकी इसी प्रकारसे स्तुति कराई है।

एक हजार आठ नाम ही क्यों ?

तीर्थकरोंकी अष्टोत्तर सहस्रनामसे ही स्तुति क्यों की जाती है, इससे कम या अधिक नामोंसे क्यों नहीं की जाती यह एक जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर देना आसान नहीं है। शास्त्रोंके आलोडन करने पर भी इसका सीधा कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता है। फिर भी जो कुछ आधार मिलता है उसके ऊपरसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि तीर्थकरोंके शरीरमें जो १०८ लक्षण और व्यञ्जन होते हैं जो कि सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शरीरके शुभ चिन्ह या सुलक्षण माने गये हैं, वे ही सम्भवतः एक हजार आठ नामोंसे स्तुति करनेके आधार प्रतीत होते हैं। (देखो आचार्य जिनसेनके सहस्रनामका प्रथम श्लोक)।

अन्य मतावलम्बियोंने भी अपने-अपने इष्टदेवकी स्तुति एक हजार नामोंसे की है और इसके साक्षी विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, गणेशसहस्रनाम अम्बिकासहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम आदि अनेक सहस्रनाम हैं। शिवसहस्रनामकार शिवजीसे प्रश्न करते हैं —

तव नामान्यनन्तानि सन्ति यद्यपि शङ्कर। तथापि तानि दिव्यानि न ज्ञायन्ते मयाऽधुना ॥ १६ ॥

प्रियाणि तव नामानि सर्वाणि शिव यद्यपि। तथापि कानि रम्याणि तेषु प्रियतमानि ते ॥ १७ ॥

[शिवसहस्रनाम]

अर्थात्—हे शंकर यद्यपि तुम्हारे नाम अनन्त हैं और वे सभी दिव्य हैं तथापि मैं उन्हें नहीं जानता हूं। और यद्यपि वे सभी नाम तुम्हें प्रिय हैं, तथापि उनमेंसे कौन कौनसे नाम अधिक प्रिय या प्रियतम हैं सो मुझे बताओ?

इस प्रश्नके उत्तरमें शिवजी कहते हैं —

दिव्यान्यनन्तनामानि सन्त्विदं मध्यगं परम्। अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां प्रियतरं मम ॥२१॥ [शिवसहस्रनाम]

अर्थात्—यद्यपि मेरे अनन्त दिव्य नाम हैं तथापि मुझे उनमेंसे ये मध्यवर्ती एक हजार आठ नाम अति प्रिय हैं।

इस भूमिकाके पश्चात् शिवसहस्रनाम प्रारम्भ होता है।

अब जरा विष्णुसहस्रनामकी भूमिका देखिए। युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा—

किमेकं दैवतं लोके किं वाऽप्येकं परायणम्। स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥

[विष्णुसहस्रनाम]

अर्थात्—वह कौनसा एक अतिपरायण देव है कि जिसकी स्तुति और अर्चा करते हुए मनुष्य कल्याणको प्राप्त होवें? इस प्रश्नपर भीष्मने उत्तर दिया —

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्। लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥

तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते। विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥ १२ ॥

यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः। ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥ १३ ॥

[विष्णुसहस्रनाम]

अर्थात्—अनादि निधन लोकाध्यक्ष और सर्वलोकके महेश्वर विष्णु हैं और उनकी स्तुति करनेसे मनुष्य सर्व दुःखोंसे विमुक्त हो जाता है। उस लोक प्रधान विष्णुके हजार नामोंको मैं कहता हूं सो सुनो जिन्हें कि महर्षियोंने गाया है और जो सार्थक एवं जगत् विख्यात हैं।

इस भूमिकाके साथ विष्णुसहस्रनाम प्रारम्भ होता है।

गणेश सहस्रनामकी भूमिका इन सबसे भिन्न है। उसमें कहा गया है कि गणेशजीके पिता स्वयं शंकरभगवान् गणेशजीकी बिना पूजा किये ही त्रिपुरासुरके जीतनेके लिए चले तो उनके अनेक विघ्न आ उपस्थित हुए। तब शंकरजीने मनोबलसे इसका कारण जाना और गणेशजीसे विघ्न निवारणका कारण पूछा। तब गणेशजीने प्रसन्न होकर अपने सहस्रनामको ही सर्वविघ्न निवारक और सर्व अभीष्ट-पूरक बताया।

देव एव पुराऽऽरातिपुरत्रयजयोद्यमे। अनर्चनाद् गणेशस्य जातो विघ्नाकुलः किल ॥ २ ॥

मनसा स विनिर्धार्य ततस्तद्विघ्नकारणम्। महागणपतिं भक्त्या समभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ३ ॥

विघ्नप्रशमनोपायमपृच्छदपराजितः। सन्तुष्टः पूजया शम्भोर्महागणपतिः स्वयम् ॥ ४ ॥

सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम्। ततस्तस्मै स्वकं नाम्नां सहस्रमिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥ [गणेशसहस्रनाम]

इस उत्थानिकाके पश्चात् गणेशसहस्रनाम प्रारम्भ होता है। इन तीनों ही सहस्रनामोंकी यह विशेषता है कि उन्हें स्वयं शिवजी विष्णुजी या गणेशजीके मुखसे कहलाया गया है और तीनोंमें ही यह बतलाया गया है कि जो सहस्रनामसे मेरी स्तुति करते हैं और भक्तिसे पूजते हैं उनके सर्व दुःख दूर हो जाते हैं।

जैन शास्त्रोंमें सर्वप्रथम हमें आचार्य जिनसेन प्रणीत महापुराणमें ही जिनसहस्रनामके दर्शन होते हैं। उसमें समवसरणस्थित ऋषभदेवकी स्तुति करता हुआ इन्द्र कहता है कि —

अतस्त्वां गुणसंदोहमनन्तास्तावका गुणाः। त्वन्नामस्तुतिमात्रेण परमं शं प्रशास्महे ॥ ३८ ॥

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम्। नाम्नामष्टसहस्रेण त्वां स्तुमोऽभीष्टसिद्धये ॥ ३९ ॥

[महापुराण पर्व २५]

अर्थात्—हे भगवन्, हम आपके गुणोंकी क्या स्तुति कर सकते हैं, क्योंकि आपके गुण अनन्त हैं। हम तो तुम्हारे नामके स्मरण मात्रसे ही परम शान्तिको प्राप्त करते हैं। भगवन् यत' आप १० ८ लक्षण युक्त हैं, अत एक हजार आठ नामोंसे ही आपकी स्तुति करता हूं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां हमें शिवसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, या गणेशसहस्रनाम आदिमेंसे किसीमें भी इस शकाका समाधान नहीं मिलता है कि उनकी सहस्रनामसे ही स्तुति क्यों की जाती है, वहां हमें जिनसेनके सहस्रनाममें उक्त श्लोकके द्वारा इसका सयुक्तिक उत्तर मिल जाता है।

सहस्रनामोंकी तुलना

मूलाचारके उपयुक्त उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट है कि सहस्रनामकी प्रथा प्राचीन है। पर वर्तमानमें उपलब्ध वाङ्मयके भीतर हमे सर्वप्रथम सहस्रनामोंका पता हिन्दू पुराणोंसे ही लगता है। उपरि लिखित तीनों सहस्रनामोंमेंसे मेरे ख्यालसे विष्णुसहस्रनाम सबसे प्राचीन है क्योंकि, वह महाभारतके अनुशासन पर्वके अन्तर्गत है।

जैन वाङ्मयमें इस समय चार सहस्रनाम उपलब्ध है जिनमें जिनसेनका सहस्रनाम ही सबसे प्राचीन है। जिनसेनाचार्य काव्य अलंकार, धर्मशास्त्र न्याय आदिके प्रौढ विद्वान् और महाकवि थे और इसका साक्षी स्वयं उनका महापुराण है।

आ जिनसेनके पश्चात् दूसरे जिनसहस्रनामके रचयिता आ हेमचन्द्र है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे हेमचन्द्र एक महान् आचार्य हो गये हैं और इन्होंने प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई है। आपको परवर्ती आचार्योंने 'कलिकालसर्वज्ञ' नामसे सम्बोधित किया है। हेमचन्द्रने अपने सहस्रनामका नाम 'अर्हत्सहस्रनाम' रखा है। इस अर्हत्सहस्रनामका मिलान जब हम आ जिनसेनके सहस्रनामके साथ करते हैं तो इस बातमे कुछ भी सन्देह नहीं रहता कि कुछ श्लोकों और नामोंके हेर फेरसे ही अर्हत्सहस्रनामकी रचना की गई है। नवम शतककी रचना अवश्य स्वतत्र है। शेष शतकोंमे तो प्राय जिनसेन सहस्रनामके श्लोक साधारणसे शब्द परिवर्तनके साथ ज्योंके त्यों रख दिये गये है। पाठक प्रस्तुत संस्करणमें दिये गये हेमचन्द्रके सहस्रनामके साथ मिलान कर स्वयं इसका निर्णय कर लेवें।

उक्त दोनों जिनसहस्रनामोंके पश्चात् पण्डित आशाधरके प्रस्तुत सहस्रनामका नम्बर आता है। आशाधरके सहस्रनामका गभीरता पूर्वक अध्ययन करनेसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समय तक रचे गये समस्त जैन या जैनेतर सहस्रनामोंका अवगाहन करनेके पश्चात् ही अपने सहस्रनामकी रचना की है। यही कारण है कि उनमें जो त्रुटि या असंगति उन्हें प्रतीत हुई उसे उन्होंने अपने सहस्रनाममें बिल्कुल दूर कर दिया। यही नहीं बल्कि अपने सहस्रनाममें कुछ ऐसे तत्त्वोंका समावेश किया जिससे उसका महत्त्व अपने पूर्ववर्ती समस्त सहस्रनामोंसे कई सहस्रगुणा अधिक हो गया है। पं आशाधरजीने सभवत अपनी इस विशेषताका स्वयं ही भली भांति अनुभव किया है और यही कारण है कि उसके अन्तमे स्वय ही उन्हें लिखना पड़ा कि 'यही परम मंगल है लोकोत्तम है उत्कृष्ट शरण है परम तीर्थ है, इष्ट साधन है और समस्त क्लेश तथा संक्लेशके क्षयका कारण है।' अन्तमें उन्होंने यहां तक लिखा है कि इस सहस्रनामके अर्थका जाननेवाला तो जिनके समान है। इससे अधिक और क्या महत्त्व बताया जा सकता था।

भट्टारक सकलकीर्तिने एक संक्षिप्त आदिपुराणकी रचना की है चौथा जिनसहस्रनाम उसीसे ही उद्धृत किया गया है। यह कबका रचा है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, तथापि यह आशाधर सहस्रनामसे पीछेका ही है, इतना सुनिश्चित है। यह कई जगह अशुद्ध है, दूसरी प्रति न मिलनेसे सर्वत्र शुद्ध नहीं किया जा सका। इसकी रचनाका आधार आ० जिनसेन और आशाधरका सहस्रनाम हैं ऐसा इसके पाठ से ज्ञात होता है।

आशाधर सहस्रनाम पर एक दृष्टि—

पं आशाधरजीके प्रस्तुत जिनसहस्रनामका आद्योपात गम्भीर पर्यवेक्षण करने पर निम्न बातें हृदय पर स्वयमेव अंकित होती है —

१—आशाधरजीने शिवसहस्रनाम आदिके समान भगवानके सहस्रनामोंको न तो उनके मुखसे ही कहलाया है और न जिनसेनके सहस्रनामके समान उस इन्द्रके मुखस ही कहलाया है। किन्तु स्वयं ही ससारके दु खोंसे संतप्त होकर वे करुणासागर वीतराग भगवान्के सम्मुख उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं —

हे प्रभो मैं ससार देह और भोगोंसे विरक्त एवं दु खोंस सन्तप्त होकर आप जैसे करुणा सागरको पाकर यह विनती करता हू कि अनादिकालसे लकर आज तक मैं सुखकी लालसास माहका मारा इधर उधर ठोकरें खाता हुआ मारा मारा फिरा मगर कहीं सुखका लेश भी नहीं पाया और सुखका देनेवाला आपका नाम तक भी मैने इसके पूर्व नहीं सुना। आज मेरे मोहग्रहका आवेश कुछ शिथिल हुआ है और गुरुजनों से आपका नाम सुना है अत आपके सामने आकर स्तुति करनेको उद्यत हुआ हू। मे ी भक्ति मुझ प्रेरित कर रही है कि रात दिन आपकी स्तुति करता रहू पर शक्ति उसमें बाधक होकर मुझे हतोत्साह कर रही है क्योंकि मैं अल्प शक्ति और अल्प ज्ञानका धारक हूँ अतएव केवल अष्टोत्तर सहस्रनामसे स्तुतिकर अपनेको पवित्र करता हू। (देखो आशाधर सहस्रनाम श्लोक १ स ४)

इसके पश्चात् वे दश शतकोंमें सहस्रनामोंके कहनेकी प्रतिज्ञा भी विधिवत् करते हैं और प्रतिज्ञानुसार ही स्तवन प्रारम्भ करते हं। यत वे जिन भगवान्का स्तवन करनेके लिए उद्यत हुए हं अत उ होने सर्व प्रथम जिनशतक रचा है और तदनुसार इस शतकमे जिन जिनेन्द्र जिनराट आदि नामोंका उसमे समावेश किया है। जिन यह पद जिन नामों है या जिनके आगे प्रयुक्त हैं ऐसे लगभग ७ नाम इस शतकमें सन्निविष्ट हैं। जिन पदका अर्थ जीतनेवाला होता है। उक्त विविध जिनपद विभूषित नामोंके द्वारा ग्रथ कार मानों जिन भगवानस कह रहे हैं कि हे भगवन् आपने अपने राग द्वष मोह काम क्रोध लोभादि शत्रुओंको जीत लिया है अतएव आप निर्विघ्न हैं नीरज हैं शुद्ध हं निर्मोह हैं वीतराग है वितृष्ण ह निर्भय हैं और निर्विषाद ह अतएव अजर अमर हैं और निश्चिन्त है।

द्वितीय शतकका नाम सर्वज्ञशतक है क्योंक यह सर्वज्ञ नामस प्रारम्भ होता है। इस शतकमें प्रयुक्त नामोंके पर्यवेक्षणस विदित होता है कि मानों स्तोता अपने इष्ट देवतास कह रहा है कि यत आप सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्तविक्रमी और अनन्तसुखी हैं अत आप परतेज है परधाम हैं परज्याति ह पर मेष्ठी ह अद्यात्मा हैं अनन्त शक्ति ह। और इसी कारण आप जगत्के दुःख सतप्त प्राणियोंको शरणके देनेवाले ह।

इसके पश्चात् ग्रथकार जिनभगवान्की स्तुति करनेके लिए एक क्रमबद्ध शैलीका आश्रय लेते हैं। उनकी दृष्टि सबसे पहले तीथकर भगवान्के पच कल्याणकों पर जाती है और वे उनको आधार बना करके ही भगवान्का स्तवन आरम्भ करते है।

ग्रथकारने पचकल्याणकोंमें इन्द्रादिके द्वारा की जानेवाली महती पूजाको ही यज्ञ माना है और इसी लिए वे तीसरे शतकको प्रारम्भ करते हुए भगवान्स कहते हैं कि आप ही यज्ञाह हैं अर्थात् पूजनके योग्य हैं पूज्य हैं, इन्द्र पूजित हं आराध्य हैं। और इसके अनन्तर ही वे कहते हैं कि आप गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण इन पंचकल्याणकोंसे पूजित हैं। इसके पश्चात् वे क्रमश पाचों कल्याणकोंकी खास खास बातोंको लक्ष्य करके उनके आश्रयसे भगवान्के विभिन्न नामोंकी रचना करते हैं। पाठकगण जरा इन नामों पर ध्यान देंगे तो ज्ञात होगा कि उन नामोंसे भगवान्का स्तवन करते हुए ग्रंथकारने किसी भी कल्याणककी कोई भी बातको छोड़ा नहीं है। पाठकोंकी जानकारीके लिए इस शतकके नामोंका क्रमशः पांचों कल्याणकोंमें वर्गीकरण किया जाता है —

१ **गर्भकल्याणक**—इस कल्याणकके विभिन्न कार्योंको प्रगट करनेके लिए ग्रन्थकारने १ वसुधारार्चितास्पद २ सुस्वप्नदर्शी, ३ दिव्यौजा, ४ शचीसेवितमातृक, ५ रत्नगर्भ, ६ श्रीपूतगर्भ, ७ गर्भोत्सवोच्छ्रत, ८ दिव्योपचारोपचित ९ पद्मभू और १० निष्कल ये दश नाम कहे हैं। इन नामोंके कहनेके पूर्व एक सबसे बड़ी महत्त्वकी बातको प्रगट करनेके लिए एक नाम और दिया है—दृग्विशुद्धिगणोदग्र। इस नामके द्वारा ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि जिस व्यक्तिने पूर्वभवमें दर्शनविशुद्ध्यादि सोलह कारण भावनाओंको भली भांति भाकरके तीर्थङ्कर नामकर्मका संचय किया है वही व्यक्ति तीर्थङ्कर होनेका अधिकारी है और वही गर्भकल्याणकादिका पात्र है, अन्य नहीं। इसके पश्चात् गर्भकल्याणकके समय सर्व प्रथम जो खास अतिशय चमत्कारी कार्य होता है, वह है आकाशसे माताके गृहांगणमें रत्न स्वर्णादिककी वर्षा। तीर्थकरोंके गर्भावतरणके छह मास पूर्वसे ही यह अतिशय पूर्ण कार्य प्रारम्भ हो जाता है इस बातको प्रकट करनेके लिए ग्रन्थकारने सबसे पहले 'वसुधारार्चितास्पद' नाम दिया है। इस नामकी स्वोपज्ञवृत्तिमें ग्रन्थकारने जो व्याख्या की है उससे सर्व साधारणका एक भारी भ्रम दूर हो जाता है। अभी तक हम लोग समझे हुए थे कि यह सुवर्ण रत्न वर्षा सारी नगरीमें होती है। किन्तु इस नामकी व्याख्या बतलाती है कि वह सुवर्ण रत्न वृष्टि सारी नगरीमें न होकर जिनमाताके रहनेके मकानके केवल आंगणमें ही होती है अन्यत्र नहीं। इसके अनन्तर माताको सुन्दर सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं इस बातको व्यक्त करनेके लिए 'सुस्वप्नदर्शी' नाम दिया गया है। इसी समय शचीकी आज्ञासे श्री, ह्री आदि छप्पन कुमारिका देवियां माताकी सेवा करनेके लिए उपस्थित होती है और माताकी सर्व प्रकारसे सेवा करती है यह बात 'शचीसेवितमातृक' नामसे सूचित की गई है। इन कुमारिका देवियोंके अन्य विविध कार्योंमें से एक सबसे महत्वपूर्ण कार्य है माताके गर्भका शोधना। वे देवियां सोचती है कि जिस कूखमें तीन लोकका नाथ जन्म लेनेवाला है यदि उसमें कोई रोग रहेगा तो उत्पन्न होनेवाले बालक पर उसका असर अवश्य पड़ेगा। इसलिए श्री देवी एक कुशल लेडी डाक्टर (स्त्री चिकित्सिका) के समान माताके गर्भका शोधन करती है और उसे सर्वप्रकारके विकारोंसे रहित कर देती है यह बात 'श्रीपूतगर्भ' नामसे प्रकट की गई है। गर्भगत तीर्थकर भगवान् इस दिव्य या अलौकिक विशेषताके साथ वृद्धिको प्राप्त होते है कि माताको कष्टका जरा सा भी अनुभव नहीं होता। यहां तक कि उनके उदरकी त्रिवलीका भंग तक भी नहीं होता। गर्भकी इस अनुपम एवं दिव्य विशेषताको बतलानेके लिए ही ग्रन्थकारने 'दिव्यौजा' और 'रत्नगर्भ' ये दो नाम दिये हैं। देवगण भारी ठाठ बाटसे गर्भोत्सव मनाते हैं और विविध दिव्य उपचारोंसे माता पिताकी सेवा करते हुए गर्भकी रक्षा करते हैं यह बात 'गर्भोत्सवोच्छ्रत' और 'दिव्योपचारोपचित' इन दोनों नामोंसे व्यक्त की गई है। भगवान् गर्भकालमें माताके उदरमें निज पुण्यजनित अष्टदल कमल पर विराजमान रहते हुए ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं और रक्त मल मूत्रादि सर्व अपवित्र द्रव्योंसे निर्लिप्त रहते हैं यह बात 'पद्मभू' और 'निष्कल' इन दो नामोंसे सूचित की गई है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इन दश नामोंके द्वारा गर्भकल्याणक सम्बन्धी सभी बात प्रगट कर दी गई है और कोई भी खास बात कहनेसे नहीं छूटने पाई है।

जन्मकल्याणक—उक्त दश नामोंके आगे सत्ताईस नामोंके द्वारा जन्मकल्याणककी सारी बातें प्रकट की गई हैं। भगवान्का जन्म माताको बिना किसी कष्टके और बिना किसी धाय आदिकी सहायताके स्वयं ही हो जाता है यह बात 'स्वज' नामसे प्रकट की गई है। भगवान्का जन्म होते ही तीनों लोकोंमें आनन्द छा जाता है, यहां तक कि नारकियोंको भी एक क्षणके लिए सुख नसीब हो जाता है। इसप्रकार उनका जन्म सर्वको हितकारक है, यह बात 'सर्वीयजन्मा' नामसे सूचित की गई है। भगवान्का शरीर जरा आदि अपवित्र आवरणसे रहित होता है जन्मसे ही भगवान्के शरीरमें मल-मूत्रादि नहीं होते यह बात 'पुण्याङ्ग' नामसे प्रकट की गई है। भगवान्के जन्म लेते ही उनके शरीरकी प्रभासे सौरि गृहके रत्नदीपक भी फीके पड़ जाते हैं, यह बात 'भास्वान्' नामसे व्यक्त की गई है। भगवान्के जन्म लेते ही उनके उदयागत प्रबल पुण्यसे पिताके सर्व शत्रु वैरभाव भूलकर और विनयसे अवनत होकर भेंट आदि ले लेकर उनके समीप उपस्थित होते हैं, यह 'उद्भूतदैवत' नामसे सूचित किया गया है। भगवान्का जन्म होते ही ऊर्ध्वलोकमें

रहनेवाले कल्पवासी देवोंके घरोंमें घंटा बिना बजाये ही बजने लगते हैं मध्यलोकवासी ज्योतिषी देवोंके घरोंमें सिंहनाद होने लगता है पाताल लोकवासी भवनवासी देवोंके यहा शंख ध्वनि होने लगती है और सर्वत्र रहनेवाले व्यन्तरोंके आवासोंमें नगाड़े गरजने लगते है इन्द्रका आसन कपने लगता हैं । इसप्रकार विविध चिन्होंस तीनों लोकोंम भगवान्का जन्म स्वय ज्ञात हो जाता है यह बात विश्वविज्ञातसम्भूति नामके द्वारा व्यक्त की गइ है । तदनन्तर चारों प्रकारके देवगण भगवान्की जन्मभूमि पर आते हैं और नगरीकी प्रद क्षिणा देते हैं । इन्द्राणी प्रसूति गृहमे जाकर मायामयी बालक रखकर और उसे माताके पास सुलाकर तथा भगवान्को उठाकर इन्द्रको सौंपती है । इन्द्र भगवान्का रूप देखता हुआ तृप्त नहीं होता है और इसीलिए अपने एक हजार नेत्र बनाकर भगवान्को देखता है । इन सब बाताको क्रमश बतलानेके लिए विश्वदेवाग माद्भुत , शचीसृष्टप्रतिच्छन्द और सहस्राक्षदृगुत्सव ये तीन नाम दिये गये ह । तदनन्तर नाचते हुए ऐरा वतके ऊपर भगवान्को बैठाकर इन्द्र सुमेरुपर्वत पर उन्हें ले जाता है । भगवान्को देखकर सर्व इन्द्र उन्हें नमस्कार करते हैं । चारों निकायके देव हर्षके मारे उछलते कूदते और जय जयकार करते हुए सुमेरु पर जाते ह । इन सर्व कार्योंको बतलानेके लिए क्रमश 'नृत्यदैरावतासीन सर्वशक्रनमस्कृत और हर्षाकुलामरखग ये तीन नाम दिये गये हैं । इसके आगे चारणर्षिमहोत्सव यह नाम भगवान् महावीरको लक्ष्यमे रखकर दिया गया ह जिसके विषयमे यह प्रसिद्धि है कि किसी चारण युगल ऋषिको कोइ तत्त्व गत शका थी उन्हें सुमेरुपर जाते हुए भगवान्के ऊपर फहराती हुइ ध्वजाके दर्शन हो जानेसे उनकी शकाका समाधान हो गया और इसलिए उन्होंने खूब हर्ष मनाया था ।

देवगण क्षीरसागरसे जल लाकर १ ८ कलशोंसे भगवान्का अभिषेक करते हैं उस समय एक लाख योजनका सुमेरुपर्वत भी स्नान करनेकी चौकीके समान प्रतिभासित होता है और क्षीरसागर अपने आपको धन्य मानकर निजमे तीर्थराजत्वकी कल्पना करता है । इस बातको बतलानेके लिए स्नानपीठायि ताद्रिराट और तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धि नाम दिये गये हैं । भगवान्के अभिषिक्त जलमें स्नान कर इन्द्रादि गण अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं । ईशानेन्द्र उस अभिषेकके जलको सर्व ओर क्षेपण करता है मानों उसके द्वारा वह त्रैलोक्यको पवित्र करता है । इन दोनों कार्योंको बतलानेके लिए क्रमश स्नानाम्बुस्नात वासव और गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य ये दो नाम दिये हैं । अभिषेकके अनन्तर इन्द्राणी भगवान्के शरीर स्थित जलकणोंको पोंछकर और उन्हे वस्त्राभूषण पहना कर अपने हाथोंको कृतार्थ मानती हैं । इन्द्र वज्र सूची हाथमें लेकर भगवान्का कर्ण वेधन सस्कार करता है । पुनः वह खड़ होकर भगवान्का नाम संस्कार करके उपस्थित देव समूहको उसकी घोषणा करता है और उसके पश्चात् ही इन्द्र आनन्दसे विभोर होकर नृत्य करता है । इन सब कार्योंको बतलानेके लिए ग्रन्थकारने क्रमश 'वज्रसूचीशुचिश्रवा कृतार्थितशचीहस्त , शक्रोद्घुष्टेष्टनामक और शक्रारब्धानन्दनृत्य ये चार नाम दिये हैं । इन्द्र अपने परिवारके साथ सुमेरुसे आकर भगवान्के जन्म स्थल पर जाता है इन्द्राणी प्रसूति गृहमे जाकर भगवान् माताको सौंपती है माता अपने पुत्रके ऐसे वैभव और रूपको देखकर भारी विस्मित होती ह । उसी समय इन्द्र जाकर भगवान्के पिताको पुत्र जन्मके समाचार देता ह और ताण्डव नृत्य आरम्भ करता है । कुबेर याचक जनोंको मुहमांगा दान देता है और सर्व याचकोंके मनोरथोंको पूर्ण करता है । इन सब कार्योंका प्रगट करनके लिए ग्रन्थकारने क्रमश 'शचीविस्मापिताम्बिक , इन्द्रनृत्यन्तपितृक और रैदपूर्णमनोरथ ये तीन नाम दिये हैं । इसप्रकार जन्माभिषेकके कार्यको भली भांति सम्पादन करके तथा भगवान्की सेवामें अनेक देवोंको नियुक्त करके इन्द्र स्वर्गलोक चला जाता है और भगवान्के दीक्षा लेनेके समय तक समय समय पर आकर भगवान्की आज्ञाका इच्छुक होकर उनकी सेवामें सदा तत्पर रहता है । इस बातको व्यक्त करनेके लिए आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव नाम दिया गया है ।

३ दीक्षाकल्याणक—जब तीर्थंकर भगवान् किसी कारणसे संसार देह और भोगोंसे विरक्तिका अनु भव करते हैं, तब लौकान्तिक देव जिन्हें कि देवोंमें ऋषिके तुल्य होनेसे देवर्षि कहा जाता है—आकर भग वान्के विरक्त होने और शिव प्राप्तिके उद्यमकी प्रशसा करते हैं यह बात 'देवर्षीष्टशिवोद्यम नामके द्वारा

व्यक्त की गई है। जब लोगोंको पता चलता है कि भगवान् संसारसे विरक्त होकर वनवासके लिए जा रहे हैं, तो सारा जगत् क्षोभित हो उठता है और एकत्रित होकर उनके पीछे पीछे दीक्षा-स्थल तक आता है। सभी राजे महाराजे और इन्द्रादिक आकर उनकी पूजन करते हैं इस बातकी सूचना 'दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत्' और 'भूभुव स्वःपतीडित' इन दो नामोंसे दी गई है।

४ ज्ञानकल्याणक—तपश्चरणके प्रभाव और आत्म-साधनाके बलसे जब भगवान्को कैवल्यकी प्राप्ति होती है, तब इन्द्रके आदेशसे कुबेर आस्थान मण्डप (समवसरण) की रचना करता है उसे पूरे वैभवके साथ सजाता है और समवसरणकी बारह सभाओंके द्वारों पर दीनजनोंको दान देनेके लिए नौ निधियोंको स्थापित करता है इस बातको प्रगट करनेके लिए 'कुबेरनिर्मितास्थान' और 'श्रीयुक' ये दो नाम दिये गये हैं। समवसरणमें सभी योगिजन आकर भगवान्की अर्चा करते हैं और उनका धर्मोपदेश सुनकर कृतकृत्य होते हैं। इन्द्र भी सपरिवार आकर भगवान्की पूजा करता है यह बात योगीश्वरार्चित नामसे लेकर संहूतदेवसघार्च्य तकके नामोंसे प्रकट की गई है। समवसरणमें भगवान्के आठ प्रातिहार्य होते हैं, यह बात क्रमशः १ भामण्डली १ चतुःषष्टिचामर, ३ देवदुन्दुभि ४ वागस्पृष्टासन (दिव्यध्वनि) ५ छत्रत्रयराट ६ पुष्पवृष्टिभाक् ७ दिव्याशोक और ८ पद्मयान (कमलासन) इन आठ नामोंसे प्रकट की गई है। समवसरणमें देवगण जय जयकार करते हैं और सदा संगीत पूर्वक भगवान्का गुण गान करते रहते हैं, यह बात जयवजी और संगीतार्ह नामोंसे सूचित की गई है। समवसरणके चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ होते हैं और उन्हें देखकर बड़ेसे बड़े अभिमानियोंके मानका भी मर्दन हो जाता है यह बात मानमर्दी नामसे व्यक्त की गई है। समवसरणमें गन्धकुटीकी मध्य कटनी पर आठ मंगल द्रव्य विद्यमान रहते हैं, यह बात अष्टमंगल' नामसे सूचित की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस यज्ञशतकमें भगवान्के गर्भसे लेकर कैवल्यप्राप्ति तकके चार कल्याणकोंका अच्छी तरह वर्णन किया गया है।

चौथे तीर्थकृच्छतकमें भगवान्के तीर्थ प्रवर्तनका आश्रय करके उनके विविध नामोंका निर्देश किया गया है। जिसके द्वारा संसार सागरसे पार उतरते हैं, ऐसे द्वादशांगवाणी रूप उपदेशको तीर्थ कहते हैं। इस प्रकारके तीर्थके प्रवर्तन करनेसे भगवान्के तीर्थंकर तीर्थकर, तीर्थकृत्, तीर्थसृट् आदि नाम कहे गये हैं। यह तीर्थ प्रवर्तन भगवान्की सत्य, अमोघ एवं दिव्यवाणीका ही फल है, अतएव दिव्यध्वनिका आलम्बन लेकर विविध अर्थोंके प्रकट करनेवाले पूरे ७५ नाम कहे गये हैं। इन नामों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करनेसे अनेक नई ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही दिव्यध्वनिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेकों शंकाओंका उनसे सहजमें ही समाधान हो जाता है। पाठक-गण, इस शतकका स्वाध्याय करते समय स्वयं ही इसका निर्णय करेंगे। यहां पर उनमेंसे केवल २-३ बातोंका ही दिग्दर्शन कराया जाता है —

१—**भव्यैकश्रव्यगु** —भगवान्के इस नामसे यह ध्वनि निकलती है कि यद्यपि सभी भव्य अभव्य जीव समवसरणमें जाते हैं किन्तु भगवान्का उपदेश केवल भव्य जीवोंको ही सुनाई देता है। (४, ५६)

२—**प्राश्निकगु** —इस नामसे ज्ञात होता है कि जब गणधरादि कोई भगवान्से प्रश्न करता है, तभी भगवान् बोलते हैं, अन्यथा नहीं। (४, ६१)

३—**नियतकालगु** —इस नामसे प्रकट है कि भगवान् प्रात, मध्याह्न, सायं और रात्रिके मध्य भाग इन चार नियत कालोंमें ही धर्मोपदेश देते हैं, अन्य कालमें नहीं। (४ ६१)

पाचवां नाथशतक है। यतः भगवान् प्राणिमात्रके हितैषी हैं और उन्हें संसारके दुःखोंसे पार उतारना चाहते हैं अतः वे सबके स्वामी भी हैं। इस दृष्टिसे स्वामी वाचक विविध नामोंकी रचना कर उनके स्वामित्वका गुण-गान इस शतकके पूरे सौ नामोंके द्वारा किया गया है।

छठा योगिशतक है। यतः भगवान् योगके यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप आठों अंगोंके धारक हैं, अतः यथार्थ योगी हैं, इस निरुक्तिका आश्रय लेकर किसी

महायोगी या सच्चे साधुके जितने भी नामोंकी कल्पना उनके विविध गुणोंका आलम्बन करके की जा सकती है, वह ग्रन्थकारने की है और उन सभी नामोंसे भगवान्‌का गुण गान किया है। इन नामों पर गहरी दृष्टि डालनेसे साधुके क्या क्या कर्तव्य होते हैं उनमें कौन कौनसे गुण होना चाहिए यह अच्छी तरह विदित हो जाता है।

केवलज्ञान-सम्बन्धी दश अतिशयोंको चौथे पाचवें और छठवें शतकमें निर्निमेष आदि विभिन्न नामोंके द्वारा सूचित कर दिया गया है।

सातवा **निर्वाणशतक** है। इस शतकमें भरतक्षेत्र सम्बन्धी भूत वर्तमान और भविष्यत्कालीन चौबीस तीथकरोंके नामोंका निर्देश किया गया है साथ ही भगवान् महावीरके सन्मति वर्धमान, आदि नामोंके साथ कुछ अन्य भी गुण प्रधान नाम इस शतकमें सम्मिलित किये गये हैं। चूंकि यह सहस्रनाम स्तवन सामान्य है किसी व्यक्ति विशेषके नाम पर नहीं रचा गया है अत जो भी कर्म शत्रुओंको जीतकर जिन संज्ञाको धारण करता है उसीका यह स्तवन है इस अभिप्रायसे ग्रन्थकारने तीनों काल सम्बन्धी चौबीसी तीथकरोंके नामोंका संग्रह इस शतकमें किया है।

आठवें **ब्रह्मशतकमें** 'त्वामेव वीततमस परवादिनोऽपि नून विभो हरि हरादिधिया प्रपन्ना' को दृष्टिमें रखकर ब्रह्मा विष्णु महेश गणेश सूर्य चन्द्र और अग्निके विविध नामोंका सकलन कर और उनके गुणपरक अथको लेकर जिन भगवान्‌का स्तवन किया गया है।

नवें **बुद्धशतकमें** बुद्ध योग नैयायिक वैशेषिक साख्य मीमासक चार्वाक आदिके विविध नामोंको लेकर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन किया गया है।

आठवें और नवें शतकके नामोंको देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि आशाधरजीके सहस्रनामकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि पात्रकेसरी अकलक आदि पूर्ववर्ती आचार्योंने भी ब्रह्मा विष्णु आदि नामोंसे जिनेन्द्रदेवका स्तवन किया है पर उनके प्राय सर्व नामोंका इस प्रकार सग्रह करके स्तवन करनेका महान् साहस करना आशाधर जैसे प्रखर तार्किक एव प्रकर विद्वान्‌का ही कार्य है ऐसा प्रतीत होता है कि उनके इन नामोंसे प्रभावित एव विस्मित हुए लोगोंके आग्रहसे ही पण्डितजीने सहस्रनाम प स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है और उन सब नामोंका अर्थ बदलकर जिन भगवान्‌में सभवित अर्थ व्यक्त कर सबका संदेह दूर कर दिया है। शाब्दिक दृष्टिसे आठवा और दार्शनिक दृष्टिसे नवा शतक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

दशवा **अन्तकृच्छतक** है। इसके भीतर तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें और चौदहवें गुणस्थानमें होने वाले कार्योंका ग्रन्थकारने बड़ी ही परिष्कृत एवं व्यवस्थित शलीसे निरूपण किया है और अन्तमें मोक्षको गमन करते हुए किस प्रकार चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य और उपान्त्य समयमें कितनी प्रकृतियोंका क्षय होता है शरीरसे विमुक्त होने पर आत्माका क्या और कैसा स्वरूप रहता है इत्यादि बातोंका चित्रण करनेवाले बहुत सुन्दर और अर्थपूर्ण नामोंका सर्जन करके ग्रन्थकारने अपने ज्ञान गौरवको व्यक्त किया है। सक्षेपमें दशवें शतकको निर्वाणकल्याणकका परिचायक कह सकते हैं।

उपसंहार और समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं आशाधरजीने अपने इस सहस्रनाममें एक क्रमबद्ध शैलीको अपनाया है और अपने इष्टदेवकी गर्भसे लेकर निर्वाण प्राप्त करने तककी समस्त घटनाओंको एक व्यवस्थित क्रमसे विभिन्न नामोंके द्वारा व्यक्त किया है।

प्रस्तुत सहस्रनाममें जहा पण्डितजीने अपने पूर्ववर्ती समस्त सहस्रनामोंकी विशेषताओंको अपना कर अपने बहुश्रुतत्वका परिचय दिया है वहां पर ब्रह्मा, विष्णु महेशादि देवोंके बुद्ध साख्य और यौगादि दार्शनिकोंके विभिन्न नामों और तत्सम्मत-सम्मत तत्त्वोंका नामरूपसे संग्रहकर अपनी सर्व तत्त्व समन्वयकारिणी विशाल बुद्धि, अनुपम प्रतिभा और महान् साहसका भी परिचय दिया है। जिससे ज्ञात होता है कि वे

स्याद्वाद विद्याके यथार्थ रहस्यके अच्छे ज्ञाता थे। उनके इस सहस्रनामको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह स्तवन द्वादशांगवाणीके आधारभूत चारों अनुयोगरूप वेदोंके मन्थनसे समुत्पन्न पीयूष निष्यन्द है और प्रत्येक व्यक्ति इसे भक्ति पूर्वक पान करके अजर अमर हो सकता है।

इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम्। योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भुक्तिमश्नुते ॥१४॥

[प्रस्तुत सहस्रनाम]

जिनसहस्रनामका माहात्म्य

पंडित आशाधरजीने जिनसहस्रनामका माहात्म्य बतलाते हुए उसके अन्तमें लिखा है कि यह जिन सहस्रनामरूप स्तवन ही लोकमें उत्तम है जीवोंको परम शरण देनेवाला है, उत्कृष्ट मंगल है परम पावन है श्रेष्ठ तीर्थ है इष्ट साधक है और सर्वक्लेश और संक्लेशका क्षय करनेवाला है। जो कोई इन नामोंमेंसे एक भी नामका उच्चारण करता है वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। फिर जो सबका उच्चारण करेगा, उसका तो कहना ही क्या है, आदि। वास्तवमें जिननामकी ऐसी ही महिमा है जो उसे स्मरण करता है वह सर्व दुःखोंसे छूट जाता है और अजर अमर बन जाता है।

श्रुतसागरने नाथशतकके प्रारम्भमें सहस्रनामका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि—

नामसहस्रज्ञानं तीर्थकृतामल्पकोऽभ्युपायोऽयम्। तीर्थकरनामकृते श्रुतसागरसूरिभिः प्रविज्ञातः ॥

अर्थात्—शास्त्रपारगामी आचार्योंने तीर्थकरोंके सहस्र नामोंके ज्ञानको तीर्थकर नामकर्मके उपार्जन करनेका एक छोटा सा सरल उपाय बताया है।

इससे अधिक सहस्रनामका और क्या माहात्म्य बताया जा सकता है ?

एक पुनरुक्ति

पं० आशाधरजीने जिन भगवान्के जो नाम दिये हैं वे सभी अपुनरुक्त या नवीन हैं। केवल एक अमृत नाम ही इसका अपवाद है क्योंकि वह दो बार प्रयुक्त हुआ है। पहली बार तीसरे शतकमें ७१ वें नामके रूपमें और दूसरी बार दशवें शतकके ६१ वें नामके रूपमें। मूल और टीकाको देखने पर पता चलता है कि प्रथम बार वह नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त हुआ है और दूसरी बार पुल्लिंगके रूपमें। संभवतः ग्रन्थकारने इसी विशेषताके कारण यह नाम दो बार कहा है।

ग्रन्थकारका परिचय[1]

प्रस्तुत जिनसहस्रनामके रचयिता पं० आशाधरजी एक बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं। शायद दिगम्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन जैसा बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ ग्रन्थकर्त्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नहीं हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार था। इन सभी विषयों पर उनकी अस्खलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अध्ययन किया है।

उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, जैनेतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओंमें यथास्थान सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं और इसी कारण वे अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रन्थों पर टीका लिखनेके लिए प्रवृत्त हुए। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान् होते, तो मालव-नरेश अर्जुनवर्माके गुरु बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रका अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्माके सन्धिविग्रह-मंत्री कवीश बिल्हण उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते।

1-यह परिचय श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकसे साभार उद्धृत किया जाता है।—सम्पादक

पं० आशाधरजीका अध्ययन बहुत विशाल था। उनके ग्रन्थोंसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समयमें उपलब्ध समस्त जैनवाङ्मयका गहन अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानोंके मत भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह अपूर्व है। वे 'आर्ष सदधीत, न तु विघटयेत' के माननेवाले थे इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है परन्तु तमाम मत भेदोंको उपस्थित करके उनकी विशद चर्चा की है और फिर उनके बीच किस प्रकार एकता स्थापित हो सकती है यह बतलाया है।

पण्डितजी गृहस्थ थे मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे विरक्त अवश्य हो गये थे परन्तु उसे छोड़ा नहीं था फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्त्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्य कल्प कहकर स्मरण किया है तथा तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें भी कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं मुनि उदयसेनने उन्हें नयविश्वचक्षु तथा कलि कालिदास और मदनकीर्ति यतिपतिने प्रज्ञापुञ्ज कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान थे।

जन्मभूमि, वंश परिचय और समय

पण्डितजी मूलमें माण्डलगढ़ (मेवाड़) के रहनेवाले थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर चारित्रकी रक्षाके लिए वि० सं० १२४९ से लगभग वे मालवाकी राजधानी धारामें बहुतसे लोगोंके साथ आकर बस गये थे। पीछे वे जैनधर्मके प्रचारके लिए धाराको छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में रहने लगे। उस समय धारानगरी विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहां भोजदेव विन्ध्यवर्मा अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सन्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी पारिजातमञ्जरी के अनुसार उस समय विशाल धारा नगरीमें चौरासी चौराहे थे और वहां नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके वेत्ताओं और कला कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी। वहां शारदा सदन नामका दूर दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने भी धारामें ही आकर व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिसपर हरएक विद्वान्को मोह होना चाहिए पण्डितजीने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते हुए देखकर उसके प्रचारके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया। वे लगभग पैंतीस वर्षके लम्बे समय तक नालछामें ही रहे और वहांके नेमि चैत्यालयमें एक निष्ठ होकर जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे। उन्होंने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंकी रचना यहीं की और यहां पर ही वे अध्ययन अध्यापनका कार्य करते रहे। बहुत संभव है कि धाराके शारदा सदन के समान ही उन्हें श्रावक संकुल नालछामें जैनधर्मके प्रचारके लिए कोई विद्यापीठ बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो? क्योंकि जैनधर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

पण्डितजी व्याघ्रेरवाल (बघेरवाल) जातिमें उत्पन्न हुए थे जो कि राजस्थानकी एक प्रसिद्ध वैश्य जाति है। उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालव नरेश अर्जुनवर्मदेवका भाद्रपद सुदी १५ बुधवार सं० १२७२ का लिखा एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है– 'रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसम्मतेन राजगुरुणा मदनेन।' अर्थात् यह दानपत्र महासान्धि विग्रहिक मन्त्री राजा सलखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा। इन्हीं अर्जुनवर्मके राज्यमें पंडितजी नालछेमें आकर रहे थे और ये राजगुरु मदन भी वही हैं जिन्हें कि पं० आशाधरजीने काव्य शास्त्र पढ़ाया था। इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सलखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सल्लक्षण हों। पंडितजीने प्रशस्तियोंमें सांभरको शाकम्भरी नालछाको नलकच्छपुर और बघेरवालको व्याघ्रेरवाल आदि संस्कृत नामोंसे जिसप्रकार उल्लिखित किया है, संभव है कि उसीप्रकार अपने पिताके

सल्लखन नामको सल्लक्षण नामसे निर्दिष्ट किया हो। पर उक्त दानपत्रमें राजगुरु मदनने उन्हें सर्वजन प्रसिद्ध सल्लखण नामसे ही उल्लिखित करना समुचित समझा हो।

जिस समय पंडितजीका परिवार धारमें आया था उस समय विन्ध्यवर्माके संधि विग्रहिक मन्त्री (परराष्ट्र सचिव) बिल्हण कवीश थे। उनके बाद कोई आश्चर्य नहीं, जो अपनी योग्यताके कारण पंडितजीके पिता सल्लक्षणने भी वह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मान-सूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो। प आशाधरजीने अध्यात्म रहस्य नामका ग्रथ अपने पिताकी आज्ञासे रचा था। यह ग्रन्थ वि सं० १२९६ के बाद किसी समय रचा गया होगा क्योंकि इसका उल्लेख वि सं १३ में बनी हुई अनगार धर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिमें तो है परन्तु १२९३ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है। यदि यह सही है, तो मानना होगा कि पंडितजीके पिता १२९६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे और उस समय वे बहुत ही वृद्ध थे। सम्भव है कि उस समय उन्होंने राजकार्य भी छोड़ दिया हो।

पंडितजीने अपनी प्रशस्तियोंमें अपने पुत्र छाहड़को एक विशेषण दिया है— रंजितार्जुनभूपतिम्। अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्माको प्रसन्न किया। इससे अनुमान होता है कि राजा सलखणके समान उनके पोते छाहड़को भी अर्जुनवर्मदेवने कोई राज्यपद दिया होगा। प्राय राज्य कर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज्य काय मिलते रहे हैं। पण्डित आशाधरजी भी कोई राज्यपद पा सकते थे मगर उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनशासन और जैन साहित्यकी सवाको अधिक श्रेयस्कर समझा और आजीवन उसीमें लगे रह। उनके पिता और पुत्रके उक्त सम्मानस स्पष्ट है कि एक सुसंस्कृत और राजमान्य कुलमें उनका जम हुआ था।

वि स १२४९ के लगभग जब शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजका कैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और अजमेर पर अपना अधिकार कर लिया था तभी सम्भवत पण्डितजी मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे। उस समय वे किशोर ही होंगे क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था। यदि उस समय उनकी उम्र १५–१६ वर्षकी रही हो तो उनका जन्म वि सं १२३५ के आसपास हुआ होगा। पण्डितजीकी अन्तिम उपलब्ध कृति अनगारधर्मामृतटीकाका रचनाकाल वि स १३ है। उसके बाद वे कब तक जीवित रहे यह पता नहीं। फिर भी ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई इतना तो कमस कम सुनिश्चित है।

ग्रन्थ रचना

प आशाधरजीने वि स १३ तक जितने ग्रन्थोंकी रचना की, उनका विवरण इस प्रकार है—

१–प्रमेयरत्नाकर— इस पण्डितजीने स्वय स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद और निरवद्य गद्य पीयूष पूर वाला तर्क प्रबन्ध कहा है। यह अभीतक अप्राप्य है ।

१–ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमेयरत्नाकर पंडितजीकी सर्वोत्तम कृति है। यद्यपि यह अद्यावधि अप्राप्य है तथापि इसके नाम पर और उसकी प्रशंसामें लिखे गये पद्य पर गंभीरता पूर्वक विचार करनेसे विदित होता है कि यह श्वेताम्बराचार्य वादिदेवसूरि-रचित स्याद्वादरत्नाकरको लक्ष्यमें रखकर रचा गया है। वादिदेवसूरि पंडितजीसे लगभग १५ वर्ष पूर्व हुए हैं। उन्होंने परीक्षामुखका अनुकरण कर प्रमाणनयतत्त्वालोक रचा और उस पर स्वयं ही स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल भाष्य लिखा। इसमें उन्होंने प्रभाचन्द्राचार्यके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें किये गये स्त्रीमुक्तिखण्डनके खंडनका प्रयत्न किया है। यतः स्याद्वादरत्नाकर सरस अनुप्रासबहुल लम्बे समासवाली गद्यमें रचा गया था अतः संभव है कि पंडितजीने भी उसी ही शैलीमें अपने प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना करना समुचित समझा हो।

पंडितजीने प्रमेयरत्नाकरके परिचयमें जो पद्य अपनी प्रशस्तियोंमें लिखा है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्याद्वादरत्नाकर से प्रभावित होकर ही पंडितजीने अपने ग्रन्थका नाम 'प्रमेयरत्नाकर' रखा है। वह पद्य इस प्रकार है —

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥१॥ अनगा प्रशस्ति

अर्थात् प्रमेयरत्नाकर नामका यह तर्क प्रबन्ध स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद है और उससे निरवद्य विद्यारूप अमृतका पूर प्रवाहित होता है।

इस पद्यमें प्रयुक्त स्याद्वाद पद खास तौरसे विचारणीय है। पंडित आशाधरजीके समयमें श्वेतांबर जैनोंका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ रहा था, और वे उससे दुखी थे यह उनके अनगार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमें दिये गये एक पद्यसे प्रकट है। वह पद्य इस प्रकार है —

अन्तस्खलच्छल्यमिव प्रविष्ट रूप स्वमेव स्ववधाय येषाम् ।
तेषां हि भाग्यै कलिरेव नून तपत्यल लोकविवेकमश्नन् ॥ २ ८ ॥

अर्थात् जिनके अन्त करणमें स्त्री मुक्ति होती है या नहीं केवली कवलाहार करते हैं या नहीं इत्यादि रूपसे संशयमिथ्यात्व शल्यके समान प्रविष्ट होकर उन्हें पीड़ित कर रहा है दुःख है कि उनके भाग्यसे यह कलिकाल भी लोगोंके विवेकका भक्षण करता हुआ तदनकूल ही खूब तप रहा है।

इसकी टीकामें पण्डितजी लिखते हैं —

नून निश्चितमहमेवं मन्ये—तपति निरंकुश विजम्भते। कोऽसौ? एष प्रतीयमान कलिर्दुःषम काल। किं कुर्वन्? अश्नन् भक्षयन् संहरन्। कम्? लोकविवेक यगद्वृतजनानां युक्तायुक्तविचारम्। कथम्? अल पर्याप्तम्। कै? भाग्यै पुण्यै। केषाम्? तेषां हि तेषामेव **सितपटानाम्**। येषां किम्? येषां भवति। किं तत्? स्वमेव रूपं। किं केवली कवलाहारी उतस्विद यथेत्यादि दोलायितप्रतीतिलक्षणमात्मस्वरूपम् + + + कलिरित्यनेन कलिकाल श्वेतपटमतमुदभूदिति ज्ञापयति।

अत सम्भव है कि पंडितजीने स्याद्वादरत्नाकरमें स्त्री मुक्ति मडन और कवलाहार सिद्धिके लिए दी गई युक्तियोंका उत्तर दिया हो।

२–भरतेश्वराभ्युदय काव्य यह सभवत महाकाव्य है और स्वोपज्ञ टीका सहित है इसके नामसे विदित होता है कि इसमें प्रथम तीर्थकर ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्तीके अभ्युदयका वर्णन होगा। इसे पंडित जीने सिद्धयङ्क कहा है अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम छन्दमें सिद्धि शब्दका प्रयोग किया गया है[1]। यह अप्राप्य है।

३–धर्मामृत– यह जैन आगमके मन्थनसे समुत्पन्न धर्मशास्त्रका धर्मरूप अमृत है। इस ग्रन्थके दो भाग हैं —प्रथम भागका नाम **अनगारधर्मामृत** है इसमें मुनिधर्मका वर्णन किया गया है। द्वितीय भागका नाम **सागारधर्मामृत** है और इसमें श्रावकधर्मका विशद वर्णन किया गया है[2]। ये दोनों ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं।

४–ज्ञानदीपिका– यह धर्मामृतकी स्वोपज्ञ पंजिका है। प्रत्येक पदके अर्थको जो निरुक्तिपूर्वक व्यक्त करे उसे पंजिका टीका कहते हैं[3]। यह धर्मामृतकी मुद्रित भव्य कुमुदचन्द्रिका टीकासे बहुत विस्तृत रही है, इसका साक्षी स्वयं पण्डितजीका एक उल्लेख है। सागारधर्मामृतकी टीकाके प्रारम्भमें पंडितजी लिखते हैं कि—

[1] सिद्धयङ्क भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्य निबन्धोज्ज्वलं यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
[2] योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥११॥
[3] निबन्धरुचिरं स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपंजिकया रसनीयम्। अनगार प्रशस्ति

समर्थनादि नात्र ब्रुवे व्यासभयात्कथंचित् । ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥ सागार पृ १

अर्थात् विस्तारके भयसे जो समर्थन आदि यहाँ नहीं कह रहा हूं उसे ज्ञानदीपिका नामकी पंजिकामें देखना चाहिए। कहते हैं कि कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने सागारधर्मामृतकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणीके तौरपर बहुत कुछ अंश उद्धृत भी किया था। दुःख है कि वह कनड़ी प्रति जलकर नष्ट हो गई। अन्यत्र किसी भंडारमें अभी तक इस पंजिकाका पता नहीं लगा।

५-अष्टाङ्गहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भट अपरनाम अष्टाङ्गहृदयकी टीका है[1] जो अप्राप्य है।

६-मूलाराधना टीका*—यह सुप्रसिद्ध भगवती आराधना नामक प्राकृत ग्रन्थकी टीका है जो कि उक्त ग्रन्थकी और टीकाओंके साथ शोलापुरसे मुद्रित हो चुकी है।

७-इष्टोपदेश टीका*—यह आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशकी संस्कृत टीका है। इसे पंडितजीने मुनि विनयचन्द्रकी प्रेरणासे बनाया था। यह टीका माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालाके तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है।

८-आराधनासार टीका†—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थकी संस्कृत टीका है जो आज अप्राप्य है।

९-भूपालचतुर्विंशतिका टीका†—भूपाल कविके सुप्रसिद्ध और उपलब्ध स्तोत्रकी यह टीका भी अब तक नहीं मिली।

१०-अमरकोष टीका*—अमरसिंहके सुप्रसिद्ध अमरकोषकी यह संस्कृत टीका भी अद्यावधि अप्राप्य है।

११-क्रिया कलाप*—पण्डितजीने यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके ढंगपर स्वतन्त्र रचा है। इसकी एक प्रति बम्बईके एलक सरस्वती भवनमें है। जिसमें ५२ पत्र हैं और जो १६७६ श्लोक प्रमाण है।

१२-काव्यालंकार टीका§—अलंकार शास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रटके काव्यालंकार पर लिखी गई यह टीका भी अप्राप्य है।

१३-सहस्रनामस्तवन सटीक§—यह प्रस्तुत स्वोपज्ञ सहस्रनाम है जिसका विस्तृत परिचय प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। आजके पहले यह अप्राप्य था। ललितपुरके बड़े मन्दिरमें इसकी एक प्रति मिली है जिसके आधार पर यह मुद्रित किया गया है। इसकी अन्तिम पुष्पिकासे विदित होता है कि इस ग्रन्थकी टीकाकी रचना भी मुनि विनयचन्द्रकी प्रेरणासे हुई है और सम्भवतः उन्हींने इसको सर्वप्रथम अपने हाथसे लिखा है।

---

१ आयुर्वेदविदामिष्टां व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् । अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १२ ॥

* यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् । व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥

† आदि आराधनासार भूपालचतुर्विंशतिस्तवनाद्यर्थ । उज्जगौ उत्कृष्टं कृतवान् ॥

§ रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालङ्कारस्य निबन्धनम् । सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १४ ॥

सागार प्रशस्ति।

§ × × × मुनिश्री विनयचन्द्रेण कर्मक्षयार्थं लिखितम् ।

(सहस्रनाम श्लोक १ २ की टीकाके अन्तमें)

इत्याशाधरसूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् । मुनिश्री विनयचन्द्रेण लिखितम् ।
श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे × × × तच्छिष्य मुनिश्रीविनयचन्द्र पठनार्थं । ग्रन्थाग्र ११४५ ।
शुभं भवतु ॥ 　　　　 (अ प्रतिका अन्तिम पत्र)

१४ **जिनयज्ञकल्प सटीक**—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल ग्रन्थ तो मुद्रित हो चुका है पर टीका अभी तक अप्राप्य है। इस ग्रन्थमें प्रतिष्ठासम्बन्धी सभी क्रियाओंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। पापा साधुकी प्रेरणासे इस ग्रन्थकी रचना हुई है।[1] इसकी आद्य पुस्तक केल्हणने लिखी और उन्होंने ही जिनयज्ञकल्पका प्रचार किया था। मूलग्रन्थकी रचना वि० सं० १२८५ मे हुई है और टीकाकी रचना वि० सं० १२८५ और १२९६ के मध्य हुई है।

१५ **त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र सटीक**—इसमें तिरेसठशलाका पुरुषोंका चरित जिनसेनके महापुराणके आधार पर अत्यन्त संक्षेपमें लिखा गया है पण्डितजीने इसे नित्य स्वाध्यायके लिए जाजाक पण्डितकी प्रेरणासे रचा था।[3] इसकी आद्य पुस्तक खण्डेलवाल कुलोत्पन्न धीनाक नामक श्रावकने लिखी थी।[4] इस ग्रन्थकी रचना वि० सं० १२९२ मे हुई है।

१६ **नित्यमहोद्योत**—यह जिनाभिषेक सम्बन्धी स्नानशास्त्र है जो कि श्रुतसागरसूरिकी संस्कृत टीका सहित प्रकाशित हो चुका है।[5]

१७ **रत्नत्रयविधान**—इसमें रत्नत्रयविधानके पूजन माहात्म्यका वर्णन किया गया है।[6] यह ग्रन्थ बम्बईके ऐलक सरस्वतीभवनमें है जिसकी पत्र संख्या आठ है।

१८—**सागारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका**—पण्डितजीने महीचन्द्र साहुकी प्रेरणासे इसे रचा और महीचन्द्र साहुने इसकी प्रथम पुस्तक लिखकर तैयार की। इस टीकाकी रचना वि० सं० १२९६ पौष वदी ७ शुक्रवारको हुई है। इसका परिमाण ४५०० श्लोक प्रमाण है।

---

१ खाण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम्।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणी
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥ जिनयज्ञ० प्रशस्ति

२ खण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः।
लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २३ ॥ जिनयज्ञ० प्रशस्ति

३ संक्षिप्यतां पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये।
इति पण्डितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ९ ॥ त्रिषष्टि० प्रशस्ति।

४ खाण्डिल्यवंशे महणकमलश्रीसुतः सुदृक्।
धीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥ त्रिषष्टि० प्रशस्ति।

५ योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम्।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १७ ॥ अनगार० प्रशस्ति।

६ रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम्।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥ १८ ॥ अनगार० प्रशस्ति।

७ षण्णवद्व्येक संख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २१ ॥ अनगार० प्रशस्ति।
श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय-
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात्।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखतोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥ अनगार० प्रशस्ति।

१९-**राजीमती विप्रलम्भ**—यह एक खण्ड काव्य है जिसमें नेमिनाथके विवाह और राजुलके परित्यागका वर्णन किया गया है।[1] यह भी अप्राप्य है।

२०-**अध्यात्मरहस्य**—पण्डितजीने अपने पिताके आदेशसे इसकी रचना की थी। इसमें योगके विविध अंगोंका विशद वर्णन किया गया है।[2] दुःख है कि यह भी अप्राप्य है।

२१-**अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका**—पण्डितजीने धणचन्द्र और हरदेवकी प्रेरणासे इस टीकाकी रचना वि स १३ कार्तिकसुदी ५ सोमवारको की है।[3] इस टीकाका परिमाण १२२ श्लोकके लगभग है।

प्रमेयरत्नाकरसे लेकर जिनसहस्रनाम स्तवन तकके १३ ग्रन्थोंकी रचना वि सं १२८५ से पूर्व और नालछा पहुँचनेके पश्चात् मध्यवर्ती समयमें हुई है। इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ अप्राप्य हैं अतः उनकी प्रशस्ति आदिके न मिलनेसे उनके रचना कालका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। वि सं १२८५ में रचे गये जिनयज्ञकल्पमें उनका उल्लेख होनेसे उसके पूर्व ही उनका रचा जाना सिद्ध है। शेष ग्रन्थोंकी रचना वि सं १२८५ और १३ के बीच हुई है। पण्डितजीके रचनाओंमें अनगारधर्मामृत टीका सबसे अन्तिम रचना है। इसके पश्चात् रचे गये किसी अन्य ग्रन्थका न तो पता लगता है और न यही विदित होता है कि पण्डितजी कब तक जीवित रहे।

पं आशाधरके गुरु और शिष्यवर्ग

१-**पं० महावीर**—पं आशाधरजीने धारामें आकर इनसे जैनेन्द्र व्याकरण और न्यायशास्त्र पढ़ा था।

२-**मुनि उदयसेन**—इन्होंने पं आशाधरजीको कलिकालिदास कहकर अभिनन्दित किया था।

३-**यतिपति मदनकीर्ति**—इन्होंने पण्डितजीको प्रज्ञापुञ्ज कह कर अभिनन्दित किया था। पण्डितजीने अपनी सहस्रनाम टीकाके प्रारम्भमें इन तीनोंको गुरुभावसे स्मरण किया है।

४-**बिल्हणकवीश**—इन्होंने पण्डितजीको सरस्वती पुत्र कह कर अभिनन्दित किया था।

५-**वादीन्द्र विशालकीर्ति**—इन्होंने पं जीसे न्यायशास्त्र पढ़ा था।

६-**पं० देवचन्द्र**—इन्होंने पं जीसे व्याकरणशास्त्र पढ़ा था।

७-**मुनि विनयचन्द्र**—इन्होंने पं जीसे धर्मशास्त्र पढ़ा था।

८-**महाकवि मदनोपाध्याय**—इन्होंने पं जीसे काव्यशास्त्र पढ़ा था।

---

१ राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम्।
व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम्॥ १२॥

२-आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात्।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम्॥ १३॥

३-हरदेवेन विज्ञप्तो धणचन्द्रोपरोधतः।
पण्डिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम्॥ २८॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके॥ ३१॥ अनगार प्रशस्ति।

सहस्रनामके टीकाकार श्रुतसागरका परिचय

श्री श्रुतसागरसूरि मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगणमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि देवेन्द्रकीर्त्तिके और देवेन्द्रकीर्त्ति पद्मनन्दिके शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक पद पर आसीन हुए थे। श्रुतसागर शायद गद्दी पर नहीं बैठे। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है।

विद्यानन्दि सम्भवतः गुजरातमें ही किसी भट्टारक गद्दी पर आसीन थे किन्तु कहां पर इसका कुछ पता नहीं चलता। वैराग्यमणिमालाकार श्रीचन्द्रने श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है। आराधना कथाकोश नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता ब्रह्मनेमिदत्तने भी जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरु भावसे स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है जो कि श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुत सागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ कलिकालगौतम उभयभाषाकविचक्रवर्ती व्याकरणकमलमार्तण्ड तार्किकशिरोमणि परमागमप्रवीण नवनवतिमहामहावादिविजेता आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है।

समय विचार

श्रुतसागरने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १६ वीं शताब्दिमें हुए हैं। क्योंकि—

१—महाभिषेक टीकाकी प्रशस्ति वि० सं० १५८२ में लिखी गई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्र० ज्ञानसागरके पढ़नेके लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीका ग्रन्थोंमें कई जगह किया है।

२—ब्र० नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना वि० सं० १५८५ में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे। आराधना कथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका गुरुरूपमें[2] उल्लेख किया है और साथ ही श्रुत सागरका भी जयकार किया है[3] अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे।

३—स्व० बाबा दुलीचन्द्रजीकी सं० १९५४ में लिखी गई ग्रन्थसूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीकामें लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं। कहा जाता है कि यह वि० सं० १५३० के लगभग स्थापित हुआ था। अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे। सम्भव है ये लोंकाशाहके समकालीन ही हों।

---

१ यह परिचय श्री श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकसे साभार उद्धृत किया गया है। —सम्पादक

२ श्रीमद्भट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥ ६१ ॥

३ जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥ १ ॥

ग्रन्थ-रचना

श्रुतसागरके उपलब्ध ग्रंथोंके देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने अधिकतर टीकाओंकी ही रचना की है। अब तक जो उनकी रचनाएं सामने आई हैं, उनका परिचय इस प्रकार है —

१-**यशस्तिलकचन्द्रिका**—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध ग्रंथ यशस्तिलकचम्पूकी यह टीका है जो कि मूल ग्रंथके साथ मुद्रित हो चुकी है। यद्यपि इसकी प्रतियां अन्य अनेक भंडारोंमें पाई जाती हैं तथापि वह सर्वत्र अपूर्ण ही है। प्रारम्भसे लेकर पांचवें आश्वासके लगभग दो तिहाई भाग तककी ही टीका मिलती है। जान पड़ता है यह उनकी अन्तिम रचना है।

२-**तत्त्वार्थवृत्ति**—आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने जो सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति लिखी है उसे आधार बनाकर श्रुतसागरने नौ हजार श्लोक प्रमाण यह टीका बनाई है। यह भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे मुद्रित हो चुकी है।

३-**तत्त्वत्रयप्रकाशिका**—आ० शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवमें जो गद्य भाग है यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द पानाचन्द बम्बईके ग्रंथ संग्रहमें मौजूद है।

४ **औदार्यचिन्तामणि**—यह प्राकृत व्याकरण है जो हेमचन्द्र और त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें है जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपज्ञ वृत्तियुक्त है।

५ **महाभिषेकटीका**—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी टीका है। यह उस समय बनाई गई है जब कि श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

६ **व्रतकथाकोश**—इसमें आकाशपञ्चमी मुकुटसप्तमी चन्दनषष्ठी अष्टाह्निका आदि व्रतोंकी कथाएं हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके ऐलक सरस्वतीभवनमें है और यह भी उनकी प्रारम्भिक रचना है।

७ **श्रुतस्कन्धपूजा**—यह छोटी सी नौ पत्रोंकी रचना है इसकी भी एक प्रति उक्त सरस्वती भवनमें है।

८-**जिनसहस्रनामटीका**—पं० आशाधर रचित जिनसहस्रनामकी यह प्रस्तुत टीका है। इसे श्रुतसागरने पं० आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्तिको आधार बनाकर या उसे आत्मसात् करके रचा है। पं० जीकी स्वोपज्ञवृत्तिका परिमाण केवल ११४५ श्लोक प्रमाण है जब कि श्रुतसागरसूरिने उसे पल्लवित कर लगभग छह हजार श्लोक प्रमाण रचा है।

इनके अतिरिक्त श्रुतसागरके नामसे अन्य अनेको ग्रंथोंके नाम ग्रंथ सूचियोंमें मिलते हैं परन्तु उनके विषयमें जब तक वे देख न लिए जायं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत श्रुतसागरी टीकाके विषयमें

१-**पिष्टपेषण**—जिनसहस्रनामकी प्रस्तुत श्रुतसागरी टीकाके आद्योपान्त अवलोकन करने पर जहां एक ओर उनके विशाल पाण्डित्यका परिचय मिलता है वहां दूसरी ओर अनेक स्थलोंपर कई बातोंकी पुनरुक्ति देखकर आश्चर्य भी होता है। उदाहरणके तौरपर श्रुतसागरने ८४ चौरासी लाख उत्तर गुणोंका निरूपण तीन स्थलों पर किया है। सर्व प्रथम छठे शतकमें 'महाशील' नामकी व्याख्या करते हुए शीलके अठारह हजार भेद बतानेके अनन्तर बिना ही प्रकरणके 'अथ गुणा कथ्यन्ते ८४ कहकर उनका वर्णन किया है, जो कि बिलकुल ही अप्रकृत हैं। दूसरी बार इसी शतकके 'गुणाम्भोधि' नामकी व्याख्यामें 'वा गुणानां चतुरशीतिलक्षाणां अम्भोधिः' कहकर चौरासी लाख गुणोंको दुबारा गिनाना प्रारम्भ कर दिया है। यहां भी यह वर्णन कुछ असङ्गतसा ही लगता है। तीसरी बार दशवें शतकमें चतुरशीतिलक्षगुण की व्याख्यामें चौरासी लाख उत्तरगुण गिनाये गये हैं, जो कि प्रकरण सगत हैं। वास्तवमें यहां पर ही इन गुणोंका वर्णन होना चाहिए था, इसके पूर्व दोनों बारका निरूपण अप्रकृत है।

इसीप्रकार शीलके अठारह हजार भेदोंको भी दो बार गिनाया गया है पहली बार छठे शतकमें 'महाशील' नामकी व्याख्या करते हुए और दूसरी बार दशवें शतकमें 'अष्टादशसहस्रशीलाश्व' नामकी व्याख्या करते हुए। यद्यपि शीलके उक्त भेद गिनानेके लिए दोनों स्थल उपयुक्त हैं फिर भी प्रथमकी अपेक्षा द्वितीय स्थल ही अधिक प्रकरण सङ्गत है।

असम्बद्ध—दशवें शतकमें 'मतार्थदूर' नामकी व्याख्या करते हुए आचार्य समन्तभद्रकी अंतिम कारिका 'इतीयमाप्तमीमांसा' उद्धृत करके उसकी भी व्याख्या प्रारम्भ कर दी है जो कि बिलकुल ही असङ्गत प्रतीत होती है। इसीप्रकार चौरासी लाख उत्तरगुण गिनाते हुए अनगारधर्मामृतके श्लोकोंको उद्धृत करके उनकी भी व्याख्या करना असंगत जचती है। द्वितीय शतकके अन्तिम 'महाबल' नामकी व्याख्या करते हुए पं० आशाधरजीके नामका निर्देश करके और 'नापल्यान्' आदि श्लोक उद्धृत कर उसकी भी व्याख्या की गई है जो कि असम्बद्ध प्रतीत होती है। जिस कथनकके देनेके लिए इतना श्रम किया है वह उक्त श्लोक और उसकी व्याख्याके विना भी लिखा जा सकता था। इसी प्रकार और भी ३–४ स्थलों पर ऐसा ही किया गया है।

२–साम्प्रदायिकता—श्रुतसागरने कहीं कहीं खींच तान करके भगवानके नामसे साम्प्रदायिकताका भी परिचय दिया है। (देखो—नवें शतकमें निर्विकल्पदर्शन आदि की व्याख्या)

दशवें शतकके 'अनन्त' नामकी व्याख्यामें समन्तभद्रको आगामी उत्सर्पिणीकालमें तीर्थंकर होनेका उल्लेख कर उनका एक श्लोक उद्धृत किया है।

श्रुतसागरका पाण्डित्य

श्रुतसागरने जिनसहस्रनामकी प्रस्तुत टीकामें लगभग ३१ आचार्योंके नामोंका और १२ ग्रन्थोंका नाम उल्लेख कर उनके श्लोकोंको उद्धृत किया है जिनसे उनके अगाध श्रुतधरत्वका परिचय मिलता है।

कुछ स्थलों पर तो एक एक नामके दशसे भी अधिक अर्थ करके अपने व्याकरण और काव्य विषयक विशाल ज्ञानका परिचय दिया है। विश्वशम्भुमुनि–प्रणीत एकाक्षर नाममाला तो आपको मानो कंठस्थ हो थी। इसके लगभग ५०-६० पद्योंको श्रुतसागरने अपनी टीकामें उद्धृत किया है। इसी प्रकार नामोंके निरुक्त्यर्थको प्रमाणित करनेके लिए कातन्त्र आदि व्याकरणके दो सौसे भी ऊपर सूत्रोंको उद्धृत किया गया है। नवें बुद्धशतकमें परदार्शनिकोंके नामोंकी व्याख्यामें उनके मतोंका उन तत्सम्मत तत्त्व एवं पदार्थोंका जो पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक विवेचन किया है उससे श्रुतसागरके न्यायशास्त्रको अगाध विद्वत्ताका परिचय मिलता है। दशवें शतककी व्याख्यामें श्रुतसागरने अपने सैद्धान्तिक विद्वत्ताका यथेष्ट परिचय दिया है।

संक्षेपमें जिनसहस्रनामकी टीकाको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने लिए जो व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण और शब्दशल्पप्रभेदन निपुण आदि पद विभूषित कहा है वह सर्वथा उचित और उनके नामके अनुरूप ही है।

श्रुतसागर पर एक आरोप

प्रस्तुत सहस्रनामकी पण्डित आशाधरकृत स्वोपज्ञवृत्तिको ही आधार बनाकर श्रुतसागरसूरिने अपनी टीकाका निर्माण किया है फिर भी उन्होंने कहीं भी इसका जरा सा भी संकेत नहीं किया है। दोनों टीकाओंको सामने रखकर देखने पर यह बात हृदय पर स्वतः ही अङ्कित हो जाती है कि उन्होंने आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्तिको उसीप्रकार पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है जिस प्रकार पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें। यदि आज पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और पण्डित आशाधरकी स्वोपज्ञवृत्ति पृथक् उपलब्ध न होतीं तो इस बातकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि श्रुतसागर अपनी टीकाओंमें अन्य आचार्योंकी टीकाओंको भी आत्मसात् कर गये हैं। उनपर यह एक आरोप है जिससे वे इनकार नहीं कर सकते और जो इन दोनों ग्रन्थोंके अभ्यासियोंसे अप्रकट नहीं रह सकता है।

श्रुतसागरी टीकागत कुछ विशेष बातें

१–**धर्मचक्र**—जब तीर्थंकर भगवान् भव्यजीवोंको धर्मोपदेश देनेके लिए भूतल पर विहार करते हैं, तब यह भगवान्के संघके आगे आगे आकाशमें निराधार घूमता हुआ चलता है। श्रीदेवनन्दी आचार्यने इसके विषयमें लिखा है कि इसके एक हजार आरे होते हैं, नाना प्रकारके महारत्नोंसे यह जड़ा हुआ होता है और इसकी कान्ति सूर्यकी प्रभाको भी लज्जित करनेवाली होती है। (२, ७१)

२–**महाबल** जिनभगवान्का यह भी एक नाम है। इसके विषयमें आशाधरजीने लिखा है कि एक बार जब भगवान् महावीर कुमार थे और अन्य राजकुमारोंके साथ कुंडग्रामके उद्यानमें एक वृक्षके ऊपर क्रीड़ा कर रहे थे, तब सौधर्म इन्द्रकी सभामें चर्चा चली कि इस समय भूतल पर श्रीवीरप्रभु सबसे अधिक बलवान् हैं। संगमक नामक एक देवको उस पर विश्वास नहीं हुआ और वह भगवान् की परीक्षाके लिए एक अजगरका रूप बनाकर उस वृक्ष पर लिपट गया जिसपर कि राजकुमारोंके साथ भगवान् क्रीड़ा कर रहे थे। सांपको वृक्षसे लिपटता और ऊपर चढ़ता हुआ देखकर सब राजकुमार भयसे विह्वल हो वृक्षसे कूदकर भाग गये पर श्रीवीरकुमार उसके लपलपाती हुई सैकड़ों जीभ वाले फणामण्डल पर पैर रखते हुए वृक्षसे नीचे उतरे और उसके साथ बहुत देर तक क्रीड़ा करते रहे। संगमकदेव यह देखकर अति विस्मित हुआ और आप महाबलशाली हैं ऐसा कहकर और भगवान्को नमस्कार करके अपने स्थानको चला गया। (२ १)

–**दृग्विशुद्धि** पच्चीस दोष रहित अष्टगुण सहित और चर्मजल घृत तैल आदि अभक्ष्य भक्षण वर्जित सम्यग्दर्शनके धारण करनेको दृग्विशुद्धि कहते हैं। (३ २)

४–**द्वादश गण**—तीर्थंकर भगवान्की व्याख्यान सभाको समवसरण या आस्थानमंडप कहते हैं। उसमें श्रोताओंके बैठनेके बारह कक्ष या प्रकोष्ठ होते हैं। उनमें प्रदक्षिणारूपसे क्रमशः निर्ग्रन्थ मुनि सोलह स्वर्गोंकी देवियां आर्यिका एवं अन्य मनुष्य स्त्रियां ज्योतिष्क देवियां व्यन्तरदेवियां भवनवासिनी देवियां, भवनवासी देव व्यन्तरदेव ज्योतिष्कदेव कल्पवासीदेव मनुष्य और पशु गण बैठकर भगवान्का धर्मोपदेश सुनते हैं। ये बारह सभावर्ती जीव ही भगवान्के द्वादश गण कहलाते हैं। (३ २)

५–**दिव्य अतिशय** भगवान्के पवित्र-सान्निध्यका यह दिव्य अतिशय बतलाया गया है कि जन्मान्ध लोग भी देखने लगते हैं बहरे मनुष्य सुनने लगते हैं गूंगे बोलने लगते हैं और पंगुजन भले प्रकारसे गमन करने लगते हैं। (३ ८)

६–**सुस्वप्नदर्शी**—जब तीर्थंकर भगवान माताके गर्भमें आते हैं तब उसके पूर्व ही माताको १६ स्वप्न दिखाई देते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१ ऐरावत गज २ बैल ३ सिंह ४ लक्ष्मी ५ दो मालाएं ६ चन्द्रमा ७ सूर्य ८ मीन युगल ९ पूर्णघट कमलयुक्त सरोवर ११ समुद्र १२ सिंहासन १३ देव विमान १४ नागभवन १५ रत्नराशि और १६ निर्धूम अग्नि। इन सोलह स्वप्नोंको देखनेके अनन्तर माताको ऐरावत हाथी मुखमें प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है। उपर्युक्त सुन्दर स्वप्नोंको देखनेके कारण लोग भगवान्को सुस्वप्नदर्शी कहते हैं। (३,२८)

७ **पद्मभू**—गर्भकालमें माताके गर्भाशयमें भगवानके पुण्य प्रभावसे एक दिव्य कमलकी रचना होती है। उस कमलकी कर्णिका पर एक सिंहासनकी सृष्टि होती है उसपर विराजमान गर्भ गत भगवान् वृद्धिको प्राप्त होते हैं इसलिए लोग उन्हें पद्मभू अब्जभू आदि नामोंसे पुकारते हैं। (३ २९)

८–**चारणर्षि**—क्रिया विषयक ऋद्धि दो प्रकारकी होती है—चारणऋद्धि और आकाशगामित्व ऋद्धि। अग्निकी शिखा, जलका उपरितल वृक्षोंके पत्र पुष्प और फल आदिका आलम्बनकर उनके संस्पर्शके बिना ही अधर-गमन करनेको चारणऋद्धि कहते हैं। बैठे-बैठे ही अथवा खड़े-खड़े ही निराधार आकाशमें गमन करनेको आकाशगामित्वऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धिवाले साधु बिना पैरोंके चलाये हुए ही पक्षियोंके

समान आकाशमें उड़ते चले जाते हैं और पृथ्वीपर पैरोंके उठाने रखनेके समान आकाशमें पाद निक्षेप करते हुए भी गमन करते हुए जाते हैं। जिन साधुओंको ये दोनो प्रकारकी अथवा एक प्रकारकी ऋद्धि प्राप्त होती है उन्हें चारणर्षि कहते हैं। (३ ४३) (८ ६)

६ शक्रारब्धान द नृत्य और १ द्वन्नृत्यतपितृक—इन दो नामोक द्वारा यह सूचित किया गया है कि सौधम इन्द्र दो बार स्वय नृत्य करता है। एक बार तो मेरुशिखर पर जन्माभिषेकक पश्चात् भगवानक आगे और दूसरी भगवान माताको सौंपकर तदनन्तर भगवानक पिताक सामने। इससे यह निष्कष निकलता है कि अ य अवसरोपर इन्द्र स्वयं नृ य नहीं करता है किन्तु उसक आदेशसे अ य देव या देविया नृत्य करती हैं।

१ देवर्षि देवोंके समान आकाशमे गमन करनेवाले ऋषियोको देवर्षि कहते हैं। (६ २) तथा जो ऋषियोंके समान ब्रह्मचारी रहते हैं, सदा त व चिन्तन करते हुए परम उदासीन जीवन यापन करते हैं और तीथकरोंक निष्क्रमण कल्याणकके अवसर पर उन्हें सम्बोधनके लिए आते हैं ऐसे लौकान्तिक देवोंको भी देवर्षि कहते हैं। (३ ५८)

११-कुबेरनिर्मितास्थान—समवसरणमे मानस्तम्भ सरोवर प्राकार कोट खाई वापी वाटिका नाट्यशाला कल्पवृक्ष स्तूप आदिकी रचना होती है। इन्द्रके आदेशसे कुबेर पूर्ण वैभवसे उसे सज्जित करता है इसलिए समवसरण कुबेर निर्मित आस्थान कहलाता है। (३ ६१)

१२-सत्यशासन—भगवानका शासन अर्थात् धर्मोपदेश पूर्वापर विरोधसे रहित होता है अतएव वह स शासन कहलाता है। पर मता लम्बियोका शासन पूर्वापर विरुद्ध होता है। वे एक स्थलपर जो बात कहते हैं दूसरे स्थलपर उससे बिलकुल विपरीत कहते हैं। जैसे—ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिए शराब नहीं पीना चाहिए ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए इत्यादि कहकर भी अन्यत्र कहते है कि ब्रह्म प्राप्तिके लिए ब्राह्मणको मारे सौत्रामणि यज्ञमें शराबके पीनेमें कोई पाप नहीं गोसव यज्ञके अन्तमे माता और बहिनके सा री भोग कर सकता है इत्यादि। एक बार कहते है कि जो तिलभर भी मास खाता है वह नरकमे जाता है दूसरी बार कहते है कि श्रोत्रिय ब्राह्मणके आतिथ्यके लिए बैलका बध करे आदि। एक बार कहते हैं कि किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिए दूसरे स्थलपर कहते हैं कि ये पशु यज्ञके लिए ही बनाये गये हैं इत्यादि। अतएव उनके शासनको स य नहीं माना जा सकता है। (४)

१३-त्रिभंगीश इस नामकी व्याख्याम बताया गया है ससार जीवोकी परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध त्रिभागमें होता है और इस अवसर एक जीवके भुज्यमान आयुके भीतर आठ बार आते । कल्पना कीजिए कि किसी जीवकी वर्तमान भवकी आयु ६५६१ वर्षकी है। इसमे तीनका भाग देनेपर जब दो भाग व्यतीत हो जावें और एक भाग प्रमाण २१८७ वर्ष शेष रहे तब प्रथम बार आगामी भवसम्बन्धी आयुके बन्धका अन्तर्मुहूर्त तक अवसर आता है। यदि किसी कारणसे उस समय आयु बन्ध न हो सके, तो उक्त अवशिष्ट आयुके भी जब दो भाग बीत जाय और ७२९ वर्ष प्रमाण एक त्रिभाग शेष रहे तब आगामी आयुके बन्धका अवसर आवेगा। यदि इसमे भी आयुका बन्ध न हो सके तो पुन २४३ वर्ष वर्तमान आयुके शेष रहने पर आगामी आयु बधनेका अवसर आवेगा। तदनन्तर ८१ वर्ष २७ वर्ष ९ वर्ष ३ वर्ष और १ वर्ष शेष रहने पर आगामी आयुके बधनेके अवसर प्राप्त होंगे। यदि इन आठों ही अवसरोंमे परभवकी आयुका बन्ध न होवे तो मरणके समय आसंक्षेपाद्धा काल शेष रहने पर नियमसे परभवकी आयुका बन्ध हो जाता है। इस प्रकारकी त्रिभंगीके उपदेष्टा होनेसे भगवान् त्रिभंगीश कहलाते हैं। (४ ८४)

१४-ऋद्धीश—तपोबलसे जो बौद्धिक, शारीरिक वाचिक या मानसिक विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है उसे ऋद्धि कहते है। ये ऋद्धियाँ बुद्धि, क्रिया, विक्रिया तप बल, औषध, रस और क्षेत्रके भेदसे आठ प्रकारकी होती है। इनमेसे बुद्धि ऋद्धिके अठारह भेद हैं—१ केवलज्ञान २ मन पर्ययज्ञान

३ अवधिज्ञान, ४ बीजबुद्धि, ५ कोष्ठबुद्धि, ६ पदानुसारित्व, ७ संभिन्न संश्रोतृत्व ८ दूरास्वादनत्व ९ दूर स्पर्शनत्व, १ दूरदर्शनत्व ११ दूराघ्राणत्व १२ दूरश्रवणत्व, १३ दशपूर्वित्व १४ चतुर्दशपूर्वत्व १५ अष्टागमहानिमित्तकुशलत्व, १६ प्रज्ञाश्रमणत्व १७ प्रत्येकबुद्धत्व और १८ वादित्व ।

इनका संक्षेपमें अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए —

१ केवलज्ञान—त्रैकालिक सर्व पदार्थोंके अनन्त गुण पर्यायोंको युगपत् जानना ।

२ मन पर्ययज्ञान—पर मनोगत पदार्थको स्पष्ट जानना ।

३ अवधिज्ञान—रूपी पदार्थोंको द्र य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा स्पष्ट जानना ।

४ बीजबुद्धि—एक बीज पद सुनकर समस्त ग्र थको जान लना ।

५ कोष्ठबुद्धि—विभिन्न प्रकारके त वोंका स्वबुद्धिमें व्यवस्थित रूपमे धारण करना ।

६ पदानुसारित्व—किसी भी ग्र थ आदिके आदि मध्य या अन्तके जिस किसी भी पदको सुनकर समस्त ग्र थके अर्थका अवधारण करना ।

७ संभिन्नसश्रोतृत्व—नौ योजन चौड़ और बारह योजन लम्बे चक्रवर्तीके कटकमें रहनेवाले हाथी घोड़ ऊ ट मनु य आदिकी नाना प्रकारकी बोलियोंका स्पष्ट रूपसे पृथक सुननेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

८ दूरास्वादन व—सैकड़ों योजनकी दूरीपर स्थित रसके आस्वाद लनेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

९ दूरस्पर्शनत्व—अनेक सहस्र योजन दूरस्थ पदार्थके छूनेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१ दूरदर्शनत्व—सहस्रों योजन दूरस्थ पदार्थोंके देखनकी शक्तिका प्राप्त होना ।

११ दूराघ्राणत्व—सहस्रों योजन दूरवर्ती ग धके सूघनकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१२ दूरश्रवणत्व—सहस्रों योजन दूरके श दको सुननेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१३ दशपूर्वि व—आचारागादि दश पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त होना ।

१४ चतुर्दशपूर्वित्व—चौदह पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त होना ।

१५ अष्टागमहानिमित्तकुशल व—अन्तरिक्ष भौम अग स्वर व्यञ्जन लक्षण छिन्न और स्वप्न इन आठके आधार पर भविष्यत्कालम होनवाल हानि लाभको जाननेकी शक्तिका प्राप्त होना ।

१६ प्रज्ञाश्रमण व—परम प्रतिभाशालिनी बुद्धिका प्राप्त होना ।

१७ प्रत्येकबुद्धत्व—बिना किसी अन्यके उपदेशके स्वय ही प्रबोधको प्राप्त होना ।

१८ वादित्व —महावादियोंका भी शास्त्रार्थमे हरानकी शक्तिका प्राप्त होना ।

( ) **क्रियाऋद्धिके दो भेद हैं** —जघादिचारणत्व और आकाशगामि व । इनमेसे जंघादि चारण वके नौ भेद है —

१ जंघाचारणत्व—भूमिके चार अगुल ऊपर आकाशम गमन करना ।

२ अग्निचारणत्व—आकाश प्रदेशपंक्तिके अनुसार अधर गमन करना ।

३ अग्निशिखाचारणत्व—अग्निकी शिखाके ऊपर गमन करना ।

४ जलचारणत्व—जलके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

५ पत्रचारणत्व—पत्तके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

६ फलचारणत्व—फलके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

७ पुष्पचारणत्व—पुष्पके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

८ बीजचारणत्व—बीजके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये गमन करना ।

९ तन्तुचारणत्व—तन्तुके ऊपर उसे बिना स्पर्श किये ही गमन करना ।

आकाशगामित्व—पैरोंक उठाने या रखनेक बिना ही आकाशमें गमन करना, पग रखते हुए गमन करना, पद्मासन या खड्गासनसे अवस्थित दशामें ही आकाशमें गमन करना ।

(३) विक्रिया ऋद्धिके— अणिमा आदि अनेक भेद हैं।

१ अणिमा—शरीरको अत्यन्त छोटा बना लेना। कमलनालमे भी प्रवेश कर जाना उसमें बैठकर चक्रवर्तीकी विभतिको बना लेना।

२ महिमा—सुमेरुपर्वतसे भी बड़ा शरीर बना लेना।

३ लघिमा—शरीरको वायु या आककी रुईसे भी हलका बना लेना।

४ गरिमा—शरीरको वज्रसे भा भारी बना लेना।

५—प्राप्ति —भमि पर स्थित रहते हुए भी अंगुलिक अग्रभागसे सुमेरुकी शिखर सूर्य चन्द्र आदिक स्पश करनेकी शक्तिको प्राप्त करना।

६ प्राकाम्य—जलमें भूमिकी तरह चलना भूमिपर जलक समान डूबना उछरना और अनक जातिक क्रिया गुण द्रव्यादिका बनाना।

७ ईशत्व—तीन लोक पर शासन करनकी शक्तिका पाना।

८ वशित्व—सर्व जीवोंको वशमें करनकी शक्तिका पाना।

९ अप्रतीघात—विना किसी रुकावटक पर्वत आदिक मध्यमें चल जाना।

१ अन्तर्धान—अदृश्य रूपको बनानेकी शक्तिका पाना।

११ कामरूपित्व—इच्छानुसार नाना प्रकारके रूपोंको बनानकी शक्तिका पाना।

(४) तप ऋद्धिके सात भेद हैं —१ उग्रतप, २ दीप्ततप ३ तप्ततप ४ महातप ५ घोरतप ६ घोरपराक्रमत्व और ७ घोरगुण ब्रह्मचारित्व। इनमें उग्रतपक दो भेद हैं —उग्रोग्रतप और अवस्थितोग्रतप।

१ उग्रतप—जो एक उपवास करके पारणाक पश्चात् दो दिन उपवास करते हे पुन पारणा करक तीन दिनका उपवास ग्रहण करते हैं। पुन पारणा करक चार दिनका उपवास ग्रहण करते हे। इसप्रकार जीवनपर्यन्त एक एक दिनका उपवास बढाते हुए विचरनेको उग्रोग्रतप कहते है। जो दीक्षा दिवसक उपवासक पश्चात् पारणा करके एक उपवास और एक पारणा करते हुए विचरते हैं, उन्हें यदि किसी कारणवश पारणाक दिन आहारका लाभ न हो और दो उपवास लगातार हो जायें तो वे निरन्तर बेला यानी दो उपवासक पश्चात् पारणा करते हुए विचरते है। यदि किसी दिन पारणा न हो और लगातार तीन उपवास हो जाय तो वे पुन तेलाक अनन्तर ही पारणा करते हुए विचरते है इसप्रकार आगे भी अवस्थित रूपसे उपवास और पारणाक साथ तपश्चरण करनको अवस्थितोग्रतप कहते हैं। उक्त दोनों प्रकारके उग्रतप करनवाले साधु अपनी तपश्चर्याका बढाते ही जाते हैं पीछे कभी नहीं मुड़ते।

२ दीप्ततप—महोपवास करने पर भी जिनका शारीरिक वाचनिक और मानसिक बल प्रवर्धमान रहता है मुखसे दुर्गन्ध नहीं आती प्रत्युत कमलके समान सुगन्धित निश्वास निकलता है ज्यों ज्यों तपश्चर्या बढती जाती है त्यों त्यों जिनका शरीर उत्तरोत्तर प्रभा और कान्तिसे युक्त होता जाता है एसे महान् तपको दीप्त तप कहते हैं।

३ तप्ततप—तपे हुए तवे पर गिरी हुई जलकी बिन्दु जैसे तत्काल सूख जाती है इसी प्रकार उपवासके अनन्तर अल्प आहारके ग्रहण करते ही उसका रस रुधिर आदिके रूपसे परिणत हो जाना और मल मूत्रादिका न होना तप्ततप कहलाता है।

४ महातप—पक्ष मास चतुर्मास, छह मास और एक वर्षका उपवास करना महातप है। इस महातपके अनुष्ठायी अक्षीणर्द्धि सर्वौषधर्द्धि आदि अनेक ऋद्धियोंसे युक्त होते हैं।

५ घोरतप—वात पित्तादिके प्रकुपित हो जानसे अनेक प्रकारके रोग हो जानेपर भी अनशनादि तपोंके अनुष्ठानमें दृढ रहना घोर तप कहलाता है। इस तपके करनेवाले तपस्वी बड़ीसे बड़ी बीमारी हो

जानेपर भी यदि अनशन तप कर रहे हों तो छह मास तकका उपवास कर डालते हैं अवमोदर्य तप करते हुए एक ग्रास आहार पर ही वर्षों बसर कर लेते हैं, वृत्तिपरिसंख्यान तप करते हुए तीन चार घरसे अधिक नहीं जाते रसपरित्याग तप करते हुए केवल उष्ण जल और चावल पर जीवन निर्वाह कर लेते हैं विविक्त शय्यासन तपकी अपेक्षा भयानक श्मशानोंमे, पर्वतोंकी कन्दराओं और गुफाओंमें सिंह चीता, व्याघ्रादिसे भरे वनोंमें जीवन पर्यन्त रहते हैं और आतप वर्षा और शीतका प्रबल कायक्लेश सहन करते हैं।

६ घोरपराक्रमत्व—जो घोर तपस्वी साधु गृहीत तपको उत्तरोत्तर बढाते रहते हैं और उसके द्वारा वे ऐसे पराक्रमको प्राप्त करते हैं कि जिसके द्वारा यदि वे चाहें, तो भूमण्डलको उलट पुलट कर दें पर्वतोंको भी चला दें सागरको भी सुखा दें और अग्नि जल तथा पाषाणकी भी वर्षा कर देंवे। ऐसे महान् तपको घोरपराक्रमतप कहते हैं।

७ घोरगुणब्रह्मचारित्व—चिरकाल तक तपश्चरण करते हुए अस्खलित ब्रह्मचारी रहना दु स्वप्नों का नहीं आना जिनके तपोमाहात्म्यसे भत प्रत डाकिनी शाकिनी आदि तुरन्त भाग जाय बड़ी-बड़ी बीमारियाँ शान्त हो जाय और वैर कलह तथा दुर्भिक्षादि भी मिट जायँ ऐसे महान् तपको घोर गुणब्रह्म चारित्व कहते है।

५ बल ऋद्धिके तीन भेद हैं—मनोबल वचनबल और कायबल।

मनोबल—अन्तर्मुहूतमे सम्पूण द्वादशाग श्रुतके अर्थ चिन्तनकी सामर्थ्यका पाना।

वचनबल—अन्तर्मुहूर्तमें सकल श्रुतके पाठ करनेकी शक्तिका प्राप्त करना।

कायबल—एक मास चार मास छह मास और एक वष तक कायोत्सर्ग करके प्रतिमा योगको धारण करनेपर भी क्लेश रहित रहना और कनीयसी (छोटी) अगुलीके द्वारा तीनों लोकोंको उठाकर अन्यत्र रखनकी सामर्थ्यका होना।

(६) औषधि ऋद्धिके आठ भेद हैं—१ आमर्श २ क्ष्वेल ३ जल्ल ४ मल ५ विट, ६ सर्वौषधिप्राप्त ७ आस्याविष ८ दृष्ट्याविष।

१ आमर्श—हस्त पाद आदिके स्पर्शसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

२ क्ष्वेल—निष्ठीवन (थूक) कफ लार आदिके संयोगसे रोगियोंके रोगोका नष्ट हो जाना।

३ जल्ल—प्रस्वेद (पसेव या पसीना) के आश्रयसे संचित रजोमलके द्वारा रोगियोंके रोगोंका नष्ट हो जाना।

४ मल—कान नाक दात और आखके मलसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

५ विट्—विष्ठा मूत्र, शुक्र आदिके संयोगसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

६ सर्वौषधिप्राप्त—शरीरके अग प्रत्यंग आदि किसी भी अवयवके संस्पर्शसे अथवा अवयव संस्पृष्ट वायुके संस्पर्शसे रोगियोंके रोगोका दूर हो जाना।

७ आस्याविष—उग्र विषसे मिश्रित भी आहार जिनके मुखमें जाते ही निर्विष हो जाय अथवा जिनके वचनोंको सुनकर महान् विषसे व्याप्त भी पुरुष विष रहित हो जायँ।

८ दृष्ट्याविष—जिनके अवलोकन मात्रसे ही जीवोंके शरीरमें व्याप्त भयंकरसे भी भयंकर विष दूर हो जाय। अथवा दृष्टिविष सर्पादिकोंका विष जिनकी दृष्टिसे दृष्टि मिलाते ही दूर हो जाय।

(७) रस ऋद्धिके छह भेद हैं—१ आस्यविष, २ दृष्टिविष, ३ क्षीरस्रावी ४ मध्वास्रावी, ५ सर्पिरास्रावी और ६ अमृतास्रावी।

१ आस्यविष—क्रोधावेशमें किसी प्राणीसे 'मर जाओ' ऐसा कहनेपर तत्काल उसका मरण हो जाय, ऐसी सामर्थ्यका प्राप्त होना।

२ दृष्टिविष—क्रोधावेशमें जिसकी ओर देखें उसका तत्क्षण मरण हो जाय।

३ क्षीरस्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन दूधके समान स्वादयुक्त हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको दूधके समान सन्तोष और पोषणको देवें।

४ मध्वास्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन मधुके समान मिष्ट हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको मधुके समान मिष्ट प्रतीत हों।

५ सर्पिरास्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन घीके समान स्वादयुक्त हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको घीके समान मधुर प्रतीत हों।

६ अमृतास्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ रूखा भी भोजन अमृतके स्वाद समान परिणत हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको अमृत तुल्य प्रतीत हों।

(८) **क्षेत्रऋद्धिके दो भेद हैं**—अक्षीण महानस ऋद्धि और अक्षीणमहालय ऋद्धि।

१ अक्षीणमहानस ऋद्धि—इस ऋद्धिके धारक साधु जिस रसोई घरमें भोजन कर आवें उस दिन उसके यहाँ चक्रवर्तीके परिवारके भोजन कर लेनेपर भी भोजनकी कमीका न होना।

२ अक्षीणमहालय ऋद्धि—इस ऋद्धिके धारक साधु जिस मठ वसतिका आदि स्थानपर बैठे हों वहां पर समस्त देव मनुष्य तिर्यंच आदिके निवास करने पर भी स्थानकी कमीका न होना।

इस प्रकार बुद्धिऋद्धिके १८ क्रियाऋद्धिके १ विक्रियाऋद्धिके ११ तपऋद्धिके ८ बलऋद्धिके ३ औषधिऋद्धिके ८ और रसऋद्धिके ६ ये सब भेद मिलाने पर (१८ + १ + ११ + ८ + ३ + ८ + ६ = ६४) चौंसठ भेद हो जाते हैं। जिनेन्द्र भगवान् इन सभी ऋद्धियोंके और ऋद्धिधारक साधुओंके स्वामी होते हैं अतएव उन्हें ऋद्धीश कहते हैं। (५ ६६)

६५—योगी—जिसके योग पाया जाय उसे योगी कहते हैं। ध्यानकी अष्टांग सामग्रीको योग कहते हैं। वे आठ अंग ये हैं—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। हिंसादि पंच पापोंके यावज्जीवन त्यागको यम कहते हैं। कालकी मर्यादा सहित भोगोपभोग सामग्रीके त्यागको नियम कहते हैं। चंचलता रहित होकर स्थिरतापूर्वक बैठने या खड़े रहनेको आसन कहते हैं। श्वासोच्छ्वासके निरोधको प्राणायाम कहते हैं। मनको पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाकर ललाटपट्ट पर अर्ह अक्षरके ऊपर लगानेको प्रत्याहार कहते हैं। आर्त्त रौद्र परिणामोंका परित्याग कर आत्मकल्याणके चिन्तनको ध्यान कहते हैं। आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेको समाधि कहते हैं। इस प्रकारकी समाधिके प्राप्त करनेके लिए जो विशेष चिन्तवन किया जाता है उसे धारणा कहते हैं। उस धारणाके ५ भेद हैं—पार्थिवी धारणा आग्नेयीधारणा मारुतीधारणा वारुणीधारणा और तात्त्विकी धारणा।

(१) पार्थिवीधारणाका स्वरूप—इस मध्यलोकको क्षीरसमुद्रके समान निर्मल जलसे भरा हुआ चिन्तवन करे। पुनः उसके बीचमें जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौड़ा एक हजार पत्तोंवाला तपाये हुए स्वर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमलके मध्यमें कर्णिकाके समान सुवर्णमयी सुमेरु पर्वत चिन्तवन करे। उसके ऊपर पाण्डुकवनमें पाण्डुक शिलापर स्फटिक मणिमयी सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिए बैठा हूं कि अपने कर्मोंको जलाकर आत्माको पवित्र कर डालूँ। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको पार्थिवीधारणा कहते हैं।

(२) आग्नेयी धारणाका स्वरूप—उसी सुमेरु पर्वतके ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपनी नाभिके भीतर ऊपरको ओर उठा हुआ एवं खिले हुए सोलह पत्तोंका सफेद कमल विचारे। उसके प्रत्येक पत्तेपर पीतवर्णके सोलह स्वर (अ, आ इ ई उ ऊ, ऋ, ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ, औ अं अः) लिखे हुए विचारे। इस कमलके मध्यमें श्वेतवर्णकी कर्णिका पर 'हं' अक्षर लिखा हुआ सोचे। पुनः

दूसरा कमल ठीक इस कमलक ऊपर औंधा नीचेकी ओर मुख किये फैले हुए आठ पत्तोंवाला सोचे। इसका धुआ जैसा कुछ मैला रंग विचारे। इसके प्रत्येक पत्तेपर क्रमश काले रंगसे लिखे हुए ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मोंको विचारे। पुन नाभिकमलके बीचमें जो ह लिखा है उसके रेफसे धुँआ निकलता विचारे। पुन धीरे धीरे उससे अग्निकी शिखाको निकलती हुई विचारे। यह अग्निकी शिखा बढती हुई ऊपरको आकर आठ कर्म दलवाल कमलको जला रही है, ऐसा विचारे। फिर वह अग्निकी शिखा कमलका मध्यभाग जलाकर ऊपर मस्तक पर आ जावे और उसकी एक लकीर दाहिनी ओर आ जावे। फिर नीचेकी ओर आकर दोनों कोनोंको मिलाकर एक अग्निमयी लकीर बन जावे अर्थात् अपने शरीरके बाहर तीन कोनका अग्निमडल व्यास हो गया है ऐसा विचारे। इस त्रिकोण अग्निमडलकी तीनों लकीरोंमें र र र र अग्निमय लिखा विचारे। फिर इस त्रिकोणके बाहर तीनो कोनोंपर साथियाको अग्निमयी सोचे। भीतरी तीनों कोनोंमे 'अर्हं ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर यह सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोको और बाहर इस शरीरको यह अग्निमंडल जला रहा है, जलाते जलाते सर्व कर्म वा शरीर राख हो गये हैं और अग्नि धीरे धीरे शान्त हो रही है और आत्मा स्फटिक बिम्बसदृश दिखाई दे रहा है। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको आग्नेयी धारणा कहत हैं।

(३) मारुती धारणाका स्वरूप —फिर वही ध्यानी ऐसा चिन्तवन करे कि चारो ओर बड जोरसे निर्मल वायु बह रही है और मेरे चारो तरफ वायुने एक गोल मण्डल बना लिया है। उस मण्डलमें आठ जगह घेरेमें साय सायं सफेद रगसे लिखा हुआ है। वह वायु कर्म व शरीरकी भस्मको उड़ा रही है और आत्माको स्वच्छ कर रही है। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको मारुती धारणा कहते हैं।

(४) वारुणी धारणाका स्वरूप —फिर वह ध्यानी ऐसा विचार करे कि आकाशमे मेघोंके समूह आ गये, बिजली चमकने लगी बादल गरजने लगे और खूब जोरसे पानी बरसने लगा है। अपनेको बीचमें बैठा हुआ विचारे और अपने ऊपर अर्धचन्द्राकार पानीका मडल विचारे। उसे प प प प जलक बीजाक्षरसे लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगी हुई राखको धोकर साफ कर रहा है और मेरा आत्मा स्वच्छ दर्पणवत् निर्मल हो रहा है। ऐसा विचार करनेको वारुणी धारणा कहते हैं।

(५) तात्त्विकी धारणाका स्वरूप—तदनन्तर वह ध्यानी चिन्तवन करे कि मैं समवसरणके मध्य वर्त्ती सिंहासनपर बैठा हुआ हू, मेरा आत्मा केवलज्ञानसे मडित है कोटि सूर्य चन्द्रकी कान्तिको तिरस्कृत कर रहा है और द्वादश सभाके सब जीव मुझे नमस्कार कर रहे हैं। अब मैं शुद्ध बुद्ध कृतकृत्य परम वीतराग सर्वज्ञ हो गया हूँ। मेरा आत्मा अखड चैतन्य पिंड स्वरूप है, अनन्त गुणोंका धाम है और मै अब सर्वथा निर्लेप अजर अमर पदको प्राप्त हो गया हूँ। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको तात्त्विकीधारणा कहते है। (६ १)

(६-करणानायक—आत्माके जो परिणाम कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात करनमें सहायक होते हैं उन्हें करण कहते हैं। उनक तीन भेद है —अध प्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनि वृत्तिकरण। जब जीव सम्यक्त्व देश सयम सकल सयम उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणीको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होता है तब वह इन्हीं तीनों परिणामविशेषोंके द्वारा अपना अभीष्ट सिद्ध करता है। जिस समय जीवके परिणाम प्रतिक्षण उत्तरोत्तर विशुद्धिको लिए हुए बढ़ते हैं और आगे आगेक समयोंमे उनकी विशुद्धिता बराबर बढ़ती जाती है परन्तु फिर भी जो उपरितन समयवर्त्ती परिणाम अधस्तन समयवर्त्ती जीवोंके साथ समता लिए हुए पाये जाते हैं, उन्हें अध प्रवृत्तकरण कहते हैं। जिन परिणामोंमें विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी अपूर्वता लिए हुए पाई जाती है और जिसके द्वारा प्रतिक्षण कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है, तथा उनकी स्थिति और अनुभाग भी बड़ी तेजीसे घटने लगते हैं, ऐसे परिणामोंको अपूर्वकरण कहते है। इसके अनन्तर वेही परिणाम जब और भी अधिक विशुद्धिको लेकर बढ़ते हैं और

जिनके द्वारा कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात होने लगता है तथा जिनके द्वारा ही जीव सम्यक्त्व देशसंयम सकलसंयम आदिको प्राप्त करता है ऐसे विशिष्ट परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। भगवान्ने ऐसे विशिष्ट जातिके करण परिणामोंका प्रवचन किया है इसलिए उन्हे करणनायक कहते हैं। (६ १६)

१७–निग्रन्थनाथ–सर्व बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते हैं। निर्ग्रन्थ साधुओंके चार भेद हैं—१ ऋषि २ यति ३ मुनि और ४ अनगार। ऋद्धि सम्पन्न साधुओंको ऋषि कहते हैं। अवधि मन पर्यय और केवलज्ञानी साधुओंको मुनि कहते है। कषायोंके उपशमन या क्षपण करनेवाले साधुओंका यति कहते हैं और जो घर छोड़कर बनमें निवास करते हैं तथा शुद्ध मूलगुण और उत्तरगुणोंका पालन करते हैं उन्हें अनगार कहते हैं। भगवान इन चारों ही प्रकारके साधुओंके नाथ है अत उन्हे निर्ग्रन्थनाथ कहते है। (६ २)

१८–महाशील शीलके अठारह हजार भेदोंके धारण करनेसे भगवान्को शीलेश या महाशील नामसे पुकारते है। शीलके अठारह हजार भेद इस प्रकार निष्पन्न होते है —अशुभ मन वचन कायकी प्रवृत्तिको शुभ मन वचन कायके द्वारा रोकनेसे (३ × ३ ९) नौ भेद होते है। इन नौ भेदोंको आहार भय मैथुन और परिग्रहरूप चारो सज्ञाओंके परित्यागसे गुणित करनेपर (९ × ४ – ३६) छत्तीस भेद हो जाते हैं। इन्हे पाचों इन्द्रियोंके निरोधसे गुणित करनेपर (३६ × ५ = १८) एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हे पृथ्वी अप् तेज वायु वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असज्ञिपचेन्द्रिय और सज्ञिपचेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोंकी रक्षाके द्वारा गुणित करनेसे (१८ १ १८) अठारहसौ भेद हो जाते है। उन्हे उत्तम क्षमादि दश धर्मोंमे गुणित करने पर (१८ × १ – १८) अठारह हजार शीलके भेद हो जाते है। कुछ आचार्योंके मतसे अन्य प्रकार अठारह हजार भेद उत्पन्न होते हैं—स्त्रिया तीन जातिकी होती हैं। देवी मानुषी और तिरश्ची। इनका मन वचन कायसे त्याग करने पर (३ × ३ – ९) नो भेद होते है। इन्हे कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर (९ × ३ २७) सत्ताइस भेद होते हैं। इन्हे पाँचों इन्द्रियोंके पाचों विषयोंसे गुणित करने पर (२७ × ५ – १३५) एकसौ पतीस भेद हो जाते हैं। इन्हे द्रव्य और भावसे गुणित करने पर (१३५ २ = २७) दो सौ सत्तर भेद हो जाते हैं। इन्हें चार सज्ञाओंके त्यागसे गुणा करने पर (२७ × ४ १ ८) एक हजार अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हें अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायके त्यागसे गुणित करने पर (१ ८ × १६=१७२८) सत्तरह हजार दो सौ अस्सी भेद हो जाते है। ये चेतन स्त्री सम्बन्धी भेद हुए। अचेतन स्त्री काष्ठ पाषाण और लेपक भेदसे तीन प्रकारकी होती है। इन तीनका मन और कायसे त्याग करने पर (३ × २ = ६) छै भेद हो जाते है। उनका कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करने पर (६ × ३ – १८) अठारह भेद हो जाते हैं। उन्हे स्पर्श आदि पाच विषयोंसे त्याग करने पर (१८ × ५ = ९) भेद होते हैं। उन्हें द्रव्य भावसे गुणा करने पर (९ × २ – १८) एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उन्हें क्रोधादि चार कषायोंसे त्याग करने पर (१८ × ४ – ७२) सात सौ अस्सी भेद अचेतन स्त्रीके त्याग सम्बन्धी होते हैं। इस प्रकार चेतन स्त्री त्याग सम्बन्धी १७२८ भेदोंमे इन ७२ भेदोंके मिला देनेपर कुल १८ शीलके भेद हो जाते है। (६ ३५। १ ७२)

१९–आचार्यपरमेष्ठीके ३६ गुण–इस प्रकार बतलाये गये है—१ पंचाचारका धारण करना २ संघ और श्रुतका धारण करना, ३ भोजन पान स्थान शय्या आदिमे व्यवहारवान् होना ४ शिष्योंके अवगुणोंको दूसरोंके सामने प्रगट न करना ५ साधुके लज्जित होनेपर दोषका ढांकना, ६ अन्य साधुके सामने दूसरे साधुके दोष न कहना ७ दूसरों के अभिभाषणमें सन्तुष्ट रहना, ८ किसी साधुके परीषहादिके न सह सकनेके कारण उद्विग्न या चल चित्त होनेपर नाना प्रकारके सुन्दर उपदेश देकर उसे स्वधर्ममें स्थापित करना। ९ स्थितिकल्पी होनेपर भी वस्त्रका त्यागी रहना १ अनुद्दिष्टाहारभोजी होना ११ जिस ग्राममें निद्रा ले

दूसरे दिन उस ग्राममें भोजन न करे, १२ विरक्तचित्त हो १३ दीक्षा दिवससे लेकर नित्य ही समता भाव पूर्वक प्रतिक्रमण करना १४ स्वयोग्य व्रतोंका धारण करना १५ संघमें सर्वसे ज्येष्ठ होना, १६ पाक्षिक प्रत्याख्यान करने-करानेवाला होना १७ षण्मासिक योगका धारण करनेवाला होना, १८ एक मासमें दो निषिद्धाका अवलोकन करना। बारह तपोंको धारण करना और छह आवश्यकोंका पालना ये आचार्य परमेष्ठीके ३६ गुण कहे गये हैं। (६ ८६)

२०-**साधुपरमेष्ठीके २ गुण**— दस सम्यक्त्वगुण मत्यादि पाच ज्ञानगुण और तेरह प्रकारका चारित्र, ये साधुके २८ गुण माने गये हैं। इनमेंसे सम्यक्त्वके दस गुण इस प्रकार हैं —१ आज्ञासम्यक्त्व २ मार्गसम्यक्त्व ३ उपदेशसम्यक्त्व ४ सूत्रसम्यक्त्व ५ बीजसम्यक्त्व ६ सक्षेपसम्यक्त्व ७ विस्तारसम्यक्त्व ८ अर्थसम्यक्त्व ९ अवगाढसम्यक्त्व और १ परमावगाढसम्यक्त्व। इनका सक्षेपमें अर्थ इस प्रकार है —

१ आज्ञासम्यक्त्व—वीतराग भगवान्‌की आज्ञाका ही दृढ़ श्रद्धान करना।

२ मार्गसम्यक्त्व—तिरेसठ शलाका पुरुषोंका चरित सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

३ उपदेशसम्यक्त्व—धर्मका उपदेश सुनकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना।

४ सूत्रसम्यक्त्व—आचार सूत्रको सुनकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना।

५ बीजसम्यक्त्व—द्वादशागके बीज पदोंको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

६ सक्षेपसम्यक्त्व—तत्त्वोंको सक्षेपसे ही जानकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

७ विस्तारसम्यक्त्व—विस्तारसे द्वादशागको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

८ अर्थसम्यक्त्व—परमागमके किसी प्रवचनके अर्थको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

९ अवगाढसम्यक्त्व—अगबाह्य प्रवचनका अवगाहन कर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

१ परमावगाढसम्यक्त्व—केवलज्ञानके साथ अत्यन्त अवगाढ सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

मतिज्ञानादि पाच ज्ञानगुण और पाच महाव्रत पाच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र सर्वविदित ही है। (६ ८६)

२१-**सागर**—यद्यपि यह भूतकालकी चौबीसीमसे दूसरे तीर्थकरका नाम है तथापि टीकाकारने निरुक्तिपूर्वक एक नवीन अर्थका उद्भावन किया है। वे कहते हैं कि गर नाम विषका है जो गरके साथ रहे उसे सगर कहते हैं। इस प्रकारकी निरुक्तिमे सगर शब्द धरणेन्द्रका वाचक हो जाता है। भगवान् तीर्थकर उसके अपत्यके समान है अत उन्हें सागर कहते है। भगवान्‌का धरणेन्द्रका पुत्र कहनेका अभिप्राय यह बतलाया गया है कि जब तीर्थकर भगवान् बाल अवस्थामे होते हैं तब धरणेन्द्र उन्हें अपनी गोदमे लेकर सिंहासन पर बैठता है और पुत्रवत् प्यार करता है। (७ २)

२२-**निर्मल**—इस नामका अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि तीर्थकर उनके माता पिता नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती बलभद्र देव और भोगभूमियोंके आहार तो होता है, पर नीहार अर्थात् मल मूत्र नहीं होता है। (७ ६८)

२३-**रात्रिभोजनका फल**—जो मनुष्य रात्रिको भोजन करता है, वह विरूप विकलाग, अल्पायु सदारोगी दुर्भागी और नीच कुलमें उत्पन्न होता है। (८ ६३)

२४-**रात्रिभोजनत्यागका फल**—जो पुरुष रात्रिके भोजनका सर्वथा त्याग करता है वह सुरूप सकलांग दीर्घायु सदा नीरोगी सौभाग्य-सम्पन्न उच्च कुलीन होता है और जगत्पति या तीर्थकरके वैभव को प्राप्त होता है। (८, ६३)

२५-**पुरुषकी बहत्तर कलाएं**—कलानिधि नामकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागर सूरिने पुरुषकी बहत्तर कलाओंके नाम इस प्रकार बतलाये हैं:—१ गीतकला २ वाद्यकला, ३ बुद्धिकला, ४ शौचकला, ५ नृत्यकला, ६ वाच्यकला, ७ विचारकला, ८ मंत्रकला, ९ वास्तुकला, १० विनोदकला, ११ नेपथ्यकला,

१२ विलासकला १३ नीतिकला १४ शकुनकला १५ क्रीडनकला, १६ चित्रकला १७ संयोगकला, १८ हस्तलाघवकला १९ कुसुमकला २० इन्द्रजालकला २१ सूचीकर्मकला २२ स्नेहकला २३ पानकला, २४ आहारकला २५ विहारकला २६ सौभाग्यकला २७ गन्धकला २८ वस्त्रकला २९ रत्नपरीक्षा ३० पत्रकला ३१ विद्याकला ३२ देशभाषितकला ३३ विजयकला ३४ वाणिज्यकला ३५ आयुधकला ३६ युद्धकला ३७ नियुद्धकला ३८ समयकला ३९ वर्तनकला ४० गजपरीक्षा ४१ तुरङ्गपरीक्षा ४२ पुरुषपरीक्षा ४३ स्त्रीपरीक्षा ४४ पक्षिपरीक्षा ४५ भूमिपरीक्षा ४६ लेपकला ४७ काष्ठकला ४८ शिल्पकला ४९ नृत्तकला ५० छद्मकला ५१ प्रश्नकला ५२ उत्तरकला ५३ शस्त्रकला ५४ शास्त्रकला, ५५ गणितकला ५६ पठनकला ५७ लिखितकला ५८ वक्तृत्वकला ५९ कवित्वकला ६० कथाकला ६१ वचनकला ६२ व्याकरणकला ६३ नाटककला ६४ छन्दकला ६५ अलंकारकला ६६ दर्शनकला, ६७ अवधानकला ६८ धातुकला ६९ धर्मकला ७० अर्थकला ७१ कामकला और ७२ शरीरकला। (८ ८३)

२६ षोडशार्थवादी—इस नामकी व्याख्यामें नैयायिकों द्वारा माने गये सोलह पदार्थोंका और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका नाम निर्देश किया गया है। (९ ३२)

२७ पञ्चार्थवर्णक—इस नामकी व्याख्या करते हुए चौबीस तीर्थकरोंके शारीरिक वर्णोंका वर्णन कर नैयायिक, बौद्ध, काणाद, जैमिनीय और सांख्य मत वालोंके द्वारा माने गये तत्त्व, देव, प्रमाण, वाद और मोक्षके स्वरूपका विस्तारसे चर्चा की गई है। साथ ही बतलाया गया है कि नैयायिक-वैशेषिक नैगमनयानुसारी हैं, सभी मीमांसकविशेष संग्रहनयानुसारी हैं, चार्वाक व्यवहारनयानुसारी हैं, बौद्ध ऋजुसूत्रनयानुसारी हैं और वैयाकरणादि शब्दनयानुसारी हैं। (९ ३३)

२८ पञ्चविंशतितत्त्ववित्—इस नामकी व्याख्यामें सांख्य सम्मत पच्चीस तत्त्वोंका निर्देश करके तथा अहिंसादि पाचों व्रतोंकी पच्चीस भावनाओंका सूत्रोल्लेख करके पच्चीस क्रियाओंका सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार विस्तारसे वर्णन किया गया है। (९ ४१)

२९-ज्ञानचतुर्विंशक—इस नामकी व्याख्या करते हुए भावश्रुतके बीस भेदोंका गो० जीवकाण्डकी संस्कृत टीकाके अनुसार विस्तारसे वर्णन किया गया है। साथ ही द्रव्यश्रुतके भेद बताकर उनके पद परिमाण आदिका भी विस्तृत विवेचन किया है। (९ ४३)

३० बहुधानक—इस नामकी व्याख्यामें एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय तकके तिर्यचों मनुष्यों देवों और नारकियोंके उत्कृष्ट और जघन्य आयुका पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है। (९ ७१)

३१ नयौघयुक्—इस नामकी व्याख्यामें नयोंके स्वरूप भेद आदिका विस्तृत विवेचन कर बताया गया है कि नैगम, संग्रह आदिक भेद आगम भाषाकी अपेक्षासे कहे गये हैं। किन्तु अध्यात्म भाषाकी अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय आदि भेद जानना चाहिए। (९ १०)

३५-परमनिर्जर—इस नामकी व्याख्यामें असंख्यातगुणश्रेणीरूप निर्जरावाले दश स्थानोंका विशद विवेचन किया गया है। (९ ९३)

३६ चतुरशीतिलक्षगुण—इस नामकी व्याख्यामें चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी उत्पत्ति इसप्रकार बतलाई गई है—१ हिंसा २ झूठ ३ चोरी ४ कुशील ५ परिग्रह ६ क्रोध, ७ मान ८ माया ९ लोभ १० रति ११ अरति १२ भय १३ जुगुप्सा १४ मन वचन कायकी दुष्टता १५, १६, १७ मिथ्यात्व १८ प्रमाद, १९ पिशुनत्व २० अज्ञान और २१ इन्द्रिय इनके निग्रहरूप २१ गुण होते हैं। इनका पालन अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार और अनाचार रहित करनेसे (२१×४=८४) चौरासी गुण हो जाते हैं। इन्हें आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय, विवेक व्युत्सर्ग तप छेद परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान इन दश

शुद्धियोंसे गुणा करनेपर (८४ × १ ८४) आठ सौ चालीस भेद हो जाते हैं। इन्हें पांचों इन्द्रियोंके निग्रह और एकेन्द्रियादि पांच प्रकारके जीवोंकी रक्षारूप दश प्रकारके संयमसे गुणित करनेपर (८४ × १ =८४ ०) चौरासी सौ भेद हो जाते हैं। इन्हें आकम्पित अनुमानित दृष्ट बादर सूक्ष्म छन्न शब्दाकुलित बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी इन आलोचना सबधी दश दोषोके परिहारसे गुणित करने पर (८४ × १ ८४) चौरासी हजार गुण हो जाते हैं। इन्हें उत्तमक्षमा मादव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग, आर्कि-चन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंसे गुणित करनेपर (८४ ०× १ ८४०) चौरासी लाख उत्तर गुण निष्पन्न होते हैं। (६ ३५।६,६ ।१ ३६)

३४–**अविद्यासंस्कारनाशक**—इस नामकी व्याख्यामें बताया गया है कि अविद्या या अज्ञानका अड़तालीस संस्कारोंके द्वारा नाश करे। उनके नाम इस प्रकार है —१ सद्दर्शनसस्कार २ सम्यग्ज्ञानसंस्कार, ३ सच्चारित्रसस्कार ४ सत्तप संस्कार ५ वीर्यचतुष्कसंस्कार ६ अष्टमात्प्रवेशसस्कार ७ अष्टशुद्धिसस्कार, ८ परीषह जयसस्कार ९ त्रियोगासयम च्युतिशीलसस्कार १ त्रिकरणासंयमारतिसंस्कार ११ दशासंयमो परमसंस्कार १२ अक्षनिर्जयसंस्कार १३ संज्ञानिग्रहसस्कार १४ दशधर्मधृतिसस्कार, १५ अष्टादशशीलसहस्र संस्कार १६ चतुरशीतिलक्षगुणसस्कार १७ विशिष्टधर्मध्यानसस्कार १८ अतिशयसंस्कार १९ अप्रमत्तसंयम सस्कार २ दृढश्रुततेजाऽकप्रकरणअध्यारोहणसस्कार २१ अन तगुणशुद्धिसंस्कार २२ अप्रवृत्तिकृतिसस्कार, २३ पृथक्त्ववितकवीचारध्यानसकार २४ अपूर्वकरणसंस्कार २५ अनिवृत्तिकरणसंस्कार, २६ बादरकषाय कृष्टिकरणसस्कार २७ सूक्ष्मकषायकृष्टिकरणसस्कार २८ बादरकषायनिर्लेपनसस्कार २९ सूक्ष्मकषायकृष्टिनिर्लेपनसस्कार ३ सूक्ष्मकषायचरणसस्कार ३१ प्रक्षीणमोहत्वसंस्कार ३२ यथाख्यातचारित्रसंस्कार ३३ एकत्ववितर्कावचार यानसंस्कार ३४ घातिघातनसस्कार ३५ केवलज्ञान दर्शनोद्गमसस्कार ३६ तीर्थप्रवर्त्तन सस्कार ३७ सूक्ष्मक्रियाध्यानसस्कार ३८ शैलेशीकरणसंस्कार ३९ परमसंवरधर्त्तिसस्कार ४ योगकृष्टिकरण सस्कार ४१ योगकृष्टिनिलपनसस्कार ४२ समुच्छिन्नक्रियसंस्कार ४३ परमनिर्जराश्रयणसस्कार ४४ सर्वकर्म क्षयसस्कार ४५ अनादिभवपर्ययविनाशसंस्कार ४६ अनन्तसिद्धत्वादिगतिसंस्कार ४७ अदेहसहजज्ञानोपयोगैश्वयसस्कार और ४८ देहसहा थाक्षयोपयोगश्वयसस्कार। (१ ४)

२५–**इदमेव पर तोथम्**—इस श्लोककी याख्यामें इस जिनसहस्रनामस्तवनको परम तीर्थ बतलाते हुए तीर्थक्षेत्रोंके नामोंका उल्लेख किया गया है जो कि इस प्रकार हैं —१ अष्टापद (कैलाश) २ गिरनार ३ चम्पापुरी ४ पावापुरी ५ अयो या ६ शत्रुजय ७ तुगीगिरि ८ गजपंथ ९ चूलगिरि १ सिद्धवरकूट ११ मेढगिरि (मुक्तागिरि) १२ तारागिरि (तारगा) १३ पावागिरि १४ गोम स्वामि १५ माणिक्यदेव १६ चीरावलि १७ रेवातट १८ रत्नपुर १९ हस्तिनापुर २ वाणारसी और २१ राजगृह आदि। (श्लोक न १४२)

२६ **स्वभ्यस्तपरमासन**—इस नामकी जो दोनों टीकाकारोने व्याख्या की है उससे विदित होता है कि केवलज्ञान होनेके पश्चात् तीथकर भगवान विहारके समय भी पद्मासनस्थित ही गगनविहारी रहते हैं। इसे देखते हुए जो लोग भक्तामरस्तोत्रके पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्त पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति' का आश्रय लेकर अरहंत अवस्थामें भी तीथकर भगवान्के पाद निक्षेप मानते हैं वह मान्यता विचारणीय हो जाती है। (६–१)

— —

जिनसहस्रनामस्तवन

(प आशाधरविरचितम्)

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुक । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्य करुणार्णवम् ॥ १ ॥
सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्तत । सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुख । अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यत ॥ ३ ॥
भक्त्या प्रोत्सार्यमाणो[1]ऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृत । त्वां नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥ ४ ॥
जिन-सर्वज्ञ यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथ योगिनाम् । निर्वाण ब्रह्म बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरै शत ॥ ५ ॥

१ अथ जिनशतम्

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट जिनपृष्ठो जिनोत्तम । जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वर ॥ ६ ॥
जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट । जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्त्ता जिनाधिभू ॥ ७ ॥
जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायक । जिनेट् जिनपरिवृढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥
जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता । जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपालक ॥ ९ ॥
जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुञ्जर । जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तर ॥१ ॥
जिनवर्यो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्वह । जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्न जिनोरसम् ॥११॥
जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाग्र्य जिनपुंगव जिनहंसो जिनोत्तंसो जिननागो जिनाग्रणी ॥१२॥
जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीर्जिनसत्तम । जिनप्रवर्ह परमजिनो जिनपुरोगम ॥१३॥
जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिम । श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥१४॥
निर्विघ्नो विरजा शुद्धो निस्तमस्को निरञ्जन । घातिकर्मान्तक कर्ममर्माविल्कमहानघ ॥१५॥
वीतरागोऽक्षुद्द्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽगद । वितृष्णो निर्ममोऽसङ्गो निर्भयो वीतविस्मय ॥१६॥
अस्वप्नो निश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमर । अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विषादस्त्रिषष्टिजित् ॥१ ॥

२ अथ सर्वज्ञशतम्

सर्वज्ञ सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वावलोकन । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मक ॥१८॥
अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽखिलार्थदृक । न्यक्षदृग्विश्वतश्चक्षुर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥१९॥
आनन्द परमानन्द सदानन्द सदोदय । नित्यानन्दो महानन्द परानन्द परोदय ॥२ ॥
परमोज परतेज परधाम परंमह । प्रत्यग्ज्योति परंज्योति परंब्रह्म परंरह ॥२१॥
प्रत्यगात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदय । परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतन ॥२२॥
परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठित । ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक ॥२३॥
एकविद्यो महाविद्यो महाब्रह्मपदेश्वर । पञ्चब्रह्ममय सार्व सर्वविद्येश्वर स्वभू ॥२४॥
अनन्तधीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तदृक । अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिदनन्तमुत् ॥२५॥
सदाप्रकाश सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधी । कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽचलस्थिति ॥२६॥
निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांवर । भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रिय ॥२७॥
केवली केवलालोको लोकालोकविलोकन । विविक्त केवलोऽव्यक्त शरण्योऽचिन्त्यवैभव ॥२८॥
विश्वभृद्विश्वरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुख । विश्वव्यापी स्वयंज्योतिरचिन्त्यात्माऽमितप्रभ ॥२९॥
महौदार्यो महाबोधिर्महालाभो महोदय । महोपभोग सुगतिर्महाभोगो महाबल ॥३ ॥

---

१ प्रोत्साह्यमानोऽपि इत्यपि पाठ ।

३ अथ यज्ञार्हशतम्

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मघवार्चित । भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थक्रतुपौरुष ॥३१॥
पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवानत्रभवान्महान् । महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक ॥३२॥
आराध्य परमाराध्य पंचकल्याणपूजित । दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधारार्चितास्पद ॥३३॥
सुस्वप्नदर्शी दिव्यौजाः शचीसेवितमातृकः । स्याद्रत्नगर्भ श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रित ॥३४॥
दिव्योपचारोपचित पद्मभूर्निष्कल स्वज । सर्वीयजन्मा पुण्यांगो भास्वानुद्भूतदवत ॥३५॥
विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुत । शचीसृष्टप्रतिच्छन्द: सहस्राक्षदृगुत्सव ॥३६॥
नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृत । हर्षाकुलामरखगश्चारणर्षिमतोत्सव ॥३ ॥
व्योम विष्णुपदारत्ना स्नानपीठायिताद्रिराट् । तीर्थेशमन्यदुग्धाब्धि स्नानाम्बुस्नातवासव ॥३८॥
गन्धाम्बुपूतत्रलोक्यो वज्रसूचीशुचिश्रवा । कृतार्थितशचीहस्त शक्रोद्घुष्टेष्टनामक ॥३९॥
शक्रारब्धानन्दनृत्य शचीविस्मापिताम्बिक । इन्द्रनृत्यन्तपितृको रवपूर्णमनोरथ ॥४ ॥
आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यम । दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद्भूभुवःस्वःपतीडित ॥४१॥
कुबेरनिर्मितास्थान श्रीयुग्योगीश्वरार्चित ब्रह्मेड्यो ब्रह्मविद्वेद्यो याज्यो यज्ञपति क्रतु ॥४२॥
यज्ञांगमस्तृत यज्ञो हवि स्तुत्य स्तुतीश्वर । भावो महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजक ॥४३॥
दयायागो जगत्पूज्य पूजार्हो जगदर्चित । देवाधिदेव शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरु ॥४४॥
सहूतदेवसघार्च्य पद्मयानो जयध्वजी । भामण्डली चतु षष्टिचामरो देवदुन्दुभि ॥४५॥
वागस्पृष्टासन छत्रत्रयराट पुष्पवृष्टिभाक । दिव्याशोको मानमर्दी संगीतार्होऽष्टमंगल ॥४६॥

४ अथ तीर्थकृच्छतम्

तीर्थकृत्तीर्थसृट तीर्थकरस्तीर्थंकरः सुदृक । तीर्थकर्ता तीर्थभर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥४७॥
धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारक । तीर्थप्रवर्तकस्तीर्थवेधास्तीर्थविधायकः ॥४८॥
सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तीर्थिकतारक । सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥४९॥
स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहतार्थवाक । पुण्यवागर्थ्यवागर्धवागर्धीयोक्तिरिद्धवाक ॥५ ॥
अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तभिद् दुर्णयान्तकृत् । सार्थवागप्रयत्नोक्ति प्रतितीर्थमदघ्नवाक ॥५१॥
स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौष्ठवाक । अपौरुषेयवाक्छास्ता रुद्धवाक सप्तभंगिवाक् ॥५२॥
अवर्णगी सर्वभाषामयगीर्व्यक्तवर्णगीः । अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥५३॥
अद्वैतगीः सूनृतगी सत्यानुभयगी सुगीः । योजनव्यापिगी क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्त्वगी ॥५४॥
भव्यैकश्रव्यगु सद्गुश्चित्रगु परमार्थगु । प्रशान्तगु प्राश्निकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥५५॥
सुश्रुति सुश्रुतो याज्यश्रुति सुश्रुन्महाश्रुतिः । धर्मश्रुति श्रुतिपति श्रुत्युद्धर्ता ध्रुवश्रुतिः ॥५६॥
निर्वाणमार्गदिग्मार्गदेशकः सर्वमार्गदिक । सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥
देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशक । वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभंगीशो गिरां पतिः ॥५८॥
सिद्धाज्ञ सिद्धवागाज्ञासिद्ध सिद्धैकशासनः । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमन्त्र सुसिद्धवाक ॥५९॥
शुचिश्रवा निरुक्तोक्तिस्तंत्रकृन्न्यायशास्त्रकृत् । महिष्ठवाग्महानाद कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वन ॥६ ॥

५ अथ नाथशतम्—

नाथ पति परिवृढ स्वामी भर्ता विभुः प्रभु । ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥
ईशोऽधिपतिरीशान इन इन्द्रोऽधिपोऽधिभू । महेश्वरो महेशानो महेश परमेशिता ॥६२॥
अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वर । विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेट विश्वेश्वरोऽधिराट ॥६३॥
लोकेश्वरो लोकपति र्लोकनाथो जगत्पतिः । त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ॥६४॥

पिताः परः परतरो जेता जिष्णुरनीश्वर । कर्त्ता प्रभूष्णुर्भ्राजिष्णु प्रभविष्णु स्वयंप्रभु ॥६५॥
लोकजिद्विश्वजिद्विश्वविजेता विश्वजित्वरः । जगज्जेता जगज्जत्रो जगज्जिष्णुजगज्जयी ॥६६॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता भूर्भु व'स्वरधीश्वर । धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥
गतिः पाता वृषो वर्यो मन्त्रकृच्छुभलक्षण । लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुर्निरुत्सुक ॥६८॥
धीरो जगद्धितोऽजय्यस्त्रिजगत्परमेश्वर । विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वर ॥६९॥
त्रिजगद्वल्लभस्तु गस्त्रिजगन्मंगलोदय' । धर्मचक्रायुध सद्योजातस्त्रैलोक्यमंगल ॥ ॥
वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकर । महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायक ॥७१॥

६ अथ योगिशतम्

योगी प्रव्यक्तनिर्वेद साम्यारोहणतत्पर । सामयिकी सामयिको नि प्रमादोऽप्रतिक्रम ॥ २॥
यम प्रधाननियम स्वभ्यस्तपरमासन । प्राणायामचण सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रिय ॥ ३॥
धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठ समाधिराट । स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायक ॥ ४॥
निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्र ऋषि' साधुयतिमु नि । महर्षि साधुधौरेयो यतिनाथो मुनीश्वर ॥ ५॥
महामुनिमहामौनी महाध्यानी महाव्रती । महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादम ॥ ६॥
निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वज । ब्रह्मयोनि स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित् ॥ ॥
पूतात्मा स्नातका दान्तो भद'तो वीतमत्सर । धर्मवृक्षायुधोऽक्षोभ्य प्रपूतात्माऽमृतोद्भव ॥ ८॥
मन्त्रमूर्त्ति स्वसौम्यात्मा स्वतन्त्रो ब्रह्मसंभव । सुप्रसन्नो गुणाम्भोधि पुण्यापुण्यनिरोधक ॥ ९॥
सुसंवृत सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लव । महोदर्को महोपायो जगदेकपितामह ॥८ ॥
महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशांकुश शुचि' । अरिंजय' सदायोग सदाभोग सदाधृति ॥८१॥
परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशी शान्तनायक । अपूर्ववद्यो योगज्ञो धर्ममूर्त्तिरधर्मधक ॥८२॥
ब्रह्म ट महाब्रह्मपति कृतकृत्य कृतक्रतु । गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रय ॥८३॥
सूरि सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमय समी[1] । प्रक्षीणबन्धो निर्द्व न्द्व परमर्षिरनन्तग ॥८४॥

७ अथ निर्वाणशतम्

निर्वाणः सागर प्राज्ञमहासाधुरुदाहृत । विमलाभोऽथ शुद्धाभ श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥
अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्नि संयमश्च शिवस्तथा । पुष्पाञ्जलि शिवगण उत्साहो ज्ञानसंज्ञक ॥८६॥
परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधर' । कृष्णो ज्ञानमति शुद्धमति श्रीभद्र शान्तयुक ॥८ ॥
वृषभस्तद्वदजित संभवश्चाभिनन्दन । सुनिमि सुमति पद्मप्रभ' प्रोक्त सुपार्श्वकः ॥८८॥
चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त शीतल' श्रेय आह्वय । वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८९॥
शान्ति कुन्थुररो मल्लि सुव्रतो नमिरप्यत । नेमि' पार्श्वो वर्धमानो महावीर सुवीरक ॥९ ॥
सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ । महापद्म सूरदेव' सुप्रभश्च स्वयंप्रभ' ॥९१॥
सर्वायुधो जयदेवो भवेदुदयदेवक । प्रभादेव उदंकश्च प्रश्नकीर्त्तिजयाभिध ॥९२॥
पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विमलप्रभ । बहलो निर्मलश्चित्रगुप्तः समाधिगुप्तकः ॥९३॥
स्वयम्भूश्चापि कन्दर्पो जयनाथ इतीरित । श्रीविमलो दिव्यवादोऽनन्तवीरोऽप्युदीरित ॥९४॥
पुरुदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽव्यय । पुराणपुरुषो धर्मसारथि' शिवकीर्त्तन ॥९५॥
विश्वकर्माऽक्षरोऽछद्मा विश्वभूर्विश्वनायक । दिगम्बरो निरातंको निरारेको भवान्तक ॥९६॥
दृढव्रतो नयोत्तु गो निःकलंकोऽकलाधर । सर्वक्लेशापहोऽक्षय्य क्षान्त श्रीवृक्षलक्षणः ॥९ ॥

---

[1] शमी इत्यपि पाठ ।

८ अथ ब्रह्मशतम्

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासनः । अब्जभूरात्मभूः स्रष्टा सुरज्येष्ठ प्रजापति ॥९८॥
हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारग । अजो मनु शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमय ॥९९॥
विष्णुस्त्रिविक्रम शौरि श्रीपति पुरुषोत्तम । वकुण्ठ पुंडरीकाक्षो हृषीकेशो हरि स्वभू ॥१ ॥
विश्वम्भरोऽसुरध्वंसी माधवो बलिबन्धन । अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रव ॥१ १॥
श्रीवत्सलाञ्छन श्रीमानच्युतो नरकान्तकः । विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दन ॥१ २॥
श्रीकण्ठ शंकर शम्भु कपाली वृषकेतन । मृत्युञ्जयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचन ॥१ ३॥
उमापति पशुपति स्मरारिस्त्रिपुरान्तक । अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्ग सदाशिव ॥१ ४॥
जगत्कर्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हर । महासेनस्तारकजिद्गणनाथो विनायक ॥१ ५॥
विरोचनो वियद्रत्नं द्वादशात्मा विभावसु । द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चित्रभानुस्तनूनपात् ॥१ ६॥
द्विजराज सुधाशोचिरौषधीशः कलानिधि । नक्षत्रनाथः शुभ्रांशु सोम कुमुदबान्धव ॥१ ७॥
लेखर्षभोऽनिल पुण्यजन पुण्यजनेश्वर । धर्मराजो भोगिराज प्रचेता भूमिनन्दन ॥१ ८॥
सिंहिकातनयश्छायानन्दनो बृहतांपति । पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भव ॥१ ९॥

९ अथ बुद्धशतम्

बुद्धो दशबल शाक्य षडभिज्ञस्तथागत । समन्तभद्र सुगतः श्रीघनो भूतकोटिदिक् ॥११ ॥
सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षण । बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्वयवाद्यपि ॥१११॥
महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी सन्तानशासक । सामान्यलक्षणचणः पंचस्कन्धमयात्मदृक् ॥११२॥
भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासन । चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वय ॥११३॥
योगो वशेषिकस्तुच्छाभावभित्पट्पदार्थदृक् । नयायिक षोडशार्थवादी पञ्चार्थवर्णक ॥११४॥
ज्ञानान्तराध्यक्षबोध समवायवशार्थभित् । भुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृत ॥११५॥
सांख्य समीक्ष्य कपिल पञ्चविंशतितत्त्ववित् । व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥
अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् । त्रिप्रमाणोऽक्षप्रमाणः स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् ॥११७॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतन पुमान् । अकर्ता निर्गुणोऽमूर्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रिय ॥११८॥
द्रष्टा तटस्थ कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभव । बहिर्विकारो निर्मोक्ष प्रधानं बहुधानकम् ॥११९॥
प्रकृति ख्यातिरारूढप्रकृति प्रकृतिप्रिय । प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृति कृती ॥१२ ॥
मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञ श्रुतिपूत सदोत्सव । परोक्षज्ञानवादीष्टपावक सिद्धकर्मक ॥१२१॥
चार्वाको भौतिकज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतन । प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुति ॥१२२॥
पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविदद्वयी । शब्दाद्वैती स्फोटवादी पाखंडघ्नो नयौघयुक् ॥१२३॥

१० अथ अन्तकृच्छतम्

अन्तकृत्पारकृत्तीरप्राप्तः पारेतमः स्थित । त्रिदण्डी दण्डितारातिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१२४॥
संहृतध्वनिरुद्धयोग[1] सुप्तावस्थोपम । योगक्षेमापहो योगकिट्टिर्निर्लेपनोद्यतः ॥१२५॥
स्थितस्थूलवपुर्योगो गीर्मनोयोगकार्श्यकः । सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थ सूक्ष्मीकृतवपु क्रिय ॥१२६॥
सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा । एकदंडी च परमहंसः परमसंवर ॥१२७॥
नैष्कर्म्यसिद्ध परमनिर्जर प्रज्वलत्प्रभः । मोघकर्मा त्रुटत्कर्मपाश शैलेश्यलंकृत ॥१२८॥
एकाकाररसास्वादो विश्वाकाररसाकुल । अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्त शून्यतामय ॥१२९॥

---

1 'दस्तक—' इत्यपि पाठः

प्रेयानयोगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः । निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥
वृद्धो निर्वचनीयोऽणुरणीयाननणुप्रियः । प्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरो निष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥
भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः । व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थितः ॥१३२॥
उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः । अमेयमहिमात्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वयंवरः ॥१३३॥
सिद्धानुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः । सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिङ्ग्यः सिद्धोपगूहकः ॥१३४॥
पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः पुण्यशंबलः । वृत्ताप्रपुण्यः परमशुक्ललेश्योऽपचारकृत् ॥१३५॥
क्षपिष्ठोऽन्त्यक्षणसखा पञ्चलघ्वक्षरस्थितिः । द्वासप्ततिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१३६॥
अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनग्निपरिग्रहः । अनग्निहोत्री परमनिःस्पृहोऽत्यन्तनिर्दयः ॥१३७॥
अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः । अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥१३८॥
महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भवः । ज्ञानैकचिज्जीवघनः सिद्धो लोकाग्रगामुकः ॥१३९॥

जिनसहस्रनामस्तवनफलम्

इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम् । योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भक्तिमश्नुते ॥१४०॥
इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुत्तमम् । इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥१४१॥
इदमेव परं तीर्थमिदमेवेष्टसाधनम् । इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम् ॥१४२॥
एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नघैः । मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥१४३॥

जिनसहस्रनाम

(आचार्य जिनसेनकृतम्)

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरांपतिम् । नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

१ अथ श्रीमदादिशतम्

श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शम्भवः शम्भुरात्मभूः । स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥२॥
विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वरः ॥३॥
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥४॥
विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृग् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥५॥
जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनन्तजिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥६॥
युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥७॥
स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥८॥
प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वरः ॥९॥
शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०॥
सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः । प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥११॥
विभावसुरसंभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः । परमात्मा परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥१२॥

२ अथ दिव्यादिशतम्

दिव्यभाषापतिर्दिव्य पूतवाक पूतशासन । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वर ॥१३॥
श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचि' । तीर्थकृत्केवलीशान पूजार्ह' स्नातकोऽमल ॥१४॥
अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्ध प्रजापति' । मुक्त' शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥१५॥
निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिर्निरामयः । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थ' स्थाणुरक्षय ॥१६॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥१७॥
वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुध । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भव ॥१८॥
हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद्भूतभावन । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तक' ॥१९॥
हिरण्यगर्भ श्रीगर्भः प्रभूतविभवोद्भव । स्वयंप्रभु प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्प्रभु ॥२ ॥
सर्वादि सर्वदृक सार्व सर्वज्ञ' सर्वदर्शन । सर्वात्मा सर्वलोकेश सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥२१॥
सुगति सुश्रुत सुश्रुक सुवाक सूरिर्बहुश्रुत । विश्रुतो विश्वतः पादो विश्वशीर्ष शुचिश्रवा ॥२२॥
सहस्रशीर्ष क्षेत्रज्ञ सहस्राक्ष सहस्रपात् । भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वर' ॥२३॥

३ अथ स्थविष्ठादिशतम्

स्थविष्ठ स्थविरो ज्येष्ठ पृष्ठ प्रेष्ठो वरिष्ठधी' । स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठ'श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगी ॥२४॥
विश्वभृद्विश्वसृड् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायक । विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तक' ॥२५॥
विभवो विभयो वीरो विशोको विरजो जरन् । विरागो विरतोऽसङ्गो विविक्तो वीतमत्सर ॥२६॥
विनेयजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मष । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधि' सुधी ॥२७॥
क्षान्तिभाक पृथिवीमूर्त्ति शान्तिभाक सलिलात्मक । वायुमूर्तिरसङ्गात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधक ॥२८॥
सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजित । ऋत्विग्यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञाङ्गममृत हवि ॥२९॥
व्योममूर्तिरमूर्त्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचल । सोममूर्त्ति' सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभ ॥३ ॥
मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिरनन्तग । स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्स्वान्त कृतान्तान्त' कृतान्तकृत् ॥३१॥
कृती कृतार्थ सत्कृत्य कृतकृत्य कृतक्रतु । नित्यो मृत्युञ्जयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भव ॥३२॥
ब्रह्मनिष्ठ परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भव । महाब्रह्मपतिर्ब्रह्म ट महाब्रह्मपदेश्वर ॥३३॥
सुप्रसन्न प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभु । प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तम ॥३४॥

४ अथ महाशोकध्वजादिशतम्

महाशोकध्वजोऽशोक क स्रष्टा पद्मविष्टर । पद्मेश पद्मसम्भूति पद्मनाभिरनुत्तर' ॥३५॥
पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्य स्तुत्य स्तुतीश्वर । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजेय कृतक्रिय ॥३६॥
गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्य पुण्यो गणाग्रणी । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायक ॥३७॥
गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुण पुण्यगीर्गुण । शरण्य पुण्यवाक पूतो वरेण्य पुण्यनायक ॥३८॥
अगण्य पुण्यधीर्गुण्य पुण्यकृत्पुण्यशासन । धर्मारामो गुणग्राम पुण्यापुण्यनिरोधक' ॥३९॥
पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मष । निर्द्वन्द्वो निर्मद' शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥४ ॥
निर्निमेषो निराहारो नि'क्रियो निरुपप्लव । निष्कलङ्को निरस्तैना निर्धूतागो निरास्रव ॥४१॥
विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभव । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत्सुनयतत्त्ववित् ॥४२॥
एकविद्यो महाविद्यो मुनिःपरिवृढ पति । धीशो विद्यानिधिःसाक्षी विनेता विहतान्तक ॥४३॥
पिता पितामह पाता पवित्र पावनो गति । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरद' परम' पुमान् ॥४४॥
कवि पुराणपुरुषो वर्षीयान् वृषभः पुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥४५॥

५ अथ श्रीवृक्षलक्षणादिशतम्

श्रीवृक्षलक्षण श्लक्ष्णो लक्षण्य शुभलक्षण । निरक्ष पुण्डरीकाक्ष पुष्कल पुष्करेक्षण ॥४६॥
सिद्धिद सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधन । बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्धमानो महर्द्धिक ॥४७॥
वेदांगो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवर । वेदवेद्य स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवर ॥४८॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासन । युगादिकृद्युगाधारो युगादिजगदादिज ॥४९॥
अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक । अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥५ ॥
उद्भव कारणं कर्ता पारगो भवतारक । अगाह्यो गहनं गुह्य परार्घ्य परमेश्वर ॥५१॥
अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धि समग्रधी । प्राग्र्य प्राग्रहरोऽभ्यग्र्य प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रज ॥५२॥
महातपा महातेजा महोदर्को महोदय । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृति ॥५३॥
महाधैर्यो महावीर्यो महासम्पन्महाबल । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युति ॥५४॥
महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महोदय । महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकवि ॥५५॥
महामहा महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपु । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुण ॥५६॥
महामहपति प्राप्तमहाकल्याणपंचक । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वर ॥५७॥

६ अथ महामुन्यादिशतम्

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादम । महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामख ॥५८॥
महाव्रतपतिर्मह्यो महाकान्तिधरोऽधिप । महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमय ॥५९॥
महाकारुणिको मन्ता महामन्त्रो महामति । महानादो महाघोषो महेज्यो महसापति ॥६ ॥
महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक । महात्मा महसाधाम महर्षिर्महितोदय ॥६१॥
महाक्लेशांकुश शूरो महाभूतपतिर्गुरु । महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥६२॥
महाभवाब्धिसन्तारी महामोहाद्रिसूदन । महागुणाकर क्षान्तो महायोगीश्वर शमी ॥६३॥
महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मा महाव्रत । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥६४॥
सर्वक्लेशापह साधु सर्वदोषहरो हर । असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकर ॥६५॥
सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्य श्रुतात्मा विष्टरश्रवा । दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वग ॥६६॥
प्रधानमात्मा प्रकृति परम परमोदय । प्रक्षीणबन्ध कामारि क्षेमकृत् क्षेमशासन ॥६७॥
प्रणव प्रणय प्राण प्राणद प्रणतेश्वर । प्रमाण प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्यु रध्वर ॥६८॥
आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दन । कामहा कामद काम्य कामधेनुररिंजय ॥६९॥

अथ असंस्कृतादिशतम्

असंस्कृत सुसंस्कार प्राकृतो वैकृतान्तकृत् । अन्तकृत्कान्तिगु कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टद ॥ ॥
अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासन । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तक ॥ १॥
जिनेन्द्र परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वन । महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दन ॥ २॥
नाभेयो नाभिजोऽजात सुव्रतो मनुरुत्तम । अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरु सुधी ॥७३॥
सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुक । विशिष्ट शिष्टभुक शिष्ट प्रत्यय कामनोऽनघ ॥ ४॥
क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्य क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तर ॥७५॥
सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुरानन । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुख ॥७६॥
सत्यात्मा सत्यविज्ञान सत्यवाक सत्यशासन । सत्याशीः सत्यसन्धान सत्यः सत्यपरायण ॥ ॥
स्थेयान् स्थवीयान् नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शन । अणोरणीयानणुर्गुरुराद्यो गरीयसाम् ॥ ८॥

श्रीश श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकर । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सल ॥११३॥
लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधी । धीरधीर्बुद्धसन्मार्ग शुद्ध सूनृतपूतवाक ॥११४॥
प्रज्ञापारमित प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रिय । भदन्तो भद्रकृद् भद्र कल्पवृक्षो वरप्रद ॥११५॥
समुन्मूलितकर्मारि कर्मकाष्ठाशुशुक्षणि । कर्मण्य कर्मठ प्रांशुर्हेयादेयविचक्षण ॥११६॥
अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचन । त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्ष' केवलज्ञानवीक्षण ॥११ ॥
समन्तभद्र शान्तारिधर्माचार्यो दयानिधि । सूक्ष्मदर्शी जितानङ्ग कृपालुधर्मदेशक ॥११८
शुभयु सुखसाद्भूत पुण्यराशिरनामय । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायक ॥११९॥
धाम्नांपते तवामूनि नामान्यागमकोविद । समुच्चितान्यनुध्यायन् पुण्यान् पूतस्मृतिर्भवेत् ॥१२ ॥

—) (—

जिनसहस्रनाम

(भट्टारकसकलकीर्ति-विरचितम्)

स्वामादौ देव चानम्य स्तोष्ये त्वन्नाम लब्धये । अष्टोत्तरसहस्र ण नाम्ना सार्थेन भक्तिभि ॥ १ ॥
जिनेन्द्रो जिनधौरेयो जिनस्वामी जिनाग्रणी' । जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाधीशो जिनोत्तम ॥ २ ॥
जिनराजो जिनज्येष्ठो जिनेशी जिनपालक । जिननाथो जिनश्रेष्ठो जिनमल्लो जिनोत्तल ॥ ३ ॥
जिननेता जिनस्रष्टा जिनेट जिनपतिर्जिन । जिनदेवो जिनादित्यो जिनेशिता जिनेश्वर ॥ ४ ॥
जिनवर्यो जिनाराध्यो जिनार्च्यो जिनपुंगव । जिनाधिपो जिनध्येयो जिनमुख्यो जिनेडित ॥ ५ ॥
जिनसिंहो जिनप्रेष्ठो जिनवृद्धो जिनोत्तर' । जिनमान्यो जिनस्तुत्यो जिनप्रभुर्जिनोद्वह ॥ ६ ॥
जिनपूज्यो जिनाकांक्षी जिनेन्दुर्जिनसत्तम । जिनाकारो जिनोत्तुङ्गो जिनपो जिनकुंजर ॥ ॥
जिनभर्त्ता जिनाग्रस्थो जिनभूर्जिनचक्रभाक । जिनचक्री जिनाद्याद्यो जिनसेव्यो जिनाधिप ॥ ८ ॥
जिनकान्तो जिनप्रीतो जिनाधिराट जिनप्रिय । जिनधुर्यो जिनार्चांह्रिजिनाग्रिमो जिनस्तुत ॥ ९ ॥
जिनहंसो जिनत्राता जिनर्षभो जिनाग्रग । जिनधृग्जिनचक्रशो जिनदाता जिनात्मक ॥१ ॥
जिनाधिको जिनालक्ष्मा जिनशान्तो जिनोत्कृट । जिनाश्रितो जिनाल्हादी जिनातर्क्यो जिनान्वित ॥११॥
जैनो जनवरो जनस्वामी जनपितामह । जनेड्यो जनसघार्च्यो जैनभूर्जनपालक ॥१२॥
जैनकृज्जनधौरेयो जनेशा जनभूपति । जनेड जनाग्रिमो जनपिता जनहितंकर ॥१३॥
जननेताऽथ जैनाढ्यो जनधृज्जनदवराट । जनाधिपो हि जनात्मा जनेज्यो जनचक्रभृत् ॥१४॥
जिताक्षो जितकंदर्पो जितकामो जिताशय । जितना जितकर्मारिर्जितेन्द्रियो जिताखिल ॥१५॥
जितशत्रुर्जिताशौचो जितजेयो जितात्मभाक । जितलोभो जितक्रोधो जितमानो जितान्तक ॥१६॥
जितरागो जितद्वेषो जितमोहो जिनेश्वर । जिताऽजय्यो जिताशेषो जितेशो जितदुमत ॥१ ॥
जितवादी जितक्लेशो जितमुक्तो जिताव्रत । जितदेवो जिनशान्तिर्जितखेदो जितारति ॥१८॥
यतीडितो यतीशार्च्यो यतीशो यतिनायक । यतिमुख्यो यतिप्रष्ठो यतिस्वामी यतीश्वर ॥१९॥
यतियतिवरो यत्याराध्यो यतिगुणस्तुत' । यतिश्रेष्ठो यतिज्येष्ठो यतिभर्त्ता यतोहित' ॥२ ॥
यतिधुर्यो यतिस्रष्टा यतिनाथो यतिप्रभु' । यत्याकरो यतित्राता यतिबन्धुर्यतिप्रिय' ॥२१॥
योगीन्द्रो योगिराड योगिपतिर्योगिविनायक । योगीश्वरोऽथ योगीशो योगी योगपरायण ॥२२॥
योगिपूज्यो हि योगांगो योगवान् योगपारग' । योगधृग्योगरूपात्मा योगभाग्योगभूषित ॥२३॥
योग्यान्तो योगिकल्पांगो योगिकृद्योगिवेष्टित । योगिभृद्योगिमुख्यार्च्यो योगिभूर्योगिभूपतिः ॥२४॥

सर्वज्ञ' सर्वलोकज्ञ' सर्वदृक् सर्वतत्त्ववित् । सर्वक्लेशहर सार्व सर्वबन्धु सर्वराट् ॥२५॥
सर्वाग्रिमोऽथ सर्वात्मा सर्वेशः सर्वदर्शन' । सर्वज्ञः सर्वधर्माग' सर्वजीवदयाग्रह' ॥२६॥
सर्वज्येष्ठो हि सर्वाधिकः सर्वत्रिजगद्धित । सर्वधर्ममयः सर्वस्वामी सर्वसुखाश्रित' ॥२७॥
विश्वविद्विश्वनाथाख्यो विश्वेशो विश्वबान्धवः । विश्वनाथोऽथ विश्वार्हो विश्वात्मा विश्वकारक ॥२८॥
विश्वेड विश्वपिता विश्वधरो विश्वाभयंकरः । विश्वव्यापी हि विश्वेशी विश्वदृग्विश्वभूमिप' ॥२९॥
विश्वधीर्विश्वकल्याणो विश्वकृद्विश्वपारग । विश्वबुद्धोऽपि विश्वांगिरक्षको विश्वपोषक ॥३ ॥
जगत्कर्त्ता जगद्भर्त्ता जगत्त्राता जगज्जयी । जगन्मान्यो जगज्ज्येष्ठो जगच्छ्रेष्ठो जगत्पति ॥३१॥
जगद्धृतो जगन्नाथो जगद्ध्येयो जगत्स्तुत । जगत्पाता जगद्धाता जगत्सेव्यो जगद्धित ॥३२॥
जगत्स्वामी जगत्पूज्यो जगत्सार्थो जगद्धित । जगद्वेत्ता जगद्बन्धुर्जगद्दर्शी जगत्पिता ॥३३॥
जगत्कान्तो जगद्दान्तो जगद्ज्ञाता जगज्जित । जगद्धीरो जगद्वीरो जगच्छान्तो जगत्प्रिय ॥३४॥
महाज्ञानी महाध्यानी महाकृती महाव्रती । महाराजो महार्थज्ञो महातेजो महातपा' ॥३५॥
महाजेता महाजय्यो महाक्षान्तो महादम' । महादान्तो महाशान्तो महाकान्तो महाबली ॥३६॥
महादेवो महापूतो महायोगी महाधनी ॥ महाकामी महाशूरो महाभटो महायशा' ॥३७॥
महानादो महास्तुत्यो महासहपतिर्महान् । महाधीरो महावीरो महाबन्धुर्महाश्रम' ॥३८॥
महाधारो महाकारो महाशर्मा महाश्रय' । महायोगी महाभोगी महामहा महीधर' ॥३९॥
महाधुर्यो महावीर्यो महादर्शी महार्थवित् । महाभर्त्ता महाकर्त्ता महाशीलो महागुणी ॥४ ॥
महाधर्मा महामौनी महाभरो महाप्रिम' । महास्रष्टा महातीर्थो महाख्यातो महाहित ॥४१॥
महाधन्यो महाधीशो महारूपी महामुनि । महाविभुर्महाकीर्तिर्महादाता महारतः ॥४२॥
महाकृपो महारा यो महाश्रेष्ठो महायति' । महाक्षान्तिमहालोको महानेत्रो महाघकृत् ॥४३॥
महाश्रमी महायोग्यो महाशमी महादमी । महेशेशो महेशात्मा महेशाख्यो महेशराट ॥४४॥
महानन्तो महातृप्तो महाहरो महावर । महर्षीशो महाभागो महास्थामो महान्तक ॥४५॥
महौदर्य्यो महाकार्यो महाकेवललब्धिभाक । महाशिष्टो महानिष्टो महादक्षो महाबल ॥४६॥
महालक्ष्यो महार्थज्ञो महाविद्वान् महात्मक । महेज्यार्हो महानाथो महानेता महापिता ॥१ ॥
महामना महाचिन्त्यो महासारो महायमी । महेन्द्राख्यो महावंद्यो महावादी महानुत ॥४८॥
परमात्मा परात्मज्ञ परज्योति परार्थकृत् । परब्रह्म परब्रह्मरूपो परतरः पर ॥४९॥
परमेश' परेऽर्थाह परार्थी परकार्यकृत् । परस्वामी परज्ञानी पराधीश परेहक' ॥५ ॥
सत्यवादी हि सत्यात्मा सत्यांग सत्यशासन' । सत्यार्थः सत्यवागीश सत्याधारोऽतिसत्यवाक ॥५१॥
सत्याय' सत्यविद्य श सत्यधर्मी हि सत्यभाक । सत्याशयोऽतिसत्योक्तमत सत्यहितंकर ॥५२॥
सत्यतिर्थोऽतिसत्याख्य' सत्याप्त सत्यतीर्थकृत् । सत्यसीमाधर सत्यधर्मतीर्थप्रवर्तक ॥५३॥
लोकेशो लोकनाथाख्यो लोकालोकविलोकन । लोकविल्लोकमूर्द्धस्थो लोकनाथो ह्यलोकवित् ॥५४॥
लोकदृक लोककार्यार्थी लोकज्ञो लोकपालक । लोकैक्यो लोकमांगल्यो लोकोत्तमो हि लोकराट् ॥५५॥
तीर्थकृत्तीर्थभूतात्मा तीर्थेशस्तीर्थकारक । तीर्थभूस्तीर्थकर्त्ता तीर्थप्रणेता सुतीर्थभाक ॥५६॥
तीर्थाधीशो हि तीर्थात्मा तीर्थज्ञस्तीर्थनायकः । तीर्थाब्धिस्तीर्थसम्राजा तीर्थसृत्तीर्थवर्त्तक ॥५७॥
तीर्थंकरो हि तीर्थेशस्तीर्थोद्धस्तीर्थपालकः । तीर्थसृष्टाऽऽतीर्थवृन्दस्तीर्थाग्रस्तीर्थदेशक' ॥५८॥
निष्कर्मा निर्मलो निर्धो निराबाधो निरामयः । निस्तमस्को निरौपम्यो निःकलंको निरायुधः ॥५९॥
निर्लेपो निष्कलोऽत्यन्तनिर्दोषो निर्जराग्रणी' । निर्ममो निर्भयोऽतीवनिःप्रमादो निराश्रय ॥६ ॥
निरंबरो निरातंको निर्भूषो निर्मलाशयः । निर्मदो निरतीचारो निर्मोहो निरुपद्रव' ॥६१॥
निर्विकारो निराधारो निरीहो निर्मलांगभाक । निजरो निरजस्कोऽथ निरागो निर्विशेषवित् ॥६२॥
निर्निमेषो निराकारो निरलो निरतिक्रम' । निर्वेदो निष्कषायात्मा निर्बन्धो निस्पृहात्मा' ॥६३॥

विरजा विमलात्मज्ञा विमलो विमलान्तर । विरतो विरताधीशो विरागो वीतमत्सरः ॥६४॥
विभवो विभवान्तस्थो वीतरागा विचारकृत् । विश्वासी विगताबाधो विचारज्ञो विशारद ॥६५॥
विवेकी विगतग्रन्थो विविक्तोऽचलस्थिति । विजयी विजितारातिविनष्टारिविपक्षित ॥६६॥
त्रिरत्नशाखिपीठस्थस्त्रिलोकज्ञस्त्रिकालवित् । त्रिदण्डस्त्रिलोकशस्त्रिछत्राङ्कस्त्रिभूमिप ॥६७॥
त्रिशल्यारिस्त्रिलोच्यस्त्रिलोकपतिसेवित । त्रियोगी त्रिकसंवेगस्त्रलोक्याब्यस्त्रिलोकराट ॥६८॥
अनन्तोऽनन्तसौख्यादिरनन्तकेवलेक्षण । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तगुणाकर ॥६९॥
अनन्तविक्रमोऽनन्तस्ववेत्ताऽनन्तशक्तिमान् । अनन्तमहिमारूढोऽनन्तज्ञोऽनन्तशमद ॥ ॥
सिद्धो बुद्ध प्रसिद्धात्मा स्वयबुद्धोऽतिबुद्धिमान् । सिद्धिद सिद्धमार्गस्थ सिद्धार्थ सिद्धसाधन ॥७१॥
सिद्धसाध्योऽतिशुद्धात्मा सिद्धिकृत्सिद्धिशासन । सुसिद्धान्तविशुद्धाढ्य सिद्धगामी बुधाधिप ॥ २॥
अच्युतोऽच्युतनाथेशोऽचलचित्तोऽचलस्थिति । अतिप्रभोऽतिसौम्यात्मा सामरूपोऽतिकान्तिमान् ॥७३॥
वरिष्ठ स्थविरो ज्येष्ठो गरिष्ठोऽनिष्ठुरग । द्रष्टा पुष्टो विशिष्टात्मा स्रष्टा धाता प्रजापति ॥ ४॥
पद्मासन सपद्माङ्क पद्मयानश्चतुर्मुख । श्रीपति श्रीनिवासो हि विजेता पुरुषोत्तम ॥ ५॥
धर्मचक्रधरो धर्मी धर्मतीर्थप्रवर्तक । धर्मराजोऽतिधर्मात्मा धर्माधार सुधर्मद ॥ ६॥
धर्ममूर्तिरधर्मघ्नो धर्मचक्री सुधर्मधी । धर्मकृद्धर्मभूर्धर्मशीलो धर्माधिनायक ॥ ॥
मन्त्रमूर्ति सुमन्त्रज्ञो मन्त्री मन्त्रमथाऽद्भुत । तेजस्वी विकर्मा स्वामी तपस्वी संयमी यमी ॥ ८॥
कृती व्रती कृतार्थात्मा कृतकृत कृतविधि प्रभुर्विभुर्गुरुर्योगी गरीयान् गुरुकार्यकृत् ॥ ९॥
वृषभो वृषभाधीशो वृषचिह्नो वृषाश्रय । वृषकेतुर्वृषाधारो वृषभेन्द्रो वृषप्रद ॥८ ॥
ब्रह्मात्मा ब्रह्मनिष्ठात्मा ब्रह्मा ब्रह्मपदेश्वर । ब्रह्मज्ञो ब्रह्मभूतात्मा ब्रह्मा च ब्रह्मपालक ॥८१॥
पूज्योऽर्हन् भगवान् स्तुत्य स्तवनार्ह स्तुतीश्वर । वंद्यो नमस्कृतोऽत्यन्तप्रणामयोग्य ऊर्जित ॥८२॥
गुणी गुणाकरोऽनन्तगुणाब्धि गुणभूषण । गुणादरी गुणग्रामो गुणार्थी गुणपारग ॥८३॥
गुणरूपो गुणातीतो गुणदो गुणवेष्टित । गुणाश्रयो गुणात्माक्तो गुणसक्तोऽगुणा तकृत् ॥८४॥
गुणाधिपो गुणान्त स्था गुणभृद्गुणपोषक । गुणाराध्यो गुणज्येष्ठो गुणाधारो गुणाग्रग ॥८५॥
पवित्र पूतसर्वाङ्ग पूतवाक पूतशासन । पूतकर्माऽतिपूतात्मा शुचि शौचात्मकोऽमल ॥८६॥
कर्मारि कर्मशत्रुघ्न कर्मारातिनिकन्दन । कर्मविध्वंसक कर्मच्छेदा कर्मांगनाशक ॥८ ॥
सुसंवृतस्त्रिगुप्तात्मा निराश्रवस्त्रिगुप्तिवान् । विद्यामयोऽतिविद्यात्मा सर्वविद्येश आत्मवान् ॥८८॥
मुनियतिरनागार पुराणपुरुषोऽव्यय । पिता पितामहो भर्त्ता कर्त्ता दान्त क्षम शिव ॥८९॥
ईश्वर शंकरो धीमान् मृत्युञ्जय सनातन । दक्षो ज्ञानी शमी ध्यानी सुशीलः शीलसागर ॥९ ॥
ऋषि कवि कवीन्द्राद्य ऋषीन्द्रः ऋषिनायक । वेदाङ्गो वेदविद्वेद्य स्वसंवेद्योऽमलस्थिति ॥९१॥
दिगम्बरो हि दिग्वासा जातरूपो चिदांबर । निर्ग्रन्थो ग्रन्थदूरस्था नि सगो नि परिग्रह ॥९२॥
धीरो वीर प्रशान्तात्मा धर्मशाली सुलक्षण । शान्तो गभीर आत्मज्ञः कलमुक्ति कलाधर ॥९३॥
युगादिपुरुषोऽव्यक्ता व्यक्तवाग व्यक्तशासन । अनादिनिधनो दिव्यो दिव्यांगो दिव्यजीवन ॥९४॥
तपोधनो वियद्गामी जागरूकोऽप्यतीन्द्रिय । अनन्तर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिरमेयर्द्धि पराङ्मुख भाक ॥९५॥
मौनी धुर्यो भट शूर सार्थवाह शिवाध्वग । साधुगामी सुताधार पाठकोऽतीन्द्रियार्थदृक ॥९६॥
आदीश आदिभूभर्त्ता आदिम आदिजिनेश्वर । आदितीर्थकरश्चादिसृष्टिकृच्चादिदेशक ॥९ ॥
आदिब्रह्माऽऽदिनाथोऽव्य आदिषट्कर्मदेशक । आदिधर्मविधाताऽऽदिधर्मराजोऽग्रजोऽग्रिम ॥९८॥
श्रेयान् श्रेयस्कर श्रेयोऽग्रणी श्रेय सुखावह । श्रेयोद श्रेयवाराशि श्रेयवान् श्रेयसंभव ॥९९॥
अजितो जितसंसार सन्मति सन्मतिप्रिय । संस्कृत प्राकृतः प्राज्ञो ज्ञानमूर्तिरच्युतोपम ॥१ ॥
नाभेय आदियोगीन्द्र उत्तम सुव्रतो मनु । शत्रुञ्जय सुमेधावी नाथोऽप्याद्योऽखिलार्थवित् ॥१ १॥
क्षेमी कुलकर कामो देवदेवो निरुत्सुक । क्षेम क्षेमकरोऽप्रज्ञो ज्ञानगम्यो निरुत्तर ॥१ २॥
स्थेयान्स्थूलः सदाचारी सुबोध सन्मुख सुखी । वाग्मी वागीश्वरो वाचस्पति सद्बुद्धिरुन्नत ॥१ ३॥

उदासो मोक्षगामी च मुक्तो मुक्तिप्रकल्पकः । भव्यसत्त्वाधिपो देवो मनीषी सुहितं सुहृत् ॥१०४॥
मुक्तिभर्ताऽप्रतर्क्यात्मा दिव्यदेहः प्रभास्वरः । मनःप्रियो मनोहारी मनोज्ञाङ्गो मनोहरः ॥१०५॥
स्वस्थो भूतपतिः पूर्वः पुराणपुरुषोऽक्षयः । शरण्यः पंचकल्याणपूजार्होऽभ्युदयान्वयः ॥१०६॥
कल्याणात्मा सुकल्याणं कल्याणप्रकृतिप्रियः । सुभगः कान्तिमान् दीप्तो गूढात्मा गूढगोचरः ॥१० ॥
जगच्चूडामणिस्तुङ्गो दिव्यभामंडलः सुधी । महौजाऽतिस्फुरत्कान्तिः सूर्यकोट्यधिकप्रभः ॥१०८॥
निष्टप्तकनकच्छायो हेमवर्णः स्फुरद्द्युतिः । प्रतापी प्रबलः पूषस्तेजोराशिगणोपमः ॥१०९॥
शान्तेशः शान्तकर्मारिः शान्तिकृच्छान्तिकारकः । भुक्तिदो मुक्तिदो दाता ज्ञानाब्धिः शीलसागरः ॥११ ॥
स्पष्टवाक् पुष्टिदः पुष्टः शिष्टेष्टः शिष्टसेवितः । स्पष्टाक्षरो विशिष्टाङ्गः स्पष्टवृत्तो विशुद्धितः ॥१११॥
निष्किंचनो निरालम्बो निपुणो निपुणाश्रितः । निर्ममो निरहंकारः प्रशान्तो जगद्वत्सलः ॥११२॥
तेजोमयोऽमितज्योतिः शुभ्रमूर्तिस्तमोपहः । पुण्यदः पुण्यहेत्वात्मा पुण्यवान् पुण्यकर्मकृत् ॥११३॥
पुण्यमूर्तिर्महापुण्यः पुण्यवाक् पुण्यशासनः । पुण्यभोक्ताऽतिपुण्यात्मा पुण्यशाली शुभाशयः ॥११४॥
अनिद्रालुरतन्द्रालुर्मुमुक्षुः स्थिरप्रभः । मुक्तिप्रियः प्रजाबन्धुः प्रजाकरः प्रजाहितः ॥११५॥
श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जः श्रीविरागो विरक्तधीः । ज्ञानवान् बन्धमोक्षज्ञो बन्धघ्नो बन्धदूरगः ॥११६॥
वनवासी जटाधारी क्लेशातीतोऽतिसौख्यवान् । आप्तोऽद्भुतः कलाकायः शक्तः शक्तिप्रदो बुधः ॥११७॥
हताक्षो हतकर्मारिर्हतमोहो हिताश्रितः । हतमिथ्यात्व आत्मस्थः सुरूपो हतदुर्नयः ॥११८॥
स्याद्वादी च नयप्रोक्ता हितवादी हितध्वनिः । भव्यचूडामणिर्भव्योऽसमोऽसमगुणाश्रयः ॥११९॥
निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलो लोकलोचनः । आदेयादिम आदेयो हेयादेयप्ररूपकः ॥१२ ॥
भद्रो भद्राशयो भद्रशासनो भद्रवाक् कृती । भद्रकृद्भद्रभव्याब्जो भद्रबन्धुरनामयः ॥१२१॥
केवली केवलं लोकः केवलज्ञानलोचनः । केवलेशो महर्द्धीशोऽच्छेद्योऽभेद्योऽतिसूक्ष्मवान् ॥१२२॥
सूक्ष्मदर्शी कृपामूर्तिः कृपालुश्च कृपावहः । कृपाम्बुधिः कृपावाक्यः कृपोपदेशतत्परः ॥१२३॥
दयानिधिर्दयादर्शीत्यमूनि सार्थकान्यपि । सहस्राष्टकनामान्यर्हतो ज्ञेयानि कोविदैः ॥१२४॥
देवानेन महानामराशिस्तवफलेन मे । यच्छ त्वं देहि सर्वाणि स्वकमानि गुणाः समम् ॥१२५॥
इद नामावलीहृद्यस्तोत्रं पुण्यं पठेत्सुधीः । नित्यं योऽर्हद्गुणान् प्राप्याचिरात्सोऽर्हन् भवेद् ध्रुवम् ॥१२६॥

— —

श्रीअर्हन्नामसहस्रसमुच्चय

(श्रीहेमचन्द्राचार्य-विरचितः)

अर्हन्नामापि कर्णाभ्यां शृण्वन् वाचा समुच्चरन् । जीवः पीवरपुण्यश्रीर्लभते फलमुत्तमम् ॥१॥
अतएव प्रतिप्रातः समुत्थाय मनीषिभिः । भक्त्याऽष्टाग्रसहस्रार्हन्नामोच्चारो विधीयते ॥२॥
श्रीमानर्हन् जिनः स्वामी स्वयम्भूः शम्भुरात्मभूः । स्वयंप्रभुः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥३॥
विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद् विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनीश्वरः ॥४॥
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधुर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥५॥
विश्वरूपो विश्वकाम्यप्रदो विश्वतीर्थः शुचिश्रवाः । विश्वदृग् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनश्वरः ॥६॥
विश्वसृट् विश्वसूर्विश्वेड् विश्वभुग् विश्वनायकः । विश्वाशी विश्वभूतात्मा विश्वजिद् विश्वपालकः ॥७॥
विश्वकर्मा जगद्विश्वो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । भूतभाविभवद्भर्ता विश्ववैद्यो यतीश्वरः ॥८॥
सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥९॥
सुगतः सुश्रुतः सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः । सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥१०॥

युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममय शिव । ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मयोनिरयोनिज ॥११॥
ब्रह्मनिष्ठः परब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भव । ब्रह्म ड ब्रह्मपतिब्र ह्मचारी ब्रह्मपदेश्वर ॥१२॥
विष्णुर्जिष्णुजयी जेता जिनेन्द्रो जिनपुगव । पर परतर सूक्ष्म परमेष्ठी सनातन ॥१३॥

॥ १० ॥

जिननाथो जगन्नाथो जगत्स्वामी जगत्प्रभु । जगत्पूज्यो जगद्वन्द्यो जगदीशो जगत्पति ॥१४॥
जगन्नेता जगज्जेता जगन्मान्यो जगद्विभु । जगज्ज्येष्ठो जगच्छ्रेष्ठो जगद्ध्येयो जगद्धित ॥१५॥
जगद्वर्यो जगद्बन्धुजगच्छास्ता जगत्पिता । जगन्नेत्रो जगन्मन्त्रो जगद्दीपो जगद्गुरु ॥१६॥
स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा परतेज परमह । परमात्मा शमी शान्त पर योतिस्तमोऽपह ॥१७॥
प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरो गुरु । अनन्तजिदनन्तात्मा भव्यबन्धुरबन्धन ॥१८॥
शुद्धबुद्धि प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थ सिद्धशासन । सिद्ध सिद्धान्तविद् ध्येय सिद्ध साध्य सुधी सुगी ॥१९॥
सहिष्णुरच्युतोऽनन्त प्रभविष्णुभवोद्भव । स्वयभूष्णुरसभूष्णु प्रभूष्णुरभयोऽव्यय ॥२ ॥
दिव्यभाषापतिर्दिव्य पूतवाक पूतशासन । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वर ॥२१॥
निर्मोहो निमदो नि स्वो निदम्भो निरुपद्रव । निराधारो निराहारो निर्लोभो निश्चलोऽचल ॥२२॥
निष्कामी निममो निष्वक निष्कलको निरजनः । निगुणो नीरसो निर्भीर्निर्व्यापारो निरामय ॥२३॥
निर्निमेषो निराबाधो निद्र न्द्वो निष्क्रियोऽमघ । निःशकश्च निरातंको निष्कलो निर्मलोऽमल ॥२४॥

॥ २ ॥

तीर्थकृत् तीर्थसृट तीर्थकरस्तीर्थकर सुदृक । तीर्थकर्त्ता तीर्थभर्त्ता तीर्थेशस्तीर्थनायक ॥२५॥
सुतीर्थोऽधिपतितीर्थसेव्यस्तीर्थिकनायक । धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारक ॥२६॥
तीर्थाधीशो महातीर्थस्तीर्थस्तीर्थविधायक । सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तीर्थिकतायक ॥२ ॥
तीर्थनाथस्तीर्थराजस्तीर्थेट तीर्थप्रकाशक । तीर्थवन्द्यस्तीर्थमुख्यस्तीर्थाराध्य सुतीर्थिक ॥२८॥
स्थविष्ठ स्थविरो येष्ठ प्रेष्ठ प्रष्ठो वरिष्ठधी । स्थेष्ठो गरिष्ठो बहिष्ठो श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठधी ॥२९॥
विभवो विभया वीरो विशोको विरजो जरन् । विरागो विमदोऽव्यक्तो विविक्तो वीतमत्सर ॥३ ॥
वीतरागो गतद्व षो वीतमोहो विमन्मथ । वियोगो योगविद् विद्वान् विधाता विनयी नयी ॥३१॥
क्षान्तिमान् पृथिवीमूर्त्ति शान्तिभाक सलिलात्मक । वायुमूर्त्तिरसगात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधक ॥३२॥
सुयज्वा यजमानात्मा सुत्रामस्तोमपूजित । ऋत्विग यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञागममृत हवि ॥३३॥
सोममूर्त्ति सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिमहाप्रभ । व्योममूर्त्तिरमूर्त्तात्मा नीरजा वीरजा शुचि ॥३४॥
मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्त्तिरनन्तर । स्वतंत्र सूत्रकृत् स्वत्र कृतान्तश्च कृतान्तकृत् ॥३५॥

॥ ३ ॥

कृती कृतार्थ संस्कृत्य कृतकृत्य कृतक्रतु । नित्यो मृत्युजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भव ॥३६॥
हिरण्यगर्भ श्रीगर्भ प्रभूतविभवोऽभव । स्वयप्रभ प्रभूतात्मा भवो भावो भवान्तकः ॥३ ॥
महाशोकध्वजोऽशोक क स्रष्टा पद्मविष्टर । पद्मेश पद्मसभूतिः पद्मनाभिरनुत्तर ॥३८॥
पद्मयोनिजगद्योनिरित्य स्तुत्य स्तुतीश्वर । स्तवनार्हो हृषीकेशोऽजितो जेय कृतक्रिय ॥३९॥
विशालो विपुलोद्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभव । सुसंवृत्त सुगुप्तात्मा शुभयु शुभकर्मकृत् ॥४ ॥
एकविद्यो महावैद्यो मुनि परिवृढो दृढ । पतिर्विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तक ॥४१॥
पिता पितामह पाता पवित्रः पावनो गति । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरद पारद पुमान् ॥४२॥
कवि पुराणपुरुषो वर्षीयान् ऋषभ पुर । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुभु वनकपितामह ॥४३॥
श्रीवत्सलक्षणा श्लक्ष्णो लक्षण्य शुभलक्षण । निरक्ष पुण्डरीकाक्ष पुष्कल पुष्करेक्षण ॥४४॥
सिद्धिद सिद्धसंकल्प सिद्धात्मा सिद्धशासन । बुद्धबोध्यो महाबुद्धिर्वर्धमानो महर्द्धिकः ॥४५॥
वेदांगो वेदविद् वेद्यो जातरूपो विदांवर । वेदवेद्य स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥४६॥

॥ ४०० ॥

सुधर्मा धर्मधीर्धर्मो धर्मात्मा धर्मदेशकः । धर्मचक्री वृषाधर्मं शुद्धधर्मो वृषध्वज' ॥४७॥
वृषकेतुर् वृषाधीशो वृषाकश्च वृषोद्भवः । हिरण्यनाभिर् भूतात्मा भूतभृद् भूतभावन' ॥४८॥
प्रभवो विभवो भास्वान् मुक्तः शक्तोऽक्षयोऽक्षत । कूटस्थ' स्थाणुरक्षोभ्य' शास्ता नेताऽचलस्थिति ॥४९॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्ग्रणयो गणनायो गणाग्रणी । गणाधिपो गणाधीशो गणज्येष्ठो गणार्चित' ॥५ ॥
गुणाकरो गुणाम्भोधिर् गुणज्ञो गुणवान् गुणी । गुणादरो गुणोच्छेदी सुगुणोऽगुणवर्जित' ॥५१॥
शरण्य' पुण्यवाक पूतो वरेण्य पुण्यगीर्गुण । अगण्यपुण्यधी पुण्य पुण्यकृत् पुण्यशासन ॥५२॥
अतीन्द्रोऽतीन्द्रियोऽधीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक । अतीन्द्रियो महेन्द्राच्यों महेन्द्रमहितो महान् ॥५३॥
उद्भव' कारण कर्ता पारगो भवतारक । अग्राह्यो गहनं गुह्य' परर्द्धि' परमेश्वर' ॥५४॥
अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धि' समग्रधी' । प्राग्रय प्राग्रयहरोऽभ्यग्र' प्रत्यग्रोऽग्रोऽग्रिमोऽग्रज ॥५५॥
प्राणाक प्रणव' प्राण प्राणद' प्राणितेश्वर । प्रधानमात्मा प्रकृति' परमः परमोदय ॥५६॥

॥ ५ ॥

महाजिनो महाबुद्धो महाब्रह्मा महाशिव' । महाविष्णुर्महाजिष्णुर्महानाथो महेश्वर' ॥५ ॥
महादेवो महास्वामी महाराजो महाप्रभु । महाचन्द्रो महादित्यो महाशूरो महागुरु ॥५८॥
महातपा महातेजा महोदर्को महामय । महायशो महाधामा महासत्त्वो महाबल ॥५९॥
महाधैर्यो महावीर्यो महाकान्तिर्महाद्युति । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युति ॥६ ॥
महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महाकृति । महाकीर्तिर्महास्फूर्तिर्महाप्रज्ञो महोदय ॥६७॥
महाभागो महाभोगो महारूपो महावपु । महादानो महाज्ञानो महाशास्ता महामह ॥६८॥
महामुनिर्महामौनी महाध्यानो महादम । महाक्षमो महाशीलो महायोगो महालयः ॥६९॥
महाव्रतो महायज्ञो महाश्रेष्ठो महाकवि । महामंत्रो महातन्त्रो महोपायो महानय ॥ ॥
महाकारुणिको मन्ता महानादो महायति । महामोदो महाघोषो महेज्यो महसांपति ॥७१॥
महावीरो महाधीरो महाधुर्यो महेष्टवाक । महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदय ॥७२॥
महामुक्तिर्महागुप्तिर्महासत्यो महाजव । महाबुद्धिर्महासिद्धिर्महाशौचो महावशी ॥७३॥
महाधर्मा महाशर्मा महात्मज्ञो महाशय । महामोक्षो महासौख्यो महानन्दो महोदय ॥ ४॥

॥ ६० ॥

महाभवाब्धिसन्तारी महामोहारिसूदनः । महायोगीश्वराराध्यो महामुक्तिपदेश्वर । ५॥
आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्यो नन्द्योऽभिनन्दन । कामहा कामद काम्य कामधेनुररिजय ॥ ६॥
मन'क्लेशापह साधुरुत्तमोऽघहरो हर । असंख्येय प्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकर ॥ ॥
सवयोगीश्वरश्चिन्त्य श्रुतात्मा विष्टरश्रवा । दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा योगसाधक ॥७८॥
प्रमाणपरिधिदक्षो दक्षिणोऽध्वयु रध्वर' । प्रक्षीणबन्ध कर्मारि क्षेमकृत्क्षेमशासन ॥ ९॥
क्षमी क्षेमकरोऽक्षय्य क्षमधर्मा क्षमापति । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ज्ञानिगम्यो जिनोत्तम ॥८ ॥
जिनेन्द्रुजनितानन्दो मुनीन्दुर् दुन्दुभिस्वन । मुनीन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो यतिनायक ॥८१॥
असंस्कृत सुसंस्कार प्राकृतो वैकृतान्तवित् । अन्तकृत् कान्तगु कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टद ॥८२॥
अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासन । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तक ॥८३॥
सत्यात्मा सत्यविज्ञान' सत्यवाक सत्यशासन' । सत्याशी' सत्यसन्धान' सत्यः सत्यपरायणः ॥८४॥
सदायोग सदाभोग सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्य सदाविद्य' सदोदय ॥८५॥
सुघोष सुमुख' सौम्य सुखद' सुहित सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता गुप्ताक्षो गुप्तमानस ॥८६॥

॥ ७० ॥

बृहद् बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरांपति' ॥८७॥
नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञ' कृतलक्षण' ॥८८॥

ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भ प्रभास्वर । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भ सुदर्शन ॥८९॥
लक्ष्मीश सत्र्योऽध्यक्षो दृढयोगिर्वगीशिता । मनोहरो मनोज्ञोऽर्हो धीरो गम्भीरशासन ॥९ ॥
धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिमु नीश्वर । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषण ॥९१॥
स्थेयान् स्थवीयान् नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शन । सुस्थित स्वास्थ्यभाक सुस्थो नीरजस्को गतस्पृह ॥९२॥
वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रिय । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मु ख ॥९३॥
अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगात्मा योगिवन्दित । सर्वत्रग सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक ॥९४॥
शंकर सुखदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायण । स्वानन्द परमानन्द सूक्ष्मवर्चाः परापर ॥९५॥
अमोघोऽमोघवाक स्वाज्ञा दिव्यदृष्टिरगोचर । सुरूप सुभगस्त्यागी मूर्तोऽमूर्त समाहित ॥९६॥

॥ ८ ॥

एकोऽनेको निरालम्बोऽनीदृग नाथो निरन्तरः । प्राध्योंऽभ्यर्थ्य समभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मंगलोदयः ॥९ ॥
ईशोऽधीशोऽधिपोऽधी न्द्रो ध्येयोऽमेयो दयामय । शिव शूर शुभ सार शिष्ट स्पष्ट स्फुटोऽस्फुट ॥९
इष्ट पुष्ट क्षमोऽक्षामोऽकायोऽमायोऽस्मयोऽमय । दृश्योऽदृश्योऽणुरस्थूलो जीर्णो नव्यो गुरुलघु ॥९९॥
स्वभू स्वात्मा स्वयंबुद्ध स्वेश स्वरीश्वर स्वर । आद्योऽलक्ष्योऽपरोऽरूपोऽस्पर्शोऽशाब्दोऽरिहाऽरुह ॥१
दीप्तोऽलेश्योऽरसोऽगन्धोऽच्छेद्योऽभेद्योऽजरोऽमर । प्राज्ञो धन्यो यति पूज्यो महोऽध्य प्रशमी यमी ॥१
श्रीश श्रीन्द्र शुभ सुश्रीरुत्तमश्री श्रिय पति । श्रीपति श्रीपर श्रीप सच्छ्री श्रीयुक श्रियाश्रित ॥१ २
ज्ञानी तपस्वी तेजस्वी यशस्वी बलवान् बली । दानी ध्यानी मुनिर्मौनी लयी लक्ष्य क्षयी क्षमी ॥१ ३।
लक्ष्मीवान् भगवान् श्रेयान् सुगत सुतनुर्बुध । बुद्धो वृद्ध स्वयसिद्ध प्रोच्च प्रांशु प्रभामय ॥१ ४॥

॥ ९ ॥

आदिदेवो देवदेव पुरुदेवोऽधिदेवता । युगादीशो युगाधीशो युगमुख्यो युगोत्तम ॥१ ५॥
दीप्त प्रदीप्त सूर्याभोऽरिघ्नोऽविघ्नोऽघनो घन । शत्रुघ्न प्रतिघस्तु गोऽसंग स्वंगोऽग्रग सुग ॥१ ६॥
स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरुद्दामगी प्रगी । पुण्यवागर्थ्यवागर्धमागधीयोक्तिरिद्धगी ॥१ ॥
पुराणपुरुषोऽपूर्वोऽपूर्वश्रा पूर्वदेशक । जिनदेवो जिनाधीशो जिननाथो जिनाग्रणी ॥१ ८॥
शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठ शिवताति शिवप्रद । शान्तिकृत् शान्तिद शान्ति कान्तिमान् कामितप्रद ॥१
श्रियानिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठ प्रतिष्ठित । सुस्थित स्थावर स्थाणु पृथीयान् प्रथित पृथु ॥११ ॥
पुण्यराशि श्रियोराशिस्तेजोराशिरसंशयी । ज्ञानोदधिरनन्तौजा ज्योतिर्मूर्तिरनन्तधी ॥१११॥
विज्ञानोऽप्रतिमो भिक्षुर्मुमुक्षु निपुगव । अनिद्रालरतन्द्रालुर्जागरूक प्रमामय ॥११२॥
कमण्य कमठोऽकुठो रुद्रो भद्रोऽभयकर । लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकेशो लोकवत्सल ॥११३॥
त्रिलोकीशस्त्रिकालज्ञस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तक । त्र्यम्बक केवलालोक केवली केवलेक्षण ॥११४॥
समन्तभद्र शान्तारिधर्माचार्यो दयानिधि । सूक्ष्मदर्शी सुमार्गज्ञ कृपालुर्मार्गदर्शक. ॥११५॥

॥ १ ८ ॥

प्रातिहार्योज्ज्वलस्फीतातिशयो विमलाशय । सिद्धानन्तचतुष्कश्रीर्जीयाच्छ्रीजिनपुगव ॥११६॥
एतदष्टोत्तर नामसहस्र श्रीमदर्हत । भव्या पठन्तु सानन्दं महानन्दककारणम् ॥११ ॥
इत्येतज्जिनदेवस्य जिननामसहस्रकम् । सर्वापराधशमनं पर भक्तिविवर्धनम् ॥११८॥
अध्यर्यं त्रिषु लोकेषु सर्वस्वर्गैकसाधनम् । स्वर्गलोकैकसोपानं सर्वदु खनाशनम् ॥११९॥
समस्तदु खहं सद्य पर निर्वाणदायकम् । कामक्रोधादिनिःशेषमनोमलविशोधनम् ॥१२ ॥
शान्तिद पावनं नृणां महापातकनाशनम् । सर्वेषां प्राणिनामाशु सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥१२१॥
जगज्जाड्यप्रशमनं सर्वविद्याप्रवर्तकम् । राज्यद राज्यभ्रष्टानां रोगिणां सर्वरोगहृत् ॥१२२॥
वन्ध्यानां सुतद चाशु क्षीणानां जीवितप्रदम् । भूत-ग्रह-विषध्वंसि श्रवणात् पठनाज्जपात् ॥१२३॥

इति श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीअर्हन्नामसहस्रसमुच्चय समाप्त ।

पण्डितप्रवर-आशाधर-विरचितम्

जिनसहस्रनाम

स्वोपज्ञविवृतियुतम्

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दु खभीरुक । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥
सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्तत । सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुख । अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यत ॥ ३ ॥
भक्त्या प्रोत्सार्यमाणोऽपि दूर शक्त्या तिरस्कृत । त्वां नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥ ४ ॥

(हे प्रभो त्रिभुवनैकनाथ एष) प्रत्यक्षीभूतोऽहं आशाधरमहाकवि त्वा भवन्तं विज्ञापयामि विज्ञप्तिं करोमि (कथम्भूतोऽहम् ? भवाङ्गभोगेषु संसार शरीर भोगेषु निर्विण्णो निर्वेदं प्राप्त । कस्मात्कारणान्निर्विण्ण इत्याह—दु खभीरुक दु खाद्भीरुक दु खभीरुक । कथम्भूतं त्वाम् ? शरण्यम् । शृणाति भयमनेनेति शरणं करणाधिकरणयोश्च युट् । शरणाय हित शरण्य यदुगवादित । आर्त्तिमथन इत्यर्थ (तम्) । भूय कथम्भूत त्वाम् ? करुणार्णवम् । क्रियते स्वर्गगामिभि प्राणिवर्गेषु इति करुणा भृकृतृवृजयमिदार्यञ्जिभ्य उन् । अर्णो जल विद्यते यस्य सोऽर्णव सलोपश्च अस्त्यर्थे वप्रत्यय । करुणाया अर्णव करुणार्णवस्तं करुणार्णवं दयासमुद्र इति यावत् ॥१॥ सुखयति आत्मन प्रीतिमुत्पादयतीति सुखं अचि इन् लोप । भृश पुन पुन वा लसन लालसा सुखस्य शर्मण सद्वद्यस्य सातस्य लालसया अत्याकाङ्क्षया (मोहाद्) अज्ञानात् पर्यटन् सन् (बहि) कुदेवादौ प्रार्थयमान (इतस्तत) यत्र तत्र । कथंभूतस्य तव सुखस्य परमा (नन्दलक्षणस्य) एकोऽद्वितीय हेतु कारण सुखैकहेतुस्तस्य सुखैकहेतो अभिधानमात्रमपि सर्वज्ञवीतरागस्य न ज्ञातवान् अहं (पुरा) पूर्वकाले अनादिकाले ॥ २ ॥ हे स्वामिन् (अद्य अस्मिन्) भवे मोह अज्ञान मिथ्यात्वं मोहो वा स एव ग्रह ग्राथिल्यकारित्वात् मोहग्रह तस्य आवेश प्रवेश (अ) यथार्थप्रवृत्त न तस्य शैथिल्य उपशम क्षयोपशमो वा तस्मात् । कियत् ? किञ्चित् ईषन्मनाक् उन्मुख बद्धोत्कण्ठ । कीदृश श्रुत्वा ? अनन्तगुण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसंयुक्तम् । केभ्य श्रुत्वा ? आप्तेभ्य उदयसेन मदनकीर्त्ति महावीरनामादि गुरुभ्य आचार्येभ्य सकाशात् त्वां भगवन्त (श्रुत्वा) आकर्ण्य अहं उद्यमपर सजात ॥३॥ हे त्रिभुवनैकनाथ अहमाशाधर । त्वा भवन्तं स्तुत्वा स्तुतिं नीत्वा । आत्मान निजजीवस्वरूप पुनामि पवित्रयामि । केन कृत्वा ? स्तुत्वा नामाष्टसहस्रेण । कथम्भूतोऽह ?) (भक्त्या) आत्मानुरागेण (प्रोत्सार्यमाण प्रकृष्टमुद्यमं) प्राप्यमान त्वं (जिनवर) स्तवन कुर्विति प्रेर्यमाण (दूर) अतिशयेन (शक्त्या) तिरस्कृत जिनवरस्तवन मा कार्षीरिति निषिद्ध । अष्टभिरधिक सहस्र अष्टसहस्र नाम्ना अष्टसहस्र नामाष्टसहस्र तेन पवित्रयामि अहं आशाधरमहाकवि ॥४॥

हे प्रभो, हे त्रिभुवनके एकमात्र स्वामी जिनेन्द्र देव ! संसार शरीर और इन्द्रिय विषयरूप भोगोंसे अत्यन्त विरक्त और शारीरिक मानसिक आदि नाना प्रकारके सांसारिक कष्टोंसे भयभीत हुआ यह आपके सन्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित मैं आशाधर महाकवि जगज्जनोंको शरण देनेवाले और दयाके सागर ऐसे आपको पाकर यह नम्र निवेदन करता हूँ । हे भगवन्, सुखकी लालसासे मोहके कारण बाहर इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अर्थात् कुदेवादिककी सेवा करते हुए मैंने सुखका एकमात्र कारण आपका नाम भी पहले कभी नहीं जाना । हे स्वामिन्, आज इस भवमें मोहरूप ग्रहका आवेश शिथिल होनेसे सुमार्गकी ओर कुछ उन्मुख होता हुआ मैं (उदयसेन मदनकीर्त्ति, महावीर आदि) गुरुजनोंसे अनन्त गुणशाली आपका नाम सुनकर आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ । हे त्रिभुवननाथ, भक्तिके द्वारा प्रोत्साहित किया गया भी मैं शक्तिसे अत्यन्त तिरस्कृत हूँ, अतएव केवल एक हजार आठ नामोंके द्वारा आपकी स्तुति करके मैं अपनी आत्माको पवित्र करता हूँ ॥१-४॥

जिन सवज्ञ यज्ञार्ह तीर्थकृन्नाथ योगिनाम् । निर्वाण ब्रह्म बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरै शतै ॥ ५ ॥
जिनो जिनेन्द्रो जिनराट जिनपृष्ठो जिनोत्तम । जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वर ॥ ६ ॥
जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट । जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्त्ता जिनाधिभू ॥ ७ ॥

समासस्तु जिनश्च सर्वज्ञश्च यज्ञार्हश्च (तीर्थ) कृच्च नाथश्च योगी च जिन-सर्वज्ञ यज्ञार्ह तीर्थकृन्नाथयोगिन तेषा इति षट् शतानि। तथा निर्वाणश्च ब्रह्मा च बुद्धश्च अन्तकृच्च निर्वाण ब्रह्म-बुद्धा तकृत तेषा इति चत्वारि शतानि। तद्यथा–तदेव निरूपयति ॥५॥ अनेकविषमभवगहन व्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति क्षय नय तीति जिन इण् जि कृषिभ्यो नक। एकदेशेन समस्तभावेन (वा) कर्मारातीन् जितवन्तो जिना सम्यग्दृष्टय श्रावका प्रमत्तसंयता अप्रमत्ता अपूर्वकरणा अनिवृत्तिकरणा सूक्ष्मसाम्पराया उपशान्तकषाया क्षीणकषायाश्च जिनशब्देनोच्यन्ते। तेषामिन्द्र स्वामी जिनेन्द्र वा जिनश्चासाविन्द्रो जिनेन्द्र । जिनेषु अर्हत्सु राजते। जिनेषु पृष्ठ प्रधान। जिनेषु उत्तम । जिनानामधिप स्वामी। जिनानामधीश स्वामी। जिनाना स्वामी। जिनानामीश्वर स्वामी ॥६॥ जिनाना नाथ स्वामी। जिनाना पति स्वामी। जिनाना राजा स्वामी। जिनानामधिराट् स्वामी। जिनाना प्रभु स्वामी। जिनाना विभु स्वामी। जिनाना भर्त्ता स्वामी जिनानामधिभू स्वामी ॥७॥

भावार्थ—भक्ति भी मेरी स्त्री है और शक्ति भी। भक्तिरूपी स्त्री तो आपकी स्तुति करनेके लिए मुझे बार बार उत्साहित कर रही है परन्तु शक्तिरूपी स्त्री मुझे बलात रोक रही है अतएव मैं द्विविधामें पड़ गया हूँ कि किसका कहना मानूं? यदि एकका कहना मानता हूँ तो दूसरी कुपित हुई जाती है ऐसा विचार कर दोनोंको ही प्रसन्न रखनेके लिए केवल कुछ नाम लेकरके ही आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

हे अनन्त गुणशालिन मैं जिन सर्वज्ञ यज्ञार्ह तीर्थकृत नाथ योगी निर्वाण ब्रह्म बुद्ध और अन्तकृत नामक आठ नामोंसे अधिक दश शतोंके द्वारा आपकी स्तुति कर अपनी आत्माको पवित्र करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ ॥५॥

(१) अथ जिननाम शतक—

अर्थ—हे भगवन् आप जिन हैं जिनेन्द्र हैं जिनराट् हैं जिनपृष्ठ हैं, जिनोत्तम हैं जिनाधिप हैं जिनाधीश हैं जिनस्वामी हैं जिनेश्वर हैं जिननाथ हैं जिनपति हैं जिनराज हैं जिनाधिराट् हैं जिनप्रभु हैं जिनविभु हैं जिनभर्त्ता हैं और जिनाधिभू हैं ॥६–७॥

व्याख्या—हे जिन—आपने भव-कानन-सम्बन्धी अनेक विषम व्यसनरूपी महाकष्टोंके कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है अत जिन कहलाते हैं (१)। जिनेन्द्र—चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंको भी कर्मोंके एकदेश जीतनेके कारण जिन कहते हैं। इन जिनोंमें आप इन्द्रके समान हैं अत जिनेन्द्र कहलाते हैं (२)। जिनराट्—आप जिनोंमें अनन्त ऐश्वर्यके कारण शोभित होते हैं अत जिनराट कहलाते हैं (३)। जिनपृष्ठ—आप जिनोंमें पृष्ठ अर्थात् प्रधान हैं (४)। जिनोत्तम—आप जिनोंमें उत्तम हैं (५)। जिनाधिप—आप जिनोंके अधिप (स्वामी) हैं (६)। जिनाधीश—आप जिनोंके अधीश हैं (७)। जिनस्वामी—आप जिनोंके स्वामी हैं (८)। जिनेश्वर—आप जिनोंके ईश्वर हैं (९)। जिननाथ—आप जिनोंके नाथ हैं (१०)। जिनपति—आप जिनोंके पति हैं (११)। जिनराज—आप जिनोंके राजा हैं (१२) जिनाधिराट्—आप जिनोंके अधिराज हैं (१३)। जिनप्रभु—आप जिनोंके प्रभु हैं (१४)। जिनविभु—आप जिनोंके विभु हैं (१५)। जिनभर्त्ता—जिनोंके भरण पोषण करनेके कारण आप जिनभर्त्ता हैं अर्थात् उन्हें सन्मार्ग-दर्शन और सद्बोधामृत-पान करानेवाले हैं (१६) जिनाधिभू—जिनोंके अधिवास अर्थात् आत्मामें निवास करनेके लिए निर्मल रत्नत्रयमयी भूमिको प्रदान करनेसे जिनाधिभू हैं (१७)।

जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायकः । जिनेट् जिनपरिवृढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥
जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता । जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपालकः ॥ ९ ॥
जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुंजरः । जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तरः ॥ १० ॥
जिनवर्यो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्वहः । जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्नं जिनोरसम् ॥११॥
जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाग्र्यो जिनपुंगवः । जिनहंसो जिनोत्तंसो जिननागो जिनाग्रणीः ॥१२॥

जिनाना नेता स्वामी । जिनानामीशान स्वामी । जिनाना इन प्रभु स्वामी । जिनाना नायक स्वामी । जिनानामीट् स्वामी । जिनाना परिवृढ स्वामी जिनपरिवृढ । परिवृढदढौ प्रभुबलवतो । जिनाना देव स्वामी । जिनानामीशिता स्वामी ॥८॥ जिनानामधिराज स्वामी । जिनान् पातीति जिनप आतोऽनुपसर्गात्क । जिनेषु इष्ट ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवं शील । जिनाना शासिता रक्षक । जिनानामधिको नाथ । जिनानामधिपति स्वामी । जिनाना पालक स्वामी ॥ ९ ॥ जिनाना चन्द्र आल्हादक । जिनानामादित्य प्रकाशक । जिनानामर्क प्रकाशक । जिनाना कुंजर प्रधान । जिनानामिन्दु । जिनाना धुरि नियुक्त । जिनाना धुर्य । जिनेषु उत्तर उत्कृष्ट ॥१०॥

जिनेषु वर्यो मुख्य । जिनषु वर श्रेष्ठ । जिनाना जिनेषु वा सिंह मुख्य । जिना उद्वहा पुत्रा यस्य स जिनोद्वह । अथवा जिनानुद्वहति ऊर्ध्व नयति इति । जिनेषु ऋषभ श्रेष्ठ । जिनेषु वृष श्रेष्ठ । जिनेषु रत्न उत्तम जिनरत्न । जिनानामुर प्रधानो जिनोरस । उर प्रधानाथ राजादौ ॥११॥ जिनानामीश स्वामी । जिनाना शार्दूल प्रधान । जिनाना अग्र्य प्रधान । जिनाना पुंगव प्रधान । जिनाना हंसो

अर्थ—हे जगदीश्वर आप जिननेता हैं, जिनेशान हैं, जिनेन हैं, जिननायक हैं जिनेट् हैं, जिनपरिवृढ हैं जिनदेव हैं जिनेशिता हैं, जिनाधिराज हैं, जिनप हैं, जिनेशी है जिनशासिता हैं, जिनाधिनाथ हैं जिनाधिपति हैं, जिनपालक हैं, जिनचन्द्र हैं, जिनादित्य हैं, जिनार्क हैं, जिनकुंजर हैं जिनेन्द्र हैं जिनधौरेय हैं, जिनधुर्य हैं, और जिनोत्तर हैं ॥ ८–१० ॥

व्याख्या—सुमार्ग पर ले जानेवालेको नेता कहते हैं । हे भगवन् आप जिनोको मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं अतएव जिननेता हैं (१८) ईशान, इन नायक ईट् परिवृढ, देव ईशिता और अधिराज ये सर्व शब्द स्वामीके पर्याय-वाचक हैं, आप सम्यग्दृष्टियोंके स्वामी हैं, अतएव आप जिनेशान, जिनेन, जिननायक जिनेट जिनपरिवृढ, जिनदेव, जिनेशिता, और जिनाधिराज कहलाते हैं (१९–२६)। जिनोको पालन करनेसे आप जिनप हैं (२७)। जिनोमें आप ऐश्वर्यवान् हैं अतएव आप जिनेशी हैं (२८)। जिनोंके शासक हैं, अत जिनशासिता कहलाते हैं (२९)। अधिनाथ, अधिपति, पालक ये तीनों ही शब्द स्वामी अर्थके वाचक हैं, अतः आप जिनाधिनाथ, जिनाधिपति और जिन पालक कहे जाते हैं (३०–३२)। जिनोंको चन्द्रके समान आह्लाद उत्पन्न करते हैं, अत आप जिन चन्द्र हैं (३३)। आदित्य और अर्क शब्द सूर्यके पर्याय-वाचक हैं। आप जिनोको सूर्यके समान मोक्षमार्गका प्रकाश करते हैं अत आप जिनादित्य और जिनार्क कहलाते हैं (३४–३५)। कुंजर नाम गजराजका है। जैसे पशुओंमें कुंजर सबसे प्रधान या बड़ा होता है उसी प्रकार आप भी जिनोमे सबसे प्रधान हैं, अत जिनकुंजर कहे जाते हैं (३६)। जिनोंमें इन्दु अर्थात चन्द्रके तुल्य हैं, अत आप जिनेन्दु हैं (३७) गाड़ीकी धुरापर बैठकर जो उसको चलाता है, उसे धौरेय या धुर्य कहते हैं। आप भी मोक्षमार्ग पर ले जानेवाले रथकी धुरा पर आसीन हैं, अतएव जिनधौरेय और जिनधुर्य ये दोनों ही नाम आपके सार्थक हैं (३८–३९)। जिनोंमें आप उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट हैं, अतएव आप जिनोत्तर कहलाते हैं (४०)।

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ, आप जिनवर्य हैं, जिनवर हैं, जिनसिंह हैं, जिनोद्वह हैं, जिनर्षभ जिनवृष हैं, जिनरत्न हैं, जिनोरस हैं, जिनेश हैं, जिनशार्दूल हैं, जिनाग्र्य हैं, जिनपुंगव हैं, जिनहंस

जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीर्जिनसत्तम । जिनप्रवह परमजिनो जिनपुरोगम ॥१३॥
जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिम । श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृदारकोऽरिजित् ॥१४॥
निर्विघ्नो विरजा शुद्धो निस्तमस्को निरजन । घातिकर्मान्तक कर्ममर्मावित्कर्महानघ ॥१५॥

भास्कर । जिनानामुत्तस मुकुट । जिनाना नाग प्रधान । जिनानामग्रणी प्रधान ॥१२॥ जिनाना प्रवेक प्रधान । जिनाना ग्रामणी प्रधान जिनग्रामणी अथवा जिनग्रामान् सिद्धसमूहान् नयतीति जिनग्रामणी । जिनाना सत्तम श्रेष्ठ प्रधान । जिनेषु प्रवर्ह मुख्य जिनप्रवह । परया उत्कृष्टया मया लक्ष्म्या अभ्युदय नि श्रेयसलक्षणोपलक्षितया वर्तत इति परम । परमश्चासौ जिन परमजिन । जिनाना पुरोगम प्रधान अग्रेसर ॥ १३ ॥

जिनाना श्रेष्ठ प्रशस्य । जिनाना ज्येष्ठ अतिशयेन वृद्ध प्रशस्यो वा । जिनेषु मुख्य प्रधान जिनानामग्रिम प्रधान । श्रिया अभ्युदय नि श्रेयसलक्षणाया लक्ष्म्या उपलक्षिता जिन श्रीजिन । उत्तम उत्कृष्टो जिन । जिनाना वृदारक श्रेष्ठ । अरिं मोह जितवान् ॥१४॥ निर्गतो विनष्टो विघ्नोऽन्तरायो यस्येति । विगत विनष्टं रजो ज्ञान दर्शनावरणद्वयं यस्येति । शुद्ध कर्ममलकलंकरहित । निर्गत तमो अज्ञान यस्येति । निगत अंजन यस्येति निरजन द्रव्यकम भावकर्म नोकर्मरहित । घातिकर्मणा मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरणान्तराया (णामन्त) को विनाशक कर्मणा मर्म जीवनस्थानं (वि) यतीति कर्ममर्मावित् । न हि वृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्विबतेषु (प्रा) दि कारकाणामेव दीघ । कर्म हन्तीति कर्महा

हैं जिनोत्तंस हैं जिननाग है जिनाग्रणी हैं जिनप्रवक हैं जिनग्रामणी हैं जिनसत्तम है जिनप्रवह हैं परमजिन हैं और जिनपुरोगम हैं ॥ ११–१३ ॥

व्याख्या—जिनोमे वर्य अर्थात मुख्य हैं अतएव आप जिनवय हैं (४१) । वर नाम श्रेष्ठका है । जिनोम आप सवश्रेष्ठ हैं, अत जिनवर हैं (४२) । जिनोमे सिहके समान कमरूप गजोका मद भंजन करनेक कारण आप जिनसिंह हैं (४३) जिनोका आप ऊपरकी ओर ले जाते हैं अत जिनोद्वह हैं (४४) । ऋषभ और वृषभ य दोनो शब्द श्रेष्ठ अथके वाचक हैं आप जिनोम श्रेष्ठ हैं अत जिनर्षभ और जिन वृषभ कहलाते हैं (४५ ४६) । जिनोम रत्नके समान शाभायमान है अत जिनरत्न हैं (४७) । उरस नाम प्रधानका है जिनोम प्रधान होनसे जिनोरस हैं (४८) । जिनोंके इश होनेसे जिनेश हैं (४९) । शार्दूल नाम प्रधानका है, जिनोम आप प्रधान हैं अत जिनशार्दूल नाम भी आपका साथक है (५) । अग्र्य नाम आगे रहनवाल मुखियाका है । जिनोमे अग्र्य होनेसे आप जिनाग्र्य कहलाते हैं (५१) । जिनोंमे पुंगव अर्थात प्रधान है अत जिनपुंगव हैं (५२) । जिनोमे हसके समान निर्मल एवं धवल है अत जिनहंस हैं । हंसनाम सूर्यका भी है जिनोमे सूयके समान भास्करायमान हानसे भी जिनहंस कहलाते हैं (५३) । जिनोम उत्तंस अथात् मुकुटक समान शोभायमान होनेसे जिनोत्तंस कहे जाते हैं (५४) । जिनोंमे नाग (हाथी) के समान प्रधान होनेसे जिननाग नाम आपका है (५५) । आगे चलनेवालेको अग्रणी कहत हैं, जिनोम अग्रणी होनेसे जिनाग्रणी कहलाते हैं (५६) । जिनोंमें प्रवेक अर्थात प्रधान हैं अत जिनप्रवक हैं (५७) । ग्रामणी नाम प्रधानका है । जिनोमे ग्रामणी होनेसे जिनग्रामणी कहे जाते हैं । अथवा भव्योको जिनग्राम अर्थात सिद्ध-समूहके पास ले जाते हैं, अत जिनग्रामणी हैं (५८) । सत्तम और प्रवर्ह नाम श्रेष्ठ और प्रधानका है । जिनोंमें श्रेष्ठ होनेसे जिन-सत्तम तथा जिनप्रवर्ह कहे जाते हैं (५९–६) । पर अर्थात उत्कृष्ट मा (लक्ष्मी) के धारक जिन होनेसे परमजिन कहलाते हैं (६१) । जिनोंमें पुरोगम अर्थात अग्रगामी हैं अत जिन पुरोगम हैं (६२) ।

अर्थ—हे भगवन् आप जिनश्रेष्ठ हैं, जिनज्येष्ठ हैं जिनमुख्य हैं, जिनाग्रिम हैं, श्रीजिन हैं उत्तमजिन हैं, जिनवृन्दारक हैं अरिजित हैं, निर्विघ्न हैं विरज हैं शुद्ध हैं निस्तमस्क हैं, निरञ्जन हैं, घातिकर्मान्तक हैं कर्ममर्मावित हैं, कर्महा हैं, अनघ हैं वीतराग हैं, अक्षुत् हैं, अद्वेष हैं,

वीतरागोऽक्षुदद्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽगदः । वितृष्णो निर्ममोऽसंगो निर्भयो वीतविस्मयः ॥१६॥

अविद्यमानं अघं पापचतुष्टय यस्येति ॥१५॥ वीतो विनष्टो रागो यस्येति वीतराग अजेर्वी । अविद्यमाना क्षुद् बुभुक्षा यस्येति । अविद्यमानो द्वषो यस्येति । निर्गतो मोहो अज्ञानं यस्मादिति । निगतो मदोऽहकारोऽष्ट प्रकारो यस्मादिति । अविद्यमानो गदो रोगो यस्येत्यगद । इत्यनेन केवलिना रोग कवलाहार च ये कथयति ते प्रत्युक्ता । विगता विशेषेण विनष्टा तृष्णा विषयाभिकाङ्क्षा अभिलाषो यस्य स भवति वितृष्ण विनष्टा वा तृष्णा मोक्षाभिलाषो यस्येति वितृष्ण वीना पक्षिणा निस्तारणे तृष्णा यस्येति वितृष्ण तदुपलक्षणा अन्येषामपि कर्मबद्धाना पशूना ससारिणा निस्तारकेच्छु इत्यर्थ । निर्गत ममति मनो यस्यति निर्मम निश्चिता मा प्रमाण यस्यति निम प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणद्वयानित्यथ । निर्म सन् पदार्थान् माति मिनोति मिमीते वा निर्मम । आतोऽनुपसर्गात्क । अविद्यमान सग परिग्रहो यस्येति असग (न) सम्यक् गम्यते ध्यान विना प्राप्यते असग डो सज्ञायामपि । निगत भय यस्य भ याना वा यस्मादिति निर्भय । अथवा निश्चिता भा दीप्तिर्यत्र तत् निर्भा केवलाख्य ज्योति तद्याति गच्छति प्राप्नोतीति निर्भय आतोऽनुपसर्गात्क । वीतो विनष्टो विस्मयोऽद्भुतरसोऽष्टविधो मदो वा यस्येति । अथवा वीतो विनष्टो वेर्गरुडस्य स्मयो गर्वो यस्मादिति । भगवान् विष कर्मविषं च विनाशयति यस्मादिति भाव ॥१६॥

निर्मोह हैं निर्मद हैं अगद हैं वितृष्ण हैं निर्मम हैं, असग हैं, निर्भय हैं और वीतविस्मय हैं ॥ १४–१६ ॥

व्याख्या—हे भगवन् आप जिनोमें श्रेष्ठ या प्रशस्य हैं अत जिनश्रेष्ठ हैं (६३)। जिनोंमें अति ज्ञानवृद्ध होनेसे जिनज्येष्ठ हैं (६४)। जिनोंमे मुखिया होनेसे जिनमुख्य कहलाते हैं (६५)। जिनोमे अग्रगामी हैं अत जिनाग्रिम कहे जाते हैं (६६) श्री अर्थात् अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे संयुक्त होनेके कारण श्रीजिन हैं (६७)। उत्तम अर्थात सर्वोत्कृष्ट जिन होनेसे उत्तमजिन हैं (६८)। वृन्दारक नाम श्रेष्ठ और देव अर्थका वाचक है। आप जिनोमे श्रेष्ठ भी हैं और उनके देव भी हैं अत जिनवृन्दारक हैं (६९)। मोहरूप अरिके जीतनेसे अरिजित् यह नाम आपका सार्थक है (७०) विघ्नोंके करनेवाले अन्तरायकर्मके निकल जानेसे आप निर्विघ्न कहे जाते हैं (७१)। ज्ञानावरण और दर्शनावरण रूप रजके विनष्ट हो जानेसे आप विरज नामके धारक हैं (७२)। कर्म-मल कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं (७३)। तम अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकारके दूर हो जानेसे निस्तमस्क कहलाते हैं (७४)। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप अंजनके निकल जानेसे निरंजन हैं (७५)। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंका अन्त करनेके कारण घातिकर्मान्तक कहे जाते हैं (७६) कर्मोंके मर्म अर्थात् जीवन-स्थानके वेधन करनेसे कर्म-मर्मावित् कहलाते हैं (७७)। कर्मोंका हनन अर्थात् घात करनेसे कर्महा नामके धारक हैं (७८)। अघ अर्थात् पापसे रहित हैं अत अनघ हैं (७९)। रागके वीत अर्थात् विनष्ट हो जानेसे वीतराग हैं (८०)। क्षुधाकी बाधाके सर्वथा अभाव हो जानेसे अक्षुत् कहे जाते हैं (८१)। द्वषसे रहित हैं अत अद्वेष कहलाते हैं (८२)। मोहके निकल जानेसे आप निर्मोह हैं (८३)। आठों मदोंके दूर हो जानेसे आप निर्मद हैं (८४)। सब प्रकारके गद अर्थात् रोगोके अभाव हो जानेसे आप अगद हैं (८५)। विषयाभिलाषरूप तृष्णाके अभाव हो जानेसे आप वितृष्ण हैं अथवा मोक्षाभिलाषारूप विशिष्ट प्रकारकी तृष्णाके पाये जानेसे आप वितृष्ण कहलाते हैं। अथवा 'वि' शब्द पक्षियोंका वाचक है, अत' उपलक्षणसे पशु-पक्षियों तकके भी उद्धार करनेकी भावनारूप तृष्णा आपके रही है अतः आप वितृष्ण कहे जाते हैं (८६)। ममता भावके निकल जानेसे आप निर्मम हैं। अथवा प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणको 'मा' कहते हैं। निश्चित मा अर्थात् प्रमाणके द्वारा आप संसारके समस्त पदार्थोंका जानते हैं इस अपेक्षा भी आपका निर्मम यह नाम सार्थक है (८७)। संग अर्थात बाह्य और

अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमरः । अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विषादस्त्रिषष्टिजित् ॥१७॥

इति जिनशतम् ॥ १ ॥

अविद्यमान स्वप्नो निद्रा यस्येति अप्रमत्त इत्यर्थः । अथवा असून् प्राणिनां प्राणान् अपोऽवति जीवनं नयतीति परमकारुणिकत्वात् अस्वप्न: अन्यत्रापि चेड्प्रत्ययः । निर्गतः श्रमः खेदो यस्येति निश्चित श्रमो बाह्याभ्यन्तरलक्षणं तपो यस्येति वा । न विद्यते जन्म गर्भवासो यस्येति । शिशुत्वेऽपि स्वेद रहितः निःस्वानां दरिद्राणां ई कामं वाञ्छितं अभीष्टं धनादिकं ददातीति । निर्गता जरा यस्मादिति । न म्रियते अमरः । अरतिः अरुचिस्तया अतीतो रहितः । निर्गता चिन्ता यस्मादिति । निर्गतो विषादः पश्चात्तापो यस्मादिति । अथवा निर्विषं पापविषरहितं परमानन्दामृतं अत्ति आस्वादयतीति । त्रिषष्टिं कर्मप्रकृतीनां जयतीति ॥ ७॥ इति जिनशतम् ॥ १ ॥

अन्तरंग सब प्रकारके परिग्रहके अभाव हो जानेसे आप असंग कहलाते हैं (८८)। सब प्रकारके भयोंके दूर हो जानेसे आप निर्भय हैं। अथवा निश्चितरूपसे भा अर्थात केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा सर्व पदार्थोंके ज्ञायक हैं इसलिए भी आपका निर्भय नाम सार्थक है (८९)। विस्मयके वीत (नष्ट) हो जानेसे आप वीतविस्मय हैं। अथवा वीत अर्थात नष्ट हो गया है वि अर्थात् गरुड़का स्मय अर्थात् गर्व जिनके द्वारा इस प्रकारकी निरुक्तिकी अपेक्षा भी आपका वीतविस्मय नाम सार्थक है। इसका अभिप्राय यह है कि गरुड़को सर्पविषके दूर करनेका गर्व था पर हे भगवन् आपको सर्पविष और कर्मविष इन दो प्रकारके विषोंका नाशक देखकर उसका गर्व नष्ट हो गया (९०)।

अर्थ—हे स्वामिन् आप अस्वप्न हैं निःश्रम हैं अजन्मा हैं निःस्वेद हैं निर्जर हैं अमर हैं अरत्यतीत हैं निश्चिन्त हैं निर्विषाद हैं और त्रिषष्टिजित हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—स्वप्न अर्थात निद्राके अभाव हो जानेसे आप अस्वप्न हैं अर्थात सदा जागरूक हैं अप्रमत्त हैं। अथवा असु अर्थात प्राणियोंके प्राणोंके अप अर्थात अभयदानके द्वारा पालक होनेसे भी आप अस्वप्न कहलाते हैं (९१)। श्रम अर्थात बाह्य आभ्यन्तर तपोंके परिश्रमसे रहित होनेके कारण निःश्रम हैं (९२)। गर्भवासरूप जन्मसे रहित हैं अतः अजन्मा हैं (९३)। सब अवस्थाओंमें स्वेद अर्थात पसेवसे रहित हैं अतः निःस्वेद हैं। अथवा निःस्व अर्थात् दरिद्रोंके ई अर्थात् लक्ष्मीके दाता होनेसे भी निःस्वेद कहलाते हैं (९४)। जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित होनेके कारण निर्जर हैं (९५)। मरणसे रहित होनेके कारण अमर हैं (९६)। अरति अर्थात् अरुचिसे रहित होनेके कारण अरत्यतीत हैं (९७)। सब प्रकारकी चिन्ताओंके निकल जानेके कारण निश्चिन्त हैं (९८)। विषाद अर्थात पश्चात्तापके अभाव होनेसे निर्विषाद हैं। अथवा पापरूप विषसे रहित परम आनन्दरूप अमृतके अद अर्थात आस्वादन करनेके कारण भी निर्विषाद यह नाम सार्थक है (९९)। कर्मोंकी त्रेसठ प्रकृतियोंके जीतनेसे आप त्रिषष्टिजित कहलाते हैं। वे त्रेसठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं —ज्ञानावरणकी ५ दर्शनावरणकी ९ मोहनीयकी २८, अन्तरायकी ५ इसप्रकार घातिया कर्मोंकी ४७। तथा आयुकर्मकी मनुष्यायुको छोड़कर शेष तीन प्रकृतियां और नामकर्मकी १३। नामकर्मकी १३ प्रकृतियां इस प्रकार हैं —साधारण[1] आताप[2] एकेन्द्रियजाति आदि ४ जातियां[6], नरकगति[7], नरकगत्यानुपूर्वी[8] तिर्यग्गति[9] तिर्यग्गत्यानुपूर्वी[10], स्थावर[11], सूक्ष्म[12] और उद्योत[13] (१००)।

इस प्रकार जिनशतक समाप्त हुआ।

---

२ अथ सर्वज्ञशतम्—

सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वावलोकनः । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मकः ॥१८॥
अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽखिलार्थदृक् । न्यक्षदृग्विश्वतश्चक्षुर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥१९॥

सव त्रैलोक्य कालत्रयवर्त्ति द्रव्यपर्यायसहितं वस्त्वलोक च जानातीति । सव वेत्तीति । सव द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्य स तथोक्त । सर्वस्मिन् अवलोकनं ज्ञानचक्षुर्यस्य स तथोक्त । अनन्तोऽपर्यन्तो विक्रम पराक्रमो यस्येति केवलज्ञानेन स (र्व) वस्तुवेदकशक्तिरित्यर्थ । अथवा शरीरसामर्थ्ये (न) मेर्वादिकानपि समु (त्पा) टनसमथ इत्यर्थ । अथवा अन ते अलोकाकाशे विक्रमो ज्ञानेन गमन यस्येति । अथवा अनन्त शेषनाग श्रीविष्णु आकाशस्थित सूर्याचन्द्रमसादयो विशेषेण क्रमयोनम्रीभूता यस्येति । अथवा अन तो विशिष्ट क्रमश्चारित्र अनुक्रमो वा यस्येति । अनन्तं वीय शक्तिरस्येति । अनन्तं सुखमात्मनो यस्य स तथोक्त नद्यन्ताच्छेषाद्वा बहुव्रीहौ क । अथवा अनन्तं सुख निश्चयनयेन आत्मानं कायति कथयति य सोऽनन्तसुखात्मक । कै गै रै श दे, आतोऽनुपसर्गात्क ॥१८॥ अनन्तं सौख्य यस्येति । विश्वं जगत् जानातीति नाम्युपधाप्रीकृगृज्ञा क । विश्वं दृष्टवान , दृशे क्वनिप् अतीते । अखिलान् अर्थान् पश्यतीति । न्यक्त सव पश्यतीति न्यक्ष इन्द्रियरहित पश्यतीति वा न्यक्षदृक् । विश्वतो विश्वस्मिन् चक्षु केवलदर्शन यस्येति विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षु केवलज्ञानदर्शनद्वयं यस्येति । अशेष लोकालोक वेत्तीति ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भगवन् आप सर्वज्ञ हैं सर्ववित हैं सर्वदर्शी हैं सर्वावलोकन हैं अनन्तविक्रम हैं, अनन्तवीर्य हैं अनन्तगुणात्मक हैं अनन्तसौख्य हैं विश्वज्ञ हैं विश्वदृश्वा हैं अखिलार्थदृक् हैं न्यक्षदृक् हैं विश्वतश्चक्षु हैं विश्वचक्षु हैं और अशेषवित् हैं ॥ १८–१९ ॥

व्याख्या—हे भगवन् आप त्रिलोक-त्रिकालवर्त्ती सर्वद्रव्य पर्यायात्मक वस्तुस्वरूपके जानने वाले हैं अत सर्वज्ञ हैं (१)। सव लोक और अलोकके वेत्ता हैं अत सर्ववित् हैं (२)। सर्व चराचर जगत् के देखनेवाले हैं अत सर्वदर्शी हैं (३)। सर्व पदार्थ–जातके अवलोकन करने के कारण सर्वावलोकन कहलाते हैं (४)। अनन्त पराक्रमके धारक होनेसे अनन्त विक्रम कहे जाते हैं। अर्थात तीर्थकर या अरिहंतदशामें आप अपने शरीर की सामर्थ्यके द्वारा सुमेरु पर्वतका भी उखाड़ कर फकने की सामर्थ्य रखते हैं और अपने ज्ञानके द्वारा सर्व पदार्थोंके जानने देखनेकी शक्ति से सम्पन्न हैं। अथवा अनन्त अलोकाकाशमें विक्रम अर्थात् ज्ञानके द्वारा गमन करने की सामर्थ्यके धारक हैं। अथवा अनन्त नाम शेषनाग और आकाश-स्थित सूर्य चन्द्रमादिक का भी है सा आप न अपने विशेष प्रभाव के द्वारा उन्हें अपने क्रम अर्थात् चरणमें नम्रीभूत किया है। अथवा क्रम नाम चारित्रका भी है आप यथाख्यातरूप अनन्त विशिष्ट चारित्र के धारक हैं अतः अनन्तविक्रम इस नामके धारक हैं (५)। अनन्त बलके धारी होने से अनन्तवीर्य कहलाते हैं (६)। आपका आत्मा अनन्त सुखस्वरूप है अत आप अनन्तसुखात्मक हैं। अथवा आपने निश्चयनयसे आत्माको अनन्त सुखशाली कहा है अतः आप अनन्तसुखात्मक कहलाते हैं (७)। अनन्त सौख्यसे युक्त होनेके कारण आपका नाम अनन्तसौख्य है (८)। आप समस्त विश्वको जानते हैं अत विश्वज्ञ हैं (९) आपने सारे विश्वको देख लिया है अतः आप विश्वदृश्वा हैं (१)। अखिल अर्थोंके देखनेके कारण आप अखिलार्थदृक् कहलाते हैं। (११)। न्यक्ष नाम सबका है आप सब लोकालोकको देखते हैं, अत न्यक्षदृक् हैं। अथवा अक्ष नाम इन्द्रियका है, आप इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही सबके देखनेवाले हैं अतः न्यक्षदृक् कहलाते हैं (१२)। आप केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप चक्षुओंके द्वारा सब विश्वके देखनेवाले हैं अतः विश्वतश्चक्षु और विश्वचक्षु इन दो नामोंसे पुकारे

आनन्द परमानन्द सदानन्द सदोदय । नित्यानन्दो महानन्द परानन्द परोदय ॥२ ॥
परमोज परतेज परंधाम परंमह । प्रत्यग्ज्योति परंज्योति परब्रह्म परंरह ॥२१॥
प्रत्यागात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदय । परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतन ॥२२॥

आसमन्तात् न दति । परम उ कृष्ट आन द सौख्यं यस्येति । मदा सर्वकाल आनन्द सुख यस्य । अथवा सन् समीचीन आनन्दो यस्येति । सदा सर्वकाल उदयोऽनस्तमनं यस्येति । वा सदा सर्वकालं उत्कृष्ट अय शुभावहो विधिर्यस्य । नि य शाश्वत आनन्द सौख्य यस्येति । महान् आनन्द सौख्यं यस्येति । अथवा महेन तच्चरणपूजया आनन्दा भव्याना यस्मादिति । पर उत्कृष्ट आनन्दो यस्येति । अथवा परेषां सर्वप्राणिनामान दो यस्मादिति । पर उत्कृष्ट उदयोऽभ्युदयो यस्येति । अथवा परेषा भव्यानामुत्कृष्ट अय विशिष्ट पुण्य शुभायुर्नामगोत्रलक्षण निदानादिरहित (तीर्थ) करनाम ात्रलक्षणोपलक्षितं पुण्यं यस्मादिति ॥२ ॥ परमतिशयवत् ओज उत्साहरूप । पर उत्कृष्टं तेजो भूरिभास्करप्रकाशरूप । परमुत्कृष्टं धाम तेज स्वरूप । परमु कृष्ट मह तेजस्वरूप । प्र यक् पाश्चात्यं ोति तेज स्वरूप । परमुत्कृष्ट ज्योतिश्चक्षु प्राय पर योति लोकालोकलोचन वात् । परमुत्कृष्ट ब्रह्म पचमज्ञानस्वरूप । परमुत्कृष्ट रहो गुह्यस्वरूपस्त व स्वरूपो वा ॥२१॥ प्रत्यक् पाश्चात्य आ मा बुद्धिर्यस्य स तथोक्त ।

सूयऽग्नौ पवने चित्त धतौ यत्नेऽसुमत्यपि । बुद्धौ काये मतश्चात्मा स्वभावे परमात्मनि ॥

इत्यभिधानात् । प्रबुद्ध प्रकर्षेण केवलज्ञानसहित आ मा जीवो यस्य स तथोक्त । महान् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापक आत्मा यस्य । आत्मनो महानुदयो यस्य कदाचिदपि अज्ञानरहित इत्यर्थ । अथवा आ मनो महस्य पूजाया उदयस्तीर्थकरनामादयो यस्य । परम उत्कृष्ट केवलज्ञानी आ मा जीवो यस्य । प्रशान्तो घातिकर्मक्षयवान् आत्मा यस्य स । पर उत्कृष्ट केवलज्ञानोपेतत्वात् आ मा यस्येति । अथवा परे एकेन्द्रियादिपचेन्द्रियपर्यन्ता प्राणिन आ मान निश्चयनयेन निजसमाना यस्य आत्मैव शरीरमेव निकेतन गृहं यस्यति आत्मनिकेतन व्यवहारेणेत्यर्थ । निश्चयनयेन तु आत्मा जीवो निकेतन गृहं यस्य ॥२२॥

जाते हैं (१३-१४) । तथा अशेष अर्थात समस्त लोक और अलोकके वेत्ता होनेसे अशेषवित् कहे जाते हैं (१५) ।

अर्थ—हे स्वामिन आप आनन्द हैं परमान द हैं सदान द हैं सदोदय हैं नित्यानन्द हैं महान द हैं परान द हैं परोदय हैं परमोज हैं परतेज हैं परंधाम हैं परमह हैं प्रत्यग्ज्योति हैं परंज्योति हैं परंब्रह्म हैं परंरह हैं प्रत्यगा मा हैं प्रबुद्धा मा हैं महात्मा हैं आत्ममहोदय हैं परमा मा हैं प्रशा तात्मा हैं परा मा हैं और आ मनिकेतन हैं ॥ २ –२२ ॥

व्याख्या—ह अन त सुखके स्वामी जिने द्रदेव सर्वदा सर्वाङ्गम आप समृद्धिशाली हैं अत आन दरूप हैं (१६) । परम अथात उत्कृष्ट आनन्दके धारक हैं अत परमानन्द हैं (१७) । सदा-सवकाल सुखरूप हानसे सदान द हैं अथवा सत अथात् समीचीन अविनाशी आनन्दरूप हैं अत सदान द कहलाते हैं (१८) । सदा उदयरूप हैं अर्थात किसी भी समय आपकी ज्ञानज्योति अस्तंगत नहीं होती है अत सदोदय हैं । अथवा सदाकाल उत्कृष्ट अय अर्थात् जगद्-हितकारी शुभावह विधिके कत्ता होनेसे भी सदोदय कहलाते हैं (१९) । नि य आन दरूप होनेसे नित्यानन्द कहे जाते हैं (२) । महान् आनन्दके धारक हैं अत महानन्द हैं । अथवा भव्य जीव आपकी मह अर्थात पूजा करनेसे आन दको प्राप्त हाते हैं इसलिए भी आप महान द कहलाते हैं (२१) । पर अथात उत्कृष्ट आनन्दके धारक हैं अत परमान द हैं । अथवा पर अर्थात् अन्य सर्व प्राणियोंको आन दके उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए भी परमानन्द कहलाते हैं (२२) । पर उत्कृष्ट अभ्युदय-शाली होनेसे परोदय कहलाते हैं । अथवा पर प्राणियोंके उत-उत्कृष्ट अय अर्थात् तीर्थंकरादि विशिष्ट पुण्य उत्पादक हानेसे भी परोदय कहे जाते हैं (२३) । परम अतिशयशाली ओज अर्थात् उत्साहके

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः । ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक् ॥२३॥
एकविद्यो महाविद्यो महाब्रह्मपदेश्वर । पंचब्रह्ममय सार्व सर्वविद्येश्वर स्वभू ॥२४॥

परमे उत्कृष्टे इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र गणीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति । अतिशयेन महान् आत्मा यस्येति । अथवा मही अष्टमभूमौ तिष्ठति इति महिष्ठ महिष्ठ आत्मा यस्येति । अतिशयेन प्रशस्य श्रेष्ठ । अथवा अतिशयेन वृद्ध लोकालोकव्यापी श्रेष्ठ श्रेष्ठ आत्मा यस्येति । केवलज्ञानपेक्षया सर्वव्यापी जीवस्वरूप इत्यर्थ । आत्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वरूपेऽतिशयेन स्थित । ब्रह्मणि केवलज्ञाने न्यतिशयेन तिष्ठतीति । महती निष्ठा स्थिति क्रिया यथाख्यातचारित्र यस्येति, परमौदासीनतां प्राप्त इत्यर्थ । नि अतिशयेन रूढस्त्रिभुवनदृढ आत्मा यस्येति दृढात्मा निश्चलस्वरूपा अनन्त बलोपेता सत्तामात्रावलोकिनी दृक् दर्शन यस्येति ॥२३॥

एका अद्वितीया केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मतिश्रुतावधिमन पर्ययरहिता विद्या यस्येति । महती

धारक हैं अत परमोज हैं (२४)। परम तेजके धारक होनेसे परंतेज कहलाते हैं (२५)। धाम और मह शब्द भी तेज अर्थके वाचक हैं। हे भगवन् आप परम धाम और परम महके धारक होनेसे परंधाम और परंमह कहे जाते हैं (२६–२७)। प्रत्यक् अर्थात् पाश्चात्य ज्योतिके धारक हैं अत प्रत्यग्ज्योति हैं अर्थात आपके पीछे कोटि रविकी प्रभाको लज्जित करनेवाला भामण्डल रहता है (२८)। परम ज्योतिके धारक होनेसे परंज्योति कहलाते हैं (२९)। परमब्रह्म अर्थात् केवलज्ञानके धारक हैं अत परंब्रह्म हैं (३)। रह नाम गुप्त और तत्वका है आपका स्वरूप अत्यन्त गुप्त अर्थात् सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है अत आप परंरह कहलाते हैं (३१)। प्रत्यक् शब्द श्रेष्ठका और आत्मा शब्द बुद्धिका भी वाचक है। आप सर्व श्रेष्ठ बुद्धिके धारक हैं अत प्रत्यगात्मा हैं (३२)। आपका आत्मा सर्वकाल प्रबुद्ध अर्थात् जाग्रत रहता है अत आप प्रबुद्धात्मा हैं (३३)। आपका आत्मा महान् है अर्थात ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकमें व्यापक है अत आप महात्मा हैं (३४)। आप आत्माके महान् उदयशाली तीर्थकर पदको प्राप्त हैं अत आत्ममहोदय हैं (३५)। आपका आत्मा परम केवल ज्ञानका धारक है अत आप परमात्मा हैं (३६)। आपने घातिया कर्मोंका क्षय कर उन्हें सदाके लिए प्रशान्त कर दिया है अत आप प्रशान्तात्मा हैं (३७)। पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा होनेसे परात्मा कहलाते हैं। अथवा एकेन्द्रियादि सर्व पर प्राणियोंके आत्माओंको भी निश्चयनयसे आपने अपने समान बताया है अत आप परात्मा कहे जाते हैं। (३८)। आपके आत्माका निकेतन अर्थात् रहनेका आवास (घर) आपका आत्मा ही है बहिर्जनोंके समान शरीर नही अत आप आत्मनिकेतन कहलाते हैं (३९)।

अर्थ—हे परमेश्वर आप परमेष्ठी हैं महिष्ठात्मा हैं, श्रेष्ठात्मा हैं स्वात्मनिष्ठित हैं ब्रह्मनिष्ठ हैं, महानिष्ठ हैं निरूढात्मा हैं और दृढात्मदृक् हैं ॥२३॥

व्याख्या—हे परमेष्ठिन् आप परम अर्थात् इन्द्र नागेन्द्र धरणेन्द्र गणधरादिसे वंद्य आर्हन्त्य पदमे तिष्ठते हैं, अतएव परमेष्ठी कहलाते हैं (४)। अतिशय महान आत्मस्वरूपके धारक हैं, अतः महिष्ठात्मा हैं। अथवा इषत्प्राग्भार नामक आठवीं मोक्षमही पर आपका आत्मा विराजमान है इसलिए भी आप महिष्ठात्मा हैं (४१)। श्रेष्ठ शब्द अति प्रशस्त और वृद्ध या व्यापक अर्थका वाचक है। आपका आत्मा अति प्रशस्त है और केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक हैं अत श्रेष्ठात्मा हैं (४२)। आप स्व अर्थात् निज शुद्ध-बुद्धस्वरूप आत्मस्वभावमे अतिशय करके अवस्थित हैं, उससे कदाचित् भी विचलित नहीं होते, अत स्वात्मनिष्ठित कहे जाते हैं (४३)। ब्रह्म अर्थात् अनन्तज्ञानी आत्मामें विराजमान होनेसे ब्रह्मनिष्ठ कहलाते हैं (४४)। महान्निष्ठावान् हैं अर्थात् परम उदासीनतारूप यथाख्यात-चारित्रके धारक हैं अत महानिष्ठ कहे जाते हैं (४५)। निरूढ अर्थात् त्रिभुवनमें आपका आत्मा प्रसिद्ध है, अतः निरूढात्मा हैं (४६)। दृढात्मा अर्थात् निश्चल स्वरूपवाले अनन्त दर्शनके धारक हैं अत दृढात्मदृक् हैं (४७)।

अर्थ—हे परमेश्वर आप एकविद्य हैं महाविद्य हैं, महाब्रह्मपदेश्वर हैं पंचब्रह्ममय हैं,

केवलज्ञानलक्षणा विद्या यस्येति । ब्रह्मणः केवलज्ञानस्य पदं स्थानं ब्रह्मपदं महच्च तत् ब्रह्मपदं च महाब्रह्मपदं मोक्षः तस्य ईश्वरः स्वामी । अथवा महाब्रह्माणो गणधरदेवादयः पदयोश्चरणयोर्लग्ना महाब्रह्मपदाः तेषामीश्वरः । अथवा महाब्रह्मपदं समवसरणं तस्येश्वरः । पंचभिः ब्रह्मभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानैर्निर्वृत्तः निष्पन्नः पंचब्रह्ममयः ज्ञानचतुष्टयस्य केवलज्ञानान्तर्गर्भितत्वात् । अथवा पंचभिः ब्रह्मभिः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभिर्निर्वृत्तः निष्पन्नः पंचपरमेष्ठिनां गुणैरुपेतत्वात् । सर्वेभ्यः हितः सार्वः सर्वा चासौ विद्या च सर्वविद्या सकलविमलकेवलज्ञानम् तस्या ईश्वरः । शोभना समवशरणलक्षणा मोक्षलक्षणा ईषत् (प्राग्) भारनाम्नी भूः स्थानं यस्येति स्वभूः ॥२४॥ अनन्ता धीः केवलज्ञानलक्षणा धीः बुद्धिर्यस्येति अथवा अनन्तस्य शेषनागस्य धीश्चिन्तनं यस्मिन् अथवा अनन्ते मोक्षे धीर्यस्य अथवा अनन्तेषु धीर्यस्य स तथोक्तः । अनन्तेन केवलज्ञानेनोपलक्षित आत्मा यस्येति वा । अनन्तो विनाशरहित आत्मा यस्येति । अथवा अनन्तानन्ता आत्मानो जीवा यस्य मते सोऽनन्तात्मा । अनन्ता शक्तिर्यस्येति । अनन्ता दृक् केवलदर्शनं यस्येति । अनन्तानन्ता धीः शक्तिर्विक्रमः प्रज्ञासामर्थ्यमष्टधा यस्येति । अनन्ता चित् केवलज्ञानं यस्येति । अनन्ता मुत् हर्षः सुखं यस्येति ॥२५॥

सार्व हैं सर्वविद्येश्वर हैं स्वभू हैं, अनन्तधी हैं अनन्तात्मा हैं अनन्तशक्ति हैं, अनन्तदृक् हैं अनन्तानन्तधीशक्ति हैं अनन्तचित् हैं और अनन्तमुत् हैं ॥२४–२५॥

व्याख्या—एक अर्थात् अद्वितीय केवलज्ञानरूप विद्याके धारक होनेसे एकविद्य हैं (४८)। केवलज्ञानलक्षण महाविद्याके धारी हैं अतः महाविद्य कहलाते हैं (४९)। महाब्रह्मरूप मोक्षपदके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपदेश्वर कहलाते हैं। अथवा हरि हर ब्रह्मादि लोक-प्रसिद्ध महादेवता भी आपके पद पद्मोंकी सेवा करते हैं और आप महाब्रह्मपद अर्थात् गणधरादिकोंसे युक्त समवसरणके ईश्वर हैं इसलिए भी महाब्रह्मपदेश्वर कहलाते हैं (५०)। आप पाँचों ज्ञानोंसे निष्पन्न हैं अथवा पाँचों परमेष्ठियोंके गुणोंसे सम्पन्न हैं अतएव पंचब्रह्ममय हैं (५१)। सब प्राणियोंके हितैषी हैं अतः सार्व कहलाते हैं (५२)। आप लोक-प्रसिद्ध स्वसमय परसमय सम्बन्धी[1] सब विद्याओंके ईश्वर हैं तथा परमार्थ-स्वरूप निर्मल केवलज्ञानरूप विद्याके स्वामी हैं अतः सर्वविद्येश्वर हैं (५३)। अरहन्त-अवस्थामें समवशरणस्वरूप और सिद्ध दशामें सिद्धशिलारूप सुन्दर भूमिपर विराजमान होनेके कारण सुभू कहलाते हैं (५४)। अनन्तपरिमाणवाली केवलज्ञानलक्षण बुद्धिके धारक हैं, अतः अनन्तधी हैं। अथवा अनन्तकाल तक एक स्वरूप रहनेवाले तथा अनन्त सुखसे संयुक्त मोक्षमें ही निरन्तर बुद्धिके लगे रहनेसे भी अनन्तधी कहलाते हैं। अथवा अनन्त नाम शेषनागका भी है उसकी बुद्धि निरन्तर आपके गुण चिन्तनमें ही लगी रहती है इस लिए भी आप अनन्तधी कहे जाते हैं। अथवा दीक्षाके समय अनन्त सिद्धोंमें आपकी बुद्धि लगी रही अतः आपका अनन्तधी नाम सार्थक है (५५)। अनन्त केवलज्ञानसे युक्त आपका आत्मा है अतः आप अनन्तात्मा हैं। अथवा जिसका कभी अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं आपकी शुद्ध दशाको प्राप्त आत्माका कभी विनाश नहीं होगा अतः आप अनन्तात्मा कहलाते हैं। अथवा आपके मतमें अनन्त आत्माएँ बतलाई गई हैं (५६)। आपकी शक्ति अनन्त है अतः आप अनन्तशक्ति कहलाते हैं (५७)। आपका केवल दर्शन भी अनन्त है, अतः आप अनन्तदृक् हैं (५८)। आपके ज्ञानकी शक्ति अनन्तानन्त है अतः आप अनन्तानन्तधीशक्ति कहलाते हैं (५९)। आपका चित अर्थात् केवलज्ञान अनन्त है अतः आप अनन्तचित् हैं (६०)। आपका मुत अर्थात् आनन्द-सुख भी अनन्त है अतः आप अनन्तमुत भी कहे जाते हैं (६१)।

---

१ विशेषके लिए इसी नामकी श्रुतसागरी टीका देखिये।

सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधीः । कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽचलस्थितिः ॥२६॥
निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांवरः । भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रियः ॥२७॥

सदा सर्वकालं प्रकाश केवलज्ञानं यस्येति, एकसमयेऽपि ज्ञानं न त्रुट्यति भगवत इत्यर्थं । सर्वान् अर्थान् द्रव्याणि पर्यायांश्च साक्षात्करोति प्रत्यक्षं जानाति पश्यति चेत्येवंशीलः । समग्रा परिपूर्णा धीर्बुद्धि केवलज्ञानं यस्येति । कर्मणा पुण्य पापाना साक्षी ज्ञायक , अन्धकारेऽपि प्रविश्य पुण्यं पापं वा य कश्चित्करोति त सव भगवान् जानातीत्यथ । जगतां त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गाणां चक्षुर्लोचनसमान । अलक्ष्य अविज्ञेय आत्मा स्वरूप यस्येति छद्मस्थानां मुनीनामपि अदृश्य इत्यथ । अचलो निश्चला स्थिति स्थान समाचार यस्येति आत्मनि एकलोलीभावो दृढचारित्र इत्यर्थ ॥२६॥ निगता आबाधा कष्टं यस्येति । अप्रतर्क्य अविज्ञेय अविचार्य अवक्तव्य आत्मा स्वभाव स्वरूपं यस्येति । धर्मेणोपलक्षित चक्रं धर्मचक्र विद्यते यस्य स तथोक्त । विदा विद्वज्जनानां मध्ये वर श्रेष्ठ । भूत सत्यार्थ आत्मा यस्येति भूतात्मा कोऽसौ आत्मशब्दस्य सत्या (वाच्या)र्थ इति (चे) दुच्यते—अत सातत्य—(गमने) इति तावत् धातुर्वर्त (ते) अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूप जानातीति आत्मा सर्वधातुभ्यो मन् सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इत्यभिधानात् । तथा चोक्त—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदो । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भू ॥

इति वचनात् । भूतो लोकालोकस्य ज्ञानेन व्यापक आत्मा यस्येति भूतात्मा न तु पृथिव्यप्तेजोवायु लक्षणचतुर्भूतमयश्चार्वाककथित आत्मा वर्त्तते । सहज स्वाभाविक ज्योति केवलज्ञान यस्येति । विश्वस्मिन् लोके अलोके च ज्योति केवलज्ञान केवलदर्शनलक्षण ज्योतिर्लोचनं यस्येति । अथवा विश्वस्य लोकस्य ज्योतिश्चक्षु र्विश्वज्योति लोकलोचनमित्यर्थ । अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येनेति इन्द्रियज्ञानरहित इत्यर्थ ॥ २७ ॥

अर्थ—हे प्रकाशपुञ्ज, आप सदाप्रकाश हैं सर्वार्थसाक्षात्कारी हैं, समग्रधी हैं, कर्मसाक्षी है जगच्चक्षु हैं अलक्ष्यात्मा हैं अचलस्थिति हैं निराबाध हैं, अप्रतर्क्यात्मा है, धर्मचक्री हैं, विदांवर हैं भूतात्मा हैं सहजज्योति हैं विश्वज्योति हैं, और अतीन्द्रिय हैं ॥२६-२७॥

व्याख्या—हे अखण्ड प्रकाशके पुंज, आप सर्वदा प्रकाशरूप हैं आपकी ज्ञानज्योति कभी बुझती नहीं है, अत आपका नाम सदाप्रकाश है (६२) । आप सर्व अर्थोंके अर्थात् द्रव्योंके समस्त गुण-पर्यायोंके प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञाता हैं, अत सर्वार्थसाक्षात्कारी कहे जाते हैं (६३) । समग्र अर्थात् समस्त ज्ञेयप्रमाण बुद्धिके धारक होनसे समग्रधी हैं (६४) । पुण्य पापरूप कर्मोंके साक्षी अर्थात् ज्ञाता हैं, अतएव आप कर्मसाक्षी कहे जाते हैं । यदि कोई मनुष्य घोर अन्धकारमे प्रवश करके भी कोई भला-बुरा कार्य करे, तो भी आप उसके ज्ञाता हैं (६५) । तीनों जगत्में स्थित जीवोंके लिए आप नेत्रके समान मार्ग-दर्शक हैं, अत आप जगच्चक्षु कहलाते हैं (६६) । मन पर्ययज्ञानके धारी छद्मस्थ वीतरागी साधुजनोंके लिए भी आपकी आत्मा अलक्ष्य हैं, अर्थात् ज्ञानके अगोचर हैं अतएव योगीजन आपको अलक्ष्यात्मा कहते हैं (६७) । आपकी अपने आपमे स्थिति अचल है आप उससे कदाचित् भी चल विचल नहीं होते, अतएव आप अचलस्थिति कहलाते हैं (६८) । आप सर्वप्रकारके कष्टोंकी बाधाओंसे रहित हैं, अतः निराबाध हैं (६९) आपके आत्माका स्वरूप हम छद्मस्थ जनोंके प्रतर्क्य अर्थात् विचार या चिन्तवनसे परे है अतएव आप अप्रतर्क्यात्मा हैं (७०) । जब आप भव्य जीवोंके सम्बोधनके लिए भूतल पर विहार करते हैं, तब आपके आगे आगे धर्मका साक्षात् प्रवर्त्तक एक सहस्र अर (आरों) से रुचिर अत्यन्त देदीप्यमान धर्मचक्र आकाशमें निराधार चलता है, जिसके देखने मात्रसे ही जगज्जनोंके सन्ताप शान्त हो जाते हैं और समस्त जीव आपसमें वैर-भाव भूलकर आनन्दका अनुभव करते हैं । इसप्रकार धर्मचक्रके धारण करनेसे आप धर्मचक्री कहे जाते हैं (७१) । विद्व

केवली केवलालोको लोकालोकविलोकन । विविक्त केवलोऽव्यक्त शरण्योऽचिन्त्यवैभव ॥२८॥
विश्वभृद्विश्वरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुख । विश्वव्यापी स्वयज्योतिरचिन्त्यात्मामितप्रभ ॥२९॥

केवल केवलज्ञान विद्यते यस्येति । केवलोऽसहायो मतिज्ञानादिनिरपेक्ष आलोक केवलज्ञानाद्योतो यस्येति । लोकालोकयोर्विलोकन अवलोकन यस्येति । विविच्यते स्म विविक्त सर्वविषयेभ्य पृथग्भूत विचिर् पृथग्भावे । केवलोऽसहाय वा के बलो आत्मनि बल यस्येति । अव्यक्त इन्द्रियाणा मनस अगम्य अगोचर केवल ज्ञानेन गम्य इत्यर्थ । शरणे साधु शरण्य आर्तिमथनसमर्थ इत्यर्थ । अचिन्त्य मनस अगम्य विभव विभुत्व यस्येति ॥२८॥ विश्व बिभर्ति धरति पुष्णाति वा, विशति प्रविशति पर्यटति प्राणिनाऽस्मिन्निति विश्व त्रैलोक्य तद्रूपस्तदाकार आत्मा लोकपूरणावसर जीवो यस्येति । अथवा विशन्ति जीवादय पदार्था यस्मिन्निति विश्व केवलज्ञान विश्वरूप केवलज्ञानरूप आत्मा यस्येति । अशि लाट खाट विशिभ्य क । यथा चक्षुषि स्थित कज्जल चक्षुरिति प्रस्थप्रमित धान्य प्रस्थ इत्युपचर्यते तथा विश्वस्थित प्राणिगणो विश्वशब्देनोच्यते विश्व आत्मा निजसदृशो यस्येति । विश्व लोकालोक केवलज्ञानेन याप्नोतीत्येवशील । अथवा लोकपूरणप्रस्तावे विश्व जगत् आत्मप्रदेश याप्नोतीत्येवशील । स्वय आत्मा ज्योतिश्चक्षुर्यस्येति प्रकाशकत्वात् स्वयं सूर्य इत्यर्थ । अचिन्त्य अवाङ्मानसगोचर आत्मा स्वरूप यस्येति अचिन्त्यस्वरूप । अमिता प्रभा केवलज्ञानस्वरूपं तेजो यस्येति । अथवा अमिता प्रभा कोटिभास्कर कोटिचन्द्रसमानशरीरतेजो यस्येति ॥२९॥

ज्ञानोमे आप सर्वश्रेष्ठ हैं अत विदांवर हैं (७१) । भूत अर्थात सत्यार्थ स्वरूप को आपके आत्मा ने प्राप्त कर लिया है अत आप भूतात्मा हैं (७३) । सहज अर्थात् स्वाभाविक केवलज्ञानरूप ज्योतिके धारक होनेसे आप सहजज्योति कहलाते हैं (७४) । अपने अनन्त ज्ञान-दर्शनसे समस्त विश्वके ज्ञाता-द्रष्टा हैं और सर्वलोकके लोचनस्वरूप हैं अत योगीजन आपको विश्वज्योति कहते हैं (७५) । इन्द्रिय ज्ञानसे अतीत हैं अत अतीन्द्रिय हैं (७६) ।

अर्थ—हे प्रकाशपुञ्ज आप केवली हैं केवलालोक हैं लोकालोकविलोकन हैं विविक्त हैं केवल हैं अव्यक्त हैं शरण्य हैं अचिन्त्यवैभव हैं विश्वभृत् हैं विश्वरूपात्मा हैं विश्वात्मा हैं विश्वतोमुख हैं विश्वव्यापी हैं स्वयज्योति हैं अचिन्त्यात्मा हैं और अमितप्रभ हैं ॥२८-२९॥

व्याख्या—केवल अर्थात् केवलज्ञानके धारक होनसे मुनिजन आपको केवली कहते हैं (७७) । केवल नाम पर-सहाय-रहित एकमात्र अकेलेका है आपका आलोक अर्थात ज्ञानरूप उद्योत इन्द्रिय रहित है अत आप केवलालोक कहलाते हैं (७८) । लोक और अलोकके अवलोकन करनेसे आप लोकालोकविलोकन कहलाते हैं (७९) । सब विषयोसे आप पृथग्भूत हैं, अतएव साधुजन आपको विविक्त कहते हैं (८०) । आप सदा काल पर-सहाय-रहित एकाकी हैं अत केवल हैं । अथवा के अर्थात् आपके आत्मामे अनन्त बल हैं अतएव आप केवल कहलाते हैं (८१) । आप इन्द्रिय और मनके अगम्य हैं अत अव्यक्त कहलाते है (८२) । शरणागतको शरण देकर उनके दुख दूर करते हैं अत शरण्य कहे जाते हैं (८३) । आपका वैभव अचिन्त्य है अर्थात मनके अगम्य है इसलिए ज्ञानीजन आपको अचिन्त्य वैभव कहते हैं (८४) । हे विश्वके ईश्वर, आप धर्मोपदेशके द्वारा सारे विश्वका भरण-पोषण करते हैं, अतएव आप विश्वभृत् हैं (८५) । लोकपूरणसमुद्घातके समय आपके आत्माके प्रदेश सारे विश्वमे फैल जाते हैं इसलिए आप विश्वरूपात्मा कहलाते हैं । अथवा जाननेकी अपेक्षा जीवादि पदार्थ जिसमें प्रवेश करते हैं, ऐसा केवलज्ञान भी विश्व शब्दसे कहा जाता है, उसरूप आपका आत्मा है इसलिए भी आप विश्वरूपात्मा हैं (८६) । जिस प्रकार चक्षुमे लगा हुआ काजल चक्षु शब्दसे और प्रस्थ प्रमित धान्य प्रस्थ शब्दसे कहा जाता है, उसी प्रकार विश्वमें स्थित प्राणिगण भी विश्व शब्दसे कहे जाते हैं । ऐसे विश्वको आप अपने समान मानते हैं अत आपको लोग विश्वात्मा कहते हैं । अथवा विश्व नाम केवलज्ञानका है । केवलज्ञान ही आपकी आत्माका स्वरूप है, इस

महौदार्यो महाबोधिर्महालाभो महोदयः । महोपभोग सुगतिर्महाभोगो महाबल ॥२ ॥

॥ इति सर्वज्ञशतम् ॥

महत् औदार्यं दानशक्तिर्यस्येति भगवान् निर्ग्रन्थोऽपि सन् वाञ्छितफलप्रदायक इत्यर्थ । महती बोधि वैराग्यं रत्नत्रयप्राप्ति र्वा यस्येति । महान् लाभो नवकेवललब्धिलक्षणो यस्येति । महान् तीर्थकरनामकर्मण उदयो विपाको यस्येति । महान् उपभोग सच्छत्र-चामर सिंहासनाशोकतरुप्रमुखो मुहुर्भोग्य समवशरणादिलक्षणं वस्तु यस्येति । शोभना मति केवलज्ञान यस्येति । महाभोग गन्धोदकवृष्टि पुष्पवृष्टि शीतलमृदुसुगन्धपृषतो वातादि लक्षणो भोग सकृद् भोग्य वस्तु यस्येति । महत् बल समस्तवस्तुपरिच्छेदकलक्षण केवलज्ञान यस्येति ॥ २ ॥

॥ इति सर्वज्ञशतम् ॥

लिए भी आप विश्वात्मा कहलाते हैं (८७) । समवसरण-स्थित जीवोंको विश्वत अर्थात् चारो ओर आपका मुख दिखाई देता है अत आप विश्वतोमुख कहे जाते हैं । अथवा विश्वतोमुख जलका भी नाम है, क्योंकि उसका कोई एक अग्र भाग निश्चित न होनेसे सब ओर उसका मुख माना जाता है । जिस प्रकार जल वस्त्रादिके मैलका प्रक्षालन करता है, तृषितोकी प्यास शान्त करता है और निर्मल स्वरूप होता है उसी प्रकार आप भी जगज्जनोंके अनन्त भव-संचित पापमलको प्रक्षालन करते हैं विषय जनित तृषाका निवारण करते हैं और स्वयं निर्मल-स्वरूप रहते हैं इसलिए भी योगिजन आपको विश्वतोमुख कहते हैं । अथवा आपका मुख संसारका तस्यति अर्थात निराकरण करता है इसलिए भी आप विश्वतोमुख कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानके द्वारा सर्वाङ्गसे आप सारे विश्वको जानते हैं इसलिए भी आप विश्वतोमुख कहे जाते है (८८) । जाननेकी अपेक्षा आप सारे विश्वमे व्याप्त है अथवा लोकपूरण दशामे आपके प्रदेश सारे विश्वमें व्याप्त हो जाते हैं, इसलिए आप विश्वव्यापी कहलाते हैं (८९) । स्वय प्रकाशमान होनेसे आप स्वयज्योति कहलाते हैं (९०) आपके आत्माका स्वरूप अचिन्त्य अर्थात् मन और वचनके अगोचर है अत आप अचिन्त्यात्मा हैं (९१) । केवलज्ञानरूप आन्तरिक प्रभा भी आपकी अपरिमित है और शारीरिक प्रभा भी कोटि सूर्य और कोटि चन्द्रकी प्रभाको लज्जित करनेवाली है अत आप अमितप्रभ कहलाते हैं (९२) ।

अर्थ—हे विश्वेश्वर आप महौदार्य हैं महाबोधि हैं महालाभ हैं महोदय हैं, महोपभोग हैं सुगति हैं महाभोग हैं और महाबल हैं ॥२०॥

व्याख्या—हे भगवन् आपकी औदार्य अर्थात् दानशक्ति महान् है क्योंकि वैराग्यके समय आप सर्व सम्पदाका दान कर देते हैं और आर्हन्त्यदशामें निरन्तर अनन्त प्राणियोको अभय दान देते हैं इसलिए आप महौदार्य हैं (९३) । रत्नत्रयकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं । आप महा बोधिके धारक हैं अत मुनिजन आपको महाबोधि कहते हैं (९४) । नवकेवललब्धिरूप महान् लाभके धारक हैं अतः आप महालाभ नामसे प्रख्यात हैं (९५) । तीर्थंकरप्रकृतिके महान् उदयके धारक होनेसे आप महोदय कहलाते हैं । अथवा महान् उत्कृष्ट अय अर्थात् शुभावह विधिके धारक हैं । अथवा कदाचित् भी अस्तंगत नहीं होनेवाले केवलज्ञानरूप सूर्यके महान् उदयके धारक हैं । अथवा महस नाम तेजका है और द शब्द दयाका सूचक है । आपकी दया केवलज्ञानरूप तेजसे युक्त है इसलिए भी आप महोदय कहलाते हैं (९६) । छत्र, चामर, सिंहासनादि महान् उपभोगके धारक होनेसे महोपभोग कहलाते हैं (९७) । शोभन गति अर्थात् केवलज्ञानके धारक होनेसे अथवा श्रेष्ठ पंचमगति मोक्षके धारक होनेसे आप सुगति कहलाते हैं (९८) । गन्धोदकवृष्टि पुष्पवृष्टि आदि महान् भोगके धारण करनेसे तथा प्रतिसमय असन्यसाधारण शरीर-स्थितिके कारणभूत परम पवित्र नोकर्मरूप पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण करनेसे आप महाभोग कहे जाते हैं (९९) । बाल्यावस्थामें संगम नामक देवके गर्वको खर्व करनेसे तथा आर्हन्त्यावस्थामें अनन्त बलशाली होनेसे आपको मुनिजन महाबल कहते हैं (१००) ।

इसप्रकार द्वितीय सर्वज्ञशतक समाप्त हुआ ।

(३) अथ यज्ञार्हशतम्–

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मघवार्चित । भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थक्रतुपूरुष ॥ ३१ ॥
पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवानत्रभवान्महान् । महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक ॥ ३२ ॥

जिनाना यजन यज्ञ याच्विविछिप्रच्छियजिस्वपिराक्षियतां नङ् । यज्ञ इन्द्र धरणेन्द्र नागेन्द्रादिकृता महेया पूजामनन्यसंभाविनीमर्हतीति यज्ञार्ह कर्मण्यण् । भगो ज्ञानं परिपूर्णैश्वर्य तप श्रीर्वैराग्य मोक्षश्च विद्यते यस्य स तथोक्त । इन्द्रादिकृतामनन्यसभाविनीमर्हणामर्हतीति योग्यो भवतीति । महस्य यज्ञस्य अर्हो योग्य अथवा महमर्हतीति कर्मण्यण् । अथवा महश्चासावर्ह महार्ह अर्ह प्रशसायामिति साधु । मघवता मघोना वा शतक्रतुना शक्रेण इन्द्रेण इन्द्रस्य वा अर्चित पूजित । अथवा मघं कैतव कपट वायन्ति शोषयन्ते ये ते मघवा जैना दिगम्बरा तैरर्चित मघवार्चित । श्वन् युवन् मघोना च शौ च मघवान् मघवा वा । भूतार्थ सत्यार्थ यज्ञपुरुष यज्ञार्ह पुरुष अर्ह भूतार्थयज्ञपुरुष । भूतार्थ सत्यार्थ क्रतुपूरुष यज्ञपुरुष ॥३१॥ पूजाया नियुक्त । भट्टान् पंडितान् आरयति प्रेरयति स्याद्वादपरीक्षार्थमिति भट्टारक । पूज्य पूज्य पूज्य महापूजायोग्य इति । अर्हण्यग्य । पूज्य पूज्य अर्घ्या पूज्या वाग् यस्य स ॥३२॥

अर्थ–हे महाभद्र आप यज्ञार्ह हैं, भगवान् हैं अर्हन् हैं महार्ह हैं मघवार्चित हैं, भूतार्थ यज्ञपुरुष हैं भूतार्थक्रतुपूरुष हैं पूज्य हैं भट्टारक हैं तत्रभवान् हैं अत्रभवान् हैं महान् हैं महामहार्ह हैं तत्रायु हैं, दीर्घायु हैं, अर्घ्यवाक् हैं ॥३१ ३२॥

व्याख्या–हे जगत्पूज्य जिनेन्द्र, आप ही इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्रादि के द्वारा की जानेवाली पूजा के योग्य हैं अत यतिजन आपको यज्ञार्ह कहते हैं (१)। भगशब्द ऐश्वर्य परिपूर्ण ज्ञान तप लक्ष्मी वैराग्य और मोक्ष इन छह अर्थोंका वाचक है आप इन छहोंसे सयुक्त हैं अत योगिजन आपको भगवान् कहते हैं (२)। आप अन्य जनोंमें नहीं पाई जानेवाली पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् कहलाते हैं। अथवा अकारसे मोहरूप अरिका रकारसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप रजका तथा रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्मका ग्रहण किया गया है। हे भगवान आपने इन चारों ही घातिया कर्मोंका हनन करके अरहन्त पद प्राप्त किया है इसलिए आप अर्हन् अरहन्त और अरिहन्त इन नामोंसे पुकारे जाते हैं (३)। आप मह अर्थात पूजनके योग्य हैं अथवा महान् योग्य हैं इसलिए आप महार्ह हैं (४)। मघवा नाम इन्द्रका है आप गर्भादि कल्याणकोंमें इन्द्रके द्वारा अर्चित हैं इसलिए मघवार्चित कहलाते हैं। अथवा मघ नाम छल कपटका है उसे जो वायन अर्थात शोषण करते हैं वे मघवा अर्थात् दिगम्बर जैन कहलाते हैं। उनके द्वारा आप पूजित हैं, इसलिए भी आप मघवार्चित कहलाते हैं (५)। यज्ञ और क्रतु एकार्थवाचक हैं भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ यज्ञके योग्य आप ही सत्य पुरुष हैं इसलिए आप भूतार्थयज्ञपुरुष और भूतार्थक्रतुपूरुष कहे जाते हैं (६-७) पूजाके योग्य होनेसे आप पूज्य हैं (८)। भट्ट अर्थात् विद्वानोंको आप स्याद्वादकी परीक्षाके लिए प्रेरणा करते हैं अत आप भट्टारक कहलाते हैं (९)। तत्रभवान और अत्रभवान् ये दोनों पद पूज्य अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। आप सर्व जगतमें पूज्य हैं अत तत्रभवान् और अत्रभवान् कहे जाते हैं (१० ११)। सर्व श्रेष्ठ होनेसे महान कहलाते हैं (१२)। महान् पूजनके योग्य होनेसे महामहार्ह कहलाते हैं (१३)। तत्रायु और दीर्घायु ये दोनों पद पूज्य अर्थके वाचक हैं। आप त्रैलोक्य-पूज्य हैं अत तत्रायु और दीर्घायु कहलाते हैं (१४ १५)। आपकी दिव्यध्वनिरूप वाणी सर्वजनोंसे अर्घ्य अर्थात् पूज्य है, अत आप अर्घ्यवाक हैं (१६)।

आराध्यः परमाराध्यः पंचकल्याणपूजितः । दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधारार्चितास्पदः ॥ ३३ ॥
सुस्वप्नदर्शी दिव्यौजा शचीसेवितमातृक । स्याद्रत्नगर्भ श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रितः ॥ ३४ ॥
दिव्योपचारोपचितः पद्मभूर्निष्कलः स्वजः । सर्वीयजन्मा पुण्यांगो भास्वानुद्भूतदैवत ॥३५॥
विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुत । शचीसृष्टप्रतिच्छन्द सहस्राक्षदृगुत्सव ॥३६॥

पूज्य , परमैरिन्द्रादिभिराराध्यते परमाराध्य परमश्चासावाराध्य परमाराध्य । पचसु कल्याणेषु गर्भावतार जन्माभिषेक नि क्रमण ज्ञान निर्वाणषु पूजित । दृश सम्यक्त्वस्य विशुद्धिर्निरतीचारता यस्य गणास्य द्वादशभेदगणस्य स दृग्विशुद्धि दृग्विशुद्धिश्चासौ गण तस्मिन् उदग्र उत्कर्षेण मुख्य । वसुधाराभि रत्न सुवर्णादिधनवर्षणैरर्चितं पूजितं आस्पदं मातुरगणं यस्येति ॥३३॥ सुष्ठु शोभनान् स्वप्नान् मातुदर्शयतीति । दिव्य अमानुष ओजोऽवष्टम्भो दीप्ति प्रकाशो बल धातु तेजो वा यस्य । श या शक्रस्य महादेव्या सेविता आराधिता माता अम्बिका यस्य नद्यन्तात् ऋंदतात् शेषाद्वा बहुव्रीहौ क । गर्भेषु उत्तमो गर्भ रत्नगर्भ रत्नैरुपलक्षितो गर्भो वा यस्य स रत्नगर्भ नवमासेषु रत्नवृष्टिसंभवात् । श्रीशब्देन श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी शान्ति पुष्टिप्रभृतयो दिक्कुमार्यो लभ्यन्ते । श्रीभि पूत पवित्रित गर्भो मातुरुदर यस्य । गर्भस्य उत्सवो गर्भकल्याण देवै कृत, तेनोच्छ्रत उन्नत ॥३४॥

दिव्येन देवोपनीतेनोपचारेण पूजया उपचित पुष्टिं प्राप्त वा पुष्टिं नीत । पद्मैरुपलक्षिता

अर्थ—हे महाप्रभो आप आराध्य हैं, परमाराध्य हैं पंचकल्याणपूजित हैं दृग्विशुद्धिगणोदग्र हैं वसुधारार्चितास्पद हैं, सुस्वप्नदर्शी हैं, दिव्यौज हैं शचीसेवितमातृक हैं रत्नगर्भ हैं गर्भोत्सवोच्छ्रित हैं ॥३३-३४॥

व्याख्या—निरंतर आराधनाके परम योग्य हैं अत आराध्य कहलाते हैं (१७)। विभवशाली इन्द्रादिकोंके द्वारा आराधनाके योग्य होनसे परमाराध्य कहे जाते हैं (१८)। गर्भावतार आदि पंच कल्याणकोंमे सर्व जगत्के द्वारा पूजे जाते हैं अत पंचकल्याणपूजित कहलाते हैं (१९)। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि युक्त द्वादश भेद रूप गणमें प्रमुख होनेसे आपको लोग दृग्विशुद्धिगणोदग्र कहते है (२०)। वसुधारा अर्थात र न, सुवर्ण आदि धनकी वर्षाके द्वारा जन्मभूमिरूप आस्पद अर्थात् माताके भवनका आगण इन्द्रादिकोंके द्वारा पूजा जाता है अत आप वसुधारार्चितास्पद कहलाते है (२१)। गर्भमे आनेके पूर्व आप माताको सुन्दर सोलह स्वप्नोंके दर्शक है अत सुस्वप्रदर्शी कहलात हैं (२२)। ओज शब्द दीप्ति प्रकाश बल और तेजका वाचक है। आप मनुष्योंमें नहीं पाये जानवाले ओजके धारक हैं अत दिव्यौज हैं (२३)। शची अर्थात् सौधर्मेन्द्रकी इन्द्राणीके द्वारा आपकी माताकी गर्भ और जन्मके समय सेवाकी जाती है अत आप शचीसेवितमातृक कहलाते हैं (२४)। गर्भोंमे उत्तम गर्भको रत्नगर्भ कहते हैं। आपका माताके उदर रूप गर्भमे निवास सर्व-श्रेष्ठ है अत आप रत्नगर्भ कहलाते हैं। अथवा नव मास तक गर्भमे रहनके समय रत्नोकी वर्षा होती रहनेसे आपको रत्नगर्भ कहा जाता है (२५)। श्री ह्री धृति आदि दिक्कुमारियोंके द्वारा आपकी माताका गर्भ पवित्र किया जाता है अत आपको श्रीपूतगर्भ कहते हैं (२६)। आपके गर्भ मे आनेका उत्सव देवोंके द्वारा किया जाता है अत आपको लोग गर्भोत्सवोच्छ्रित कहते हैं (२७)।

अर्थ—दिव्योपचारोपचित हैं पद्मभू हैं, निष्कल हैं स्वज हैं, सर्वीयजन्मा हैं, पुण्यांग हैं, भास्वान हैं और उद्भूतदैवत हैं विश्वविज्ञातसंभूति हैं, विश्वदेवागमाद्भुत हैं शचीसृष्ट-प्रतिच्छन्द हैं, सहस्राक्षदृगुत्सव हैं ॥३५-३६॥

व्याख्या—हे जिनेश्वर आप देवोपनीत दिव्य पूजारूप उपचारसे गृहस्थावस्थामें पुष्टिको प्राप्त हुए हैं अत दिव्योपचारोपचित कहलाते हैं (२८)। आपके गर्भ-कालमें माताके भवनका आंगण पद्मोंसे व्याप्त रहता है अत आप पद्मभू हैं। अथवा गर्भकालमें आपके दिव्य पुण्यके प्रभावसे गर्भाशयमें एक कमलकी रचना होती है, उसकी कर्णिका पर एक सिंहासन होता है, उस

नृत्यदैरावतासीन सर्वशक्रनमस्कृत । हर्षाकुलामरखगश्चारणर्षिमतोत्सवः ॥१७॥

भूर्मातुरगण यस्येति । अथवा मातुरुदरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमल भवति तत्कर्णिकाया सिंहासनं भवति, तस्मिन् सिंहासने स्थितो गर्भरूपो भगवान् वृद्धिं याति इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् भण्यते । निर्गता कला काला यस्येति । स्वेन आत्मना जायते उत्पद्यते स्वानुभूत्या प्रत्यक्षीभवति । अथवा शोभना रागद्वेष मोहादिरहित अजो ब्रह्मा स्वज । सर्वेभ्यो हित सर्वीय सर्वीयं जन्म यस्येति । पुण्य पुण्योपार्जन हेतुभूतमग शरीर यस्येति । भास्यो दीप्तयो विद्यन्ते यस्येति चन्द्रार्ककोटेरपि अधिकतेजा इत्यर्थ । उद्भूत उदयमागत उत्कृष्टभूत वा दैवत पुण्य यस्य स । विश्वस्मिन् त्रिभुवने विशाता संभूतिर्जन्म यस्येति । विश्वेषा भवनवासि व्यन्तर ज्योतिष्क कल्पवासिना देवाना आगमन आगमनेन सेवोपढौकनेन अद्भुतमाश्चर्य यस्मात् लोकाना स तथोक्त । शच्या इन्द्राण्या सृष्टो विक्रियया कृत प्रतिच्छन्द प्रतिकायो मायामयबालको यस्य स तथोक्त । सहस्राक्षस्य इन्द्रस्य दृशा लोचनाना उत्सव आनन्दो यस्मादिति ॥१६॥ नृत्यन् नर्त्तनं कुर्वन् यो सावैरावत तस्मिन् आसीन उपविष्ट । सर्वै द्वात्रिंशता शक्रैर्देवेन्द्रैर्नमस्कृत प्रणामविषयीकृत । अमराश्च खगाश्च अमरखगा हर्षेण जन्माभिषेकावलोकनार्थ आकुला आधीना हर्षाकुला आनन्देन उत्सुका विह्वलीभूता परमधर्मानुराग प्राप्ता अमर खगा यस्येति । चारणर्षीणा मतोऽभीष्ट उत्सवो जन्माभिषेककल्याण यस्येति ॥१७॥

पर अवस्थित गर्भरूप भगवान वृद्धिको प्राप्त होते हैं इस कारणसे लोग भगवान्को पद्मभू, अब्जभू आदि नामोंसे पुकारते हैं (२६)। कला अर्थात समयकी मर्यादासे रहित अनादि निधन हैं अत आप निष्कल हैं। अथवा निश्चित कला-कौशलरूप विज्ञानसे युक्त हैं इसलिए भी लोग आपको निष्कल कहते हैं। अथवा कल शब्द रेतस् अर्थात् वीर्यरूप धातुका भी वाचक है आपमेंसे काम विकार सर्वथा निकल गया है अत आप निष्कल अर्थात काम विकार-रहित हैं। अथवा कल नाम अजीर्णका भी है आप कवलाहारसे रहित हैं इसलिए भी आप निष्कल हैं। अथवा निष्क अर्थात रत्नसुवर्णकी रत्नवृष्टि पंचाश्चर्य आदिके समय भूतल पर लाते हैं इसलिए भी लोग आपको निष्कल कहते हैं। अथवा निष्क नाम हारका भी है। आप राज्यकालमें एक हजार लड़ीके हारको अपने वक्ष स्थल पर धारण करते हैं इसलिए भी आप निष्कल कहलाते हैं (३)। आप स्व अर्थात अपने आप जन्म लेते हैं यानी स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं इसलिए आप स्वज कहलाते हैं। अथवा राग द्वेष-मोहादिसे रहित सु अर्थात सुन्दर अज (ब्रह्मा) हैं इसलिए भी आपको लोग स्वज (सु+अज) कहते हैं (३१)। आपका जन्म सर्वीय अर्थात सबका हितकारक है इसलिए आप सर्वीयजन्मा कहलाते हैं। क्योंकि आपके जन्म-समय औरोंकी तो बात क्या नारकियोंको भी एक क्षणके लिए सुख प्राप्त होता है (३२)। आपका शरीर जगज्जनोंका पुण्यके उपार्जनका कारणभूत हैं, अत आप पुण्यांग कहलाते हैं। अथवा आपके शरीरके अंग पवित्र हैं मल-मूत्र-रहित हैं इसलिए भी आप पुण्यांग कहलाते हैं। अथवा आपके द्वारा उपदिष्ट आचारांगादि द्वादश श्रुतके अंग पुण्य रूप हैं पूर्वापर विरोधसे रहित हैं इस कारण भी लोग आप को पुण्यांग कहते हैं। अथवा आपकी सेनाके अंगभूत हस्ती अश्व आदि ऊर्ध्वगामी होनेसे पाप-रहित हैं पुण्यरूप हैं इसलिए भी आप पुण्यांग कहलाते हैं (३३)। आप कोटि चन्द्र-सूर्यसे भी अधिक दीप्ति और तेजके धारक हैं अत भास्वान कहलाते हैं (३४)। आपके सर्वोत्कृष्ट दैव अर्थात पुण्यका उदय प्राप्त हुआ है अतः आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं। अथवा उद्भूत अर्थात अनन्तानन्त भवोपार्जित दैवके तक्षण (क्षय) करनेके कारण भी आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं। अथवा उत अर्थात उत्कृष्ट भवोंके इन्द्रादिकोंके भी आप देवता हैं, इसलिए भी आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं (३५)।

अर्थ—हे जिनेश, आप नृत्यदैरावतासीन हैं सर्वशक्रनमस्कृत हैं हर्षाकुलामरखग हैं

व्योम विष्णुपदारक्षा स्नानपीठायिताद्रिराट् । तीर्थेशंमन्यदुग्धाब्धिः स्नानाम्बुस्नातवासवः ॥३८॥
गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिश्रवाः । कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः ॥३९॥

विशेषेण अवति रक्षति प्राणिवर्गानिति व्योम । वेवेष्टि व्याप्नोति लोकमिति विष्णुः प्राणिवर्गः 'विषे किच्च' इत्यनेन नुप्रत्ययः । विष्णोः प्राणिवर्गस्य पदानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि (गुणस्थानानि) च तेषामासमन्तात् रक्षा विष्णुपदारक्षा परमकारुणिकत्वात् स्वामिन । व्योम विष्णुपदारक्षा इति नामद्वयं आविष्ट लिंगं ज्ञातव्यम् । स्नानस्य जन्माभिषेकस्य पीठं चतुष्किका तदिवाचरति स्म स्नानपीठायिता अद्रिराट् मेरुपर्वतो यस्य स तथोक्तः । तीर्थानां जलाशयानामीशः स्वामी तीर्थेशः तीर्थेशमात्मानं मन्यते तीर्थेशंमन्यः, तीर्थेशंमन्यो दुग्धाब्धिः क्षीरसागरो यस्य स तथोक्तः । स्नानाम्बुना स्नानजलेन स्नातः प्रक्षालितशरीरो वासवो देवेन्द्रो यस्येति ॥३८॥ गन्धाम्बुना ऐशानेन्द्रा (व) र्जितेन गन्धोदकेन पुण्यं (पूतं) पवित्रीभूतं त्रैलोक्यं यस्येति । परमेश्वरस्य कर्णौ किल स्वाभाव्येन सच्छिद्रौ भवतः ऊर्णनाभपटलसदृशेन पटलेन झंपितौ च भवतः । पश्चाद्देवेन्द्रो वज्रसूचीं गृहीत्वा तत्पटलं दूरीकरोति कर्णच्छिद्रे (च) प्रकटीभवतः तत्र कुण्डले आरोपयति । अय आचार इति कर्णवेधं करोति । तत्प्रस्तावे इदं भगवतो नाम यत् सूच्या शुचिनी श्रवसी कर्णौ यस्येति । कृतार्थितौ सफलीकृतौ शच्या इन्द्रमहादेव्या हस्तौ येन स तथोक्तः । शक्रेण उद्घुष्टमुच्चैरुच्चारितं इष्टं सर्वैर्मानितं नाम यस्येति ॥३९॥

और चारणर्षिमतोत्सव हैं ॥३७॥

व्याख्या—संभूति नाम जन्मका है सारे विश्वमें हर्ष उत्पन्न होनेके कारण आपका जन्म विश्वविज्ञात है इसलिए आप विश्वविज्ञातसंभूति कहलाते हैं । अथवा संभूति नाम समीचीन ऐश्वर्य विभूतिका भी है । आपका ऐश्वर्य-वैभव विश्व विदित है इसलिए भी आप विश्वविज्ञातसंभूति कहलाते हैं (३६) । आपके पाँचों कल्याणकोंमें सब प्रकारके देवोंका आगमन होनेसे संसार आश्चर्यचकित होता है अतः लोग आपको विश्वदेवागमाद्भुत कहते हैं । अथवा आपके पूर्वापरविरोधरहित आगम (शास्त्र) के श्रवणसे विश्वके देव आश्चर्यसे स्तम्भित रह जाते हैं इसलिए भी आप विश्वदेवागमाद्भुत कहलाते हैं (३७) । आपके जन्माभिषेकके समय माताके पास सुलानेके लिए शचीके द्वारा प्रतिच्छन्द अर्थात् मायामयी बालकका रूप रचा जाता है इसलिए आप शचीसृष्टप्रतिच्छन्द कहलाते हैं (३८) । सहस्राक्ष अर्थात् इन्द्रके सहस्र नेत्रोंके लिए आप उत्सव-जनक हैं अतः योगिजन आपको सहस्राक्षदृगुत्सव कहते हैं (३९) । जन्माभिषेकके समय सुमेरु-गिरि पर जाते और आते समय नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी पर आप आसीन अर्थात् विराजमान रहते हैं इसलिए आपको नृत्यदैरावतासीन कहते हैं (४०) । सब शक्रोंसे नमस्कार किये जानेके कारण आप सर्वशक्रनमस्कृत कहे जाते हैं (४१) । आपका जन्माभिषेक देखनेके लिए अमर-गण और खग अर्थात् विद्याधर हर्षसे आकुल-व्याकुल रहते हैं और देखकर आनन्द विभोर होते हैं अतः आप हर्षाकुलामरखग कहलाते हैं (४२) । चारणऋद्धिके धारक ऋषिजनोंके द्वारा भी आपके जन्मका उत्सव मनाया जाता है इसलिए आप चारणर्षिमतोत्सव कहलाते हैं (४३) ।

अर्थ—हे विश्वोपकारक आप व्योम हैं विष्णुपदारक्ष हैं स्नानपीठायिताद्रिराट् हैं तीर्थेशंमन्यदुग्धाब्धि हैं स्नानाम्बुस्नातवासव हैं, गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य हैं वज्रसूचीशुचिश्रवा हैं कृतार्थितशचीहस्त हैं और शक्रोद्घुष्टेष्टनामक हैं ॥३८-३९॥

व्याख्या—हे विश्वके उपकारक आप विशेषरूपसे जगज्जीवोंकी रक्षा करते हैं अतः व्योम कहलाते हैं (४४) । विष्णु अर्थात् विश्वव्यापी प्राणिवर्गके गुणस्थान और मार्गणास्थान रूप पदोंके रक्षक होने से विष्णुपदारक्ष कहलाते हैं (४५) । अद्रिराट् अर्थात् गिरिराज सुमेरुपर्वत आपके स्नानके लिए पीठ (चौकी) के समान आचरण करता है इसलिए साधुजन आपको स्नानपीठायिताद्रिराट्

शक्रारब्धानन्दनृत्य शचीविस्मापिताम्बिक । इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्णमनोरथ ॥४० ॥
आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यम । दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद् भूर्भुव स्व पतीडित ॥४१॥

शक्रेण सौधर्मेन्द्रेण आरब्ध मेरुमस्तके जिनेश्वराग्र आनन्दनृत्य भगवज्जन्माभिषेककरणोत्पन्नविशिष्ट पुण्यसमुपार्जनसमुद्भूतहर्षनाटक यस्येति । शच्या इन्द्राण्या सौधर्मेन्द्रपत्न्या विस्मापिता स्वपुत्रवैभवदर्शनेनाश्चर्य प्रापिता अम्बिका माता यस्येति । न न नृति क्रिया ति । इन्द्रस्य नृति इन्द्रनृति अन्त अग्रे पितुर्व यस्येति । नद्यन्तात् कृदन्तात् शेषा-(द्वा) बहुव्रीहौ क । रैदेन कुबेरयक्षेण सौधर्मेन्द्रादेशात् पूर्णा परिपूरिता समाप्तिं नीता भोगोपभोगपूरणेन मनोरथा दोहदा यस्येति ॥४ ॥

आज्ञा शिष्टिरादेश इति यावत् । आज्ञाया आदेशस्य अर्थी ग्राहक आज्ञार्थी स चासाविन्द्र आज्ञार्थीन्द्र । आज्ञार्थीन्द्रेण कृता विहिता आसमन्तात् सेवा पर्युपासन सेवन यस्येति । देवानां ऋषयो लौकान्तिका देवर्षीणा लौकान्तिकदेवानामिष्टोऽभीष्टो वल्लभ शिवोद्यम शिवस्य मोक्षस्य उद्यमो यस्येति ।

कहते हैं (४६)। दुग्धाब्धि अर्थात् क्षीरसागर अपने जलके द्वारा आपका जन्माभिषेक किये जानेके कारण अपनेको तीर्थेश अर्थात् जलाशयोंका स्वामी मानता है इसलिए योगिजन आपको तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धि कहते हैं (४७)। आपके स्नानके जलसे सर्व वासव अर्थात् इन्द्र स्नान करते हैं, इसलिए आप स्नानाम्बुस्नातवासव कहलाते हैं (४८)। जन्माभिषेकके समय ऐशानेन्द्रके द्वारा सर्व ओर छोड़े गये गन्धोदकसे त्रैलोक्य पवित्र हुआ है इसलिए आप गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य कहलाते हैं (४९)। इन्द्र वज्रसूचीसे आपके कर्णवेधन-संस्कारको करता है इसलिए आप वज्रसूचीशुचिश्रवा कहलाते हैं। यद्यपि भगवान्‌के कर्ण स्वभाव से ही छेद-सहित होते हैं पर उनके ऊपर मकड़ीके जालके समान सफेद आवरण रहता है। इन्द्र वज्रमयी सूई हाथमें लेकर उस आवरण पटलको दूर करता है और उनमें कुंडल पहिनाता है अतएव यह नाम भगवान्‌का प्रसिद्ध हुआ है (५०)। जन्माभिषेकके समय इन्द्राणी ही सर्व प्रथम भगवान्‌को माताके पाससे उठाती है। पुन अभिषेकके पश्चात् वह भगवान्‌के शरीरको पोंछती है वस्त्राभरण पहिराती है और चन्दन का तिलक लगाती है। इस प्रकार आपने अपने जन्मके द्वारा शचीके हस्त कृतार्थ किये हैं इसलिए आप कृतार्थितशचीहस्त कहलाते हैं (५१)। शक्रके द्वारा ही सर्वप्रथम आपके इष्ट नामका उद्घोष किया जाता है इसलिए आप शक्रोद्घुष्टेष्टनामक कहलाते हैं (५२)। मेरुमस्तक पर जन्माभिषेकके पश्चात् इन्द्रके द्वारा आनन्दोत्पादक नृत्य आरम्भ किया जाता है इसलिए आप शक्रारब्धानन्दनृत्य कहलाते हैं (५३)। शची आपका वैभव दिखाकर माताको विस्मय युक्त करती है इसलिए आप शचीविस्मापिताम्बिक कहलाते हैं (५४)। सुमेरुगिरिसे आकर इन्द्र आपके पिताके पास ताण्डवनृत्य आरम्भ करता है इसलिए आप इन्द्रनृत्यन्तपितृक कहलाते हैं (५५) रैद अर्थात् कुबेरके द्वारा आपके भोगोपभोगके सब मनोरथ परिपूर्ण किये जाते हैं इसलिए आप रैदपूर्णमनोरथ कहलाते हैं (५६)। आपकी आज्ञाको मस्तक पर धारण करनेके इच्छुक इन्द्रोंके द्वारा आपकी सेवा-अराधनाकी जाती है इसलिए आप आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव कहलाते हैं (५७)। देवोंके ऋषि जो लौकान्तिक देव हैं उन्हें आपके शिव-गमनका उद्यम इष्ट है अतिवल्लभ है और इसी कारण वे दीक्षा-कल्याणकके समय आपको सम्बोधन कर स्तुति करनेके लिए भूलोकमें आते हैं इसलिए आप देवर्षीष्टशिवोद्यम कहलाते हैं (५८)। आपके जिन-दीक्षा ग्रहण करनेके समय सारा जगत् क्षोभको प्राप्त हो जाता है इसलिए आप दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत कहलाते हैं (५९)। भूर् नाम पाताल लोकका है भुवर् नाम मध्यलोकका और स्वर नाम ऊर्ध्वलोकका है। आप इन तीनों लोकोंके पतियोंसे पूजित हैं अत भूर्भुवःस्वःपतीडित कहे जाते हैं (६०)।

अर्थ—हे त्रिभुवनेश आप शक्रारब्धानन्दनृत्य हैं शचीविस्मापिताम्बिक हैं इन्द्रनृत्यन्तपितृक हैं रैदपूर्णमनोरथ हैं आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव हैं, देवर्षीष्टशिवोद्यम हैं दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत् हैं और भूर्भुवःस्वःपतीडित हैं ॥४०-४१॥

कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुग्योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मेड्यो ब्रह्मविद्वेद्यो याज्यो यज्ञपतिः क्रतुः ॥४२॥
यज्ञाङ्गममृतं यज्ञो हविः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । भावो महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजकः ॥४३॥

दीक्षाक्षणे नि क्रमणकल्याणे क्षुभ क्षोभं प्राप्तं जगत् त्रैलोक्यं यस्येति । भूर् पाताललोक भुवर् मध्यलोकः, स्वर् ऊर्ध्वलोक तथा पतय स्वामिन भूर्भु व स्व पतय तैरीडित स्तुतीनां कोटिभि कथितः भूर्भु व स्व पतीडित । वैदिकादिका एते शब्दा रकारान्ता अव्यया ज्ञातव्या ॥४१॥

कुबेरेण एलविलन राजराजेन शक्रभाण्डागारिणा धनदयक्षेण निर्मितं सृष्टं आस्थानं समवशरणं यस्येति । श्रियं नवनिधिलक्षणां द्वादशद्वारेषु दीनजनदानाय वा युनक्ति । अथवा श्रिया अभ्युदयनि श्रेयसलक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीं युनक्ति योजयति भक्तानामिति । यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि लक्षणा अष्टौ योगा विद्यन्ते यषां ते योगिन योगिनां मुनीनां ईश्वरा गणधरदेवादय तैरर्चित पूजित । ब्रह्मभिरहमिन्द्रैरीड्य स्वस्थानस्थितै स्तूयते । अथवा ब्रह्मनाम्ना मायाविना विद्याधरेण ईड्य । अथवा ब्रह्मणा ज्ञानेन द्वादशाङ्गेन ईड्य । ब्रह्माणं आत्मानं वेत्तीति । वेदे ज्ञाने नियुक्त अथवा वेदितु योग्य । यज्यते याज्य स्वाराध्य । यज्ञस्य पति स्वामी । क्रियते योगिभिर्ध्यानेन प्रकटो विधीयते ॥४२॥

यज्ञस्य अङ्ग अभ्युपाय, स्वामिन विना पूज्यो जीवो न भवतीति । आविष्टलिंग नामेद । मरणं मृत न मृतं अमृत मृत्युरहितं इत्यर्थ आविष्टलिंगमिद नाम । इज्यते पूज्यते । हूयते निजात्मनि लक्ष्यतया दीयते । स्तोतु योग्य । स्तुतरीश्वर स्तुतीश्वर स्तुतौ स्तुतिकरणे ईश्वरा इन्द्रादयो यस्य स तथोक्त । समवसरण विभूतिमण्डितत्वात् भाव । अथवा य पुमान् विद्वान् भवति स भाव कथ्यते, स्वर्ग मोक्षावि (दि ?) कारण

अर्थ—हे स्वामिन् आप कुबेरनिर्मितास्थान हैं श्रीयुक् हैं, योगीश्वरार्चित हैं ब्रह्मेड्य हैं, ब्रह्मवित् हैं वेद्य हैं याज्य हैं यज्ञपति हैं क्रतु हैं यज्ञाङ्ग हैं, अमृत हैं यज्ञ हैं, हवि हैं स्तुत्य हैं, स्तुतीश्वर हैं, भाव हैं महामहपति हैं, महायज्ञ हैं और अग्रयाजक हैं ॥४२-४३॥

व्याख्या—हे त्रिभुवनके ईश आपका आस्थान अर्थात् समवसरण कुबेरके द्वारा रचा जाता है अत आप कुबेरनिर्मितास्थान कहे जाते हैं (६१)। आप अपने भक्तोको नि श्रेयस अभ्युदयस्वरूप लक्ष्मीसे युक्त करते हैं, स्वयं अन्तरंग अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे और बहिरंग समवसरणरूप लक्ष्मी से युक्त हैं और द्वादश द्वारो पर स्थापित नव निधियोके द्वारा दीन जनोको धनादि लक्ष्मीसे युक्त करते हैं, अतएव आप श्रीयुक् कहलाते हैं (६२)। अष्टाङ्ग योगके धारण करनेवाले साधु योगी कहलाते हैं, उनके ईश्वर गणधरादिसे आप पूजित हैं, इसलिए आप योगीश्वरार्चित कहलाते हैं। अथवा स्त्रीके संयोगसे युक्त महादेवको जगज्जन योगीश्वर कहते हैं, उसके द्वारा भी आप अर्चित हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब महावीरस्वामी उज्जयिनीके स्मशानमे रात्रिके समय कायोत्सर्गसे स्थित थे उस समय पार्वती-सहित महादेवने आकर उनकी परीक्षाके लिए नाना प्रकारके घोर उपसर्ग किये। परन्तु जब वह भगवान्को चल विचल न कर सके तब उनके चरणोंमे गिर पड़े और 'महति महावीर' नाम देकर तथा नाना प्रकारसे उनकी पूजा करके चले गये (६३)। ब्रह्म अर्थात् अहमिन्द्रोंके द्वारा स्वस्थानसे ही आप पूजे जाते हैं इसलिए आप ब्रह्मेड्य कहलाते हैं। अथवा ब्रह्म नामक एक मायावी विद्याधरके द्वारा पूजे जानेसे भी आप ब्रह्मेड्य कहलाते हैं। अथवा ब्रह्म नाम द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान का भी है उसके द्वारा पूज्य होनेसे भी ब्रह्मेड्य कहलाते हैं (६४)। ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपके जाननेवाले हैं, इसलिए आप ब्रह्मवित् हैं (६५)। आप सदैव योगिजनोंके द्वारा भी जानने योग्य हैं, अतः वेद्य हैं (६६)। यज्ञ अर्थात् पूजनके योग्य हैं, अत याज्य कहलाते हैं (६७)। यज्ञके स्वामी होनेसे यज्ञपति कहलाते हैं (६८)। योगियोंके द्वारा ध्यानावस्थामें प्रकट किये जाते हैं, अतः क्रतु कहलाते हैं (६९)। आप यज्ञ के अंग हैं, क्योंकि आपके विना कोई जीव पूज्य नहीं होता, अतः आप यज्ञाङ्ग हैं (७०)। आप मृत अर्थात् मरणसे रहित

दयायागो जगत्पूज्यः पूजार्हो जगदर्चितः । देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥४४॥

भूतत्वात् । अथवा श दाना प्रवृत्तिहेतुत्वात् भाव भगव त विना श दा कुत प्रवत त । महामहस्य महा पूजाया पति स्वामी अथवा महस्य यज्ञस्य पतिर्महपति महाश्चासौ महपतिश्च महामहपति । महान् घाति कर्मसमिद्धोमलक्षणो मखो यस्य स तथोक्त । अग्र श्रेष्ठोऽधिको प्रथमो वा याजको यज्ञकर्ता ॥४३॥

दया सगुण निगु णसवप्राणि गणा करुणा याग पूजा यस्य स दयायाग । जगता त्रिभुवनस्थित भ यजीवाना पू य । पूजाया अर्हं ध्याचनस्य अर्हो याग्य । जगता त्रैलोक्यस्थितभ यप्राणिना अर्चित पूजित । दवाना इ द्रादीनामधिको द व । शक्नु तीति शक्रा द्वात्रिंशदि द्रास्तैरामच्य पू य । दवानामिन्द्रा दीनामाराध्या द । अथवा देवाना राज्ञा दवो राजा दवद राजाधिराज त्यर्थ । अथवा दवाना मघ कुमाराणा दव परमाराध्य । जगता जगति स्थितप्राणिवर्गाणा गुरु पिता धर्मोपदशको वा महान् ॥४४॥

हैं, अत अमृत कहलात हैं। अमृत नाम रसायनका भी है क्योंकि वह भी जरा और मरणको दूर करता है। अमृत नाम जलका भी है। आप भी संसार शरीर और भोगरूप तृष्णाको निवारण करते हैं तथा जलके समान निर्मल स्वभावके धारक हैं। अथवा अन त सुखका दायक होनेसे मोक्ष का भी नाम अमृत है। तथा अमृत शब्द यज्ञशेष गोरस घृत आकाश सुवर्ण आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आप यज्ञशेषके समान आदर पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं गोरस और घृतके समान सुस्वादु और जीवनवर्धक हैं आकाशके समान निर्लेप हैं सुवर्णके समान भास्वररूपसे युक्त हैं, इसलिए लोग आपको अमृत कहते हैं (७१)। आप याजकोंके द्वारा पूजे जाते हैं इसलिए आप यज्ञ कहलाते हैं (७२)। अपने आत्मस्वरूपमें ही आप हवन किये जाते हैं इसलिए आप हवि कहलाते हैं (७३)। स्तुतिके योग्य होनेसे स्तुत्य कहलाते हैं (७४)। स्तुतियोंके ईश्वर होनेसे स्तुतीश्वर कहलाते हैं (७५)। भावशब्द सत्ता आत्मा वस्तु स्वभाव आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आप सदा सत्स्वरूप हैं, आत्मस्वभावको प्राप्त हैं समवसरण विभूति-मंडित हैं अत आपको लोग भाव कहते हैं (७६)। महापूजाके स्वामी हैं अत महामहपति कहलाते हैं (७७)। घातिया कर्मोंके क्षयरूप महान् यज्ञमय होनेसे महायज्ञ कहलाते हैं। अथवा पाचों कल्याणकोंमें इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्रादिक द्वारा महापूजाको प्राप्त करनेसे भी आप महायज्ञ कहे जाते हैं (७८)। अग्र अर्थात श्रेष्ठ याजक होनेसे आप अग्रयाजक कहे जाते हैं। अथवा लोकाग्र पर विराजमान सिद्धोंके दीक्षाकालमें याजक होनेसे आप अग्रयाजक कहलाते हैं (७९)।

अर्थ—हे दयालो, आप दयायाग हैं जगत्पूज्य हैं पूजार्ह हैं जगदर्चित हैं देवाधिदेव हैं शक्रार्च्य हैं देवदेव हैं और जगद्गुरु हैं ॥४४॥

व्याख्या—हे दयालु जिनेन्द्र आपने सर्व प्राणियों पर दया करनेको ही यज्ञ कहा है, इसलिए आप दयायाग हैं (८०)। आप जगतके सब प्राणियोंसे पूज्य हैं, अत जगत्पूज्य हैं (८१)। पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह कहलाते हैं (८२)। जगतसे अर्चित होनेके कारण जगदर्चित कहलाते हैं (८३)। इन्द्रादिक देवोंके भी अधिनायक होनेसे देवाधिदेव कहलाते हैं। अथवा देवोंकी आधि अर्थात् मानसिक पीडाके दूर करनेके कारण भी आप देवाधिदेव कहलाते हैं (८४)। शक्र अर्थात चतुर्निकाय देवोंके बत्तीस इन्द्रोंके द्वारा पूजे जानेसे शक्रार्च्य कहलाते हैं (८५)। देवोंके देव अर्थात् आराध्य होनेसे देवदेव कहलाते हैं। अथवा देवशब्द राजाका भी वाचक है। आप राजाओंके भी राजा हैं अतः देवदेव हैं। अथवा देवशब्द जलवृष्टि करनेवाले मेघकुमारोंका भी वाचक है, आप उनके परम आराध्य हैं क्योंकि आपके विहारकालमें वे आगे आगे जलवृष्टि करते हुए चलते हैं (८६)। आप जगत्के गुरु हैं, क्योंकि उसे महान् धर्मका उपदेश देते हैं (८७)।

संहूतदेवसंघार्च्यः पद्मयानो जयध्वजी । भामण्डली चतुःषष्टिचामरो देवदुन्दुभिः ॥४५॥
वागस्पृष्टासनश्छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् । दिव्याशोको मानमर्दी संगीतार्होऽष्टमंगलः ॥४५॥

॥ इति यज्ञार्हशतम् ॥

संहूत इन्द्रादेशेनामन्त्रितो योऽसौ देवसंघ चतुर्निकायदेवसमूह तेन अर्च्य पूज्य । पद्म न यान गमनं यस्य । जयध्वजा विद्यन्ते (यस्य) । भामण्डल कोट्यर्कसमानतेजोमण्डल विद्यते यस्य । चतुरधिका षष्टि चतु षष्टि चतु षष्टिश्चामराणि प्रकीर्णकानि यस्य । देवानां संबन्धिन्यो दुन्दुभय सार्द्ध द्वादशकोटिपटहा यस्येति ॥४५॥ वाग्भिर्वर्णैरस्पृष्ट आसन उरःप्रभृति स्थान यस्य स तथोक्त । उक्त च—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ शिरस्तथा । जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

छत्रत्रयेणोपर्युपरि धृतेन राजते । द्वादश योजनानि यावत् पुष्पवृष्टिर्भवति तानि च पुष्पाणि उपरि मुखानि अधोवृन्तानि (च) स्यु । ईदृग्विधा पुष्पवृष्टिं भजते भोग्यतया गृह्णाति । दिव्योऽमानुषो महामंडपोपरि स्थित योजनैकप्रमाणकटप्रो मणिमयोऽशोकोऽशोकवृक्षो यस्य स । मानस्तम्भचतुष्टयेन मिथ्यावादिना मानमहंकार दूरादपि दर्शनमात्रेण मर्दयति शतखण्डीकरोतीत्येवंशील । गीत-नृत्य वादित्रविराजमाननाट्यशालागतदेवांगनानृत्ययोग्य । अष्टौ मंगलानि प्रतिप्रतोलि यस्येति ॥४६॥

॥ इति यज्ञार्हशतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे स्वामिन् आप संहूतदेवसंघार्च्य हैं, पद्मयान हैं, जयध्वजी हैं, भामण्डली हैं, चतु षष्टिचामर हैं देवदुन्दुभि हैं वागस्पृष्टासन हैं छत्रत्रयराट् हैं, पुष्पवृष्टिभाक् हैं दिव्याशोक हैं मानमर्दी हैं संगीतार्ह हैं और अष्टमंगल हैं ॥४५ ४६॥

व्याख्या—संहूत अर्थात् इन्द्रके आदेशसे आमंत्रित चतुर्विध देव-संघके द्वारा पूज्य हैं अत संहूतदेवसंघार्च्य कहलाते हैं (८८) । आप विहारकालमे देवगणोंसे रचित कमलों पर पादन्यास करते हुए चलते हैं अत पद्मयान कहलाते हैं (८९) । आपके समवसरणमे और विहारकालमे त्रिजगद्विजयकी सूचना देनेवाली ध्वजा-पताकाए फहराती रहती हैं अतएव लोग आपको जयध्वजी कहते हैं (९) । आपके पृष्ठ भागकी ओर भा अर्थात् कान्तिका वृत्ताकार पुंज सदैव विद्यमान रहता है अत आप भामंडली कहलाते हैं (९१) । आपके समवसरणमे यक्षगण चौसठ चँवर ढोरते रहते हैं अत आप चतु षष्टिचामर कहलाते हैं (९२) । समवसरणमें देवगण साढ़े बारह कोटि दुन्दुभियोंको बजाते हैं अत आप देवदुन्दुभि कहलाते हैं (९३) । आपकी वाणी तालु, ओष्ठ आदि स्थानोंको नहीं स्पर्श करती हुई ही निकलती है अत आप वागस्पृष्टासन कहलाते हैं (९४) । तीन छत्रोंको धारण कर समवसरणमे विराजमान रहते हैं अत छत्रत्रयराट् कहे जाते हैं (९५) । आपके समवसरणमे देवगण बारह योजन तक की भूमिपर पुष्पवृष्टि करते हैं । पुष्प वृष्टिके समय फूलोंके मुख ऊपरकी ओर तथा डंठल नीचेकी ओर रहते हैं । इस प्रकारकी पुष्पवृष्टिके भोक्ता होनेसे आपको लोग पुष्पवृष्टिभाक् कहते हैं (९६) । समवसरणमें महामंडपके ऊपर दिव्य अशोक वृक्ष रहता है, जिसे देखकर शोक-सन्तप्त प्राणी शोक-रहित हो जाते हैं, अत आप दिव्याशोक कहलाते हैं (९७) । समवसरणमें चारों ओर अवस्थित मानस्तम्भोंके दर्शनमात्रसे बड़े-बड़े मानियोंके भी मानका मर्दन स्वयमेव हो जाता है, अतएव आप मानमर्दी कहलाते हैं (९८) । समवसरण-स्थित संगीतशालाओं के भीतर गाये जानेवाले संगीतके योग्य होनेसे आप संगीतार्ह कहलाते हैं (९९) । भृंगार, ताल (बीजना), कलश, ध्वजा, साथिया, छत्र, दर्पण और चंवर ये आठ मंगल द्रव्य सौ-सौ की संख्यामें समवसरणके भीतर सदा विद्यमान रहते हैं, अत आप 'अष्टमंगल इस नामसे प्रख्यात हुए हैं (१००) ।

इस प्रकार तृतीय यज्ञार्ह शतक समाप्त हुआ ।

(४) अथ तीर्थकृच्छतम्

तीथकृत्तीथसृट तीथकरस्तीर्थंकर सुदृक । तीथकर्त्ता तीथभर्त्ता तीर्थेशस्तीथनायक ॥४ ॥

धमतीथकरस्तीथप्रणेता तीथकारक । तीथप्रवर्त्तकस्तीथवेधास्तीथविधायक ॥४८॥

सत्यतीथकरस्तीथसेव्यस्तैर्थिकतारक । सत्यवाक्याधिप सत्यशासनोऽप्रतिशासन ॥४९॥

तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीथ द्वादशागशास्त्र तत्करोतीति । तीथ सृजतीति । तीथ करोतीति । तीथ करोतीति तीथकर वर्णागमत्वात् मोऽन्त । शोभना दृक् क्षायिक सम्यक्त्व यस्य स सुदृक् । शोभन लोचना वा । तीथस्य भर्त्ता स्वामी । अथवा तीथ बिभर्त्ती येवशील । तीथस्य ईश स्वामी । तीर्थस्य नायक स्वामी ॥४७॥ धमश्चारित्र स एव तीर्थ त करोतीति । तीथ प्रणयतीति । तीर्थ (स्य) कारक । तीथस्य प्रव र्तक । तीर्थस्य वेधा कारक । तीथस्य विधायक कारक ॥४८॥ सत्यतीथ करोतीति । तीथाना तीर्थभूतपुरुषाणा सेव्य सेवनीय । तीर्थे शास्त्र नियुक्तास्तैर्थिका वा तीथ गुरु तस्मिन्नियुक्ता सेवापरा तैर्थिका । अथवा तीथ जिनपूजन तत्र नियुक्ता । अथवा तीथ पुण्यक्षेत्र गिर नारादि तद्यात्राकारका । अथवा पात्र त्रिविध तस्य दानादिनियुक्तास्तैर्थिकास्तेषा तारको मोक्षदायकस्तै र्थिकतारक । त्यादि स्यादिचयो वाक्यमुच्यते क्रियासहितानि कारकाणि वा वाक्य कथ्यते । सत्यानि सत्पुरुषयोग्यानि तानि वाक्यानि सत्यवाक्यानि सत्यवाक्यानामधिप स्वामी । अथवा सत्यानि वाक्यानि येषा ते सत्यवाक्या ऋषय ऋषय सत्यवचस इत्यभिधानात । सत्यवाक्यानामृषीणा दिगम्बरमुनीना अधिप । अथवा सत्यवाक्याना सत्यवादिना आधि धर्मचिन्ता पाति रक्षति इति सत्यवाक्याधिप । सत्य शासनं शास्त्र यस्य । अथवा सत्य श्यन्ति असत्य वदन्ति पूर्वापरविरोधिशास्त्र मन्यन्ते ते सत्यशा जैमिनि-कपिल कणचर चार्वाक शाक्या तान् अस्यति निराकरोतीति सत्यशासन । अविद्यमान प्रति शासन मिथ्यामत यत्र स तथोक्त । अथवा अविद्यमान प्रतिश दु खं आसने (यस्य) स अप्रतिशासन । भगवान् खलु वृषभनाथ किंचिदूनपूर्वलक्षकालपयन्त पद्मासन एवोपविष्टो धर्मोपदेश दत्तवान् तथापि दुःखं नाभूत् । कुत अनन्तसुखानन्तवीर्यत्वात् ॥४९॥

अर्थ—हे तीर्थेश आप तीथकृत् हैं तीथसृट हैं तीथकर हैं तीथकर हैं सुदृक् हैं तीथकर्त्ता हैं तीथभर्त्ता हैं, तीर्थेश हैं तीर्थनायक हैं धर्मतीथकर हैं तीर्थप्रणेता हैं तीथकारक हैं तीथप्रवर्त्तक हैं तीथवेधा हैं तीथविधायक हैं सत्यतीथकर हैं तीर्थसेव्य हैं तर्थिकतारक हैं सत्यवाक्याधिप हैं, सत्यशासन हैं और अप्रतिशासन हैं ॥४७-४९॥

व्याख्या—जिसके द्वारा ससार सागरके पार उतरते हैं उसे तीथ कहते हैं। जगज्जन द्वादशाग श्रुतका आश्रय लेकर भवके पार होते हैं अत द्वादशाग श्रुतको तीथ कहते हैं। आप इस प्रकारके तीथके करने अर्थात चलानेवाले हैं, इसलिए आप तीथकृत तीथसृट तीथकर तीथकर तीर्थकर्त्ता, तीथभर्त्ता तीर्थेश तीर्थनायक धमतीथकर, तीथप्रणेता तीथकारक तीथप्रवर्त्तक, तीर्थवेधा और तीथविधायक कहलाते हैं (१-१४)। क्षायिकसम्यक्त्वके धारण करनेसे सुदृक कहलाते हैं (१५)। सत्य तीथके चलानेसे सत्यतीथकर कहे जाते हैं (१६)। तीथस्वरूप पुरुषोंके द्वारा पूज्य होनेसे तीर्थसेव्य कहलाते हैं (१७)। तीथशब्द गुरु, पुण्यक्षेत्र यज्ञ, पात्र आदि अनेक अर्थोंका भी वाचक है। जो इस प्रकारके तीथमें नियुक्त होते हैं उन्हे तैर्थिक कहते हैं, ऐसे तैर्थिक पुरुषोंके तारनेवाले होनेसे आप तर्थिकतारक कहलाते हैं (१८)। आप सत्य वाक्योंके उपदेष्टा हैं, सत्यवचन बोलनेवाले मुनियोंके स्वामी हैं और सत्यवादियोंकी आधि अर्थात् मानसिक चिन्ताको दूर कर उनकी रक्षा करते हैं इसलिए आप सत्यवाक्याधिप कहलाते हैं (१९)। आपका शासन सत्य है, पूर्वापर-विरोधसे रहित है इसलिए आप सत्यशासन कहलाते हैं। अथवा जो सत्यका अपलाप करते हैं और असत्यको बोलते हैं ऐसे लोग सत्यशा कहलाते हैं। आप उनका निराकरण कर यथार्थ वस्तु स्वरूपका

स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहतार्थवाक् । पुण्यवागर्थ्यवागर्धमागधीयोक्तिरिद्धवाक् ॥५० ॥
अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तभिद्दुर्णयान्तकृत् । सार्थवागप्रयत्नोक्तिः प्रतितीर्थमदघ्नवाक् ॥५१॥

स्याच्छब्दपूर्व वदतीत्येवंशील । दिव्या अमानुषी गीर्वाणी यस्य । दिव्यो अमानुषो ध्वनि शब्द व्यापारो वचनरचना यस्येति । अव्याहतार्था परस्परविरुद्धार्था असंकुलार्था वाग्वाणी यस्येति । अथवा आ समंताद् हननं आहतं, अवीना छागादीना आहतस्य आहननस्य अर्थोऽभिधेय प्रयोजन वा यस्या सा अव्याहतार्था, अविशब्दाद् आहतशब्दाच्चोपरि अकारप्रश्लेषो ज्ञातव्य । अव्याहतार्था छागादिप्राणिनामघात प्रयत्नना वाग्यस्य स । पुण्या पुण्योपार्जनहेतुभूता वाग्वाणी यस्य स । अर्थादनपेता अर्थ्या निरर्थकतारहिता वाग्वाणी यस्य । अथवा अर्थ्या गणधर चक्रि शक्रादिभि प्रार्थनीया वाग्वाणी यस्य । भगवद्भाषाया अर्ध मगधदेशभाषात्मक अर्ध च सर्वभाषात्मकम् । अर्धे मागधीया उक्तिर्भाषा यस्य स तथोक्त । (इद्धा परमातिशय प्राप्ता वाक् यस्य स) इदृशी वाकस्यापि न भवतीति भाव ॥५ ॥ अनेकान्तं स्याद्वादं अनेकस्वभाव वस्तु दिशति उपदिशतीति । एकान्त यथा स्वरूपादि चतुष्टयेन सत्, तथा पररूपचतुष्टयेनापि सत् द्रव्यं एवं सत्येकान्तवादो भवति । स एव ध्वान्तं अन्धकार वस्तुयथावत्स्वरूपप्रच्छादकत्वात् । एकान्तध्वान्तं भिनत्ति नयवशात् शतखंडीकरोतीति । एकदेशवस्तुग्राहिणो दुर्णया कथ्यन्ते तेषाम तकृद्विनाशक । सार्था अर्थं सहिता न निरर्थिका वाक् यस्य, वा सार्था प्रयोजनवती वाक् यस्य । अथवा अर्थै जीवादिपदार्थै सहिता वाक् यस्य । अथवा सा लक्ष्मीरभ्युदय नि श्रेयसलक्षणा तस्या अर्थे वाक् यस्य स सार्थवाक् । भगवद्वाणी मनुश्रुत्य जीवा स्वर्ग मोक्षादिकाय साधयन्तीति कारणात् । (अ) प्रयत्ना अविवक्षापूर्विका भव्यजीवपुण्य प्रेरिता (उक्ति) वाक् यस्य । अथवा अप्रयत्ना अनायासकारिणी उक्तिर्यस्य । प्रतितीर्थाना (हरि) हर हिरण्यगर्भमतानुसारिणा जिमिनि कपिल कणचर चार्वाक शाक्याना वा मिथ्यादृष्टीना मदघ्नी अहंकार ।नगकारिणी वाक् वाणी यस्य स तथोक्त ॥ ५१ ॥

प्रतिपादन वरत हैं इसलिए भी आप सत्यशासन कहलाते हैं (२)। यथाथ प्रकाशक आपके विद्यमान रहन पर प्रतिपक्षियोका शासन अस्तगत हो जाता है अत आपको योगिजन अप्रतिशासन कहत हैं। अथवा प्रतिश नाम दु खका है, भगवान्के एकही आसनसे दीर्घकाल तक अवस्थित रहने पर भी दु खका अनुभव नहीं होता है इसलिए भी उन्हें अप्रतिशासन कहत ह । ऐसा कहा जाता है कि भगवान् ऋषभदेव कुछ कम एक लाख पूव वर्ष तक पद्मासनसे विराजमान रहकर ह भव्य जीवोका धमका उपदेश देत रह, फिर भी अनन्त बलशाली और अनन्तसुखके धारक होनसे उन्हें किसी प्रकारके दु खका अनुभव नहीं हुआ (२१) ।

अर्थ—हे भगवन् आप स्याद्वादी हैं, दिव्यगी हैं दिव्यध्वनि हैं, अव्याहतार्थवाक् हैं पुण्य वाक् हैं अर्थ्यवाक् हैं अधमागधीयोक्ति हैं इद्धवाक् है अनेकान्तदिक् है एकान्तध्वान्तभित् हैं, दुर्णयान्तकृत् हैं सार्थवाक् हैं अप्रयत्नोक्ति हैं और प्रतितीर्थमदघ्नवाक् ह ॥५०-५१॥

व्याख्या—हे स्वामिन्, आप स्याद्वादी हैं क्योंकि आपके वचन 'स्यात्' शब्दपूर्वक ही निकलत हैं और इसी स्याद्वादरूप अमोघ शस्त्रके द्वारा आप एकान्तवादोंका निराकरण करते हैं (२२)। आपकी वाणी मानुषी प्रकृतिसे रहित दिव्य होती है, सभी देशोंके विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्य, पशु पक्षी और देवगण भी अपनी-अपनी बोलीमें समझ जाते हैं, इसलिए आप दिव्यगी और दिव्यध्वनि नामोंसे पुकारे जाते हैं (२३-२४)। आप अव्याहत अर्थात् परस्पर विरोधरूप व्याघातसे रहित अर्थका स्वरूप कहते हैं इसलिए अव्याहतार्थवाक् कहलाते हैं। अथवा अवि अर्थात् छाग आदि पशुओंका यज्ञमें नहीं मारनेरूप वचनके बोलनेवाले हैं, इसलिए भी अव्याहतार्थवाक् कहलाते हैं। (२५)। आपकी वाणी पुण्यको उपार्जन करानेवाली है, तथा रोम, चर्म, अस्थि आदि अपवित्र वस्तुओंके सेवनका निषेध करनेके कारण पवित्र है, इसलिए आप पुण्यवाक् हैं (२६)। अर्थशब्द वस्तु,

स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौष्ठवाक् । अपौरुषेयवाक्शास्ता रुद्धवाक् सप्तभंगिवाक् ॥५२॥

स्यात्कार स्याद्वाद स एव ध्वजश्चिन्हं, अनेकान्तमतप्रासादमंडनत्वात् स्यात्कारध्वजा वाग् वाणी यस्य । ईहापेता निराकांक्षा प्रत्युपकारानपेक्षिणी वाक् यस्य । अथवा ईहा उद्यमस्तदपेता ईहापेता वाग् यस्य स तथोक्त । अहं लोकं संबोधयामीत्युद्यमरहितवाक् स्वभावेन संबोधकवागित्यर्थ । अचलौ निश्चलौ ओष्ठौ अधरौ यस्या सा अचलोष्ठा वाक्भाषा यस्य स तथोक्ता । अपौरुषेयीणामनादिभूताना वाचां शास्ता गुरु । अथवा अपौरुषेयीणां दिव्यानां वाचा शास्ता । रुद्धा मुखविकाश–(स) रहिता वाग् यस्य । सप्तानां भंगानां समाहार सप्तभंगी, सप्तभंगी सहिता वाक् यस्य स सप्तभगिवाक् । थाकारौ ङीकृतौ ह्रस्वौ क्वचिदिति वचनात् भंगीशब्दस्य ईकारस्य ह्रस्व ॥५२॥

द्रव्य, प्रकार, अभिधय, निवृत्ति, प्रयाजन आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप निरथकता-रहित साथक वाणीको बोलत हैं गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्रादिकक द्वारा प्रार्थना किये जान पर ही आपकी वाणी प्रकट हाती है आपकी वाणी अर्थीजनोको बोधि और समाधिकी देनवाली है तथा अध्य अर्थात् युक्ति-युक्त वचनोंके आप बालनवाल हैं इसलिए आप अध्यवाक कहलात है (२७) । आपकी वाणीका अर्धभाग मगधदेशकी भाषाके रूप है और अर्धभाग सर्व देशोकी भाषाके स्वरूप है इस कारण सब देशोंके मनुष्य उसे सहज ही में समझ लेते हैं अतएव आप अधमागधीयाक्ति कहलाते हैं । अन्य ग्रन्थोंमे इसका अथ इस प्रकार किया गया है कि भगवानकी वाणी ता एक याजन तक ही सुनाई देती है किन्तु मागधजातिके देव उसे अपनी विक्रिया-शक्तिके द्वारा बारह योजन तक फैला देते हैं अत भगवान्की भाषा अधमागधी कहलाती है (२८) । आपकी वाणी परम अतिशयसे युक्त है बहरे मनुष्य तक सुन लेत हैं इसलिए आप इद्रवाक् कहलात है (२९) । आप अनक-धर्मात्मक वस्तुका उपदेश देते ह इसलिए अनकान्तिक कहे जाते ह (३०) । एकान्तवादरूप अन्धकारके भेदनेके कारण एकान्तध्वान्तभित कहलात हैं (३१) । मिथ्यावादरूप दुर्णयोंके अन्त करनके कारण दुर्णयान्तकृत कहलात हैं (३२) । सार्थक वाणी बोलनेके कारण सार्थवाक् कहलाते हैं । अथवा सा नाम अभ्युदय निश्रेयसस्वरूप लक्ष्मीका भी है । आपकी वाणीके द्वारा लोग उसे प्राप्त करते हैं अत सार्थवाक कहलाते ह (३३) । आपकी वाणी बालनकी इच्छारूप प्रयत्नके बिना ही भव्यजीवोंके पुण्यसे प्रेरित होकर निकलती है अत आप अप्रयत्नवाक्ति कहलात हैं (३४) । हरि-हरादि प्रतिपादित मतानुसारी प्रतितीर्थ अर्थात प्रतिवादियोके अहंकाररूप मदका नाश करनवाली आपकी वाणी है, अत आप प्रतितीर्थमदघ्नवाक कहलाते ह (३५) ।

अर्थ—हे स्याद्वादिन् आप स्यात्कारध्वजवाक् ह ईहापेतवाक हैं अचलौष्ठवाक हैं अपौरुषेय-वाक हैं शास्ता ह रुद्धवाक हैं और सप्तभंगिवाक हैं ॥५२॥

व्याख्या—हे स्याद्वादक प्रयोक्ता आपकी वाणी स्यात पदरूप ध्वज अर्थात चिन्हसे युक्त है इसलिए आप स्यात्कारध्वजवाक कहलाते हैं (३६) । आपके वचन प्रत्युपकारकी आकांक्षासे रहित निरपेक्षभावसे और बिना किसी उद्यमके निकलत हैं इसलिए आप ईहापेतवाक् कहलात हैं, (३७) । आपके ओष्ठ वाणी निकलनेके समय अचल रहते हैं इसलिए आप अचलौष्ठवाक कहलाते हैं, (३८) । आप अपौरुषेय अर्थात् अनादिनिधन द्वादशाग श्रुतज्ञानरूप वाणीके उपदेष्टा हैं अथवा पुरुषों के द्वारा बोली जानेवाली वाणीसे भिन्न दिव्यवाणीके प्रयोक्ता हैं अतः अपौरुषेयवाक्शास्ता कहे जात हैं (३९) । आपकी वाणी मुखके बिना खोले ही प्रगट होती है अत आप रुद्धवाक् कहलाते हैं । (४०) । आपकी वाणी स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, इन सप्त भंगों अर्थात् वचन विकल्पोंसे युक्त होती है अत आप सप्तभंगिवाक् कहलाते हैं (४१) ।

अवर्णगीः सर्वभाषामयगीर्व्यक्तवर्णगीः । अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥ ५३ ॥
अद्वैतगी सूनृतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः । योजनव्यापिगीः क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्त्वगी ॥५४॥

न विद्यन्ते वर्णा अक्षराणि गिरि भाषायां यस्य स तथोक्त । अथवा अणति अर्णा पुन पुनरभ्यासी यस्या सा अवर्णा, ईदृशी गीर्यस्य स अवर्णगी, अभ्यासमन्तरेणापि भगवान् विद्वानित्यर्थ । सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य स तथोक्त । व्यक्ता वर्णा अक्षराणि गिरि यस्य स तथोक्त । अमोघा सफला वाक् यस्य स तथोक्त । अक्रमा युगपद्वर्तिनी वाक् यस्य स तथोक्त । अवाच्या वक्तुमशक्या अनन्तानन्तार्थप्रकाशिनी वाक् यस्य स तथोक्त । न विद्यते वाक् यस्य स ॥ ५३ ॥ अद्वैता एकान्तमयी गीर्वाणी यस्य स तथोक्त, आत्मैकशासिका अद्वैता प्रोच्यते । सूनृता सत्या गीर्यस्य स तथोक्त । सत्या सत्यार्था, अनुभया असत्यरहिता सत्यासत्यरहिता गीर्यस्य स तथाक्त । सुष्ठु शोभना गीर्यस्य स तथोक्त । एकयोजनव्यापिनी गीर्यस्य स तथोक्त । क्षीरवद् गोदुग्धवद् (गौरा) उज्ज्वला गीर्यस्य स तथोक्त । तीर्थकृत्वा अमितजन्मपातकप्रक्षालिनी गीर्यस्य स तथोक्त ॥ ५४ ॥

अर्थ—हे अनिर्वचनीय आप अवर्णगी, हैं सर्वभाषामयगी हैं व्यक्तवर्णगी हैं अमोघ वाक् हैं, अक्रमवाक् हैं अवाच्यानन्तवाक् हैं अवाक् हैं अद्वैतगी हैं सूनृतगी हैं सत्यानुभयगी हैं, सुगी हैं, योजनव्यापिगी हैं क्षीरगौरगी हैं और तीर्थकृत्वगी हैं ॥५३-५४॥

व्याख्या—आपकी गिरा अर्थात् वाणी अकारादि अक्षररूप वर्णोंके विना निरक्षरी प्रगट होती है, इसलिए आप अवर्णगी कहलाते हैं। अथवा ऋणनाम पुन पुन अभ्यासका है आप किसी गुरु आदिसे अभ्यास किये विना ही स्वयं बुद्ध होकर धर्मका उपदेश देते हैं इसलिए भी आप अवर्णगी कहलाते हैं (४२)। आपकी वाणी सर्व देशोंकी भाषाओंसे युक्त होती है अर्थात् आप उपदेश देते समय सब देशोंकी भाषाओंका प्रयोग करते हैं इसलिए आप सर्वभाषामयगी हैं (४३)। आपकी वाणी व्यक्त अर्थात् स्पष्ट वर्णोंसे युक्त होती है इसलिए आप व्यक्तवर्णगी कहलाते हैं (४४)।

शका—पहले 'अवर्णगी' नामके द्वारा भगवान्की वाणी को निरक्षरी कहा गया है और अब व्यक्तवर्णगी नामके द्वारा भगवान्की वाणीको स्पष्ट वर्णवाली कहा जा रहा है, यह पूर्वापर-विरोध कैसा ?

समाधान—भगवान्की वाणी स्वतः तो निरक्षरी निकलती है, किन्तु श्रोताओंके कर्ण-प्रदेशमें पहुँचकर वह स्पष्ट अक्षररूपसे सुनाई देती है ऐसा भगवान्का अतिशय है। अत प्रथम नाम वक्ता की अपेक्षा और दूसरा नाम श्रोताओंकी अपेक्षासे है और इसलिए दोनों नामोंके होनेमें कोई विरोध नहीं जानना चाहिए।

व्याख्या—आपकी वाणी अमोघ अर्थात सफल होती है, अत आप अमोघवाक् हैं (४५) तथा वह क्रम-रहित युगपद् सर्वतत्त्वका प्रकाश करती है अत आप अक्रमवाक् हैं (४६)। जिन्हें शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता ऐसे अनन्त पदार्थोंको आपकी वाणी प्रगट करती है, अत आप अवाच्यानन्तवाक् कहलाते हैं (४७)। सर्व साधारण जनोंके समान आपके वचन नहीं निकलत अत आप अवाक् कहलाते हैं (४८)। अद्वैत अर्थात् एकमात्र आत्माका शासन करनेवाली आपकी वाणी है, अतः आप अद्वैतगी कहलाते हैं (४९)। आप सूनृत अर्थात् सत्य वाणीको बोलते हैं, अत आपका नाम सूनृतगी हैं (५०)। आपके वचन सत्य और अनुभयरूप होते हैं, अतः आप सत्यानुभयगी कहलाते हैं (५१)। आप सर्वजनोंको प्रिय लगनेवाली सुन्दर वाणीको बोलते हैं अतः सुगी कहलाते हैं (५२)। आपकी वाणी एक योजन तक बैठे हुए लोगोंको सुनाई देती है, अतः आप योजनव्यापिगी कहलाते हैं (५३)। क्षीर अर्थात् दूधके समान आपकी वाणी उज्ज्वल और श्रोताओंको पुष्ट करने-वाली है अत आप क्षीरगौरगी कहलाते हैं (५४)। आपकी वाणी तीर्थंकृत्व है अर्थात् असंख्य जन्मों के पापोंका प्रक्षालन करती है, इसलिए आप तीर्थकृत्वगी कहे जाते हैं (५५)।

भव्यैकश्रव्यगुः सद्गुश्चित्रगुः परमार्थगुः । प्रशान्तगुः प्राश्निकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥५५॥
सुश्रुतिः सुश्रुतो याज्यश्रुतिः सुश्रुन्महाश्रुतिः । धर्मश्रुतिः श्रुतिपतिः श्रुत्युद्धर्त्ता ध्रुवश्रुतिः ॥५६॥
निर्वाणमार्गदिग्मार्गदेशकः सर्वमार्गदिक् । सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥

भव्यैरेक (व) श्रव्या श्रोतुं योग्या गौर्वाणी यस्य स तथोक्त । गोरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादा दीना चेति ह्रस्व । सप्ध्यदाराणामिवुती ह्रस्वादेशो । सती समीचीना पूर्वापरविरोधरहिता शाश्वती वा गौर्वाणी यस्य स तथोक्त । चित्रा विचित्रा नाना प्रकारा त्रिभुवनभव्यजनचित्तचमत्कारिणी गौर्वाणी यस्य स तथोक्त । परमार्था सत्यमयी गौर्यस्य स तथोक्त । प्रशान्ता कर्मक्षयकारिणी रागद्वेषमोहादिरहिता गौर्यस्य । प्रश्ने भवा प्राश्निका प्राश्निकी गौर्यस्य स तथोक्त । प्रश्नं विना तीर्थकरो न ब्रूते यत तत एव कारणाद्वीरस्य गणधर विना कियत्कालपर्यन्तं ध्वनिर्नाभूत् । सुष्ठु शोभना गौर्यस्य । नियतो निश्चित कालोऽवसरो यस्या सा नियतकाला गौर्यस्य ॥५५॥ सुष्ठु शोभना श्रुतिर्यस्य स तथोक्त अबाधितवागित्यर्थ । शोभनं श्रुत शास्त्रं यस्य स तथोक्त । अबाधितार्थश्रुत इत्यर्थ । अथवा सुष्ठु अतिशयेन श्रुतो विख्यातस्त्रिभुवनजनप्रसिद्ध । याज्या पूज्या महापंडितैर्मान्या श्रुतिर्यस्य । सुष्ठु शोभनं यथा भवति तथा शृणोति इति सुश्रुत् । श्रुति सर्वार्थप्रकाशिका (महा) श्रुतिर्यस्य स तथोक्तः । धर्मेण विशिष्टपुण्येन निदानरहितेन पुण्येनोपलक्षिता श्रुति र्यस्य स धर्मश्रुति तीर्थकरनामप्रदायिनी भव्यानां श्रुतिर्यस्येति । श्रुतीनां शास्त्राणां पति स्वामी । श्रुते श्रुतीनां वा उद्धर्त्ता उद्धारकारक ध्रुवा शाश्वती अनादिकालीना श्रुतिर्यस्य ॥ ५६ ॥ निर्वाणाना मुनीना मार्ग

अर्थ—हे भगवन् आप भव्यैकश्रव्यगु हैं सद्गु हैं चित्रगु हैं परमार्थगु हैं, प्रशान्तगु हैं, प्राश्निकगु हैं सुगु हैं नियतकालगु हैं सुश्रुति हैं सुश्रुत हैं याज्यश्रुति है सुश्रुत् है महाश्रुति हैं, धर्मश्रुति हैं श्रुतिपति हैं श्रुत्युद्धर्त्ता है ध्रुवश्रुति हैं, निर्वाणमार्गदिक् हैं मार्गदेशक हैं सर्वमार्गदिक् हैं सारस्वतपथ हैं और तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् हैं ॥५५-५७॥

व्याख्या—हे हितोपदेशिन आपकी वाणी एकमात्र भव्य जीवोंके ही सुननेके योग्य हैं, अथवा भव्योंको ही सुनाई देती है इसलिए आप भव्यैकश्रव्यगु कहलाते हैं (५६)। आप सद् अर्थात् पूर्वापर विरोध-रहित समीचीन अथवा शाश्वत वाणीको बोलते हैं अत आप सद्गु नामसे पुकारे जाते हैं। (५७) चित्र अर्थात नाना प्रकारसे भव्य जीवोंको सम्बोधन करनेवाली आपकी वाणी होती है अत आप चित्रगु कहलाते हैं (५८)। आप अपनी वाणीके द्वारा परमार्थ-अर्थात् परम निःश्रेयस-रूप अथका उपदेश देते हैं इसलिए परमार्थगु कहलाते हैं (५९)। आपकी वाणी प्रशान्त अर्थात राग द्वेष मोहादि रहित है और कर्मोंका क्षय करानेवाली है अत आप प्रशान्तगु कहलाते हैं (६०)। प्रश्नकर्त्ताके द्वारा प्रश्न किए जाने पर ही आपकी वाणी प्रगट होती है अत आप प्राश्निकगु कहलाते हैं (६१)। आपकी वाणी अतिशोभना है अत आप सुगु कहलाते हैं (६२)। नियत कालपर आपकी वाणी खिरती है अर्थात प्रात मध्यान्ह अपरान्ह और मध्यरात्रि इन चार कालोंमे छह-छह घडी आपकी दिव्यध्वनि प्रगट होती है, इसलिए आप नियतकालगु कहलाते हैं (६३)। द्वादशांग श्रुतरूप वाणीको श्रुति कहते हैं। आपकी श्रुति अति शोभायुक्त है अत आप सुश्रुति कहलाते हैं (६४)। आपका श्रुत अर्थात शास्त्र अबाधितार्थ होनेसे अति सुन्दर है अत आप सुश्रुत कहलाते हैं। अथवा आप विश्वविख्यात हैं इसलिए सुश्रुत कहलाते हैं (६५)। आपकी वाणी महापंडितोंके द्वारा याज्य अर्थात पूज्य है मान्य है अत आप याज्यश्रुति हैं (६६)। आपकी वाणी श्रोताओंके द्वारा भक्ति-पूर्वक भली-भांति सुनी जाती है इसलिए आप सुश्रुत् कहलाते हैं (६७)। महान् अर्थात् सर्व अर्थकी प्रकाश करनेवाली आपकी वाणी है अत आप महाश्रुति हैं (६८)। आपकी वाणी धर्मरूप है, विशिष्ट पुण्यके उपार्जनका कारण है और तीर्थकर-प्रकृतिका बन्ध कराती है, अतः आप धर्मश्रुति कहलाते हैं (६९)। श्रुति अर्थात् शास्त्रोंके पति होनेसे आप श्रुतिपति कहलाते हैं (७०)। श्रुतियोंके

देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशकः । वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभंगीशो गिरांपतिः ॥५८॥
सिद्धाज्ञः सिद्धवागाज्ञासिद्धः सिद्धैकशासनः । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक् ॥५९॥
शुचिश्रवा निरुक्तोक्तिस्तंत्रकृन्न्यायशास्त्रकृत् । महिष्ठवाग्महानादः कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः ॥६०॥

॥ इति तीर्थकृच्छतम् ॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रलक्षणं मोक्षमार्ग दिशति उपदिशति य स तथोक्त । अथवा निर्वाणस्य मोक्षस्य तत्कारणभूतस्य मार्गं सूत्र दिशतीति । मार्गस्य रत्नत्रयस्य देशक उपदेशक । सर्वं परिपूर्णो मार्ग सर्वेषां सद्दृष्टि मिथ्यादृष्टीनां च मार्ग संसारस्य मोक्षस्य च मार्गं दिशतीति । सरस्वत्या भारत्या पन्था मार्ग सारस्वत पथ । अथवा सारस्य स्वत वस्य आत्मज्ञानस्य पंथा सारस्वतपथ । तीर्थेषु समस्तधर्मयसिद्धान्तेषु परमोत्तमं परमप्रकृष्टं तीर्थं करोतीति । अथवा तीर्थपरमोत्तमेन जैनशास्त्रेण तीर्थमिथ्यादृष्टीनां शास्त्रं कृन्तति छिनत्तीति शतखण्डीकरोतीति ॥५७॥

दिशति स्वामितया आदेश ददाति । वाग्मिनो वाग्योयुक्तिपटवस्तेषामीश्वर । धर्मं चारित्रं रत्नत्रयं वा जीवानां रक्षणं वा वस्तुस्वभावो वा क्षमादिदशविधो वा धर्म तं शास्ति शिक्षयतीति । धर्मस्य देशक कथक । वाचां वाणीनामीश्वरो वागीश्वर । त्रयी त्रैलोक्य कालत्रयं च, तस्या नाथ , सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्राणां वा समाहारस्त्रयी, तस्या नाथ । ब्रह्मा विष्णु महेश्वराणां वा नाथ ऋग्वेद-यजुर्वेद सामवेदाना वा नाथ हेयतयोपदेशक । त्रयो भंगा समाहृतास्त्रिभंगी तस्या ईश । गिरां वाणीनां पति , क्वचित्र लुप्यन्ते (इत्य)भिधानात् ॥५८॥ सिद्धा आज्ञा वाग्यस्य स तथोक्त । सिद्धा वाग् यस्य स तथोक्त । आज्ञा वाक् सिद्धा यस्य स तथोक्त । सिद्ध एकमद्वितीय शासनं वाक् यस्य स तथोक्त । जगति ससारे प्रसिद्धो विख्यात सिद्धान्तो वाक् यस्य स तथोक्त । सिद्धो मन्त्रो वेदो यस्य, स तथोक्त ।

उद्धारक होनसे आप श्रुत्युद्धर्ता कहलात हैं (७१)। आपकी वाणी ध्रुव अर्थात् शाश्वत-अनादिकालीन है, अत आप ध्रुवश्रुति कहलाते हैं (७२)। निर्वाण अर्थात् मोक्षके मार्गका उपदेश करनेके कारण आप निर्वाणमार्गदिक् कहलाते हैं। अथवा निर्वाण अर्थात् बाणरूप शल्यसे रहित मुनियोंको आप रत्नत्रयरूप मार्गका उपदेश करते हैं, इसलिए भी आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (७३) सुखरूप मार्ग के उपदेशक होनेसे मार्गदेशक कहलाते हैं (७४)। आप सर्व अर्थात् परिपूर्ण मार्गके उपदेशक हैं, अथवा सभी सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि जीवोंको संसार और मोक्षका मार्ग दिखाते हैं, इसलिए सर्व मार्गदिक् कहलाते हैं (७५)। सरस्वतीके मार्गस्वरूप हैं, अथवा आत्मज्ञानरूप सार तत्त्वके प्रचारक हैं अत सारस्वतपथ कहलाते हैं (७६)। तीर्थोंमें सर्वोत्कृष्ट तीर्थके करनवाले हैं अत तीर्थपरमोत्तम तीर्थकृत् हैं अथवा तीर्थपरमोत्तम अर्थात् यथार्थ शास्त्रके द्वारा मिथ्यादृष्टियोंके कुशास्त्ररूप तीर्थ का कर्तन करत हैं उसे शतखंड कर देते हैं, इसलिए भी आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (७७)।

अर्थ—हे गिरीश, आप देष्टा हैं, वाग्मीश्वर हैं, धर्मशासक हैं, धर्मदेशक हैं, वागीश्वर हैं, त्रयीनाथ हैं, त्रिभंगीश हैं, गिरापति हैं, सिद्धाज्ञ हैं, सिद्धवाक् हैं, आज्ञासिद्ध हैं सिद्धैकशासन हैं, जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त हैं सिद्धमंत्र हैं सुसिद्धवाक् हैं शुचिश्रवा हैं निरुक्तोक्ति हैं, तंत्रकृत् हैं, न्याय शास्त्रकृत् हैं, महिष्ठवाक् हैं, महानाद हैं, कवीन्द्र हैं, और दुन्दुभिस्वन हैं ॥५८-६०॥

व्याख्या—हे वाणीके ईश्वर, आप अन्यजीवोंको स्वामिरूपसे आदेश देते हैं इसलिए देष्टा कहलाते हैं (७८)। वाग्मी अर्थात् वचन बोलनेमें कुशल गणधरादिके आप ईश्वर हैं, अतः वाग्मीश्वर कहलाते हैं (७९)। चारित्ररूप रत्नत्रयरूप वस्तुस्वभावरूप, जीवोंकी रक्षारूप और क्षमादिरूप धर्मके आप शासक अर्थात् शिक्षा देनेवाले हैं, इसलिए धर्मशासक कहलाते हैं (८०)। धर्मका उपदेश देनेसे धर्मदेशक कहलाते हैं (८१)। वाक् अर्थात् वाणीके ईश्वर होनेसे वागीश्वर, वागीश, गिरीश आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं (८२)। तीनके समुदायको त्रयी कहते हैं। आप तीनों लोकों और तीनों कालोंके स्वामी हैं, अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप त्रयीके स्वामी हैं, अथवा ब्रह्मा,

(५) अथ नाथशतम्

नाथ पति परिवृढ स्वामी भर्त्ता विभु प्रभु । ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥
ईशोऽधिपतिरीशान इन इन्द्रोऽधिपोऽधिभू । महेश्वरो महेशानो महेश परमेशिता ॥६२॥

सुष्ठु अतिशयेन सिद्धा वाक् वाणी यस्य स तथोक्त ॥५६॥ शुचिनी पवित्र श्रवसी कर्णौ यस्य स तथोक्त । निरुक्ता निश्चिता उक्तिर्वचनं यस्य स तथोक्त । तंत्र शास्त्रं करोतीति । न्यायशास्त्र अविरुद्धशास्त्र कृतवान् । महिष्ठा पूज्या वाक् यस्य स तथोक्त । महान् नादो ध्वनिर्यस्य स तथोक्त । कवीनां गणधरदेवादीनामिन्द्र स्वामी । दुन्दुभिर्जयपटह , तद्वत् स्वन शब्दो यस्य स तथोक्त ॥६ ॥

॥ अथ नाथशतक प्रारम्भ ॥

(नाथ) राज्यावस्थाया नार्थति षष्ठ भागमय याचते नाथृ-नाथ याचने इति धातो प्रयोगात् अचा सिद्धं नाथ्येते स्वर्ग मोक्षौ याच्येते भक्तैर्वा नाथ अन्यत्रापि चेति कर्मणि अच् । पाति रक्षति संसार दुःखादिति पति । पाति प्राणिवर्ग विषयकषायेभ्य आत्मानमिति वा । पातेर्डति औणादिक

विष्णु और महेशरूप त्रयीके स्वामी हैं अत त्रयीनाथ कहलाते है (८३) । उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तीन भंगोंके अथवा सत्ता उदय और उदीरणारूप त्रिभंगीके अथवा आयुके त्रिभागोंके इश अथात प्रतिपादक होनेसे त्रिभंगीश कहलात हैं (८४) । गिरा अर्थात वाणियोके पति है अत गिरापति कहलात हैं (८५) । आपकी आज्ञा सिद्ध है अथात् जो कुछ आदेश देत हैं वही होता है इसलिए आप सिद्धाज्ञ कहलाते हैं (८६) । आपकी वाणी सिद्ध है अर्थात् जिस जो कह देत हैं वही होता है, इसलिए आप सिद्धवाक् कहलाते हैं (८७) । आपकी आज्ञा सिद्ध होन से आप आज्ञासिद्ध कहलाते हैं (८८) । सर्व शासनोमे एकमात्र आपका ही शासन सिद्ध है इसलिए आप सिद्धैकशासन कहलाते हैं (८९) । आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जगतमे प्रसिद्ध है अत आप जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त नामसे पुकारे आते है (९) । आपका मंत्र अर्थात उपदेश या ज्ञान सिद्ध है अत सिद्धमंत्र कहलाते है (९१) । आपकी वाणी अतिशय कर सिद्ध है अत सुसिद्धवाक कहलात है (९२) । आपके वचन श्रवस् अथात् कर्णोंको पवित्र करनवाले है इसलिए शुचिश्रवा कहलाते है (९३) । निरुक्त अर्थात् निश्चित प्रमाण-संगत उक्तियोंके कहनसे निरुक्तोक्ति कहलात है (९४) । तंत्र अर्थात शास्त्रके कर्ता हैं, अत तंत्रकृत् कहलात हैं (९५) । न्याय शास्त्र अर्थात् पक्षपात और पूर्वापर विरोध-रहित शास्त्रके कर्ता होनेस न्यायशास्त्रकृत् कहलात हैं (९६) । महिष्ठ अर्थात् पूज्य वाणीके होनेसे आप महिष्ठवाक हैं (९७) । मेघध्वनिक समान महान् नादके धारक हैं अत महानाद कहे जात हैं । (९८) । कवि अथात् द्वादशांग वाणीकी रचना करनवाले गणधर देवोके आप इन्द्र हैं अत कवीन्द्र कहलाते हैं (९९) । दुन्दुभिके समान आपका स्वन अर्थात् शब्दोच्चारण हाता है इसलिए आप दुन्दुभिस्वन कहलाते है (१०) ।

॥ अथ नाथशतक-प्रारम्भ ॥

अर्थ—हे स्वामिन् आप नाथ हैं पति हैं परिवृढ हैं स्वामी हैं भर्त्ता हैं, विभु हैं प्रभु हैं ईश्वर हैं, अधीश्वर हैं, अधीश हैं, अधीशान हैं, अधीशिता हैं, ईशिता हैं ईश हैं, अधिपति हैं, ईशान हैं, इन हैं इन्द्र हैं, अधिप हैं, अधिभू हैं, महेश्वर हैं महेशान हैं, महेश हैं और परमेशिता हैं ॥६१ ६२॥

व्याख्या—हे भगवन् आप राज्य-अवस्थामें अपनी प्रजासे उसकी आमदनीका छठवाँ भाग कर-रूपसे माँगते हैं और कैवल्य अवस्थामे भक्तजन आपसे स्वर्ग और मोक्ष माँगते हैं, इसलिए आप नाथ कहलाते हैं (१) । आप संसारके दुःखोंसे प्राणिवर्गकी रक्षा करते हैं और उनके विषय-कषाय छुड़ाकर उनकी आत्माका उद्धार करते हैं, इसलिए पति कहलाते हैं (२) ।

प्रत्ययोऽयं । परि समन्तात् बृंहति स्म, बर्हति स्म वा । स्व आत्मा विद्यतेऽस्य स्वामी स्वस्येति कुत्वं चेति इन् आत्वं च । बिभर्ति भरति पुष्णाति वा जगद्भव्यजनं उत्तमस्थाने धरतु केवलज्ञानादिभिर्गुणैः पुष्णातीति । विभवति विशेषेण मंगलं करोति वृद्धिं विदधाति समवसरणसभायां प्रभुतया निवसति, केवलज्ञानेन चराचरं जगत् व्याप्नोति, संपदं ददाति, जगत्तारयामीति अभिप्रायं वैराग्यकाले करोति तारयितुं प्रादुर्भवति, एकेन समयेन लोकालोकं गच्छति जानातीति विभु । तदुक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति सपदो । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ विभु ॥

भुवो डुर्विशंप्रेषु चेति साधु । प्रभवति समर्थो भवति । कुत , सर्वेषां स्वामित्वात् । ईष्टे समर्थो भवति ऐश्वर्यवान् भवति । अधिक ईश्वर इन्द्रादीनामपि प्रभु । अधियां अज्ञानिनां पशूनामपि संबोधने समर्थ । अधिक इश स्वामी अधिया हरि हर हिरण्यगर्भादीनामीश अधीश । ईष्ट इशान । अधिक ईशान । अथवा ये अधियो निर्विवेका लोका भवन्ति ते स्वामिन ऐश्वर्य दृष्ट्वा इशानमिति मन्यन्ते । कुत मिथ्यामतित्वात् । अधिकृतोऽधिको वा ईशिता स्वामी ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवं शील ॥ ६१ ॥ ईष्टे निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात् । अधिकः पति स्वामी । ईष्टे अहमिन्द्राणामपि स्वामी भवति । एति योगिना ध्यानबलेन हृदयकमलमागच्छतीति इन । इण् जि क्षुषिभ्यो नक् । इंदति परमैश्वर्यं प्राप्नोति शक्रादीनामप्याराध्यत्वात् रक् प्रत्यय । अधिकं पाति सर्वजीवान् रक्षति । उपसर्गे त्वातो ड । अथवा अधिक पिबति केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोतीति । अधिका त्रैलोक्यसंबंधिनी

आपने अपने आपको सर्वप्रकारसे समर्थ और बलवान् बनाया है, इसलिए आप परिवृढ कहलाते हैं (३) । आप अपनी आत्माके स्वयं ही अधिपति हैं, अतः स्वामी कहलाते हैं (४) । जगत् के जीवोंका सद्गुणोंके द्वारा भरण-पोषण करनेसे भर्त्ता कहलाते हैं (५) । विभुशब्द मंगल, वृद्धि सत्ता निवास शक्ति, व्याप्ति सम्पत्ति गति आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आपमें ये सब अर्थ विभिन्न विवक्षाओंसे पाये जाते हैं इसलिए आप विभु कहलाते हैं । जैसे—आप संसारके मंगलकर्त्ता हैं, जीवोंके आनन्दकी वृद्धि करते हैं, सत् चिद्-रूप हैं समवसरणमें स्वामीरूपसे निवास करते हैं, अनन्तशक्तिके धारक हैं, ज्ञानरूपसे सर्वजगतमें व्याप्त हैं, अन्तरंग और बहिरंग सम्पत्तिवान् हैं और ज्ञेयोंको एक समयमें जानते हैं इत्यादि (६) । आप सर्वप्रकारसे समर्थ हैं अत प्रभु कहलाते हैं (७) । ऐश्वर्यवान् होनेसे ईश्वर कहलाते हैं (८) । इन्द्रादिकोंके भी ईश्वर हैं अथवा अधी अर्थात् बुद्धि-रहित मूर्ख मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके भी सम्बोधन करनेवाले हैं, इसलिए अधीश्वर कहलाते हैं (९) । अधी अर्थात् कुबुद्धि या अल्पबुद्धिवाले हरि-हर हिरण्यगर्भ आदिके स्वामी होनेसे अधीश कहलाते हैं (१०) । अधी अर्थात् अविवेकी मिथ्यादृष्टि लोग आपके समवसरणादि बाह्य वैभवको देखकर ही आपको ईशान अर्थात् महान् स्वामी मानते हैं इसलिए आप अधीशान कहलाते हैं (११) । आपकी ईशिता अर्थात् स्वामिपना सबसे अधिक है इससे अधीशिता कहलाते हैं (१२) । ऐश्वर्यवान् होनेसे ईशिता कहलाते हैं (१३) । निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ होनेसे ईश कहलाते हैं (१४) । अधिक अर्थात् समर्थ पति होनेसे अधिपति कहलाते हैं (१५) । अहमिन्द्रोंके स्वामी होनेसे ईशान कहलाते हैं (१६) । ध्यानके द्वारा योगियोंके हृदय-कमलको प्राप्त होते हैं, अतः इन कहलाते हैं (१७) । इन्दन अर्थात् परम ऐश्वर्यको प्राप्त होनेसे इन्द्र कहलाते हैं (१८) । सर्व जीवोंको अच्छी तरह पालनेसे अधिप कहलाते हैं । अथवा निजानन्दस्वरूप रसका अधिक पान करनेसे अधिप कहलाते हैं (१९) । भू धातु सत्ता, मंगल, वृद्धि, सम्पत्ति, आदि अनेक अर्थोंकी वाचक है । भगवान्में भी त्रिजगत्का स्वामीपना होनेसे, सर्वके मंगलकर्ता और ऋद्धि-सिद्धिके विधाता होनेसे सर्व अर्थ घटित होते हैं, अतः अधिभू यह नाम भी सार्थक है । अथवा अधिभू नाम नायक या नेताका है, आप त्रिजगत्के नायक और मोक्षमार्गके नेता हैं, अतः अधिभू कहलाते हैं (२०) । महान् ईश्वर होनेसे महेश्वर कहलाते

अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वर । विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वट् विश्वेश्वरोऽधिराट् ॥६३॥
लोकेश्वरो लोकपतिर्लोकनाथो जगत्पतिः । त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभु ॥६४॥
पिता पर परतरो जेता जिष्णुरनीश्वर । कर्त्ता प्रभूष्णुर्भ्राजिष्णु प्रभविष्णु स्वयंप्रभु ॥६५॥

भूर्भूमिर्यस्य स तथोक्त , अधिभू त्रिभुवनैकनायक इत्यर्थ । महतामिन्द्रादीनामीश्वर स्वामी । अथवा महस्य पूजाया इश्वर । महाश्चासावीशान । अथवा महातामीशान । अथवा महस्य यज्ञस्य ईशान । महाश्चासावीश , अथवा महतामीश , अथवा महस्य यागस्य इश्वर । परम प्रकृष्ट ईशिता ॥६२॥

(अधिक शक्रादीना देव परमाराध्य । महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देव । दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे देव परमाराध्य इत्यथ । त्रीणि भुवनानि समाहृतानि त्रिभुवनं तस्य ईश्वर । विश्वस्य ईश स्वामी । विश्वेषा भूताना प्राणिवर्गाणा इश । विश्वस्य इट् स्वामी । विश्वस्य इश्वर प्रभु । अधिक राजते अधिराट् ॥६३॥ लोकाना त्रिभुवनजनानामीश्वर स्वामी । लोकस्य त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गस्य पति स्वामी । लोकस्य नाथ स्वामी । जगता त्रिभुवनाना पति स्वामी । त्रैलोक्यस्य नाथ । लोकानामीश । जगता नाथ जगत प्रभु ॥६४॥ पाति रक्षति दुर्गतौ पतितु न ददाति । पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा लोकान् निर्वाणपदे स्थापयति पर । परस्मात् सिद्धात् उत्कृष्ट पर । जयति सर्वोत्कर्षण प्रवर्तते जेता । जयनशील । न विद्यते ईश्वरो यस्य । अनन्तज्ञानादिचतुष्टयमात्मन करोतीति । प्रभवति इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्रादीना प्रभुत्वं प्राप्नोती त्येवंशील । भ्राजते चन्द्रार्ककोटिभ्योऽपि अधिका दीप्तिं प्राप्नोतीत्येवंशील । प्रभवति अनन्तशक्तित्वात् समर्थो भवतीत्येवशील । स्वयमात्मना प्रभु समथ ॥६५॥)

हैं (२१)। महापुरुषोंके भी ईशान अर्थात् स्वामी होनसे महेशान कहलाते हैं (२२)। मह अर्थात् पूजाके ईश होनेसे महेश कहलाते हैं (२३)। पर शब्द उत्कृष्टका और मा शब्द लक्ष्मीका वाचक है। आप उत्कृष्ट लक्ष्मीके ईशिता अर्थात् स्वामी हैं अत परमेशिता कहलाते हैं ॥२४॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र आप अधिदेव हैं महादेव हैं देव हैं त्रिभुवनश्वर हैं विश्वेश हैं, विश्वभूतेश हैं विश्वेट् हैं, विश्वेश्वर हैं, अधिराट हैं, लोकेश्वर हैं लोकपति हैं लोकनाथ हैं जगत्पति हैं त्रैलोक्यनाथ हैं लोकेश हैं जगन्नाथ हैं जगत्प्रभु हैं पिता हैं पर हैं परतर हैं जेता हैं जिष्णु हैं अनीश्वर हैं कर्त्ता हैं प्रभूष्णु हैं भ्राजिष्णु हैं प्रभविष्णु हैं और स्वयंप्रभु हैं ॥६३–६५॥

व्याख्या—हे भगवन् आप परम आनन्दको भोगते हुए सर्वदा विजयशील रहते हैं इसलिए देव कहलाते हैं (२५)। स्वर्गवासी देवोंके आराध्य हैं अत अधिदेव कहलाते हैं (२६)। इन्द्रादिकोंसे पूज्य हैं अत महादेव कहलाते हैं (२७)। स्वर्गलोक मर्त्यलोक और पाताललोक इन तीन भुवनोंके ईश्वर होनसे आप त्रिभुवनेश्वर विश्वेश विश्वट विश्वेश्वर लोकेश्वर, लोकपति लोकनाथ जगत्पति, त्रैलोक्यनाथ, लोकेश जगन्नाथ और जगत्प्रभु कहलाते हैं (२८–३९)। सर्व विश्वके भूतों अर्थात् प्राणियोंके ईश होनसे विश्वभूतेश कहलाते हैं (४)। आपने राजाओंको अपने वशमें किया है और स्वयं अतिशय करके विराजमान हैं, इसलिए अधिराट कहलाते हैं (४१)। पालने वालेको पिता कहते हैं। आप जगज्जनोंकी दुर्गतिके दु खोंसे रक्षा करते हैं अतः पिता कहलाते हैं (४२)। लोगोंको शिवपद पर स्थापित करते हैं, इसलिए पर कहलाते हैं (४३)। पर अर्थात सिद्धोंसे भी पर हैं प्रधान हैं, क्योंकि धर्मका उपदेश देनेके कारण सिद्धोंसे पहले आपका (अरहन्तोंका) नाम लिया जाता है और आपको नमस्कार किया जाता है इसलिए परतर कहलाते हैं (४४)। कर्मशत्रुओंके जीतनेसे जेता कहलाते हैं (४५)। सदा विजयशील रहनेसे जिष्णु कहलाते हैं (४६)। आपका कोई ईश्वर नहीं है और न आपके अतिरिक्त संसारमें कोई ईश्वर है इसलिए आप अनीश्वर कहलाते हैं (४७)। आप अपने लिए अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके करनेवाले हैं अतः कर्त्ता कहलाते हैं (४८)। इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदिके भी प्रभुत्वको प्राप्त हैं, अत प्रभूष्णु कहलाते हैं (४९)। कोटि-कोटि चन्द्र-सूर्योंसे भी अधिक

लोकजिद्विश्वजिद्विश्वविजेता विश्वजित्वरः । जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्जगज्जयी ॥६६॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता भूर्भुवःस्वरधीश्वरः । धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥
गतिः पाता वृषो वर्यो मंत्रकृच्छुभलक्षणः । लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुर्निरुत्सुक ॥६८॥

(लोकं संसारं जितवान् । विश्वं त्रैलोक्यं जितवान् । विश्वं त्रैलोक्यं विजयते निजसेवकं करोतीत्येवं शील । विशति आत्मप्रदेशेषु मिलति, बन्धमायाति श्लेषं करोतीति । विश्वं ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मसमूहः, तं जयति क्षयं नयतीत्येवंशील । जगतां सर्वमिथ्यादृष्टीनां जेता जयनशील । जयन्ति जयतीत्येवंशील । गच्छतीत्येवंशीलं जगत् तज्जयतीत्येवंशील जि भुवो ष्णुक् । जगज्जयतीत्येवंशील ॥६८॥ अग्रं त्रैलोक्योपरि नयति । ग्राम सिद्धसमूहं नयतीति स्वधर्ममित्येवंशील । भूरधोलोक , भुवर्मध्यलोक । तेषामधीश्वर । धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य नायको नेता । ऋद्धीनामीश स्वामी । भूताना प्राणिना देवविशेषाणा च नाथ । भूतानां

दीप्तिको धारण करनेसे भ्राजिष्णु कहलाते हैं (५०) । अनन्त शक्तिशाली होनेपर भी अति सहनशील हैं, अतएव प्रभविष्णु हैं (५१) । पर की सहायसे निरपेक्ष होकर स्वयं ही समर्थ हैं, अत स्वयंप्रभु कहलाते हैं (५२) ।

अर्थ—हे लोकेश्वर, आप लोकजित हैं, विश्वजित् हैं, विश्वविजेता हैं, विश्वजित्वर हैं, जगज्जेता हैं, जगज्जैत्र हैं जगज्जिष्णु हैं जगज्जयी हैं, अग्रणी हैं, ग्रामणी हैं, नेता हैं, भूर्भुवः स्वरधीश्वर हैं धर्मनायक हैं ऋद्धीश हैं, भूतनाथ हैं भूतभृत हैं, गति हैं पाता हैं वृष हैं, वर्य हैं मंत्रकृत हैं शुभलक्षण हैं, लोकाध्यक्ष हैं, दुराधर्ष हैं, भव्यबन्धु हैं और निरुत्सुक हैं ॥६६-६८॥

व्याख्या—लोक, विश्व और जगत् यद्यपि एकार्थवाचक नाम हैं, तथापि निरुक्तिकी अपेक्षा उनमें कुछ विशेषता है । जिसमें जीवादि पदार्थ अवलोकन किये जायँ उसे लोक कहते हैं । जिसमें जीवादि पदार्थ प्रवेश करते हैं रहते हैं उसे लोक कहते हैं । जो गमन अर्थात् परिवर्तन शील हो, उसे जगत कहते हैं । जित् जेता विजेता जित्वर, जैत्र, जिष्णु और जयी ये सब शब्द निरुक्त्यर्थ की अपेक्षा सूक्ष्म अन्तर रखते हुए भी विजयशील या विजयीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । उपसर्ग और प्रत्ययोंकी विभिन्नतासे बननेवाले शब्दोंके अर्थमें कुछ न कुछ विभिन्नता आ ही जाती है, इसी दृष्टिसे स्तुतिकारने भगवान्की स्तुति करते हुए उन्हें लोकजित विश्वजित विश्वविजेता, विश्वजित्वर जगज्जेता, जगज्जैत्र जगज्जिष्णु और जगज्जयी नामोंसे पुकारा है । इन सभी नामोंका सामान्यतः लोकको जीतनेवाला अर्थ होता है (५३-६०) । अग्र शब्दके यद्यपि प्रथम, प्रकार, ऊपर, आगे और श्रेष्ठ आदि अनेक अर्थ हैं, तथापि यहा ऊपर और श्रेष्ठ अर्थ विवक्षित है । जिनेन्द्र भगवान् अपने भक्तोंको ऊपर लोकके अग्र भागपर स्थित शिवलोकमें ले जाते हैं इसलिए अग्रणी कहलाते हैं । अथवा भव्य जीवोंको श्रेयस् अर्थात् परमकल्याणमें स्थित श्रेष्ठ सिद्धोंके पास ले जाते हैं, इसलिए भी अग्रणी कहलाते हैं (६१) । ग्राम नाम गाँव और समूहका है । हे भगवन्, संसाररूप वनमें अकेले भटकनेवाले जीवोंको आप सिद्धोंके गाँव या समुदाय रूप सिद्धपुरीमें ले जाते हैं, इसलिए ग्रामणी कहलाते हैं (६२) । अपने कर्त्तव्यसे विमुख और पथ-भ्रष्ट लोगोंको आप उनके कर्त्तव्य या पथकी ओर ले जाते हैं, अतः नेता हैं (६३) । भूर भुव् और स्वर् ये तीनों वैदिक शब्द क्रमशः अधो, मध्य और ऊर्ध्व लोकके वाचक हैं । आप इन तीनों ही लोकोंके अधीश्वर हैं, अतः भूर्भुवःस्वरधीश्वर कहलाते हैं (६४) । अहिंसामय धर्मके प्रणेता होनेसे धर्मनायक कहलाते हैं (६५) । बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण नामक सात ऋद्धियोंके धारक साधुओंके आप ईश हैं, अतः ऋद्धीश हैं (६६) । भू अर्थात् पृथिवी पर जो उत्पन्न हुए हैं उन्हें भूत कहते हैं, इस प्रकारका निरुक्त्यर्थ होनेसे उपलक्षणका आश्रय कर जलादिके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले सभी जीवोंको भूत कहते हैं । आप उनके स्वामी हैं, अतः

धीरो जगद्धितोऽजय्यस्त्रिजगत्परमेश्वरः । विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६९॥
त्रिजगद्वल्लभस्तुङ्गस्त्रिजगन्मङ्गलोदयः । धर्मचक्रायुधः सद्योजातस्त्रैलोक्यमङ्गलः ॥७० ॥
वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकरः । महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥७१॥

॥ इति नाथशतम् ॥

अतीतानां उपलक्षणात् वर्तमानानां भविष्यतां च प्राणिनां नाथः । भूतान् बिभर्ति पालयतीति ॥६७॥ गमनं ज्ञानमार्गं वा गतिः । सर्वेषां अर्त्तिमथनसमर्थो वा । पाति रक्षति दुःखादिति । वर्षति धर्मामृतं वृषः । व्रियते वर्यः स्वराद्यः । वरणीयो मुक्तिलक्ष्म्याऽभिलषणीय इत्यर्थः । मंत्रं श्रुतं कृतवान् । शुभानि लक्षणानि यस्य सः ।) लोकानां प्रजानामध्यक्षः प्रत्यक्षीभूतः । अथवा लोकमध्यक्षो लोकापरिमुक्तः राजनियोगिकनाकाध्यक्षवत् । अथवा लोकाः क्षीणि भुवनानि अध्यक्षाणि प्रत्यक्षाणि यस्येति । वा लोकेभ्यः प्रजाभ्यः अधिकानि अक्षाणि ज्ञानलक्षणानि लोचनानि यस्येति । दुःखेन महता कष्टेनापि आसमताद् धर्षयितुं पराभवितुमशक्यो दुराधर्षः ईषद्दुःख सुख कृच्छ्राकृच्छ्रेषु खलप्रत्ययः । भव्यानां रत्नत्रययोग्यानां बन्धुरुपकारकः । स्थिरप्रकृतिरित्यर्थः ॥६८॥

ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति । अथवा धियं राति ददाति भक्तानामिति धीरः । तर्हि देधातेर्दानार्थत्वात् तद्योगे चतुर्थी कथं न भवति ? सत्यं यस्मै दित्सा दातुमिच्छा भवति तत्र चतुर्थी भवति । परमेश्वरस्तु स्वभावेन बुद्धिं ददाति नत्विच्छया तस्या मोहजनितत्वात् । स तु मोहो भगवति न वर्तते तेन लिंगात् षष्ठी भवति सम्बन्धमात्रविवक्षितत्वात् । जगतां हितः जगद्भ्यो वा हितः । न जेतुं केनापि इन्द्रादिना काम क्रोध मोह-लोभादिना वा शक्यः । त्रयाणां जगतां परमः ईश्वरः

भूतनाथ हैं (६७) । भूतोंको पालते हैं अतः भूतभृत भी कहलाते हैं (६८) । गति शब्दकी निष्पत्ति गम धातुसे हुई है । गम धातु गमन ज्ञान और अर्त्तिमथन अर्थात् पीड़ाको दूर करना इन तीनों अर्थोंमें व्यवहृत होती है । प्रकृतमें आप ज्ञानस्वरूप हैं और पीड़ित जनोंकी पीड़ाके दूर करनेवाले हैं अतः गति नामसे पुकारे जाते हैं (६९) । जगज्जनोंकी दुःखोंसे रक्षा करते हैं अतः पाता कहलाते हैं (७०) । धर्मरूप अमृतकी वर्षा करते हैं अतः वृष कहलाते हैं (७१) । मुक्तिलक्ष्मीके द्वारा वरण करनेके योग्य हैं अतः वर्य कहलाते हैं (७२) । मंत्रों अर्थात् बीजपदरूप शास्त्रोंके कर्त्ता होनेसे मंत्रकृत कहलाते हैं (७३) । श्रीवृक्ष शंख चक्र आदि शुभलक्षणोंके धारक होनेसे शुभलक्षण कहलाते हैं (७४) । लोकके अध्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्षीभूत हैं अतः लोकाध्यक्ष कहलाते हैं । अथवा संसारके स्वामी होनेसे भी लोकाध्यक्ष कहलाते हैं । अथवा लोक अर्थात् साधारण जनोंसे अधिक अर्थात् विशिष्ट ज्ञानरूप अक्ष अर्थात् नेत्रके धारक हैं इसलिए भी लोकाध्यक्ष कहलाते हैं (७५) । आप दुःखोंके द्वारा अधर्ष हैं अर्थात् कभी भी पराभवको प्राप्त नहीं होते अतः दुराधर्ष कहलाते हैं (७६) । भव्य अर्थात् रत्नत्रय धारण करनेके योग्य जीवोंके आप बन्धु हैं अतः भव्यबन्धु हैं (७७) । कृतकृत्य होनेसे अब आपको कोई कार्य करना शेष नहीं रहा अतः किसी कामके करनेकी उत्कण्ठारूप उत्सुकता भी नहीं रही इस कारण आप निरुत्सुक कहलाते हैं (७८) ।

अर्थ—हे धर्मचक्रेश्वर, आप धीर हैं, जगद्धित हैं, अजय्य हैं, त्रिजगत्परमेश्वर हैं, विश्वासी हैं, सर्वलोकेश हैं, विभव हैं, भुवनेश्वर हैं, त्रिजगद्वल्लभ हैं, तुङ्ग हैं, त्रिजगन्मंगलोदय हैं, धर्मचक्रायुध हैं, सद्योजात हैं, त्रैलोक्यमंगल हैं, वरद हैं, अप्रतिघ हैं, अच्छेद्य हैं, दृढीयान् हैं, अभयंकर हैं, महाभाग हैं, निरौपम्य हैं और धर्म-साम्राज्यके नायक हैं ॥६९-७१॥

व्याख्या—हे धर्मचक्रके ईश्वर, आप धीर हैं, क्योंकि अपने ध्येय या कर्त्तव्यके प्रति धी अर्थात् बुद्धिको प्रेरित करते हैं, लगाते हैं । अथवा भक्तोंके लिए 'धियं राति' अर्थात् बुद्धिको देते हैं, उन्हे सन्मार्ग सुझाते हैं और उसपर चलनेके लिए प्रेरित करते हैं (७९) । जगत्का हित करनेके कारण आप जगद्धित कहलाते हैं (८०) । बाहरमें इन्द्र, नरेन्द्रादिके द्वारा और अन्तरंगमें

स्वामी । अथवा त्रिजगतां परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीस्तस्या ईश्वरः । विश्वासो विद्यते यस्य स तथोक्तः तदस्यास्तीति मत्वर्थ स्वीन् । अथवा विश्वस्मिन् लोकालोके केवलज्ञानापेक्षयाऽऽस्ते तिष्ठतीत्येवंशीलः, नाम्न्य जातौ णिनिस्ताच्छील्ये । सर्वस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्थितप्राणिगणस्य ईश' प्रभु । विगतो भवः संसारो यस्य स विभव' । अथवा विशिष्टो (भवो) जन्म यस्य । भुवनस्य त्रैलोक्यस्य ईश्वरः ॥६६॥ त्रिजगतां वल्लभोऽभीष्ट । तुंग , उन्नत' विशिष्टफलदायक इत्यर्थः । त्रिजगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां मंगलानां पंचकल्याणा (ना)मुदय प्राप्तिर्यस्मादसौ त्रिजगन्मंगलोदय , तीर्थकृन्नामगोत्रयो भक्ताना दायक इत्यर्थ । धर्म एव चक्रं पापारिखंडकत्वात् धर्मचक्रं । धर्मचक्रमायुधं शस्त्रं यस्य । सद्यस्तत्काल स्वर्गात्प्रच्युत्य मातुर्गर्भे उत्पन्नत्वात् । त्रैलोक्यस्य मगं सुखं (लाति) ददाति मलं वा गालयतीति ॥७ ॥ वरमभीष्टं स्वर्ग मोक्षं च ददाति इति । अविद्यमान प्रतिघः क्रोधो यस्य स तथोक्त । न छेत्तु शक्यः । अतिशयेन दृढ ।

पृथु मृदु दृढं चैव मशी च कृशमेव च । परिपूर्ण दृढं चैव षडेतान् रविधो स्मरेत् ॥

न भयंकरोऽरौद्र । अथवा अभयं निर्भयं करोतीति । महान् भागो राजदेय यस्य । अथवा महेन पूजया आसमन्ताद् भज्यते सेव्यते महाभाग । निर्गतमौपम्यं यस्य स तथोक्त । धर्म एव साम्राज्यं चक्रवर्तित्व तस्य नायक स्वामी ॥७१॥

इति नाथशतम् ।

काम क्रोधादि शत्रुओंके द्वारा आप जीते नहीं जा सकते अत अजय्य हैं (८१)। तीनों जगत्के परमेश्वर हैं अथवा तीनों लोकोंमे जो परा मा अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी है, उसके ईश्वर (स्वामी) हैं, अत त्रिजगत्परमेश्वर हैं (८२)। विश्वासको धारण करते हैं अत विश्वासी हैं। अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा आप विश्वभरमें आस अर्थात् निवास करते हैं (८३)। सर्वलोकमें स्थित प्राणियोंके ईश होनेसे सर्वलोकेश कहलात हैं (८४)। आपका भव अर्थात् संसार विगत हो गया है इसलिए विभव कहलाते हैं। अथवा कैवल्य प्राप्तिकी अपेक्षा विशिष्ट भव अर्थात् जन्मको–जिसके पश्चात् फिर मरण नहीं है—लेनेसे भी विभव कहलाते हैं (८५)। आप त्रैलोक्यरूप भुवनके ईश्वर हैं (८६)। तीनों जगत्के वल्लभ अथात अतिप्रिय होनेसे त्रिजगद्वल्लभ हैं (८७)। तुङ्ग अर्थात् उन्नत हैं क्योंकि भक्तोंको विशिष्ट फल देते हैं (८८)। त्रिजगत्में स्थित भव्य जीवोंके पंचकल्याणकरूप मंगलका उदय अर्थात् लाभ आपके निमित्तसे होता है अतः आप त्रिजगन्मंगलोदय हैं (८९)। धर्मचक्ररूप आयुध (शस्त्र) के धारण करनेसे धर्मचक्रायुध कहलात हैं, क्योंकि आप धर्मरूप चक्रके द्वारा पापरूप शत्रुओंका नाश करते हैं (९)। सद्यः अर्थात् स्वर्गसे च्युत होकर तत्काल ही माता के गर्भमें उत्पन्न होते हैं बीचमें अ यत्र जन्म नहीं लेते, इसलिए सद्योजात कहलात हैं (९१)। त्रैलोक्यके मं अर्थात् पापको गलाते हैं, नष्ट करते हैं, और मंग अर्थात् सुखको लाते हैं, इसलिए त्रैलोक्यमंगल कहलाते हैं (९२)। वर अर्थात् इच्छित स्वर्ग-मोक्षको देनेके कारण वरद कहलाते हैं (९३)। आपके प्रतिघ अर्थात् क्रोधका अभाव है, इसलिए आप अप्रतिघ कहलाते हैं (९४)। किसी भी बाह्य या अन्तरंग शत्रुके शस्त्रसे छेदे नहीं जा सकते हैं, इसलिए अछेद्य कहलाते हैं (९५)। अतिशय दृढ अर्थात् बलशाली या स्थिर होनेसे दृढीयान् कहलाते हैं (९६)। आप किसी भी प्राणीको भय नहीं करते, प्रत्युत निर्भय करते हैं, इसलिए अभयंकर कहलात हैं। अथवा आप भयंकर अर्थात् रौद्र या भयानक नहीं हैं, प्रत्युत अति सुन्दरा ार हैं (९७)। महान् भाग्यशाली होनेसे महाभाग कहलाते हैं, क्योंकि त्रिजगत् आपकी सेवा-पूजा करता है (९८)। संसारमें कोई भी वस्तु आपकी उपमाके योग्य नहीं है, इसलिए आप निरौपम्य कहलाते हैं (९९)। धर्मरूप साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक कहलाते हैं (१००)।

[illegible]

(६) अथ योगिशतम्

योगी प्रव्यक्तनिर्वेद साम्यारोहणतत्पर । सामायिकी सामायिको नि प्रमादोऽप्रतिक्रम ॥७२॥
यम प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासन । प्राणायामचण सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रिय ॥७३॥
धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठ समाधिराट् । स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायक ॥७४॥

योगो ध्यानसामग्री अष्टांगानि विद्यन्ते यस्य स योगी । कानि तानि ? यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा-समाधय इति । प्रव्यक्त स्फुटो मुखकमलविकाससूचितो निर्वेद संसारशरीर भोग-वैराग्यं यस्य स तथोक्त । साम्यस्य समाधेरारोहणे चटने तत्पर लीन प्रवृत्ति । सर्वजीवाना समभावपरिणाम सामायिकं सम्यक् अय समय शुभावहो विधिजनधम समय एव सामायिक । स्वार्थे शैषिक इकण् । सामायिकं सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं विद्यते यस्य स तथोक्त । अथवा सा लक्ष्मीर्माया यस्य स सामाय सर्द्धिसमूह सा विद्यते यस्य स, सामायी एव सामायिक । स्वार्थे क । सामायिका गणधरदेवसमूहा विद्यते यस्य स सामायिकी । इन अस्त्यर्थे । समये जैनधर्मे नियुक्त सामायिक इकण् । निर्गत प्रमादो यस्य । न विद्यते प्रतिक्रमो यस्य स अप्रतिक्रम । कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणं ते तु दोषा स्वामिनो न विद्यन्ते येन, तेन प्रतिक्रमणमपि न करोति ध्यान एव तिष्ठति ॥७२॥ यमो यावज्जीवनियम तद्योगात् स्वाम्यपि यम, सर्वसावद्ययोगोपरतत्वात् । प्रधानो मुख्य नियमो यस्य स तथोक्त । उक्तं च—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे । नियम परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

(सुष्ठु) अतिशयेनाभ्यस्तमनुशीलितं आसनं पद्मासनं येन स तथोक्त । किंचिदूनकोटि पूर्वपर्यन्तं भगवान् खलु पद्मासनेनोपविष्टो हि धर्मोपदेशं ददाति, जघन्येन त्रिंशद्वर्षपर्यन्तमेकेनासनेन पद्मासनेन तिष्ठति । मध्ये नानाविधकालपर्यन्तं ज्ञातव्यम् । अथवा सुष्ठु अतिशयेन अभ्यस्ता मुक्ता या परमा

अर्थ—हे योगेश्वर, आप योगी हैं प्रव्यक्त निर्वेद हैं साम्यारोहणतत्पर हैं सामायिकी हैं सामायिक हैं निःप्रमाद हैं अप्रतिक्रम हैं यम हैं प्रधाननियम हैं स्वभ्यस्तपरमासन हैं, प्राणायामचण हैं, सिद्धप्रत्याहार हैं जितेन्द्रिय हैं धारणाधीश्वर हैं धर्मध्याननिष्ठ हैं समाधिराट् हैं स्फुरत्समरसीभाव हैं, एकी हैं और करणनायक हैं ॥ ७२–७४ ॥

व्याख्या—हे स्वामिन् आपके यम, नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग योग पाया जाता है अत आप योगी हैं (१)। आपका निर्वेद अर्थात् संसार, शरीर और भोगसे वैराग्य मुख-कमलके विकाससे ही प्रगट है अत आप प्रव्यक्तनिर्वेद हैं (२)। साम्य, समाधि स्वास्थ्य योग चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। आप शुद्धोपयोगरूप साम्यभावके आरोहणमे तत्पर हैं उसमें तन्मय हैं इसलिए साम्यारोहणतत्पर कहलाते हैं (३)। सर्वजीवोंमे समताभावरूप परिणामको और सर्व सावद्ययोगके त्यागको सामायिक कहते हैं। इस प्रकारकी सामायिक आपके पाई जाती है इसलिए सामायिकी कहलाते हैं। अथवा सा नाम लक्ष्मीका है उसे जो मायारूप मानते हैं ऐसे साधुजनोंको सामाय कहते हैं। उनके धारण करने वाले गणधर समूहको सामायिक कहते हैं। आपके गणधरोंका समुदाय पाया जाता है, इसलिए भी आप सामायिकी कहलाते हैं (४)। समय अर्थात् जैनधर्ममें आप युक्त हैं अतः आप सामायिक कहे जाते हैं (५)। आप सर्व प्रकारके प्रमादोंसे रहित हैं इसलिए निःप्रमाद कहलाते हैं (६)। किये हुए दोषोंके निराकरणको प्रतिक्रमण कहते हैं आप सर्व प्रकारके दोषोंसे रहित हैं अतः अप्रतिक्रम हैं (७)। पाप, विषय कषायादिके यावज्जीवन त्यागको यम कहते हैं और उसके योगसे आप भी यम नामसे पुकारे जाते हैं (८)। आत्म-नियमनरूप नियम आपके प्रधान है, अतः प्रधाननियम कहलाते

परमा लक्ष्मीस्तां आस्यति त्यजति निष्क्रमणकाले यः स तथोक्तः । प्राणायामे कुम्भक पूरक रेचकादिलक्षणे वायुप्रचारे चणो विचक्षणः प्रवीणः प्राणायामचणः । वित्ते चंचु चणौ इति तद्धित चण् प्रत्ययः । सिद्ध प्राप्तिमागतः प्रत्याहारः पूर्वोक्तनिर्विषयीकारः ललाटे स्थापनं मनो यस्य । जितानि विषयसुख पराङ्मुखीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्रलक्षणानि येन स तथोक्तः ॥ ७६ ॥ धारणा पूर्वोक्ता पंचविधा, तस्यां अधीश्वरः समर्थः । अथवा धारणा जीवानां स्वर्गमोक्षयोः स्थापना, तस्यां धीर्बुद्धिर्धारणाधीः भव्यजीवानां स्वर्गे मोक्षे च स्थापनाबुद्धिस्तस्या ईश्वरो रत्नत्रयदानसमर्थः, तद्विना तद्द्वितयं न भवतीति कारणात् । धारणाधीश्वरः मोक्षहेतुरत्नत्रयबुद्धिदायक इत्यर्थः । धर्मध्याने आज्ञापाय विपाकसंस्थानविचयलक्षणे न्यतिशयेन तिष्ठतीति । समाधिना शुक्लध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजति शोभते । स्फुरन् चित्ते चमत्कुर्वन् समरसीभावः सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति परिणामः समरसीभावो यस्य । अथवा स्फुरन् आत्मनि समरसीभाव एककलोलीभावो यस्य स तथोक्तः, एक एव अद्वितीयः संकल्पविकल्परहित आत्मा विद्यते यस्य स । अथवा एके एके सदृशा आत्मानो जीवा विद्यन्ते यस्य स एकी । करणानि पंचानामिन्द्रियाणां मन षष्ठानां स्व स्वविषयगमननिषेधे नायकः समर्थः । अथवा करणशब्देन परिणामा उच्यन्ते, तेषां त्रिविधानामपि नायकः प्रवर्तकः ॥७४॥

हैं (९)। परम अर्थात् उत्कृष्ट आसनका आपने अच्छी तरह अभ्यास किया है, यही कारण है कि आप आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तसे कम एक कोटि वर्ष-पर्यन्त एक पद्मासनसे बैठे हुए ही भव्यजीवोंको धर्मोपदेश देते रहते हैं इसलिए आप स्वभ्यस्तपरमासन कहलाते हैं। अथवा निरुक्तिके बलसे यह भी अर्थ निकलता है कि अच्छी तरह भोगी गई पर अर्थात् श्रेष्ठ मा-लक्ष्मी को भी आप आसन अर्थात् निराकरण करते हैं, दीक्षा-कालमें उसे छोड़ देते हैं (१०)। पूरक, रेचक कुम्भकादिलक्षण वायुप्रचार निरोधस्वरूप प्राणायाममें आप चण अर्थात् प्रवीण हैं, इसलिए प्राणायामचण हैं (११)। पंचेन्द्रियो के विषयोंसे मनको खींचकर ललाटपट्टपर 'अर्हं' इस बीजाक्षर के ऊपर उसे स्थिर करने को प्रत्याहार कहते हैं। आपको यह प्रत्याहारनामक योगका पांचवा अंग भी सिद्ध हो चुका है अत सिद्ध प्रत्याहार कहलाते हैं (१२)। आपने पाचों इन्द्रियोंको जीत लिया है, अर्थात् आप विषयसुखसे पराङ्मुख हैं और आत्मसुखमें तल्लीन हैं, अतः जितेन्द्रिय हैं (१३)। पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्विकी इन पाचों धारणाओंके अथवा उनके धारक योगियोंके आप स्वामी हैं, अत योगके छठे अंग धारणा पर विजय प्राप्त करनेके कारण आप धारणाधीश्वर कहलाते हैं। अथवा जीवोंको संसारसे उठाकर मोक्षमें स्थापित करनेकी बुद्धिको धारणाधी कहते हैं, ऐसी बुद्धि और उसके धारकोंके आप ईश्वर हैं, इसलिए भी धारणाधीश्वर कहलाते हैं (१४)। आपने चतुर्विध धर्मध्यान को भली भांति सिद्ध किया है, अत धर्मध्याननिष्ठ कहलाते हैं (१५)। आत्मस्वरूपमें जल-भरे घड़ेके समान निश्चल होकर अवस्थित होनेको समाधि कहते हैं। आप इसप्रकार योगके अष्टम अंगरूप समाधिमें भली भांतिसे विराजमान हैं, अत समाधिराट् कहलाते हैं (१६)। सर्व जीव शुद्ध बुद्धस्वरूप एक समान स्वभाववाले हैं, इस प्रकारके परिणामको समरसी भाव कहते हैं। आपके सर्वाङ्गमें यह स्फुरायमान है, अतः आप स्फुरत्समरसीभाव कहलाते हैं। अथवा आत्मामें सम-रस हो करके एक लोली-भावसे स्थिर होनेको भी समरसीभाव कहते हैं। आपमें यह समरसीभाव पूर्णरूपसे स्फुरित है (१७)। आप सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित एक हैं अर्थात् पर-बुद्धिसे रहित हैं, इसलिए एकी कहलाते हैं। अथवा आपके मतमें सर्व जीव एक समान शक्तिके धारक हैं (१८)। करण अर्थात् पांचों इन्द्रिय और मनको वशमें करनेके कारण आप आप उनके स्वामी हैं अतः करणनायक कहलाते हैं। अथवा करण नाम अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंका भी है, आप इनके प्रवर्तक हैं, इसलिए भी करणनायक कहलाते हैं (१९)।

निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्यतिर्मुनिः । महर्षिः साधुधौरेयो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७५॥
महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती । महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादमः ॥७६॥
निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वजः । ब्रह्मयोनिः स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित् ॥७७॥

निर्ग्रन्थानां चतुर्विधमुनीनां नाथः । योगिनां ध्यानिनामिन्द्रः स्वामी । 'रिषी ऋषी गतौ' ऋषति गच्छति बुद्धिऋद्धि च (औ) षधर्द्धि विक्रियर्द्धि प्राप्नोतीति ऋषिः । "हनाम्युपधा कि" । साधयति रत्नत्रयमिति, कृ वा पा जिमिस्वदि साध्य शू दृषमि जनि चरि चटिभ्य उण् । यतते यत्नं करोति रत्नत्रये, सर्वधातुभ्य इ । मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचरं जगदिति मुनिः "मन्यते किरत उच्च" । महांश्चासौ ऋषिः ऋद्धिसम्पन्नः । साधूनां रत्नत्रयसाधकानां धुरि नियुक्तः, स्त्र्यश्वादेरेयण् । यतीनां निःकषायाणां नाथः स्वामी । मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीश्वरः ॥७५॥ महांश्चासौ मुनिः । प्रत्यक्षज्ञानी । मुनिषु ज्ञानिषु भवं मौनं । मौनं विद्यते यस्य स मौनी महांश्चासौ मौनी महामौनी । वर्षसहस्रपर्यन्तं खल्वादिनाथो न धर्ममुपदिदेश, ईदृशः स्वामी महामौनी भण्यते । ध्यानं धर्म्यशुक्लध्यानद्वयं विद्यते यस्य स ध्यानी महांश्चासौ ध्यानी च महाध्यानी । व्रतानि प्राणातिपातपरिहारानृतवचनपरित्यागाचौर्यब्रह्मचर्याकिंचन्यरजनीभोजनपरिहारलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स व्रती । महान् इन्द्रादीनां पूज्यो व्रती महाव्रती । महती अनन्यसाधारणा क्षमा प्रशमो यस्य । महान्ति अष्टादशसहस्रगणनानि शीलानि व्रतरक्षणोपाया यस्य स । महांश्चासौ शान्तो

अर्थ—शीलेश्वर, आप निर्ग्रन्थनाथ हैं, योगीन्द्र हैं, ऋषि हैं साधु हैं, यति हैं मुनि हैं, महर्षि हैं साधुधौरेय हैं यतिनाथ हैं मुनीश्वर हैं, महामुनि हैं महामौनी हैं महाध्यानी हैं महाव्रती हैं महाक्षम हैं महाशील हैं महाशान्त हैं महादम हैं, निर्लेप हैं निर्भ्रमस्वान्त हैं धर्माध्यक्ष हैं दयाध्वज हैं ब्रह्मयोनि हैं स्वयंबुद्ध हैं, ब्रह्मज्ञ हैं और ब्रह्मतत्त्ववित् हैं ॥७५-७७॥

व्याख्या—हे निर्ग्रन्थेश, निर्ग्रन्थ अर्थात् अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहसे रहित ऐसे ऋषि यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके अथवा पुलाक बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पांच प्रकारके निर्ग्रन्थोंके आप नाथ हैं इसलिए निर्ग्रन्थनाथ कहलाते हैं (२०)। योगको धारण करनेवाले ऐसे ध्यानी पुरुषको योगी कहते हैं उनमें आप इन्द्रके समान प्रभावशाली हैं अतः योगीन्द्र कहलाते हैं (२१)। बुद्धि विक्रिया औषधि आदि सर्व ऋद्धियोंको प्राप्त करनेसे आप ऋषि कहलाते हैं। अथवा सर्व क्लेशराशियोंका आपने रेषण अर्थात् निरोधरूप संवरण कर दिया है इसलिए भी आप ऋषि कहलाते हैं (२२)। रत्नत्रयका सिद्ध करनेके कारण साधु हैं (२३)। पूर्ण रत्नत्रय धर्ममें अथवा मोक्ष प्राप्तिमें सदा यत्नशील हैं अतः यति हैं। अथवा घातिकर्मरूप पापोंका नाश कर चुकने पर भी अघाति-कर्मरूप अवशिष्ट पापोंके नाश करनेके लिए भी सतत प्रयत्न करते हैं, इसलिए भी यति कहलाते हैं (२४)। मन धातु जाननेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। आप प्रत्यक्ष ज्ञानसे चराचर जगत्का जानते हैं इसलिए मुनि कहलाते हैं (२५)। ऋद्धि-सम्पन्न ऋषियोंमें आप महान् हैं, अतः महर्षि कहलाते हैं (२६)। रत्नत्रयकी साधना करनेवालेको साधु कहते हैं, आप उनमें धौरेय अर्थात् अग्रसर हैं अतः साधुधौरेय कहलाते हैं (२७)। कषायोंके नाश करनेमें उद्यत साधुओंको यति कहते हैं। आप उनके नाथ हैं अतः यतिनाथ कहलाते हैं (२८)। आप मुनियोंके ईश्वर हैं अतः मुनीश्वर हैं (२९)। मनियोंमें महान हैं, अतः महामुनि कहलाते हैं। (३०)। मौन धारण करनेवालोंमें महान् होनेसे आप महामौनी कहलाते हैं। भगवान् आदिनाथने एक हजार वर्षपर्यन्त मौन धारण किया था (३१)। शुक्लध्यान नामक महाध्यानके ध्याता होनेसे महाध्यानी कहलाते हैं (३२)। महान् व्रतोंके धारण करनेसे महाव्रती हैं। अथवा इन्द्रादिकोंसे पूज्य महान् व्रती हैं इसलिए भी महाव्रती कहलाते हैं (३३)। दूसरोंमें नहीं पाई जानेवाली ऐसी महाक्षमाके धारण करनेके कारण महाक्षम कहलाते हैं (३४)। शील अर्थात् ब्रह्मचर्यके महान् १८००० अठारह हजार भेदोंके धारण करनेसे महाशील कहलाते हैं (३५)। राग-द्वेष-रूप कषाय

पूतात्मा स्नातको दान्तो भदन्तो वीतमत्सरः । धर्मवृक्षायुधोऽक्षोभ्यः प्रपूतात्माऽमृतोद्भवः ॥७८॥
मंत्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतंत्रो ब्रह्मसंभवः । सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥७९॥

रागद्वेषरहितः । महान् दमस्तपःक्लेशसहिष्णुता यस्य स तथोक्त ॥७६॥ निर्गतो निर्नष्टो लेप पापं कर्ममल-कलंको यस्य । निर्भ्रमं भ्रमे भ्रान्तिरहितं स्वान्तं मनो यस्य स तथोक्त । संशय विभ्रमरहितः तत्त्वप्रकाशक इत्यर्थः । धर्मे चारित्रे अध्यक्ष अधिकृत अधिकारी नियोगवान् नियुक्तो न कमपि धर्मविध्वंसं कर्तुं ददाति । दया ध्वजा पताका यस्य । अथवा दयाया अध्वनि मार्गे जायते योगिनां प्रत्यक्षो भवतीति । अथवा दया ध्वजा लाञ्छन यस्य स तथोक्तः । ब्रह्मणस्तपसो ज्ञानस्यात्मनो मोक्षस्य चारित्रस्य वा योनि उत्पत्तिस्थान । स्वयं आत्मना गुरुमन्तरेण बुद्धो निर्वेद प्राप्त । ब्रह्माणमात्मानं ज्ञानं तपश्चारित्रं मोक्षं च जानातीति । ब्रह्मणो मोक्षस्य ज्ञानस्य तपसश्चारित्रस्य च तत्त्वं स्वरूपं हृदय मर्म वेत्तीति जानातीति ॥७७॥

पूत पवित्र कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य । स्नात कर्ममलकलंकरहित द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरहितत्वात् । पूत प्रक्षालित क आत्मा यस्य स तथोक्त । उक्तं च—

पुलाक सर्वशास्त्रज्ञो बकुशो भव्यबोधक । कुशीले स्तोकचारित्र निर्ग्रन्थो ग्रन्थाहारक ।

और संकल्प-विकल्पसे रहित होनेके कारण महाशान्त कहलाते हैं। अथवा कर्ममल-कलंकसे रहित हैं, इसलिए भी महाशान्त कहलाते हैं। अथवा 'श' नाम सुखका और अन्त नाम धर्मका है। आत्मस्वभावको धर्म कहते हैं। आपका आत्मस्वभाव महान् सुखस्वरूप है इसलिए भी महा-शान्त कहलाते हैं। अथवा आपने परिग्रहकी तृष्णारूप महा आशाका अन्त कर दिया है, इस प्रकारकी निरुक्तिके अनुसार भी आप महाशान्त सिद्ध होते हैं (३६)। कषायोंके दमन और कष्टोंके सहन करनेको दम कहते हैं। आपने प्रचंड परीषह और घोर उपसर्गोंको भी बड़ी शान्तिके साथ सहन किया है, अत महादमके नामसे पुकारे जाते हैं। अथवा द शब्द दान, पालन, दया आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आप त्रैलोक्यके प्राणियोंको अभय दान देकर उनका पालन करते हैं, इसलिए भी आप महादम अर्थात महान् दाता हैं (३७)। कर्ममलकलंक रूप लेपसे आप रहित हैं अतः निर्लेप हैं (३८)। आपका स्वान्त अर्थात् चित्त संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप भ्रमसे रहित है, अतः निर्भ्रमस्वान्त हैं (३९)। रत्नत्रयरूप धर्मका अधिकारपूर्वक प्रचार करते हैं, इसलिए धर्माध्यक्ष कहलाते हैं। अथवा धर्म-प्रचार और संरक्षणरूप आधि अर्थात् मानसिक चिन्तवनमें आपका अक्ष अर्थात् आत्मा निरत है इसलिए भी आप धर्माध्यक्ष कहाते हैं (४०)। दयारूप ध्वजाके धारण करनेसे दयाध्वज कहलाते हैं। अथवा दयाके अध्व अर्थात् मार्गमें जो चलते हैं ऐसे योगियोंको दयाध्व कहते हैं उनके हृदयमें आप जन्म लेते हैं, अर्थात् उन्हे ही प्रत्यक्ष होते हैं, अन्यको आपका साक्षात्कार नहीं होता इसलिए भी आप दयाध्वज कहलाते हैं (४१)। ब्रह्मशब्द आत्मा, ज्ञान, मोक्ष और चारित्रका वाचक है। आप इन सबकी योनि अर्थात् उत्पत्तिके आधार हैं, इसलिए साधुजन आपको ब्रह्मयोनि कहते हैं (४२)। बिना किसी गुरुके स्वयं ही बोधको प्राप्त हुए हैं, इसलिए स्वयंबुद्ध हैं (४३)। ब्रह्म अर्थात् ज्ञान, तप, चारित्र और आत्माको जानते हैं इसलिए ब्रह्मज्ञ हैं (४४)। ब्रह्मके तत्त्व अर्थात् स्वरूप, रहस्य, हृदय या मर्मको जानते हैं, इसलिए ब्रह्मतत्त्ववित् कहलाते हैं (४५)।

अर्थ—हे पतित-पावन, आप पूतात्मा हैं, स्नातक हैं, दान्त हैं, भदन्त हैं, वीतमत्सर हैं, धर्म-वृक्षायुध हैं, अक्षोभ्य हैं, प्रपूतात्मा हैं, अमृतोद्भव हैं, मंत्रमूर्ति हैं, स्वसौम्यात्मा हैं, स्वतंत्र हैं, ब्रह्मसंभव हैं, सुप्रसन्न हैं, गुणाम्भोधि हैं और पुण्यापुण्यनिरोधक हैं ॥७८-७९॥

व्याख्या—पूत अर्थात् कर्ममलकलंकसे रहित पवित्र आपका आत्मा है, अतः आप पूतात्मा हैं (४६)। स्नात अर्थात् द्रव्य, भाव और नोकर्मरूप लेपसे रहित हो जानेके कारण आप

स्नातकः केवलज्ञानी शेषाः सर्वे तपोधनाः । दान्तः तपःक्लेशसहः । अथवा दो दानं अभयदानं अन्तः स्वभावो यस्य स दान्तः । भदन्तः इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रादीनां पूज्यपर्यायत्वाद्भदन्तः । वीतो विनष्टो मत्सरः परेषां शुभकर्मद्वेषो यस्य (स तथोक्तः) अजेर्वी । धर्म एव वृक्षः स्वर्गमोक्षफलदायकत्वात्, स एवायुधं प्रहरणं कर्मशत्रुनिपातनात् । धर्मवृक्ष आयुधं यस्य स तथोक्तः । न क्षोभयितुं चारित्राच्चालयितुं शक्यः । अथवा अक्षणा केवलज्ञानेन उभ्यते प्रर्यते अक्षोभ्यः । प्रकर्षेण पूतः पवित्र आत्मा यस्य स तथोक्तः । अथवा प्रपुनाति प्रकर्षेण पवित्रयति भव्यजीवान् प्रपूः पवित्रकारकः सिद्धपरमेष्ठी । तस्य ता लक्ष्मी अनन्तचतुष्टयं तया उपलक्षित आत्मा स्वभावो यस्य स प्रपूतात्मा सिद्धस्वरूप इत्यर्थः । अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र तत् अमृतं मोक्षः तस्य उद्भवः उत्पत्तिर्भव्यानां यस्मादसावमृतोद्भवः ॥७८॥ मन्त्रः सप्ताक्षरो मन्त्रः स एव मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य । स्वेनात्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सौम्योऽक्रूर आत्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः । न पराधीनः स्व आत्मा तन्त्रं शरीरं यस्य । ब्रह्मणः आत्मनश्चारित्रस्य ज्ञानस्य मोक्षस्य च संभव उत्पत्तिर्यस्मात्स तथोक्तः । सुष्ठु अतिशयेन प्रसन्नः प्रहसितवदनः स्वर्गमोक्षवरदायको वा । गुणानां

लित है 'क' अर्थात आत्मा जिनकी ऐसे आप हैं अतः स्नातक कहलाते हैं (४७) । तपश्चरणके महाकष्टको सहन करते हैं अतः दान्त कहलाते हैं । अथवा द अर्थात् अभयदान देना ही आपका अन्त अर्थात स्वभाव है (४८) । आपकी आर्हन्त्य अवस्था इन्द्र चन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्र आदिकोंके द्वारा पूज्य है, अतः आप भदन्त कहलाते हैं (४९) । आप मत्सरभावसे सर्वथा रहित हैं, अतः वीतमत्सर हैं (५०) । आपका धर्मरूपी वृक्ष भव्यजीवोंके स्वर्ग-मोक्षरूपी फल प्रदान करता है और वह धर्मवृक्ष ही आपका आयुध है कर्मरूप शत्रुओंको मारनेके लिए शस्त्रका कार्य करता है, अतः आप धर्मवृक्षायुध कहलाते हैं (५१) । आप किसी भी बाहिरी या भीतरी शत्रुसे क्षोभित नहीं किये जा सकते हैं इसलिए अक्षोभ्य कहलाते हैं । अथवा अक्ष अर्थात् केवलज्ञानसे आपका आत्मा परिपूर्ण है इसलिए अक्षोभ्य कहे जाते हैं (५२) । आपका आत्मा प्रकर्षरूपसे पवित्र है, इसलिए आप प्रपूतात्मा हैं अथवा जो भव्यजीवोंका प्रकर्षरूपसे पवित्र करते हैं ऐसे सिद्धोंको 'प्रपू' कहते हैं उनकी ता अर्थात् अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे आपका आत्मा उपलक्षित है, अतः आप प्रपूतात्मा कहलाते हैं (५३) । जहां पर मरण नहीं है, ऐसे मोक्षधामको अमृत कहते हैं, उसका उद्भव अर्थात उत्पत्ति भव्यजीवोंको आपके निमित्तसे होती है अतः आपको अमृतोद्भव कहते हैं । अथवा मृत नाम मरणका है और उद्भव नाम उत्पत्ति अर्थात् जन्मका है । आपके अब जन्म और मरण दोनोंका ही अभाव है अतः अमृतोद्भव नाम भी आपका सार्थक है (५४) । 'णमो अरहंताणं' इन सात अक्षरोंको मन्त्र कहते हैं यही आपकी मूर्ति है दूसरी कोई मूर्ति नहीं है अतः आप मंत्रमूर्त्ति कहे जाते हैं अथवा मन्त्र नाम स्तुतिका है । स्तुतिकारोंको ही आपकी अलक्ष्य मूर्तिका साक्षात्कार होता है इसलिए भी आप मंत्रमूर्त्ति कहलाते हैं । अथवा ब्राह्मण वेदके चालीस अध्यायोंको मंत्र कहते हैं । किन्तु वे मंत्र पशुयज्ञादि उपदेश देनेसे पापरूप हैं, निर्दयताके प्ररूपक हैं, अतः उन्हें हिंसा-विधायक होनेसे मूर्तित्व अर्थात कठिन या कठोर आपने बतलाया है (५५) । परोपदेशके विना स्वयमेव ही आपका आत्मा अत्यन्त सौम्य है दयालु-स्वभाव है, अतः आप स्वसौम्यात्मा हैं (५६) । तन्त्र शब्द करण, शास्त्र परिच्छद, औषधि, कुटुम्ब, प्रधान, सिद्धान्त आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आपका आत्मा ही उन सब अर्थोंमें व्याप्त है, अर्थात आप ही शास्त्रस्वरूप हैं, औषधिरूप हैं, इत्यादि । अतएव आप स्वतंत्र हैं (५७) । ब्रह्म शब्द आत्मा, ज्ञान चारित्र आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आपसे ज्ञान, चारित्र, मोक्ष आदिकी संभव अर्थात् उत्पत्ति हुई है अतएव आप ब्रह्मसंभव कहलाते हैं (५८) । आप सदा अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं और भक्तोंको स्वर्ग-मोक्षके दाता हैं, अतएव सुप्रसन्न कहलाते हैं (५९) । अनन्त ज्ञान, दर्शन,

सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लवः । महोदर्को महोपायो जगदेकपितामहः ॥८०॥
महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशांकुशः शुचिः । अरिंजयः सदायोगः सदाभोगः सदाधृतिः ॥८१॥

अनन्तकेवलज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य-अनन्तसौख्य-सम्यक्त्व-अस्तित्व वस्तुत्व-प्रमाणत्व प्रमेयत्व-चैतन्या दीनां अनन्तगुणानां अम्भोधिः समुद्र । पुण्यापुण्ययोर्निरोधको निषेधकारकः ॥७९॥

सुष्ठु अतिशयेन संवृणोति स्म अतिशयविशिष्टसंवरयुक्त इत्यर्थः । सुष्ठु अतिशयेन गुप्तः आस्रव विशेषाणामगम्य आत्मा टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव आत्मा जीवो यस्य । सिद्धो हस्तप्राप्तिमायात आत्मा जीवो यस्य । निर्गतो निर्नष्टो मूलादुन्मूलित समूलकार्षं कषित उपप्लव उत्पात उपसर्गो यस्य स तथोक्त, तपोविघ्नरहित षडूर्मिदूर । महान् सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षण अनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणश्च उदर्कः उत्तरफलं यस्य । महान् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रतपोलक्षण उपायो मोक्षस्य यस्य स तथोक्त । जगतामधोमध्योर्ध्वलोक स्थितभव्यलोकानामेकोऽद्वितीय पितामह जनकजनको हितकारकत्वात् ॥८० ॥ करुणायां सर्वजीवदयायां नियुक्त कारुणिक । महाश्चासौ कारुणिको महाकारुणिक , सर्वदैव मरणनिषेधक इत्यर्थ । गुणेषु पूर्वोक्तेषु चतुर शीतिलक्षसंख्येषु नियुक्त साधुर्वा । महान् तप संयमपरीषहसहनादिलक्षणो योऽसौ क्लेश कृच्छ्रं स एवांकुश श्रेणिर्मत्तमनोगजेन्द्रन्मार्गनिषेधकारकत्वात् । (शुचि) परमपवित्र । अरीन् अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहमहाशत्रून् जयति निर्मूलकाषं कषतीति । सदा सर्वकाल योगो आसंसारमलब्धलाभलक्षणं परमशुक्लध्यान यस्य । सदा सर्व कालं भोगो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मैकलोलीभावलक्षणपरमानन्दामृतरसास्वादस्वभावो भोगो यस्य । सदा सर्वकालं धृति सन्तोषो यस्य ॥८१॥

सुख वीर्यादि गुणोके अम्भोधि अर्थात समुद्र हैं अत गुणाम्भोधि कहलाते हैं (६०) । पुण्यरूप शुभकर्म और अपुण्यरूप पापकर्मोंका आपने निरोध कर पूर्ण संवरको प्राप्त किया है अतएव आप पुण्यापुण्यनिरोधक कहलाते हैं (६१) ।

अर्थ—हे करुणासागर आप सुसंवृत हैं सुगुप्तात्मा हैं, सिद्धात्मा हैं निरुपप्लव हैं महो दर्क हैं महोपाय हैं जगदेकपितामह हैं, महाकारुणिक हैं गुण्य हैं, महाक्लेशांकुश हैं शुचि हैं, अरिंजय हैं सदायोग हैं सदाभोग हैं और सदाधृति हैं ॥८०–८१॥

व्याख्या—आपका आत्मा पूर्णरूपसे संवर को प्राप्त हो चुका है अत आप सुसंवृत हैं (६२) । आपका आत्मा सुगुप्त अर्थात् सर्व प्रकारसे सुरक्षित है, किसी भी प्रकारके आस्रवके गम्य नहीं है, अत आप सुगुप्तात्मा हैं (६३) । आपको आत्मा सिद्ध हो गया है अथवा आपका आत्मा सर्व कर्मोंसे रहित सिद्धस्वरूप है, अतः आप सिद्धात्मा हैं (६४) । उपप्लव अर्थात् उत्पात उपसर्ग उपद्रव आदिसे आप सर्वथा रहित हैं, अत निरुपप्लव कहलाते हैं । अथवा भूख, प्यास, शोक,मोहन, जन्म और मृत्यु इन छह ऊर्मियोंका भी उपप्लव कहते हैं । आप उनसे रहित शुद्ध शिवस्वरूप हैं (६५) । सर्व कर्म-विप्रमोक्षलक्षण और अनन्त केवलज्ञानादि स्वरूप महान् उदर्क अर्थात् उत्तरफल को प्राप्त हैं अत महोदर्क कहलाते हैं (६६) । सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप मोक्षके महान् उपाय के प्राप्त कर लेनेसे आप महोपाय कहलाते हैं (६७) । सर्व जगत्के एकमात्र पितामह अर्थात् परम हितैषी हैं अत जगदेकपितामह हैं (६८) । महान् दयालु स्वभाव होनेसे महाकारुणिक कहलाते हैं (६९) । चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे युक्त हैं, अतः गुण्य कहलाते हैं (७०) । महान् क्लेशरूप शत्रुओं को जीतनेके लिए अंकुशके समान हैं अतः महाक्लेशांकुश हैं (७१) । आप जन्मकालसे ही मल-मूत्र से रहित हैं, अन्तरंग-बहिरंग सर्व प्रकारके पापोंसे निर्लिप्त हैं, परम ब्रह्मचर्यसे युक्त हैं और निज शुद्ध-बुद्धैकस्वभावरूप परम पवित्र तीर्थमें निर्मल भावनारूप जलसे आपका अन्तःकरण अति पवित्र है, अतः आप शुचि कहलाते हैं (७२) । महान् मोहरूप अरिको जीतनेके कारण आप अरिंजय कहलाते हैं (७३) । सदा ही शुक्लध्यानरूप योगसे युक्त हैं, अतः सदायोग कहलाते हैं (७४) ।

परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशी शान्तनायकः । अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्तिरधर्मधक् ॥८२॥

परम उत्कृष्ट उदासिता, उदास्ते इत्येवंशील उदासिता, तृन् । उत्कृष्टोदासीन शत्रु मित्र तृण कांचन मध्यस्थपरिणाम इत्यर्थ । न आशा न भुक्तवान् अनाश्वान्, क्वसुकानौ परोक्षावच्च, घोषवत्योश्च कृति नेट् । अनाश्वान् अनाश्वासौ अनाश्वासः इत्यादि रूपाणि भवन्ति, अनाशुषा अनाशुड्भ्यामित्यादि च । सत्सु भव्यजीवेषु योग्या सत्या सत्सु नियोज्या सत्या सद्भ्यो हिता वा सत्या । सत्या सफला वा आशी अक्षयदान मस्तु इत्यादिरूपा आशीराशीर्वादो यस्य स तथोक्त । शान्तानां रागद्वेषमोहरहितानां नायक स्वामी । वा मोक्षनगरप्रापको वा शान्ताऽक्रूर स चासौ नायक स्वामी वा शस्य सुखस्य अन्तो विनाशो यस्मादसौ शान्त संसारस्तस्य न आय आगमन यस्य स शान्तनायक । न आट् नपादिति नस्य स्थिति । (विद्या मंत्रौषधि लक्षणा विद्यते यस्य स वैद्य । स वैद्यो लोकाना व्याधिचिकित्सन किमपि फलमभिलषति तेन स वैद्य सर्वेषा मपि सपूर्वो दृष्ट श्रुतश्च विद्यते ।) भगवास्तु सर्वेषा जन्मप्रभृत्यपि व्याधिताना प्राणिना नाममात्रणापि व्याधि विनाश करोति कुष्ठिनामपि शरीर सुवर्णशलाकासदृश विदधाति जन्म जरा मरण च मूलादुन्मूलयति तेन भगवान् अपूर्वश्चासौ वैद्य अपूर्ववैद्य । योग धर्म्य शुक्लध्यानद्वयं जानात्यनुभवतीति । धर्मस्य चारित्रस्य मूर्त्तिराक धर्मस्याहिंसालक्षणस्य मूर्त्ति । अधम हिंसादिलक्षणं पापं स्वस्य परेषा च दहात भस्मीकरोतीति अधर्मधक् ॥८२॥

सर्वदा निज शुद्ध-बुद्धैकस्वभावी परमानन्दामृत-रसास्वादनरूप भोगको प्राप्त हैं अत सदाभोग कहलाते हैं (७५) सदाही धृति अर्थात् परम धैर्यरूप सन्तोषको धारण करते हैं अत महाधृति कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे निरीह, आप परमौदासिता हैं अनाश्वान् हैं सत्याशी हैं शान्तनायक हैं अपूर्व वैद्य हैं योगज्ञ हैं धर्ममूर्त्ति हैं और अधर्मधक् हैं ॥८२॥

व्याख्या—आप शत्रु और मित्रमें परम उदासीनरूपसे अवस्थित रहते हैं, अत परमौदासिता कहलाते हैं (७७) । आप अशन अर्थात कवलाहारसे रहित हैं अत अनाश्वान कहलाते हैं । अथवा आप शाश्वत कल्याणके मार्गमें आरूढ हैं और समस्त शत्रुओंके विश्वासपात्र हैं इसलिए भी अनाश्वान कहलाते हैं (७८) । आपका अभयदानरूप आशीर्वाद सदा सत्य और सफल ही होता है अत आप सत्याशी कहलाते हैं (७९) । जिनके राग द्वेष मोहादि शान्त हो गये हैं ऐसे साधुओं के आप नायक हैं अथवा भव्योंको परम शान्तिरूप मोक्षनगरको प्राप्त करते हैं अत शान्तनायक कहलाते हैं अथवा श अर्थात सुखका अन्त करनेवाले संसारका आय अर्थात् आगमन आपके नहीं हैं पुनरागमनसे आप रहित हो चुके हैं इसलिए भी आप शान्तनायक कहलाते हैं (८०) । आप जैसा वैद्य आज तक न किसीने देखा है और न सुना है अत आप अपूर्ववैद्य हैं । अर्थात् आपका नाम लेने मात्रसे ही रोगियोंके बड़े-बड़े रोग दूर हो जाते हैं, कोढ़ियोंके कुष्ठ-गलित शरीर भी सुवर्ण सदृश चमकने लगते हैं और जिन जन्म जरा मरणादि व्याधियोंका अन्य किसी वैद्यने इलाज नहीं कर पाया है उन्हें आपने सर्वथा सर्वदा के लिए दूर कर दिया है अत आपको योगिजन अपूर्ववैद्य कहते हैं (८१) । धर्म और शुक्लध्यानरूप योगके आप ज्ञाता हैं अथवा कर्मास्रवके कारणभूत मन वचन कायरूप शुभाशुभ योगके आप जानने वाले हैं आप ही बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हैं और मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हैं इसलिए योगज्ञ कहलाते हैं (८२) । अहिंसालक्षण या रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी आप साक्षात् मूर्त्ति हैं । अथवा धर्मशब्द न्याय, आचार, कर्त्तव्य उपमा, स्वभाव दान आदि अनेक अर्थोंका भी वाचक है । आप न्याय कर्त्तव्य आदिके मूर्त्तिमान् रूप हैं इसलिए भी धर्ममूर्त्ति कहलाते हैं (८३) । अधर्म अर्थात् हिंसादिलक्षण पापके दहन करनेवाले हैं इसलिए अधर्मधक् कहलाते हैं (८४) ।

ब्रह्मेड् महाब्रह्मपतिः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥
सूरिः सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमयः शमी । प्रक्षीणबन्धो निर्द्वन्द्वः परमर्षिरनन्तगः ॥८४॥
इति योगिशतम् ।

ब्रह्मणो ज्ञानस्य वृत्तस्य मोक्षस्य च ईट् स्वामी । ब्रह्मणां मतिज्ञानादीनां चतुर्णां उपरि वर्तमानं पंचमं केवलज्ञानं महाब्रह्मोच्यते तस्य पति स्वामी । कृत कृत्य आत्मकार्यं येन स तथोक्त । कृतो विहित क्रतुर्यज्ञ शक्रादिभिर्यस्य स तथोक्त । गुणानां केवलज्ञानादीनां वा चतुरशीतिलक्षाणा आकर उत्पत्तिस्थानं गुणाकरः । गुणान् क्रोधादीन् उच्छेदयतीत्येवंशील । अगुणोच्छेदी इति पाठे अगुणान् दोषान् छिनत्ति इति । चक्षुषो मेषोन्मेषरहित दिव्यचक्षुरित्यर्थ । लोचनस्पन्दरहित इति यावत् । निर्गतो निर्नष्ट आश्रयो गृह यस्य वा निर्निश्चित आश्रयो निर्वाणपद यस्य ॥८३॥ सुते बुद्धिं सूरि । भू सू अदिभ्य क्रि । ये स्याच्छब्दोपलक्षितास्ते सुनयास्तेषां तत्त्व मर्म जानातीति सुनयतत्त्वज्ञ । महती चासौ मैत्री महामैत्री सर्वजीवजीवनबुद्धि तया निर्वृत्त । शमः सर्वकर्मक्षयो विद्यते यस्य । समी इति पाठे सम समतापरिणामो विद्यते यस्य । प्रकर्षेण क्षीणा क्षय गतो बन्धो यस्य । निर्गत द्वन्द्व कलहो यस्य । परमश्चासौ ऋषि केवलज्ञानर्द्धिसहित । अनन्त केवलज्ञान गच्छति प्राप्नोतीति ॥८४॥
इति योगिशतम् ।

अर्थ—हे स्वामिन् आप ब्रह्मेट् हैं महाब्रह्मपति हैं कृतकृत्य हैं कृतक्रतु हैं गुणाकर हैं गुणोच्छेदी हैं निर्निमेष हैं निराश्रय हैं, सूरि हैं, सुनयतत्त्वज्ञ हैं, महामैत्रीमय हैं शमी हैं प्रक्षीणबन्ध हैं, निर्द्वन्द्व हैं परमर्षि हैं और अनन्तग हैं ॥८३–८४॥

व्याख्या—ब्रह्म अर्थात् आत्मा ज्ञान चारित्र और मोक्षके आप ईश्वर हैं अत ब्रह्मेट् कहलाते हैं (८५)। ब्रह्म नाम ज्ञानका है, सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ केवलज्ञानको महाब्रह्म कहते हैं, आप उसके पति हैं अत महाब्रह्मपति हैं। अथवा महाब्रह्मा नाम सिद्धपरमेष्ठी का है दीक्षाके अवसरमें आप उन्हें नमस्कार करते हैं अत वे आपके स्वामी हैं इस अपेक्षा भी आप महाब्रह्मपति कहलाते हैं (८६)। करनेके योग्य कार्योंको आपने कर लिया है अतः आप कृतकृत्य कहलाते हैं (८७)। आपका क्रतु अर्थात पूजन इन्द्रादिकोंने किया है इसलिए आप कृतक्रतु हैं। अथवा भव्योंके द्वारा की गई आपकी पूजा सदा सफल ही होती है कभी भी निष्फल नहीं जाती उन्हें स्वर्ग और मोक्षको देती है इसलिए भी आप कृतक्रतु कहलाते हैं। अथवा आपने कर्मोंको भस्म करनेरूप यज्ञ समाप्त कर लिया है इससे भी कृतक्रतु नाम आपका सार्थक है (८८)। आप छयालीस मूल गुणोंके अथवा चौरासी लाख उत्तर गुणोंके अथवा ज्ञानादि आत्मिक अनन्त गुणोंके आकर अर्थात् खानि हैं अत गुणाकर कहलाते हैं (८९)। क्रोधादि विभावगुणोंके उच्छेद करनेसे गुणोच्छेदी कहलाते हैं। अथवा अगुणोच्छेदी पाठके स्वीकार करनेपर अगुण अर्थात दोषोंके आप उच्छेदक हैं इसलिए अगुणोच्छेदी नाम भी आपका सार्थक है (९०)। निमेष अर्थात् नेत्रोंके उन्मीलन निमीलनरूप टिमकारसे आप रहित हैं, अत निर्निमेष हैं (९१)। आपका आश्रय अर्थात् सांसारिक निवास नष्ट हो चुका है और निर्वाणरूप निश्चित आश्रयको आपने प्राप्त कर लिया है, अत आप दोनोंही अपेक्षाओंसे निराश्रय सिद्ध होते हैं (९२)। आप भव्योंके जगत् उद्धारक बुद्धिको सूते अर्थात उत्पन्न करते हैं इसलिए योगिजन आपको सूरि कहते हैं (९३)। स्यात्पदसे संयुक्त नयोंको सुनय कहते हैं। उन नयोंके आप तत्त्व अर्थात् रहस्य या मर्मको जानते हैं इसलिए सुनयतत्त्वज्ञ हैं (९४)। आप महा मित्रतासे युक्त हैं, सर्व जीवोंके सदा हितैषी हैं, अत महामैत्रीमय कहलाते हैं (९५)। सर्व कर्मोंका क्षय करनेसे शमी कहलाते हैं। समी इस पाठके माननेपर आप समता भावसे युक्त हैं, अत समी कहलाते हैं (९६)। आपने सर्व कर्मबन्धोंको प्रक्षीण कर दिया है, अत प्रक्षीणबन्ध हैं (९७)। आप द्वन्द्व अर्थात् कलह-दुविधासे रहित हैं, अत निर्द्वन्द्व कहलाते हैं (९८)। केवलज्ञानरूप परम ऋद्धिसे युक्त हैं अतः परमर्षि कहलाते हैं (९९)। अनन्त केवलज्ञानको प्राप्त किया है, अथवा अनन्त संसारसे परे गमन किया है, अथवा अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता हैं, इसलिए आप अनन्तग कहलाते (१००)।

इस प्रकार चतुर्थ योगिशतक समाप्त हुआ।

अथ निर्वाणशतम्

निर्वाण सागर प्राज्ञमहासाधुरुदाहृत । विमलाभोऽथ शुद्धाभ श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥

निर्वाति स्म निर्वाण , सुखीभूत अनन्तसुख प्राप्त । निर्वाणो वा ते इति साधु । वा निर्गता—बाणा शरा कन्दर्पबाणा यस्मादिति । वा निर्गता बाणा सामान्यशरास्तदुपलक्षणं सर्वाशुधानां निर्वाण । वा वने नियुक्तो वान निश्चितो वानो निर्वाण । यतो भगवान् नि क्रान्त सन् वनवासी एव भवति, जिनकल्पित्वात् न तु स्थविरकल्पिवत् वसत्यादौ तिष्ठति । सा लक्ष्मीगल कण्ठे यस्य स सागर , अभ्युदय नि श्रेयसलक्ष्मीसमालिंगितत्वात् । वा निःक्रमणकल्याणावसरे सा रा ज्यलक्ष्मीर्गर विषसदृशी अरोचमानत्वात् । दक्ष कुशलो हितश्च साधुरुच्यते । महाश्चासौ साधुर्महासाधु । विमला कर्ममलकलंकरहिता आभा शोभा यस्येति । शुद्धा शुक्ला आभा दीप्तिर्यस्य स तथोक्त । शुक्ललेश्यो वा । श्रिय बाह्या समवसरणलक्षणोपलक्षिता अभ्यन्तरां केवलज्ञानादिलक्षणा धरतीति । दानं दत्त दत्तयोगाद् भगवानपि दत्त वांछितफलप्रदायक इत्यर्थ ॥८५॥

अर्थ—हे भगवन् आप निर्वाण हैं सागर है महासाधु हैं विमलाभ है शुद्धाभ हैं श्रीधर हैं और दत्त हैं ॥८५॥

व्याख्या—हे भगवन् आप कामके बाणोंसे अथवा आकुलताके कारणभूत सर्व प्रकारकी शल्योंसे रहित हैं अत निर्वाण हैं। अथवा निर्वाण अर्थात अनन्त सुखको प्राप्त कर लेनेसे आप निर्वाण कहलाते हैं। अथवा वनमें वसनेवाले को वान कहते हैं। जिसका वनमें बसना सर्वथा निश्चित है उसे निर्वाण कहा जाता है। भगवान् भी घर छोड़नेके पश्चात जिनकल्पी होकर वनमें ही वास करते है (१)। सा नाम लक्ष्मीका है और गर नाम गला या कंठका है। भगवान्के गलेमे अभ्युदय नि श्रेयसरूप लक्ष्मी आलिंगन करती है अत आप सागर है। अथवा गर नाम विषका भी है। आप दीक्षाके अवसरमे राज्यलक्ष्मीको विषके सदृश हय जानकर छोड़ देते हैं इसलिए भी सागर कहलाते हैं। अथवा गर अर्थात् विषके साथ जो वतमान हो उसे सगर कहते हैं इस निरुक्तिके अनुसार सगर नाम धरणेन्द्रका है। उसके आप साकल्पिक पुत्र है अत आप सागर कहलाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् बाल्यावस्थामें सिंहासन पर बैठत हैं तब धरणेन्द्र उन्हे अपनी गोदमे लेकर बैठता है और सौधर्मेन्द्र सिंहासनके नीचे बठकर उनके चरण-कमलोकी सेवा करता है। अथवा सा अर्थात् लक्ष्मीसे उपलक्षित अग अर्थात गिरिराज सुमेरुको साग कहते हैं क्योंकि वह जन्मकल्याणकके समय भारी लक्ष्मीस सम्पन्न होता है। उस लक्ष्मी सम्पन्न सुमेरुको आप जन्माभिषेकके समय राति अथात् स्वीकार करत हैं इसलिए भी आपका सागर यह नाम साथक है। अथवा सा अथात लक्ष्मी जिनकी गत या नष्ट हो चुकी है ऐस दरिद्री जनोको साग कहत हैं उन्हें आप रायति अर्थात धन ग्रहण करनेके लिए आह्वानन करते हैं और उनका दारिद्य-दु ख दूर करत हैं इसलिए भी आप सागर कहलात हैं (२)। दक्ष कुशल या हितषीको साधु कहत हैं। आप महान् कुशल हैं अत महासाधु हैं। अथवा तीथकर जैसा महान् पद पा करके भी आप मुक्तिके देनेवाले रत्नत्रयकी साधना करते हैं इसलिए भी योगिजन आपको महासाधु कहते हैं ( )। कर्ममलकलंकस रहित विमल आत्माको धारण करनेसे आप विमलाभ कहलाते हैं। अथवा विशिष्ट मा अर्थात केवलज्ञानरूप लक्ष्मीका लाभ आपको हुआ है इसलिए भी आपका विमलाभ नाम साथक है। अथवा राहु केतु आदि ग्रहोंके उपरागसे रहित विमल और कोटि सूर्य-चन्द्रकी आभाको भी तिरस्कृत करनेवाले ऐसे भामंडलको आप धारण करत हैं इसलिए भी आप विमलाभ कहलात हैं (४)। कर्ममलकलंकसे रहित शुद्ध अभा अर्थात् चैतन्य ज्योतिको धारण करनेस आप शुद्धाभ कहलाते हैं। अथवा शुद्ध अर्थात् शुक्ललेश्यारूप आपकी आभा है इसलिए भी आप शुद्धाभ हैं (५)। बाह्य समवसरण-

अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्नि: संयमश्च शिवस्तथा । पुष्पांजलि: शिवगणश्च उत्साहो ज्ञानसंज्ञक ॥८६॥
परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधर । कृष्णो ज्ञानमति शुद्धमति श्रीभद्र शान्तयुक् ॥८७॥
वृषभस्तद्वदजित संभवश्चाभिनन्दन । सुमिमि सुमति पद्मप्रभ प्रोक्त सुपार्श्वक ॥८८॥

अविद्यमाना मलस्य पापस्य आभा लेशो यस्य । अथवा न विद्यते मा लक्ष्मीर्येषा ते अमा , दीन दु स्थित दरिद्रास्तेषा लाभो धनप्राप्तिर्यस्मादसौ अमलाभ । उत् ऊर्ध्वस्थाने धरति स्थापयति भव्यजीवानिति । अंगति ऊर्ध्व गच्छति त्रैलोक्याग्रं व्रजति ऊर्ध्व व्रज्यास्वभावत्वात् अग्नि अगिशुषियुषिदिभ्यो नि । सम्यक् प्रकारो यमो यावज्जीवव्रतो यस्य । शिव परमकल्याण तद्योगात् पचकल्याणप्रापकत्वात् शिव । पुष्पवत् कमलवत् अञ्जलि इन्द्रादीनां करसंपुटो यं प्रति स पुष्पांजलि । शिव श्रेयस्करो गणो निर्ग्रन्थादिद्वादश भेद संघो यस्य । सहनं सह भावे घञ् । उत्कृष्ट साह सहनं परीषहादिक्षमता उत्साह । ज्ञानं जानाति विश्व इति ज्ञान । कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च कर्त्तरि युट् । वा ज्ञान् पण्डितान् अनति जीवति ज्ञान । अत्रान्तर्भूत इन्प्रत्यय ॥८६॥ परमश्चासौ ईश्वर स्वामी । विमल कर्ममलकलंकरहितो व्रतेष्वनतिचारो वा विमल स चासावीश । यश पुण्यगुणकीर्तनं धरतीति । कर्षति मूलादुन्मूलयति निर्मूलकाष कषति घातिकर्मणां घात करोतीति । ज्ञान केवलज्ञान मतिर्ज्ञान यस्य । शुद्धा कर्ममलकलंकरहिता मति सकलविमलकेवलज्ञान यस्य । श्रिया अभ्युदय नि श्रेयसलक्षणया लक्ष्म्या भद्रो मनोहर । शाम्यति स्म शान्त रागद्वेषरहित इत्यर्थ ॥८७॥ वृषेणाहिंसालक्षणोपलक्षितेन धर्मेण भाति शोभते । न केनापि काम क्रोधादिना शत्रुणा जित अजित । सं

रूप और अन्तरंग अनन्त ज्ञानादिरूप श्री को धारण करनेसे श्रीधर' यह नाम भी आपका साथक है । अथवा श्री स उपलक्षित धरा अर्थात् समवसरणभूमि आपके हैं इसलिए भी आप श्रीधर हैं । अथवा श्रीके आप धर अर्थात् निवासभूमि हैं (६) । भक्तोंको वांछित फलके दाता होनसे आप दत्त कहलात हैं । अथवा आप अपनी ही आत्माको ध्यानमें देते हैं अर्थात् लगाते हैं इसलिए भी दत्त कहलाते हैं (७) ।

अर्थ—हे परमेश्वर आप अमलाभ हैं, उद्धर हैं अग्नि हैं, संयम हैं, शिव हैं पुष्पाजलि हैं, शिवगण हैं उत्साह हैं, ज्ञानसंज्ञक हैं, परमेश्वर हैं विमलेश हैं, यशोधर हैं, कृष्ण हैं, ज्ञानमति है शुद्धमति हैं श्रीभद्र हैं, शान्त हैं वृषभ हैं अजित हैं संभव हैं, अभिनन्दन हैं, सुमति हैं पद्मप्रभ हैं और सुपार्श्व हैं ॥८६–८८॥

व्याख्या—हे परम ईश्वर, आपके पापरूप मलकी आभा अर्थात् लेश भी नहीं है इसलिए आप अमलाभ कहलाते हैं । अथवा मा अर्थात् लक्ष्मीसे रहित दीन-दरिद्रियोंको अमा कहते हैं, उन्हें आपके निमित्तसे धनका लाभ होता है, इसलिए भी आप अमलाभ कहलाते हैं । अथवा लक्ष्मीसे रहित निर्ग्रन्थ मुनियोंको अमा कहते हैं । उन मुनियोंको जो अपने संघमें लेते हैं, ऐसे गणधर देवोंको अमल कहते हैं । उन गणधरदेवोंसे आप सब ओरसे भाति' अर्थात् शोभित होते हैं, इसलिए भी आप अमलाभ कहलाते हैं (८) । आप उत् अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें भव्यजीवोंको धरते हैं-स्थापित करते हैं इसलिए आप उद्धर कहलाते हैं । अथवा आप उत् अर्थात् उत्कृष्ट हर हैं पापोंके हरण करनेवाले हैं । अथवा उत्कृष्ट समवसरण-धराको धारण करते हैं । अथवा उत्कृष्ट वेगसे एक समयमें सात राजु लोकको उल्लंघन करके मोक्षमें प्राप्त होते हैं इसलिए भी उद्धर कहलाते हैं (९) । अग्निके समान ऊर्ध्वगमनस्वभावी हैं अथवा कर्मरूप काननके दहनके लिए आप अग्निके समान हैं, अत अग्नि कहलाते हैं (१०) । यम अर्थात् यावज्जीवनरूप व्रतोंको सम्यक् प्रकार धारण करनेसे साधुजन आपको संयम कहते हैं (११) । परम कल्याणरूप होनेसे आप शिव कहलाते हैं । अथवा आप शिवको करनेवाले हैं और स्वयं शिव अर्थात् मोक्षस्वरूप हैं शरीरसे युक्त होने पर भी जीवन्मुक्त हैं इसलिए भी योगीजन आपको शिव कहते हैं (१२) । इन्द्रादिक देव भक्ति-भारसे नम्रीभूत होकर आपके लिए कमल-पुष्पके समान हाथोंकी अंजलि बांधे रहते हैं इसलिए आप पुष्पांजलि कहलाते हैं । अथवा बारह योजन प्रमाण समवसरणभूमिमें विविध कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी वर्षा होनेसे भी हर

समीचीनो भवो जन्म यस्य । शंभव इति पाठे शं सुखं भवति यस्मादिति शंभव, अपूर्वेभ्यि सशायां अच् । अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपाचतिशयेन प्राणिनामानन्दमुत्पादयतीति । शोभना लोकालोकप्रकाशिका मतिः केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता बुद्धिर्यस्य । पद्मवत् रक्तकमलवत् प्रभा वर्णो यस्य । सुष्ठु शोभने पार्श्वे वाम दक्षिणशरीरप्रदेशौ यस्य ॥८८॥

एक व्यक्तिके हस्तम पुष्पोंकी अंजुलि भरी होती है इसलिए भी आपको लोग पुष्पाञ्जलि कहते हैं (१३) । शिव अथात श्रयस्कर द्वादश सभारूप गण या सघके पाये जानेस मुनिजन आपको शिव गण कहते हैं । अथवा शिवको ही आप साररूपसे गिनते हैं और अन्य सर्व वस्तुओंको असार गिनते है इसलिए भी आप शिवगण कहलात हैं (१४) । आप उत्कृष्ट परीषहोंके सहन करनेवाले हैं इसलिए उत्साह कहलात हैं । अथवा उत्कृष्ट सा अथात मोक्षलक्ष्मीका हनन नहीं करते प्रत्युत सेवकोको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करते हैं इसलिए भी आपका उत्साह यह नाम सार्थक है (१५) । जो विश्वको जान उसे ज्ञान कहते हैं । ज्ञान ही आपकी संज्ञा अथात नाम है अतएव आप ज्ञानसंज्ञक कहलात हैं । अथवा ज्ञ अथात् ज्ञानियोको आप जीवन देते हैं अथात ज्ञानियोके आप ही प्राण हैं इस अपेक्षास भी आपका उक्त नाम सार्थक है (१६) । आप परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मीके ईश्वर हैं इसलिए परमेश्वर कहलात हैं । अथवा 'प' अथात परित्राण करनवाली जीवोंके नरकाग्निगतियोमे पतनसे रक्षा करनेवाली रमाके आप स्वामी हैं । अथवा परं अथात् निश्चय रूपस आप अ अर्थात अरहन्त पदको प्राप्त ईश्वर हैं इसलिए भी योगिजन आपको परमेश्वर कहते हैं (१७) । आप विमल अथात कर्ममल-रहित ईश हैं अत विमलेश कहलाते हैं । अथवा वि अर्थात् अघाति कर्मरूप विविध म' यानी मलका लेशमात्र पाये जानेस भी विमलेश यह नाम साथक है (१८) । यशको धारण करनस आप यशोधर कहलाते हैं (१९) । घातिया कर्मोंको जड़मूलस कृश करनेके कारण आपको योगिजन कृष्ण कहते हैं (२) । केवलज्ञानरूप ही आपकी मति है अत आप ज्ञानमति कहलाते हैं (२१) । कर्ममलस रहित शुद्ध मतिको धारण करनेसे साधुजन आपको शुद्धमति कहते हैं (२२) । अभ्युदय और निःश्रेयसरूप श्रीसे आप भद्र अथात् मनोहर हैं इसलिए श्रीभद्र कहलाते हैं (२३) । आपके राग द्वषादि सब विकारभाव शान्त हो चुके हैं इसलिए योगिजन आपको शान्त कहते हैं (२४) । अहिंसालक्षण वृष अथात धर्मस आप भाति' कहिए शोभित हैं, अत वृषभ नामसे आप पुकारे जाते हैं (२५) । काम-क्रोधादि किसी भी शत्रुके द्वारा नहीं जीत जा सकनेसे आप अजित कहलाते हैं (२६) । आपका भव अर्थात् जन्म सं कहिए समीचीन है संसारका हितकारक है । अथवा 'शंभव' ऐसा पाठ मानने पर शं अर्थात सुखको भव कहिए उत्पन्न करनेवाले हैं जगतको सुखके दाता हैं और स्वयं शान्तमूर्त्ति हैं, इसलिए योगिजन आपको सभव या शंभव नामस पुकारते हैं (२७) । अभि अथात् सर्वप्रकारसे आप जीवोको आनन्दके देनवाले हैं, उनके हर्षको बढ़ानेवाले हैं, इसलिए सर्व जगत् आपको अभिनन्दन कहकर अभिनन्दित करता है । अथवा अभी अथात् भयसे रहित निर्भय और शान्तिमय प्रदेश आपके समवसरणमें पाये जाते हैं, इसलिए भी आप अभिनन्दन कहलाते हैं (२८) । शोभन और लोकालोककी प्रकाशक मतिके धारण करनेस आप सुमति नामको सार्थक करते हैं (२९) । पद्म अर्थात् रक्त वर्णके कमलके समान आपके शरीरकी प्रभा है, इसस लोग आपको पद्मप्रभ कहते हैं । अथवा आपके पद् अर्थात् चरणोंमें मा कहिए लक्ष्मी निवास करती है, और उससे आप अत्यन्त प्रभायुक्त हैं, इसलिए भी आपका पद्मप्रभ नाम सार्थक है । अथवा पद्म नामक निधिसे और देव-मनुष्यादिके समूहसे आप प्रकृष्ट शोभायुक्त हैं, इसलिए भी आप पद्मप्रभ कहलाते हैं । अथवा आपके विहारकालमें देवगण आपके चरण-कमलोंके नीचे सुवर्ण कमलोंकी रचना करते हैं, और उनकी प्रभासे आप अत्यन्त शोभित होते हैं, इसलिए भी आप पद्मप्रभ कहलाते हैं (३०) । आपके शरीरके दोनों पार्श्व भाग अत्यन्त सुन्दर हैं, इसलिए आपको साधुजन सुपार्श्व कहते हैं (३१) ।

चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त शीतल श्रेयनाह्वय । वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८९॥
शान्ति कुन्थुररो मल्लि सुव्रतो नमिरप्यत । नेमि पार्श्वो वर्धमानो महावीर सुवीरक ॥९०॥

चन्द्रादपि प्रकृष्टा कोटिचन्द्रसमाना भा प्रभा यस्य । पुष्पवत् कुन्दकुसुमवत् उज्ज्वला दन्ता यस्य । वा भगवान् छद्मस्थावस्थायां यस्मिन् पर्वततटे तपोध्याननिमित्तं तिष्ठति तत्र वनस्पतय तरव मवर्तुपुष्पाणि फलानि च दधति तेन पुष्पदन्त । शीतो मन्दो लोकगतिर्यस्य । वा शीतं लाति सहते छद्मस्थावस्थायां शीतल , तदुपलक्षणा उष्णस्य वर्षाया च त्रिकालयोगवानित्यर्थ । अथवा शीतलः शान्तमूर्ति अक्रूर इत्यर्थ । वा ससारतापनिवारकशीतलवचनरचनायोगाद्भगवान् शीतल उच्यते । वा शी आशीर्वाद तल स्वभावो यस्य । अतिशयेन प्रशस्य श्रेयान् । वासु शक्र , तस्य पूज्य । वा वेन वरुणेन पवनेन, वा इन्द्रादीनां वृन्देन वा वेन गन्धेन, वा आ समन्तात् सुष्ठु अतिशयेन पूज्य । विगतो विनष्टो मल कर्ममल कलंको यस्य । अनन्तं ससार जितवान् । ससारसमुद्रे निमज्जन्त जन्तुमुद्धृत्य इन्द्र-नरेन्द्र मुनीन्द्रवंदिते पदे धरतीति । अर्ति हु सु धृक्षिणी पदमायास्तुभ्यो म ॥८६॥ शाम्यतीति सर्वकर्मक्षय करोतीति शान्ति । तिक्कतौ च संज्ञायामाशिषि सज्ञाया पुल्लिंगे तिक् प्रत्यय । कुथति समीचीन तप क्लेश करोतीति कुन्थु । ऋगतौ धातु भ्वादौ वर्तते तत्र ऋरति गच्छति केवलज्ञानेन लोकालोक जानातीति अर सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था

अर्थ—हे जगत्-श्रेयस्कर, आप चन्द्रप्रभ हैं पुष्पदन्त हैं, शीतल हैं श्रेयान् हैं, वासुपूज्य हैं, विमल हैं अनन्तजित् हैं धर्म हैं शान्ति हैं कुन्थु हैं अर हैं मल्लि हैं सुव्रत हैं नमि हैं नमि हैं पार्श्व हैं वर्धमान हैं महावीर हैं सुवीर हैं ॥८९-९०॥

व्याख्या—हे भगवन् आप चन्द्रमासे भी अधिक प्रकृष्ट अर्थात् कोटि चन्द्रकी आभाके धारक हैं अत चन्द्रप्रभ कहलाते हैं (३२)। कुन्द पुष्पके समान उज्ज्वल दन्त होनेसे लोग आपको पुष्पदन्त कहते हैं। अथवा आप छद्मस्थ-अवस्थामें जिस पर्वतपर ध्यान करते थे उसके सभी वृक्ष फल-फूलोंसे युक्त हो जाते थे इसलिए भी आप पुष्पदन्त कहलाते हैं (३३)। मन्द गमन करनेसे लोग आपको शीतल कहते हैं। अथवा शीत और उपलक्षणसे उष्ण तथा वर्षाकी बाधाओंको छद्मस्थ अवस्थामें आपने बड़ी शान्तिसे सहन किया है। अथवा आप अत्यन्त शान्त मूर्ति हैं। अथवा 'शी शब्द आशीर्वादका वाचक है और तल शब्द स्वभावका वाचक है। आपका स्वभाव सबका आशीर्वाद देनेका है, इसलिए भी आप शीतल कहलाते हैं (३४)। अत्यन्त प्रशंसाके योग्य होनेसे आप श्रेयान् कहलाते हैं (३५)। वासु अर्थात् इन्द्रके द्वारा पूज्य होनेसे आप वासुपूज्य कहे जाते हैं। अथवा व अर्थात् वरुण सुगन्धित पवन और इन्द्रादिकोंके वृन्दसे आप अतिशय करके पूजित हैं इसलिए भी आप वासुपूज्य कहलाते हैं। अथवा 'वा' यह स्त्रीलिंग शब्द ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्याय नमः इस मंत्रका भी वाचक है। आप इस मंत्रके द्वारा योगियोंसे अतिशय करके पूज्य हैं इसलिए भी ज्ञानी पुरुषोंने आपको वासुपूज्य नामसे पुकारा है (३६)। कर्मरूप मलसे रहित होनेके कारण आप विमल कहलाते हैं। अथवा विशिष्ट मा अर्थात् लक्ष्मीवाले इन्द्रादिकोंको आप अपने प्रभावसे लाकर चरणोंमें झुकाते हैं। अथवा लक्ष्मीसे रहित निर्ग्रन्थ मुनियोंको अपने संघमे लेते हैं। अथवा जन्मकालसे ही आप मल-मूत्रसे रहित होते हैं, इसलिए भी आप विमल कहलाते हैं (३७)। आपने अनन्त संसारको जीता है, अथवा केवलज्ञानसे अनन्त अलोकाकाशके पारको प्राप्त किया है, अथवा अनन्त अर्थात् विष्णु और शेषनागको जीता है, इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं (३८)। संसार-समुद्रमें डूबनेवाले प्राणियोंका उद्धार कर आप उन्हें उत्तम सुखमें धरते हैं, अतः धर्म नामसे पुकारे जाते हैं (३९)। सर्व कर्मोंका शमन अर्थात् क्षय करनेसे आप शान्ति कहलाते हैं (४०)। तपश्चरणके क्लेशको शान्ति-पूर्वक सहन करनेसे आप कुन्थु कहलाते हैं (४१)। 'ऋ' धातु गमनार्थक है। आप एक समयमें लोकान्त तक गमन करते हैं, इसलिए अर कहलाते हैं। अथवा सभी गमनार्थ धातुएं ज्ञानार्थक होती

सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ । महापद्मः सूरदेव सुप्रभश्च स्वयंप्रभ ॥६१॥

इति वचनात् । मल मल्ल वा इत्यय धातुर्धारणे वर्तते तेन मल्लति धारयति भव्यजीवान् मोक्षपदे स्थापयतीति मल्ल । शोभनानि व्रतानि यस्य । नम्यते इन्द्र चन्द्र मुनीन्द्रैर्नमि । सर्वधातुभ्य इ । नयति स्वधम नेमि नी दलिभ्या मि । निजभक्तस्य पार्श्वे अदृश्यरूपेण तिष्ठतीति पार्श्व , यत्र कुत्र प्रदेशे स्मृत सन् स्वामी समीप वर्त्येव वर्तते । वर्धते ज्ञानेन वैराग्येन च लक्ष्म्या द्विविधया वर्धमान । वा अव समन्तात् ऋद्ध परमातिशय प्राप्तो मानो ज्ञान पूजा वा यस्य स तथोक्त । अकापो (अवाप्या) रल्लोप । महान् वीर सुभट महावीर मोहमल्लविनाशकात् । सुष्ठु शोभनो वीर ॥६ ॥

सत। समीचीना शाश्वती वा मतिबु द्धि केवलज्ञानं यस्य । मस्य मलस्य पापस्य हतिहनन विध्वंसनं समूलकाष कषण महति । महतौ कर्ममलकलङ्कसुभटनिर्घाटने महान् वीरो महासुभट अनेकमहस्रलक्षभटकोटी भटाना विघटनपटु महतिमहावीर । महती पद्मा लक्ष्मी सर्वलोकावकाशदायिनी समवशरणविभूतिर्यस्य । अथवा महान्ति पद्मानि योजनैकप्रमाणसहस्रपत्रकमलानि सपादद्विशतसंख्यानि यस्य । सूराणा मारभटानां

हैं, आप केवलज्ञानके द्वारा लाक और अलोकको जानते हैं इसलिए भी अर कहलात हैं । अथवा मोक्षार्थी जनाके द्वारा आप अयते अथात् गम्य हैं प्राप्त किये जाते हैं या जाने जाते हैं इसलिए भी अर कहलाते हैं । अथवा जीवोका संसार वास छुड़ानेके लिए आप अर अर्थात् अति शीघ्रता करने वाले हैं । अथवा धमरूप रथकी प्रवृत्तिके कारण चक्रके अर-स्वरूप हैं इसलिए भी अर यह नाम आपका साथक है (४२) । मल्ल धातु धारणार्थक है आप भव्य जीवोका मोक्षपदमे धारण अर्थात् स्थापन करते हैं और स्वयं भक्ति भारावनत देवेन्द्रोंके द्वारा निज शिरपर धारण किये जाते हैं इस लिए मल्लि यह नाम आपका साथक है । अथवा मल्लि नाम मोगरेके फूलका भी है उसकी सुगन्धके समान उत्तम सुगन्धको धारण करनसे भी आप मल्लि कहलाते हैं (४३) । अहिंसादि सुन्दर व्रतोको धारण करनसे आप सुव्रत कहलाते हैं (४४) । इन्द्र, धरणेन्द्रादिके द्वारा आप नित्य नमस्कृत हैं अतः नमि कहलाते हैं (४५) । आप भव्य जीवोंको स्व धम पर ले जाते हैं अत नेमि कहलाते हैं (४६) । निज भक्तके पार्श्व अथात् समीपमे आप अदृश्य-रूपसे रहते हैं इसलिए पार्श्व कहलाते हैं । अथवा पार्श्वनाम वक्र-उपायका है । आप कुटिल काम क्रोधादिके उपाय स्वरूप हैं इसलिए भी पार्श्वनाम आपका साथक है (४७) । आप ज्ञान वैराग्य और अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सदा बढ़ते रहते हैं, इसलिए वर्धमान कहलाते हैं । अथवा आपका मान अथात् ज्ञान और सन्मान परम अतिशयको प्राप्त है इसलिए भी वर्धमान कहलाते हैं (४८) । मोहरूप महान् मल्लके नाश करनसे आप महान् वीर हैं, अत महावीर कहलाते हैं। अथवा महा विशिष्ट इ अर्थात् निःश्रेयसरूप लक्ष्मीको धारण करने और प्रदान करनेके कारण आप महावीर कहलाते हैं (४९) । आप सर्व श्रेष्ठ हैं इसलिए वीर कहलाते हैं । अथवा निज भक्तोको विशिष्ट लक्ष्मी देते हैं इसलिए भी वीर कहलाते हैं (५०) ।

अर्थ—हे जगत् हितंकर आप सन्मति हैं महतिमहावीर हैं, महापद्म हैं सूरदेव हैं सुप्रभ हैं और स्वयंप्रभ हैं ॥६१॥

व्याख्या—समीचीन और शाश्वत मतिके धारण करनेसे आप सन्मति कहलाते हैं (५१) । 'म अर्थात् पापमलके हति कहिये हनन करनेवाले महान् वीर होनेसे महतिमहावीर इस नामसे पुकारे जाते हैं । अथवा कोटि सुभटोंको भी विघटन करनेमें आप समथ हैं, इसलिए भी महतिमहावीर कहलाते हैं (५२) । सर्व लोकको अवकाश देनेवाली बहिरंग समवसरणलक्ष्मीरूप महापद्माके धारण करनेसे और लोकालोकव्यापिनी केवलज्ञानस्वरूपा अन्तरंग महापद्माके धारण करनेसे आप महापद्म कहलाते हैं । अथवा एक योजन प्रमाण महान् आकारवाले और सहस्र दलवाले दो सौ पचीस पद्म अर्थात् कमल आपके विहार कालमें देवगण रचते हैं, उनके सम्बन्धसे आप महापद्म

सर्वायुधो जयदेवो ऽप्युदयदेव । प्रभादेव उदंकश्च प्रश्नकीर्तिर्जयाभिध ॥६२॥
पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विमलेशो विमलप्रभ । बहलो निर्मलश्चित्रगुप्त समाधिगुप्तक. ॥६३॥

सूराणां वा देव सूरदेव परमाराध्य । शूरदेव इति वा पाठे शूराणामिन्द्रियजये सुभटानां देव परमाराध्यः स्वामी शूरदेव । शोभना चन्द्रार्ककोटिसमा नेत्राणां च प्रिया प्रभा द्युतिमण्डल यस्य । स्वय आत्मना प्रभा तेजो महिमा वा यस्य । वा स्वयमात्मना प्रकर्षेण भाति शोभते। उपसर्गे स्वातो ड' ॥६१॥

सर्वाणि ध्यानाध्ययन-संयम तपांसि आयुधानि कर्मशत्रुविध्वंसकानि शस्त्राणि यस्य । जयेनोपलक्षितो देव । चय उपचयश्चयोपचयश्चेति त्रिविध उदय तत्र जन्मान्तरसञ्चित निदानदोषरहित विशिष्ट तीर्थंकर नामोच्चगोत्रादिलक्षणं पुण्यबन्धन चय , स्वर्गादागत्य पुनरपि प्रजापालनादिपुण्योपार्जनमुपचय पुनर्निर्वाण गमन चयापचय । तेन त्रिविधनापि उदयेनोपलक्षितो देव उदयदेव । प्रभा चन्द्रार्ककोटितेजस्तयोपलक्षितो देव सर्वज्ञवीतराग । उत्कृष्टोऽङ्को विरुद कामशत्रु रिति उदंक , मुक्तिकान्तापतिरिति मोहारिविजयीति । प्रश्ने गणधरदेवाद्यनुयोगे सति कीर्ति सशब्दन ध्वनि प्रवृत्तिर्यस्य । जयति मोहारातिं (मभिभवति) शत्रून् जयतीति ॥६२॥ पूर्णा संपूर्णा लोकालोकसर्वतत्त्वप्रकाशिका केवलज्ञान दर्शनलक्षणा बुद्धिर्यस्य । निर्गता

कहलाते हैं । अथवा असंख्य देवी देवताओंका समुदाय आपके साथ रहता है इसलिए भी आप महापद्म कहलाते हैं (५३) । आप सूरवीरोंके देव हैं परम आराध्य हैं, इसलिए सूरदेव कहलाते हैं । शूरदेव ऐसा पाठ मानने पर शूर् अर्थात् इन्द्रिय विजयी वीर पुरुषोंके आप देव अर्थात् स्वामी हैं परम जितेन्द्रिय हैं इसलिए शूरदेव यह नाम भी सार्थक है । अथवा सू से सोम और 'र' से सूर्य, अग्नि और कामका ग्रहण करना चाहिए, आप इन सबके देव हैं । अथवा अतिशय मंत्र-महिमासे युक्त हैं इसलिए भी आपका सूरदेव यह नाम सार्थक है (५४) । कोटि सूर्य और चन्द्र की प्रभाको लज्जित करनेवाली सुन्दर प्रभासे युक्त हैं अत साधुजन आपको सुप्रभ कहते हैं (५५) । स्वयं अर्थात् अपने आप ही आप प्रकृष्टरूपसे शोभित हैं और महा प्रभाको धारण करते हैं, इसलिए आप स्वयंप्रभ कहलाते हैं । अथवा लोकोंका उपकार करनेसे आप स्वयं ही प्रभ अर्थात उत्कृष्ट हैं दूसरा कोई आपसे उत्कृष्ट नहीं है इसलिए भी साधुजन आपको स्वयंप्रभ कहते हैं (५६) ।

अर्थ—हे स्वामिन् आप सर्वायुध हैं जयदेव हैं उदयदेव हैं प्रभादेव हैं उदंक हैं, प्रश्नकीर्त्ति हैं जय हैं, पूर्णबुद्धि हैं निष्कषाय हैं विमलप्रभ हैं बहल हैं निर्मल हैं, चित्रगुप्त हैं और समाधिगुप्त हैं ॥६२–६३॥

व्याख्या—हे भगवन् यद्यपि आप सर्व प्रकारके बाह्य आयुधोंसे रहित हैं तथापि कर्म-शत्रुओंके विध्वस करनेवाले ध्यान अध्ययन संयम और तपरूप सर्व अन्तरंग आयुधोंसे सुसज्जित हैं, इसलिए योगिजन आपको सर्वायुध कहते हैं (५७) । आप सदा जयशील हैं इसलिए जयदेव कहलाते हैं (५८) । उदय तीन प्रकारका होता है चय उपचय और चयोपचय । पूर्वोपार्जित तीर्थंकरप्रकृतिरूप विशिष्ट पुण्यके संचयका चय कहते हैं । वर्तमान भवमें प्रजापालनरूप पुण्यके उपार्जनको उपचय कहते हैं और निर्वाण गमनको चयोपचय कहते हैं । आप इन तीनों प्रकारके उदयसे संयुक्त हैं इसलिए उदयदेव इस नामको सार्थक करते हैं । अथवा आप सदा उदयशील देव हैं, कभी भी आपके प्रभावका क्षय नहीं होता है, इसलिए भी आप उदयदेव कहलाते हैं (५९) । आप कोटि चन्द्र-सूर्यकी प्रभासे युक्त हैं, इसलिए प्रभादेव कहलाते हैं । अथवा आप लोकालोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूप प्रकृष्ट प्रभाको धारण करते हैं इसलिए भी योगिजन आपको प्रभादेव कहते हैं (६०) । आपने जगद्विजयी कामदेवको भी जीता है, इसप्रकारकी उत्कृष्ट अंक अर्थात् विरुदावलीको धारण करनेसे आप उदंक कहलाते हैं । अथवा अंक नाम पाप या अपराधका भी है आप सर्व प्रकारके पापोंको नष्ट कर चुके हैं और सर्व अपराधोंसे रहित हैं, इसलिए भी उदंक

स्वयम्भूश्चापि कंदर्पो जयनाथ इतीरित । श्रीविमलो दिव्यवादोऽनन्तवीरोऽप्युदीरित ॥९४॥

कषाया क्रोध मान-माया लोभा यस्य स तथोक्त । निष्केण सुवर्णेन सदृशी सा सरस्वती कषादिपरीक्षोत्तीर्णा निष्कषा तस्या आय आगमन यस्य स निष्कषाय । अपरपदेऽपि क्वचित्सकारस्य षत्वं । विमला घातिसंघातघाते अतिप्रभा तेजोमडल यस्य । वह स्कन्धदेश लाति ददाति संयमभारोद्धरणे वहल । वा वह वायु लाति गृह्णाति पृष्ठत उपभोगतया । निर्गत मल विण्मूत्रादि यस्य । चित्रवत् आकाशवत् गुप्त अलक्ष्यस्वरूप । सम्यक् समीचीनानि अबाधितानि वा आ समन्तात् धीयन्ते आत्मनि आरोप्यन्ते सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र-तपांसि परलोकपर्यन्त निर्विघ्नन प्रतिपाल्यन्ते उपसर्ग परीषहादिविनिपातेऽपि न त्यज्यन्ते यस्मिन्निति समाधि । उपसर्गे दृढ़ कि । समाधिना गुप्तो रक्षित ससारे पतितु नो दत्त समाधिगुप्त ॥९३॥

स्वयमात्मना गुरुनिरपेक्षतया भवति निर्वेद प्राप्नोति लोकालोकस्वरूप जानातीति । क सुख तस्य दर्पोऽतितीव्रता कदर्प अनन्तसौख्य इत्यर्थ । कमव्यय कुत्साया वर्तते तेनायमर्थ क कुत्सितो दर्पो यस्य मते

नामको सार्थक करते हैं। अथवा अंक नाम आभूषणोंका है, आप सर्व आभरणोसे रहित हैं निर्ग्रन्थ और वीतराग हैं। अथवा अष्ट प्रतिहार्यरूप उत्कृष्ट अक अर्थात् चिह्नासे युक्त हैं इसलिए भी आप उदंक कहलाते हैं (६१)। गणधरादिके प्रश्न करने पर आपकी कीर्त्ति अर्थात् दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति होती है अथवा दूसरोके द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही आपकी कीर्त्ति अर्थात यशका विस्तार होता है इसलिए आप प्रश्नकीर्त्ति कहलाते हैं (६२)। मोहरूप शत्रु पर विजय प्राप्त करनसे आप जय कहलाते हैं (६३)। लोकालोककी प्रकाशक केवलज्ञान दर्शनरूप पूर्ण बुद्धिके धारण करनसे आप पूर्णबुद्धि कहलाते हैं (६४)। सर्व कषायोसे रहित हैं अत निष्कषाय कहलाते हैं। अथवा निष्क अर्थात स्वर्णके सदृश निर्घर्षण छेदन तापादिरूप सर्व प्रकारकी सरस्वती सम्बन्धी परीक्षाओंमे आप उत्तीर्ण हैं प्रथम नम्बर आये हैं इसलिए भी निष्कषाय कहलाते हैं। अथवा निष्ककी सा अर्थात लक्ष्मीके आय अर्थात रत्नवृष्टिके समागमके योगसे भी आप निष्कषाय कहलाते हैं। आपकी माताके मन्दिरमे और आहार-दाताके घर पर आपके आगमनके निमित्तसे रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य होते हैं (६५)। घातिकर्मोंके नष्ट हो जानेसे आप विमल प्रभाके धारक हैं इसलिए विमलप्रभ कहलाते हैं। अथवा मल जिनका नष्ट हो गया है एसे गणधरदेव आदि विम कहलाते हैं उन्हे जो लावे अर्थात आकर्षण करे ऐसी प्रभाके धारण करनेसे भी आप विमलप्रभ कहलाते हैं (६६)। आप अपने वह अर्थात कन्ध पर संयमके भारका धारण करते हैं इसलिए वहल कहलाते हैं। अथवा वहति अर्थात अपने आश्रित जनोको मोक्ष प्राप्त कराते हैं इसलिए भी वहल कहलाते हैं (६७)। आप सर्व प्रकारके मलसे रहित हैं इसलिए निर्मल हैं। अथवा मा अर्थात लक्ष्मी धनादिसे रहित निर्ग्रन्थ मुनियोंको निर्मा कहते हैं। उन्हे आप शिष्य-रूपसे स्वीकार करते हैं इसलिए भी निर्मल कहलाते हैं (६८)। चित्र अर्थात आकाशके समान आप गुप्त हैं अलक्ष्य स्वरूप हैं इसलिए चित्रगुप्त कहलाते हैं। अथवा मुनिजनोको भी आश्चर्य करनेवाली चित्र विचित्र मन वचन कायकी प्रवृत्तियोंको आपने भली भांतिसे गुप्त अर्थात वशमे किया है इसलिए भी आप चित्रगुप्त कहलाते हैं। अथवा त्रैलोक्यके जनोको विस्मय करानेवाले समवसरणके तीन कोटोंसे आप गुप्त अर्थात् सुरक्षित हैं इसलिए भी चित्रगुप्त कहलाते हैं (६९)। रत्नत्रयरूप समाधिसे आप सुरक्षित हैं इसलिए समाधिगुप्त कहलाते हैं। अथवा तृण-कांचन, शत्रु मित्र वन-भवन और सुख दुःखादिमें समान रहनेवाले साधुजनोंका सम कहते हैं। उनसे आप अधिकतया गुप्त अर्थात वेष्टित हैं आपको चारों ओरसे सदा मुनिजन घेरे रहते हैं इसलिए भी आप समाधिगुप्त नामको सार्थक करते हैं (७०)।

अर्थ—हे शम्भो, आप स्वयम्भू हैं, कन्दर्प हैं जयनाथ हैं श्रीविमल हैं, दिव्यवाद हैं, और अनन्तवीर्य कहे जाते हैं ॥९४॥

पुरुदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽव्ययः । पुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्तनः ॥९५॥
विश्वकर्माऽक्षरोऽच्छद्मा विश्वभूर्विश्वनायकः । दिगम्बरो निरातंको निरारेको भवान्तकः ॥९६॥
दृढव्रतो नयोत्तुंगो निष्कलंकोऽकलाधरः । सर्वक्लेशापहोऽक्षय्यः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्षणः ॥९७॥

इति निर्वाणशतम् ।

यस्याग्रे वा स कदर्पः, भगवतो य पुमान् कामादिदर्पं करोति स कुत्सित इत्यर्थः । जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी । सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यखंडे धर्मतीर्थप्रवर्तक इत्यर्थः । विमलः कर्ममलकलंकरहितो भतदीक्षातिचार रहितो वा श्रिया बाह्याभ्यन्तरलक्ष्म्योपलक्षितो विमलः श्रीविमलः । दिव्योऽमानुषो वादो ध्वनिर्यस्य स । वा दिवि भवाः दिव्याश्चतुर्णिकायदेवास्तेषां वा वेदनां संसारसागरपतनदुःखं वा वमनाद् वाति खण्डयति निवारय- तीति । अथवा दिव्यं वं मन्त्रं ददाति पंचत्रिंशदक्षरमंत्रोपदेशक इत्यर्थः । न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य स अनन्तोऽविनश्वरः स चासौ वीर सुभट कर्मशत्रुविनाशकः अनन्तवीर ॥९४॥

पुरुर्महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देव पुरुदेव । शोभनो विधिर्विधाता सृष्टिकर्ता वा शोभनो निरति- चारो विधिश्चारित्रं यस्य वा शोभनो विधि कालो यस्य, वा शोभनो विधिर्दैवं पुण्यं यस्य । प्रज्ञाया बुद्धि विशेषस्य पारं पर्यंतं इत प्राप्त । न व्ययो विनाशो यस्य द्रव्यार्थिकनयेन । पुराणश्चिरंतनः पुरुष आत्मा

व्याख्या—किसी अन्य गुरुकी अपेक्षाके विना ही आप स्वयमेव वैराग्य और बोधिको प्राप्त होते हैं तथा लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, इसलिए स्वयम्भू कहलाते हैं (७१)। क अर्थात् सुखकी अधिकताके कारण आप कन्दर्प कहलाते हैं। अथवा आपके मतमें दर्पको कुत्सित माना गया है। अथवा आपने धर्मोपार्जनके लिए कन्दर्पके सेवनका निषेध किया है इसलिए भी आप कन्दर्प कह- लाते हैं (७२)। आप सर्वदिग्विजयके नाथ हैं, अर्थात् समस्त आर्यावर्त्तमें आपके धर्मचक्रकी अप्रति- हतगतिरूपसे प्रवृत्ति रहती है इसलिए आप जयनाथ कहलाते हैं। अथवा जय अर्थात् संसार-दुःखोंके विनाशके लिए योगिजन आपसे याचना करते हैं। अथवा धर्मोपदेशके समय भव्यजीव 'जय नाथ, जय नाथ' इस प्रकारके नारे लगाते रहते हैं इसलिए भी आप जयनाथ कहलाते हैं (७३)। आप बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्मीसे युक्त होकरके भी विमल अर्थात् कर्ममलसे रहित हैं अतः श्रीविमल नामको सार्थक करते हैं (७४)। आपका वाद अर्थात् वचन दिव्य है, कोई भी उसका युक्ति या आगमसे खंडन नहीं कर सकता है, इसलिए आप दिव्यवाद कहलाते हैं। अथवा आप दिव्यवाद अर्थात् पैंतीस अक्षररूप मंत्रके उपदेशक हैं। अथवा देवोंकी मानसिक वेदनाके आप हरण करने- वाले हैं, इसलिए भी आप दिव्यवाद कहलाते हैं (७५)। आप अन्त अर्थात् विनाशसे रहित वीर हैं, अर्थात् कर्म शत्रुओंके विनाशक हैं। अथवा अनन्त केवलज्ञानरूप विशिष्ट लक्ष्मीके धारक हैं और प्रलय होने पर भी सदा वर्तमान रूपसे ही स्थित रहते हैं, इसलिए अनन्तवीर कहलाते हैं (७६)।

अर्थ—हे जिनेश, आप पुरुदेव हैं, सुविधि हैं, प्रज्ञापारमित हैं, अव्यय हैं, पुराणपुरुष हैं, धर्मसारथि हैं, शिवकीर्तन हैं, विश्वकर्मा हैं, अक्षर हैं, अछद्मा हैं, विश्वभू हैं विश्वनायक हैं दिगम्बर हैं, निरातंक हैं, निरारेक हैं, भवान्तक हैं, दृढ़व्रत हैं, नयोत्तुंग हैं, निष्कलंक हैं अकला- धर हैं, सर्वक्लेशापह हैं, अक्षय्य हैं, क्षान्त हैं और श्रीवृक्षलक्षण हैं ॥९५-९७॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप पुरु अर्थात् महान् देव हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा आराध्य हैं तथा असंख्य देवी-देवताओंके द्वारा सेवित हैं, इसलिए पुरुदेव कहलाते हैं (७७)। आप सुन्दर विधि अर्थात् विधाता हैं, सृष्टिका विधान करनेवाले हैं, तथा निरतिचार सुन्दर विधि अर्थात् चारित्रके धारक हैं, इसलिए सुविधि कहलाते हैं (७८)। प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि-विशेषके पारको प्राप्त हैं, और प्रज्ञाके पारको प्राप्त महर्षियोंके द्वारा मित अर्थात् सम्मानित हैं, तथा प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण-चतुर गणधर देवादिकके द्वारा सम्मानित हैं, इसलिए प्रज्ञापारमित कहलाते हैं (७९)। आपके शुद्ध चैतन्य-

यस्येति। वा पुराणेषु त्रिषष्ठिलक्षणेषु प्रसिद्ध पुरुष। वा पुराणे अनादिकालीने पुरुणि महति स्थाने शेते तिष्ठति। धर्मस्याहिंसालक्षणस्य सारथि प्रवर्त्तकः। शिव श्रेयस्कर शिवं परमकल्याणमिति वचनात्। शिवं परमकल्याणदायक तीर्थकरनामगोत्रकारकं कीर्त्तन स्तुतिर्यस्य ॥६५॥ विश्व कृच्छ्र कष्टमेव कर्म यस्य मते। विश्वेषु देवविशेषेषु त्रयोदशसंख्येषु कर्म सेवा यस्य। वा विश्वस्मिन् जगति कर्म लोकजीवनकर क्रिया यस्य स विश्वकर्मा। कर्म अत्र असि-मषि कृष्यादिक राज्यावस्थाया ज्ञातव्य। न क्षरति स्वभावात् न प्रच्यवते आत्मन्येकलोलीभावत्वात् अक्षर। अक्षर मोक्ष तत्स्वरूपत्वात् क्षीणकर्मत्वादक्षर। न विद्यते छद्म घाति कर्म यस्येति, वा न विद्यते छद्म शाठ्य यस्येति। वा न विद्यते छद्मनी ज्ञान दर्शनावरणद्वय यस्य। विश्वस्मिन् भवति विद्यते अस्त्येव केवलज्ञानापेक्षया। विश्वस्य त्रैलोक्यस्य नायक स्वामी। दिशो अम्बराणि वस्त्राणि

स्वरूपका कभी भी व्यय अर्थात् विनाश न होनेसे आप अव्यय कहलाते हैं (८)। आपका पुरुष अर्थात् आत्मा पुराण है चिरन्तन या अनादिकालीन है इसलिए आप पुराणपुरुष हैं। अथवा आप पुराणोंमें अर्थात् तिरेसठ शलाका-पुरुषोमे प्रधान हैं अथवा पुराण अर्थात महान् स्थान पर विराजमान हैं अथवा पुर अर्थात् परमौदारिक शरीरमे मुक्ति जाने तक 'अनिति' कहिये जीवित रहते हैं अर्थात शरीरमें रहते हुए भी जीवन्मुक्त हैं इसलिए आप पुराणपुरुष कहलाते हैं (८१)। अहिंसा-लक्षण धर्मके आप सारथि अर्थात् चलानेवाले हैं इसलिए योगिजन आपको धर्मसारथि कहते हैं (८२)। आपका कीर्त्तन (स्तवन) शिव अर्थात परम कल्याणरूप है इसलिए आप शिवकीर्त्तन कहलाते हैं। अथवा आपके नामका कीर्त्तन शिव अर्थात मोक्षका करनेवाला है। अथवा शिव अर्थात् रुद्रके द्वारा भी आपका कीर्त्तन अर्थात् गुणगान किया जाता है। अथवा दीक्षाके अवसरमें आप नमः सिद्धेभ्य' कहकर शिव अथात सिद्ध भगवानका कीर्त्तन करते हैं, इसलिए भी आप शिवकीर्त्तन कहलाते हैं (८३)। आपके मतमें कर्म विश्वरूप है, अर्थात् कष्ट देनेवाला ही है इसलिए आप विश्वकर्मा कहलाते हैं। अथवा विश्व अर्थात त्रयोदश संख्यावाले देवविशेषोंमें आपकी सेवारूप कर्म प्रधान है। अथवा विश्व अर्थात् जगतमें लोक-जीवनकारी असि मषि कृषि आदि कर्मोंका आपने राज्य अवस्थामे उपदेश देकर प्रजाका पालन किया है इसलिए भी आप विश्वकर्मा कहलाते हैं (८४)। क्षर नाम विनाशका है। आपके स्वभाव का कभी विनाश नहीं होता है या आप अपने स्वभावसे कभी भी च्युत नहीं होते हैं इसलिए आपको योगिजन अक्षर कहते हैं। अक्षर नाम आत्मा ज्ञान और मोक्षका भी है। आपका आत्मा केवलज्ञानरूप या मोक्षस्वरूप है इसलिए भी आपको अक्षर कहते हैं। अथवा आप 'अर्हं इस एक अक्षरस्वरूप हैं, या परम ब्रह्मरूप हैं परम धर्मस्वरूप हैं तपोमूर्त्ति हैं और आकाश-के समान निर्लेप और अमूर्त्तिक हैं इसलिए भी अक्षर कहलाते हैं। अथवा अक्ष अर्थात केवल ज्ञानरूप ज्योतिको आप अपने भक्तोंके लिए 'राति कहिये देते हैं। अथवा अक्ष अर्थात् इन्द्रिय और मनको आप राति कहिये अपने वशमें करते हैं। अथवा अक्ष नाम व्यवहारका भी है। आप निश्चयनयको आश्रय करके भी लोकमें दान-पूजादिरूप व्यवहार धर्मकी प्रवृत्ति चलाते हैं। अथवा अक्ष नाम द्यूत-क्रीडामें काम आनेवाले पासोंका भी है आप उनके लिए र अर्थात् अग्निके समान हैं अर्थात् द्यूतादिव्यसनोंके दाहक हैं इस प्रकार विभिन्न अर्थोंकी विवक्षासे आपका अक्षर यह नाम सार्थक है। (८५)। छद्म नाम छल-कपटका है आपमें उसका सर्वथा अभाव है, इसलिए आप अछद्मा हैं। अथवा छद्म नाम अल्पज्ञताका भी है, आप अल्पज्ञतासे रहित हैं, सर्वज्ञ हैं। अथवा छद्म शब्द घातिया कर्मोंका भी वाचक है आप उनसे रहित हैं इसलिए भी अछद्मा कहलाते हैं (८६)। आप विश्वके भू अर्थात् स्वामी हैं, विश्वकी वृद्धि अर्थात् सुख-समृद्धिके बढ़ानेवाले हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा विश्वको व्याप्त करनेवाले हैं, और ध्यानके द्वारा ही

यस्य । सद्यःप्राणहरो व्याधिरातंक उच्यते, निर्गतो विनष्ट आतंको रोगो यस्य । निर्गता आरेका तत्त्वविषये शङ्का सन्देहो यस्य । भवस्य संसारस्य अन्तको विनाशको भक्तानां भवान्तक ॥९६॥ दृढ निश्चलं व्रतं दीक्षा यस्य, प्रतिज्ञा वा यस्य । नया नैगमादयस्तैरुत्तुङ्ग उन्नत । निर्गत कलंक अपवादो यस्य । कलां कलन धरतीति कलाधरः, न कलाधर अकलाधर, न केनापि कलयितुं शक्य इत्यर्थ । वा अक दुःखं लाति ददाति अकल संसार त न धरति न स्वीकरोति अकलाधरः, अकल संसारो रोऽधरो नीचो यस्य, वा न कला शरीर धरति अकलाधर चरमशरीर इत्यर्थः । सर्वान् शारीर-मानसागतून् क्लेशान् दुःखानि अपहन्ति । न क्षयितुं शक्यः । क्षमते स्म क्षान्तः सर्वपरीषहादीन् सोढवानित्यर्थः । श्रीवृक्षोऽशोकवृक्षो लक्षणं यस्य ॥९७॥

॥ इति निर्वाणशतम् ॥

जगत्के प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए आप विश्वभू कहलाते हैं (८७)। आप विश्वके नायक हैं, विश्वको स्वधर्म पर चलाते हैं और मिथ्यादृष्टियोंको कभी दिखाई नहीं देते हैं, अर्थात् उन्हें आपके आत्मस्वरूपका कभी साक्षात्कार नहीं होता इसलिए आप विश्वनायक कहलाते हैं (८८)। दिक् अर्थात् दिशाएँ ही आपके अम्बर हैं अर्थात् आप वस्त्रोंको धारण नहीं करते हैं, किन्तु सदा नग्न ही रहते हैं, इसलिए दिगम्बर कहलात हैं (८९)। शीघ्र प्राण-हरण करनेवाली व्याधिको आतंक कहते । आप सब प्रकारके आतंकोंसे रहित हैं इसलिए निरातंक कहलाते हैं (९०)। आप आरेका अर्थात् तत्त्व विषयक शंकासे रहित हैं प्रत्युत दृढ़ निश्चयी हैं इसलिए योगिजन आपको निरारेक कहते हैं (९१)। भव अर्थात संसारका आप अन्त करनेवाले हैं, इसलिए भवान्तक कहलात हैं (९२)। आप दृढ़ व्रती हैं, अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हैं इसलिए दृढव्रत कहलात हैं (९३)। आप वस्तु स्वरूपके प्रतिपादक विभिन्न नयोंके द्वारा उत्तुंग अर्थात् उन्नत हैं और एकान्तवादी नयोंके प्रतिपादनसे सर्वथा रहित हैं इसलिए नयोत्तुङ्ग कहलाते हैं (९४)। आप सर्व प्रकारके कलंक अर्थात् अपवादोंसे रहित हैं इसलिए निष्कलंक कहलाते हैं। जिस प्रकार नारायण, इन्द्र, चन्द्र आदि विभिन्न स्त्रियोंके साथ व्यभिचार करनेसे बदनाम हुए हैं उस प्रकारके सर्व अपवादोंसे आप सर्वथा रहित हैं (९५)। आप छद्मस्थोंके द्वारा आकलन नहीं किये जाते, अर्थात् जान नहीं जाते इसलिए अकलाधर कहलात हैं। अथवा अक अर्थात् दुःखको जो लावे देवे, उसे अकल या संसार कहते हैं। आप उस संसारको धारण नहीं करते हैं, इसलिए भी अकलाधर कहलात हैं। अथवा कला अर्थात् शरीरको या चन्द्रकलाको नहीं धारण करनेके कारण भी आप अकलाधर कहलाते हैं (९६)। शारीरिक, मानसिक आदि सर्व प्रकारके क्लेशोंके अपहनन अर्थात् नाश करनेसे आप सर्वक्लेशापह कहलाते हैं अथवा अपने सर्व भक्तोंके क्लेशोंको दूर करनेके कारण भी आपका यह नाम सार्थक है (९७)। आप अजेयसे भी अजेय शक्तिके द्वारा क्षयको प्राप्त नहीं हो सकते, इसलिए अक्षय्य हैं (९८)। बड़े-बड़े परीषह और उपसर्गोंको आपने अत्यन्त शान्ति और क्षमाभावके साथ सहन किया है इसलिए आप क्षान्त कहलाते हैं (९९)। श्रीवृक्ष अर्थात् अशोकतरु आपका लक्षण अर्थात् चिन्ह है, क्योंकि समवसरणमें अशोक वृक्षके नीचे आप विराजमान रहते हैं और उसे दूरसे ही देखकर भव्यजीव आपको जान लेते हैं, इसलिए आपको श्रीवृक्षलक्षण कहा जाता है (१००)।

इस प्रकार दशम निर्वाणशतक समाप्त हुआ।

(८) अथ ब्रह्मशतम्

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासनः । अब्जभूरात्मभूः स्रष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापतिः ॥९८॥
हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारगः । अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमयः ॥९९॥
विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः । वैकुण्ठः पुंडरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः ॥१००॥

बृहि वृहि वृद्धौ । बृंहति वृद्धिं गच्छन्ति केवलज्ञानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा । बृंहे र्नमन्नच्च इत्यूर्ध्वः इति सूत्रेण मन् प्रत्ययः । चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुखः घातिसंघातघातने सति भगवतस्तादृशपरमौदारिकशरीरनैर्मल्यं भवति यथा प्रतिदिशं मुखं सन्मुखं दृश्यते अयमतिशयः स्वामिनो भवति । दधाति चतुर्गतिषु पततं जीवमुद्धृत्य मोक्षपदे स्थापयतीति । विशेषेण दधाति स्वर्गमोक्षयोः स्थापयति प्रतिपालयति वा । पद्मासने स्थित्वा सदा धर्मोपदेशं करोति भगवान् तेन कमलासनः स उच्यते । वा योजनैकप्रमाणं सहस्रदलकनककमलं आसनं उपवेशनस्थानं विहरतो भगवतो यस्य । अब्जैः कमलैरुपलक्षिता भूमिर्यस्य । वा मातुरुदरे अष्टदलं कमलं निजशक्त्या निधाय तत्कर्णिकायां स्वामी नव मासान् स्थित्वा वृद्धिंगतः । योनिम्

अर्थ—हे परब्रह्म आप ब्रह्मा हैं चतुर्मुख हैं धाता हैं विधाता हैं कमलासन हैं, अब्जभू हैं, आत्मभू हैं, स्रष्टा हैं सुरज्येष्ठ हैं प्रजापति हैं, हिरण्यगर्भ हैं वेदज्ञ हैं वेदांग हैं वेदपारग हैं अज हैं मनु हैं शतानन्द हैं, हंसयान हैं त्रयीमय हैं विष्णु हैं त्रिविक्रम हैं शौरि हैं, श्रीपति हैं पुरुषोत्तम हैं वैकुण्ठ हैं, पुंडरीकाक्ष हैं हृषीकेश हरि हैं और स्वभू हैं* ॥९८-१००॥

व्याख्या—हे परमेश्वर, आपमें केवलज्ञानादि गुण निरंतर वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं, इसलिए आप ब्रह्मा कहलाते हैं (१)। केवलज्ञान होनेपर समवसरणमें आपके चार मुख दिखाई देते हैं इसलिए आप चतुर्मुख कहलाते हैं। अथवा चार अनुयोगरूप मुखोंके द्वारा आप समस्त वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं इसलिए भी आप चतुर्मुख कहलाते हैं। अथवा चार पुरुषार्थरूप मुखोंके द्वारा पदार्थोंका प्रतिपादन करते हैं। अथवा प्रत्यक्ष परोक्ष आगम और अनुमान ये चार प्रमाण ही आपके मुख हैं। अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार मुखोंके द्वारा आप कर्मोंका क्षय करते हैं। इस प्रकार विभिन्न विवक्षाओंसे आपको योगिजन चतुर्मुख कहते हैं (२)। चतुर्गतियोंमें गिरते हुए जीवोंका उद्धार कर आप उन्हें मोक्षपदमें स्थापित करते हैं इसलिए धाता कहलाते हैं (३)। सूक्ष्म-बादर सभी प्रकारके जीवोंकी आप विशेषरूपसे रक्षा करते हैं उन्हें विशिष्ट सुखमें स्थापित करते हैं इसलिए विधाता कहलाते हैं (४)। आप समवसरणमें कमल पर अन्तरीक्ष पद्मासनसे विराजमान रहकर सदा धर्मोपदेश देते हैं इसलिए लोक आपको कमलासन कहते हैं। अथवा विहारके समय देवगण आपके चरणोंके नीचे सुवर्ण कमलोंकी रचना करते हैं इसलिए भी आप कमलासन कहलाते हैं। अथवा दीक्षाके समय आप कमला अर्थात् राज्यलक्ष्मी को 'अस्यति' कहिए त्याग करते हैं, अतः कमलासन कहलाते हैं। अथवा आपके आसनके समीप कमल अर्थात् मृग बैठते हैं, तपश्चरणके समय मृग-सिंहादि परस्पर विरोधी जीव भी अपना वैर भूलकर आपसमें स्नेह करते हुए शान्त और स्नेह भावसे बैठते हैं, इसलिए भी कमलासन कहलाते हैं। अथवा 'क' अर्थात् आत्माके अष्टकर्मरूप मलका आप निर्मूल विनाश करते हैं, इसलिए भी कमलासन यह नाम आपका सार्थक है (५)। जिस स्थान पर आपका जन्म होता है वह सदा कमलोंसे संयुक्त रहता है इसलिए आप अब्जभू, पद्मभू आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं। अथवा माताके उदरमें ही भगवान् पुण्यातिशयसे उत्पन्न हुए नाभिकमल पर नौ मास तक विराजमान रहकर वृद्धिको प्राप्त होते हैं और योनिको नहीं स्पर्श करके ही जन्म

* यद्यपि ब्रह्मासे लेकर त्रयीमय तकके नाम ब्रह्माके और उससे आगेके नाम विष्णुके हैं तथापि ग्रन्थकारने अपनी विद्वत्तासे स्वमतके अनुसार अर्थ करके उन्हें जिनभगवान् पर घटित किया है।

विश्वंभरोऽसुरध्वंसी माधवो बलिबन्धनः । अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रवाः ॥१०१॥
श्रीवत्सलाञ्छनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः । विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१ २॥
श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपाली वृषकेतनः । मृत्युंजयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचनः ॥१ ३॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणा समाहारस्त्रयी त्रय्या निर्वृत्त ॥९९॥ वेवेष्टि केवलज्ञानेन विश्व व्याप्नोतीति । त्रयो विक्रमा सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणां शक्तिसपदो यस्य । वा त्रिषु लोकेषु विशिष्ट क्रम परिपाटी यस्य। शूरस्य सुभटस्य क्षत्रियस्य अपत्य । श्रीणां अभ्युदय नि श्रेयसलक्षणलक्ष्मीना पति । पुरुषेषु त्रिषष्ठिलक्ष णेषु उत्तम । विकुंठा दिक्कुमारीणा प्रश्नामुत्तरदाने विलक्षणा तीर्थंकृन्माता तस्या अपत्य पुमान्। पुंड रीकवत् कमलवत् अक्षिणी लोचने यस्य । वा पु डरीक प्रधानभत अक्ष आत्मा यस्य। हृषीकाणामिन्द्रिया णामीशो वशिता हृषीकेश जितेन्द्रिय इत्यर्थ । हरति पाप हरि ह सर्वधातुभ्य । स्वेन आत्मना भवति वेदितव्यं वेत्ति ॥१ ॥

विश्व त्रैलोक्य बिभर्ति धारयति न नरकादौ पतित ददाति । असुरो मोहो मुनिभिरुच्यते त ध्वंसते इत्येवंशील । वा असून् प्राणिना प्राणान् राति गृह्णाति असुरो यम त ध्वसते मारयति असुरध्वंसी यमस्य यम इत्यर्थ । माया लक्ष्म्या समवशरण केवलज्ञानादिकाया धवो भर्त्ता माधव , राज्यकाले राज्यलक्ष्म्या

आप इस त्रयीसे निवृत्त हैं अर्थात् इन तीनो मय हैं अत त्रयीमय कहलाते है (१९)। केवलज्ञान के द्वारा अपन सारे विश्वको व्याप्त किया है, इसलिए विष्णु कहलाते हैं (२)। रत्नत्रयरूप तीन विक्रम अर्थात शक्तिरूप सम्पदाए आपको प्राप्त हैं अत आप त्रिविक्रम कहलात हैं। अथवा तीनों लोकोंमे आपका विशिष्ट क्रम है अर्थात् सर्वोच्च स्थान है इसलिए भी त्रिविक्रम कहलाते हैं (२१)। सूर-वीर क्षत्रियोकी सन्तति होनसे आप सौरि कहलाते हैं (२२)। अभ्युदय नि श्रयसरूप श्रीके पति होनेसे आप श्रीपति कहलाते हैं (२३)। तिरेसठ शलाका पुरुषोंमें उत्तम होनेसे आपको पुरुषोत्तम कहते है (२४)। आपकी माता दिक्कुमारियोंके गूढ़ प्रश्नोंका उत्तर देनमे विकुंठा अर्थात विचक्षणा हाती है। आप उनके अपत्य अर्थात् पुत्र हैं, इसलिए वैकुंठ कहलाते हैं (२५)। पुंडरीक अर्थात कमलके समान सुन्दर आपके अक्ष अथात नत्र हैं इसलिए आप पुडरीकाक्ष कहलाते हैं। अथवा आपका अक्ष अर्थात् आत्मा पुंडरीक कहिए प्रधानभूत है श्रेष्ठ है (२६)। हृषीक अर्थात इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण आप हृषीकेश कहलाते हैं (२७)। पापोंके हरण करनेसे हरि कहलाते हैं (२८)। स्वयं ही जानने याग्य वस्तु-तत्त्वको जाननेक कारण स्वभू कहलाते हैं (२९)।

अर्थ—हे विश्वेश आप विश्वम्भर हैं,[1] असुरध्वंसी हैं माधव हैं, बलिबन्धन हैं अधोक्षज हैं मधुद्वेषी हैं केशव हैं विष्टरश्रव हैं श्रीवत्सलाञ्छन हैं श्रीमान् हैं अच्युत हैं, नरकान्तक हैं, विश्वक्सेन हैं, चक्रपाणि हैं पद्मनाभ हैं, जनार्दन हैं, श्रीकण्ठ हैं शंकर हैं, शम्भु हैं, कपाली हैं, वृषकेतन हैं, मृत्युंजय हैं विरूपाक्ष हैं, वामदेव हैं और त्रिलोचन हैं ॥१ १–१०३॥

व्याख्या—हे विश्वके ईश आप विश्वका भरण पोषण करते हैं, उसे नरकादि गतियोंके दु:खोंसे बचाते हैं, इसलिए लोक आपको विश्वम्भर कहते हैं (३)। मोहरूप असुरका आपने विध्वंस किया है, इसलिए जगत् आपको असुरध्वंसी कहता है। अथवा असु अर्थात् प्राणोंको जो 'राति' कहिए ग्रहण करे, ऐसे यमको असुर कहते हैं। आपने उस यमराजका भी नाश किया है, कालपर विजय पाई है, अत: आप यमके भी यम हैं, इस अपेक्षासे भी असुरध्वंसी यह आपका नाम सार्थक है (३१)। मा अर्थात् समवसरण और केवलज्ञानादिरूप बहिरंग अन्तरंग लक्ष्मीके

---

१ विश्वम्भरसे लेकर श्रीकण्ठ तक विष्णुके नाम हैं और शंकरसे लेकर आगे हर तकके नाम महादेवके हैं, पर ग्रन्थकारने अर्थके चातुर्यसे उन्हें वीतराग भगवान् पर ही घटाकर यह ध्वनित किया है कि आप ही सच्चे ब्रह्मा विष्णु और महेश हैं, अन्य नहीं।

वा धवः स्वामी । बलिः कर्मबन्धन बोधस्य यस्य मते, वा बलमस्यास्तीति बलिः बलवत्तर त्रैलोक्यक्षोभकारक कारणं बन्धनं तीर्थंकरनामोच्चैर्गोत्रद्वयं यस्य वा बलिर्भागधेयकरस्तस्य बन्धनं षष्ठांश निर्धारणं यस्मात् राज्या वस्थायां स बलिबन्धनः । अधोक्षाणां जितेन्द्रियाणां दिगम्बरमुनीनां जायते ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति, डो लक्षणा मपि प्रत्यय । अक्षजं ज्ञान अधो यस्य स अधोक्षजः, केवलज्ञान सर्वेषां ज्ञानानामुपरि वर्तते इत्यर्थः । मधुशब्देन मद्य सारघ च द्वयमुच्यते, तद्द्वयमपि द्वेष्टि दूषितं कथयति महद् पापमूल ब्रूते इत्येवंशीलः । प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णा केशा मस्तके विद्यन्ते यस्य केशाद्वोऽन्यतरस्यां इत्यनेन सूत्रेण अस्त्यर्थे व प्रत्ययः । विष्टर इव श्रवसी कर्णौ यस्य स तथोक्त । सर्वधातुभ्योऽसुन् । वा विस्तरे सकलश्रुतज्ञाने श्रवसी कर्णौ आकर्णितवती यस्य ॥१०१॥ श्रीवत्सनामा वक्षसि लाञ्छनामावर्तो यस्य । श्रीर्बहिरंगा समवशरणलक्षणा अन्तरंगा केवलज्ञानादिका विद्यते यस्य । न च्यवते स्म स्वरूपादच्युत परमात्मनिष्ठ इत्यर्थः । सप्तनरक भूमिषु पतितु न ददाति तेन नरकस्य अन्तको विनाशक , स्वर्गं मोक्षप्रदायक इत्यर्थ । विष्वक् समन्तात् सेना

धव अर्थात् भर्त्ता या स्वामी होनेसे योगिजन आपको माधव कहते हैं । अथवा राज्यावस्थामें आप राजलक्ष्मीके स्वामी थे । अथवा मा शब्दसे प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणका ग्रहण करना चाहिए । आप इन दानों प्रमाणोंके धव अर्थात प्रणेता हैं उनके प्रयोगमे अति विचक्षण हैं इसलिए भी माधव कहलाते हैं (३२) । बलि अथात् कर्मको आपने बन्धन बतलाया है अतः आप बलिबन्धन कहलाते हैं । अथवा बलवान्को बली कहत हैं । आपने त्रैलोक्यको क्षोभित करनेवाले ऐसे बली तीर्थंकर नामकर्म और विशिष्ट जातिके उच्चगोत्रकर्मका पूर्वभवमें बन्धन किया है इसलिए भी आपका बलिबन्धन नाम सार्थक है । अथवा राजा अपनी प्रजासे जो कर लेता है उसे भी बलि कहते हैं । आपने आयके छठे भागरूपसे उसका बन्धन अर्थात् निर्धारण राज्यावस्थामे किया था, इसलिए भी आप बलिबन्धन कहलाते हैं (३३) । अक्ष अर्थात् इन्द्रियोंको जिन्होंने विजय कर अधः कहिए नीचे डाला है, ऐसे जितेन्द्रिय साधुओंको अधाक्ष कहते हैं । आप ऐसे जितेन्द्रियोंके 'जायते' कहिए ध्यानसे प्रत्यक्ष होत हैं इसलिए अधाक्षज कहलाते हैं । अथवा अतीन्द्रिय केवलज्ञानको प्राप्त कर आपने अक्षज अर्थात् इन्द्रियज्ञानका अधःपात किया है, इसलिए भी आपका अधोक्षज यह नाम सार्थक है (३४) । मधु शब्द मद्य और शहद दानोंका वाचक है आप उस मधुके द्वेषी हैं अर्थात् मद्य और मधुके सेवनका आपने पापका मूल कारण बतलाया है इसलिए आप मधुद्वेषी कहलाते हैं (३५) । आपके मस्तकके केश अत्यन्त स्निग्ध और नीलवर्ण हैं इसलिए आप केशव कहलाते हैं । (तीर्थंकर भगवान्के केश कभी भी श्वेत नहीं होते और मस्तकके सिवाय अन्यत्र उनके बाल नहीं होते ।) अथवा क नाम आत्माका है आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें जो ईश अर्थात् समर्थ होते हैं ऐसे महामुनियोंको केश कहते हैं । उनका व अर्थात् वास आपके ही चरणोंके पास है इसलिए भी आप केशव कहलाते हैं (३६) । आपके विष्टर अर्थात् पीठके समान विस्तीर्ण श्रवस् कहिए कर्ण हैं, इसलिए आप विष्टरश्रवा कहलाते हैं । अथवा विष्टर अर्थात् विस्तीर्ण श्रवस् कहिए अंगबाह्य और अंगप्रविष्टरूप श्रुतज्ञान ही आपके श्रोत्र हैं, इसलिए भी आप विष्टरश्रवा कहलाते हैं (३७) । आपके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स नामका लांछन अर्थात् रोमावर्त है, इसलिए आप श्रीवत्सलांछन कहलाते हैं । अथवा श्रीवत्स नाम लक्ष्मीके पुत्र कामदेवका भी है । आपने अपने सौन्दर्यसे उसे भी लांछित या तिरस्कृत किया है । अथवा श्रीवत्सल अर्थात् लक्ष्मीके स्नेही लोगोंका संसार-वास आंछन कहिए विस्तीर्ण होता जाता है, ऐसा प्रतिपादन करनेके कारण आप श्रीवत्सलांछन कहलाते हैं (३८) । आपके अन्तरंग अनन्त चतुष्टयरूप और बहिरंग समवसरण रूप श्रीके पाये जानेसे आप श्रीमान् कहलाते हैं (३९) । आप अपने स्वरूपसे कभी भी च्युत नहीं होत, इसलिए अच्युत कहलाते हैं (४०) । नरकोंके अन्तक अर्थात् विनाशक होनेसे आप

द्वादशविधो गणो यस्य । चक्र लक्षणं पाणौ यस्य स तथोक्तः । पद्मवत् कमलपुष्पवत् नाभिर्यस्य स पद्मनाभः । "समासान्तगतानां वा राजादीनामदन्तता इत्यधिकारे संज्ञायां नाभि" । अन् प्रत्यय । जनान् जनपदलोकान् अदीति (अर्दति) संबोधनार्थं गच्छति वा जनास्त्रिभुवनस्थितभव्यलोका अर्दना मोक्षयाचना यस्य । अथवा जनान् अर्दयति मोक्षं गमयति जनार्दन । नन्द्यादेर्युः इनंतस्य युप्रत्यय ॥१०२॥ श्रीर्मुक्तिलक्ष्मीः कण्ठे आलिंगनपरा यस्य । शं परमानन्दलक्षणं सुखं करोति । शं परमानन्दलक्षण सुखं भवत्यस्मात् । कान् आत्मनः सर्वजन्तून् पालयतीति । वृषो अहिंसालक्षणो धर्मः केतन ध्वजा यस्य । मृत्युं अन्तकं जयतीति । विरूप रूपरहित सूक्ष्मस्वभावं अक्षि केवलज्ञानलक्षणं लोकालोकप्रकाशक लोचन यस्य । वामो मनोहरो देवः । त्रयाणां स्वर्ग मर्त्य पातालस्थिताना भव्यजीवाना लोचनप्रायः नेत्रस्थानीय त्रिलोचन ॥१०३॥*

नरकान्तक कहलाते हैं । क्योंकि जीवोको सदाचरणके द्वारा उन्हें नरकोमे गिरनसे बचाते हैं (४१) । आपके विष्वक् अर्थात चारों ओर द्वादश सभाओंके जीव ही सेनारूपसे समवसरणमें या विहारकालमें साथ रहते हैं इसलिए आप विष्वक्सेन कहलाते हैं । अथवा विष्वक् अर्थात तीनों लोकोंमे जा सा यानी लक्ष्मी विद्यमान है, उसके आप इन कहिए स्वामी हैं इसलिए भी विष्वक्सेन यह नाम आपका सार्थक है (४२) । आपके पाणि अर्थात् हाथमे चक्रका चिन्ह है इसलिए योगिजन आपको चक्रपाणि कहते हैं । अथवा सेनारूप चक्रको जो पालते हैं ऐसे मंडलेश्वर अर्धचक्री और चक्रवर्ती राजाओंको चक्रप कहते हैं । उनकी आप अणि अर्थात सीमास्वरूप हैं, धर्मचक्रके प्रवर्त्तन करनेसे सर्वशिरोमणि हैं इसलिए भी आप चक्रपाणि कहलाते हैं । अथवा चक्रप अर्थात् सुरेन्द्र नागेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्रादिकों को भी आप अणिति कहिए उपदेश देते हैं इस अपेक्षासे भी आपका चक्रपाणि यह नाम सार्थक है (४३) । पद्म अर्थात् कमल पुष्पके समान आपकी नाभि है, इसलिए आप पद्मनाभ कहलाते हैं (४४) । जन अर्थात् जनपदवासी लागोको अदति कहिए संबोधनके लिए जाते हैं इसलिए आप जनार्दन कहलाते हैं । अथवा त्रिभुवनके भव्यजन दीन होकर आपसे मोक्षमार्गकी अर्दना अर्थात् याचना करते हैं इसलिए भी जनार्दन यह नाम सार्थक है (४५) । श्री अर्थात मुक्तिरूपी लक्ष्मी आपके कंठका आलिंगन करनेके लिए उद्यत है इसलिए आप श्रीकण्ठ कहलाते हैं (४६) । शं अर्थात परमानन्द स्वरूप सुखके करनेसे आप शंकर कहलाते हैं (४७) । शम् अर्थात सुख भव्य जीवोंको आपसे प्राप्त होता है इसलिए आप शम्भु कहलाते हैं (४८) । क अर्थात जीवोंको पालन करनेके कारण आप कपाली कहलाते हैं । अथवा 'क अर्थात् आत्माकी जो पान्ति' कहिए रक्षा करते हैं, ऐसे मुनियोंको 'कप' कहते हैं । उन्हें आप लाति कहिए रत्नत्रयके द्वारा विभूषित करते हैं इससे कपाली कहलाते हैं (४९) । वृष अर्थात अहिंसालक्षण धर्म ही आपकी केतन कहिए ध्वजा है, इसलिए आप वृषकेतन कहलाते हैं (५०) । मृत्युको आपने जीत लिया है, अत आप मृत्युंजय कहलाते हैं (५१) । आपका विरूप अर्थात् रूप-रहित अमूर्त्तिक एवं इन्द्रिय अगोचर केवलज्ञान-रूप अक्ष कहिए नेत्र होनेसे योगिजन आपको विरूपाक्ष कहते हैं । अथवा विशिष्ट रूपशाली एवं त्रिभुवनके चित्तको हरण करनेवाले आपके विशाल नेत्र हैं इसलिए भी आप विरूपाक्ष कहलाते हैं । अथवा विरूप अर्थात् रूपादि-रहित अमूर्त्तिक एवं केवलज्ञान-गम्य आपका अक्ष अर्थात आत्मा है इसलिए भी आपको विरूपाक्ष कहते हैं (५२) । आप वाम अर्थात् मनोहर देव हैं, अति सुन्दराकार हैं, इसलिए वामदेव कहलाते हैं । अथवा वाम अर्थात् कामके शत्रु महादेवके भी आप परमाराध्य देव हैं, इसलिए वामदेव कहलाते हैं । अथवा वाम अर्थात सुन्दर सौधर्मेन्द्रादि देव आपकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, इसलिए भी आप वामदेव कहलाते हैं ।

*इस स्थानपर 'मुनिश्रीविजयचन्द्रेण कर्मक्षयार्थं लिखितम्' इतना और अधिक लिखा हुआ है ।

उमापति: पशुपति: स्मरारिस्त्रिपुरान्तक: । अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्गः सदाशिव: ॥१०४॥
जगत्कर्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हर: । महासेनस्तारकजिद् गणनाथो विनायक: ॥१०५॥
विरोचनो वियद्रत्नं द्वादशात्मा विभावसु: । द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चित्रभानुस्तनूनपात् ॥१०६॥

उमाया कान्तेः कीर्तेश्च पति: स्वामी । पशूनां सुर नर तिरश्चां पति: स्वामी । स्मरस्य कन्दर्पस्य अरि: शत्रु: । तिसृणां पुरां जन्म जरा मरणलक्षणानामयर्थां अन्तको विनाशक: । अर्धं न विद्यन्ते अस्य शत्रवो यस्य सोऽर्धनारि:, घातिसंघातघातन: स चासावीश्वर: स्वामी । कर्मणां रौद्रमूर्त्तित्वात् रुद्र: रोदिति आनन्दाश्रूणि मुंचति आत्मदर्शने सति । रक् प्रत्यय: । भवत्यस्माद्विश्वमिति । भ्रस्जि भृजी भर्जने इत्यस्य धातु

अथवा वा' अर्थात् वन्दनामें 'म' कहिए सूर्य चन्द्र, रुद्र आदि आपके सदा विद्यमान रहते हैं, अतएव आपको वामदेव कहते हैं । अथवा वामा अर्थात् इन्द्राणी, देवियाँ और राजपत्नियाँ आदि सुन्दर स्त्रियोंके आप परम आराध्यदेव हैं, इसलिए भी वामदेव कहलाते हैं (५३) । तीनों लोकोंके लोचनरूप होनेसे आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा जन्मकालसे ही आप मति, श्रुत, अवधिज्ञानरूप तीन नेत्रोंके धारक थे इसलिए भी लोग आपको त्रिलोचन कहते हैं । अथवा तीनों लोकोमे आपके केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप दो लोचन ही वस्तुस्वरूपके दर्शक हैं अन्य नहीं, इसलिए भी आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा मन वचन, काय इन तीनो योगोंका आपने लोचन अर्थात् मुण्डन किया है उन्हे अपने वशमे किया है इसलिए आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा त्रिकरण-शुद्ध होकर आपने अपने केशोंका लुंचन किया है इसलिए भी त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्ररूप तीन रत्नोंको जो लेते हैं ऐसे महामुनियोंको त्रिल कहते हैं । उनका ओचन अर्थात् समुदाय आपके पाया जाता है, इसलिए भी आप त्रिलोचन कहलाते हैं (५४) ।

अर्थ—हे रमेश आप उमापति हैं, पशुपति हैं, स्मरारि हैं, त्रिपुरान्तक हैं अर्धनारीश्वर हैं रुद्र हैं भव हैं भर्ग हैं सदाशिव हैं, जगत्कर्ता हैं अन्धकाराति हैं, अनादिनिधन हैं हर हैं, महासेन[1] हैं तारकाजित हैं गणनाथ हैं विनायक हैं विरोचन[2] हैं वियद्रत्न हैं, द्वादशात्मा हैं, विभावसु हैं, द्विजाराध्य हैं बृहद्भानु हैं और तनूनपात् हैं ॥१०४-१०६॥

व्याख्या—हे लक्ष्मीके आगार आप कान्ति और कीर्तिके पति हैं इसलिए उमेश उमापति आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं (५५) । जो कर्म-बन्धनोंसे बंधे हैं ऐसे संसारी जीवोंको पशु कहते हैं उनके आप छुड़ाने वाले हैं इसलिए पशुपति कहलाते हैं (५६) । स्मर अर्थात् कामदेवके आप अरि हैं इसलिए स्मरारि कहलाते हैं (५७) । जन्म, जरा और मरणरूप तीन पुरोंके आप अन्त करनेवाले हैं इसलिए त्रिपुरान्तक कहलाते हैं । अथवा मोक्ष जानेके समय औदारिक तैजस और कार्मण इन तीन शरीररूप पुरोंका अन्त करनेके कारण भी आप त्रिपुरान्तक कहलाते हैं । अथवा त्रिपुर अर्थात् त्रैलोक्यके अन्तमें आपका 'क' कहिए आत्मा निवास करता है इसलिए भी आप त्रिपुरान्तक कहलाते हैं (५८) । अघाति-कर्मरूप आधे शत्रु आपके नहीं पाये जाते इस प्रकारके ईश्वर होनेसे आप अर्धनारीश्वर कहलाते हैं (५९) । कर्मोंके भस्म करनेके लिए आप रौद्रमूर्त्ति हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं । अथवा आत्म-दर्शन होनेपर आप 'रुदिति' कहिए आनन्दके अश्रु छोड़ते हैं इसलिए भी आप रुद्र कहलाते हैं (६०) । आपसे विश्व उत्पन्न होता है, इसलिए आप भव कहलाते हैं । यद्यपि आप जगत्‌को बनाते नहीं है पर ऐसा ही आपका माहात्म्य है कि जो आपकी निन्दा करते हैं, वे नरक-निगोदादि दुर्गतियोंको प्राप्त होते हैं । जो आपकी स्तुति-प्रशंसा करते हैं, वे स्वर्गको और आपका ध्यान करनेवाले मोक्षको प्राप्त होते हैं । इस अपेक्षा विश्व आपसे उत्पन्न हुआ कहलाता है (६१) । आपने ध्यानके द्वारा काम-क्रोधादिकोंको भस्म किया है, इसलिए भर्ग कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानादि गुणों

१ यहां से विनायक तकके नाम गणेशके हैं । २ यहां से आगे के नाम सूर्यके हैं ।

भौवादिक आत्मनेपदी । भृज्यन्तेऽनेन कामक्रोधादयो ध्यानाग्नौ पच्यन्ते भस्मीक्रियन्ते अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् प्रत्यय । सदा सर्वकाल शिवं परमकल्याण अनन्त सुख वा यस्य ॥१ ४॥ जगता कर्त्ता स्थितिविधायक मर्यादाकारक । वा जगत क सुख इयर्त्ति गच्छति जानातीति । अभ्रश्चक्षूरहित सम्यक्त्वविघातक क काय स्वरूप यस्य स अ धक मोहकर्म तस्य अराति शत्रु मूलादून्मूलक । न विद्येते आदि-निधने उत्पत्ति मरणे यस्य स तथोक्त । अनन्तभवोपार्जितानि अघानि पापानि जीवाना हरति निधकरोतीति । महती द्वादशगणलक्षणा सेना यस्य । राज्यावस्थाया या महती चतु सागरतटनिवासिनी सेना चमूर्यस्य । तारयन्ति ससारसमुद्रस्य पार नयन्ति भव्यजीवान् तारका , गणधरदेवानगारकेवलिसूर्युपाध्यायसर्वसाधव , तान् जितवान् सर्वेषामप्युपरि बभूव तेन

को धारण करनेस भी आपका भर्गनाम साथक है। अथवा भव्यजीवोका पोषण करनेसे भी भर्ग कहलाते हैं (६२)। आपके सदा ही शिव अर्थात परम कल्याण पाया जाता है इसलिए आप सदा-शिव कहलात हैं। अथवा जो रात्रि-दिनका भेद न करके सदा ही भाजन पान करत हैं उन्हे सदाशि कहते हैं। आपके मतानुसार उन्हे सदा व' अर्थात् संसार-समुद्रमे डबना पडेगा इससे भी सदाशिव कहलात हैं (६३)। आप जगतके कर्त्ता अर्थात स्थिति या मर्यादाके विधाता हैं इसलिए जगत्कर्त्ता कहलाते हैं। अथवा जगत्को क' अर्थात् सुख प्राप्त कराते हैं इसलिए भी जगत्कर्त्ता कहलाते हैं (६४)। जगत को अन्धा करनेवाले मोहकर्मको अन्धक कहते हैं उसके आप अराति अर्थात शत्रु हैं, इसलिए अन्धकाराति कहलाते हैं। अथवा गाढ अ धकार-पूर्ण नरक-स्थानको अ धक कहते हैं आप जीवोंको नरकोंमें गिरने नहीं देते अत नरकोंके शत्रु हैं इसलिए भी अ धकाराति कहलाते हैं। अथवा अ धकार पूर्ण कारारूप गृहमेंसे निकाल कर आप जीवोंको मोक्षमें रखत हैं इसलिए भी अ धकाराति कहलाते हैं (६५)। आदि नाम उत्पत्तिका है और निधन नाम मरणका है। आप जन्म और मरणसे रहित हैं इसलिए अनादिनिधन कहलाते हैं (६६)। अन त-भवोपार्जित पापोंके हरण करनेसे आप हर कहलात हैं। अथवा ह' अर्थात हर्षको राति कहिए उत्पन्न करते हैं, इस लिए हर कहलाते हैं। अथवा ह' अर्थात् हिंसाके लिए आप र' कहिए अग्निस्वरूप हैं, क्योंकि हिंसाका सर्वथा निषेध करते हैं इसलिए भी हर कहलाते हैं (६७)। आपके राज्यावस्थामे द्वादशगण लक्षण महा सेना थी, इसलिए आप महासेन कहलाते हैं। अथवा मह अर्थात् पूजाकी अतिशोभा को महासा कहत हैं। आप उस पूजातिशयके इन अर्थात् स्वामी हैं इसलिए भी महासेन कहलाते हैं। अथवा सा नाम लक्ष्मी और सरस्वती का भी है। आप दोनोंके ही महा स्वामी हैं अत महासेन कहलात हैं अथवा समवसरणमें स्थित महान् सिंहासनको महासा कहते हैं। उसके ऊपर स्थित आप इन अर्थात् सूर्यके समान प्रतिभासित होते हैं इसलिए भी आप महासेन कहे जाते हैं (६८)। जो भव्य जीवोंको संसार-समुद्रसे तारते हैं ऐसे गणधरदेवादिको तारक कहते हैं। आपने अपने दिव्य उपदेशके द्वारा उन्हें जीत लिया है इसलिए आप तारकजित् कहलाते हैं। अथवा तार अर्थात उच्च शब्द करनेवाले मेघोंको तारक कहत हैं। आपने अपने गम्भीर तार-रवसे उन्हें जीत लिया है, इसलिए भी आप तारकजित् कहलाते हैं। संस्कृतमें ड ल और र में भेद नहीं होता इस नियमके अनुसार संसारको ताड़ना देनेवाला मोहकम ताड़क कहलाता है। आपने उसे जीत लिया है इसलिए भी आप ताड़कजित या तारकजित कहलाते हैं। अथवा श्मसानमें ताली बजाकर नाचनेवाले रुद्रको तालक कहते हैं। आपने उसे भी जीत लिया है इसलिए तालकजित् या तारकजित् कहलाते हैं। अथवा मोक्ष-पुरके किवाड़ोंपर तालेका काम करनेवाले अन्तराय कर्मको तालक कहते हैं आपने उस अन्तराय कमको भी जीत लिया, इसलिए आप तालकजित् कहलाते हैं (६९)। गण अर्थात् द्वादश भेदरूप संघके आप नाथ हैं, अत गणनाथ कहलाते हैं। अथवा नाथ धातुका ऐश्वर्य और आशीर्वाद देना भी अर्थ है। आप गणको ऐश्वर्य भी प्रदान करते हैं और

तारकविद्गुच्यते । गणस्य द्वादशभेदस्तवस्य नाथ । विशिष्टला गणीन्द्र-सुरेन्द्र-नागेन्द्र विद्याधर चास्त्यादीनां नायक· ॥१०५॥ विशिष्ट रोचन क्षायिकसम्यक्त्वं यस्य । वियत आकाशाद् रत्नं रत्नवृष्टिर्यस्य यस्माद्वा वा वियद्रत्नम् । अथवा वियत आकाशस्य रत्न अन्तरीक्षचारित्वात् । द्वादशानां गणानामात्मा जीवप्रायः । अथवा द्वादश अंगानि आत्मा स्वभावो यस्य । वा द्वादश अनुप्रेक्षा आत्मनि छद्मस्थावस्थायां यस्य । कर्मेन्धनदहन कारित्वात् विभावसुः अग्निरूप । द्विजानां मुनीनामाराध्यः । बृहतः अलोकस्यापि अपर्यन्तकस्यापि व्यापिनो भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । विभा विचित्राः त्रैलोक्यलोकचित्तचमत्कारकारिणी विश्वप्रकाशकत्वात्

आशीर्वाद भी देते हैं, इसलिए भी गणनाथ कहलाते हैं (७०)। आप गणीन्द्र, सुरेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र विद्याधरादि विशिष्ट पुरुषोंके नायक है और स्वयं विगत-नायक हैं अर्थात् आपका कोई दूसरा स्वामी नहीं हैं, आप ही त्रैलोक्यके एकमात्र स्वामी हैं, इसलिए विनायक कहलाते हैं (७१)। आप विशिष्ट रोचन अर्थात् क्षायिकसम्यक्त्वके धारक हैं, अत योगिजन आपको विरोचन कहते हैं। अथवा रोचन शब्द लोचन और दीप्तिका भी वाचक है। आप विशिष्ट दीप्तिके और केवलज्ञानरूप नेत्रके धारक हैं, इसलिए भी आप विरोचन कहलाते हैं। अथवा आभरणके विना ही आप विशेष शोभित होते हैं। अथवा रोचन अर्थात् संसारसे प्रीति आपकी विनष्ट हो चुकी है इत्यादि विभिन्न निरुक्तियोंकी अपेक्षा से भी विरोचन नामको सार्थक करते हैं (७२)। आकाशमें अन्तरीक्ष गमन करनेसे आप वियद्रत्न अर्थात् आकाशके रत्न कहलाते हैं। अथवा आपके कल्याणकोंमें आकाशसे रत्नोंकी वर्षा होती है इसलिए भी लोग आपको वियद्रत्न कहते हैं। अथवा निर्वाण-लाभ करनेपर लोकाकाशके अन्तमें स्थित तनुवातवलयके आप रत्न होंगे अर्थात् वहां विराजमान होंगे, इस अपेक्षासे भी आप वियद्रत्न नामको सार्थक करते हैं (७३)। आप द्वादश गणोंके आत्मा हैं, अर्थात् जीवन-हेतुक प्राणस्वरूप हैं इसलिए द्वादशात्मा कहलाते हैं। अथवा श्रुतज्ञानके द्वादश अंगरूप ही आपका आत्मा है इसलिए भी आप द्वादशात्मा कहलाते हैं। श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमें केवल प्रत्यक्ष-परोक्षकृत भेद माना गया है किन्तु सर्व पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा दोनों समान हैं (७४)। विभावसु शब्द अग्नि, सूर्य चन्द्र, रुद्र आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आप अग्निके समान कर्मोंको भस्म करते हैं, सूर्यके समान मोहरूप अन्धकारको दूर करते हैं, चन्द्रके समान संसारके दुःख-सन्तप्त प्राणियोंको अमृतकी वर्षा करते हैं और रुद्रके समान कर्मोंकी सृष्टिका प्रलय करते हैं, इसलिए उक्त सभी अर्थोंकी अपेक्षा आप विभावसु नामको सार्थक करते हैं। अथवा विभा अर्थात् केवलज्ञानरूप विशिष्ट तेज ही आपका वसु अर्थात् धन है, इसलिए भी आप विभावसु कहलाते हैं। अथवा आपके सान्निध्यमें विश्वा, वसु आदि देवगण प्रभा विहीन हो जाते हैं। अथवा जो विशिष्ट भा अर्थात् तेज पुत्रकी रक्षा करे, उसे विभावा कहते हैं आपको सू अर्थात् प्रसव करनेवाली माता ऐसी ही विभावा है, अत आप विभावसु कहलाते हैं। अथवा राग-द्वेषादि विभाव परिणामोंके आप विनाशक हैं, इस अपेक्षा भी आप विभावसु कहलाते हैं (७५)। मातासे जन्म लेनेके पश्चात् जो सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं, व्रत और चारित्रको पालन करते हैं, ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको द्विज कहते हैं, ऐसे पुरुष भी द्विज कहलाते हैं। आप ऐसे द्विजोंके आराध्य हैं, इसलिए द्विजाराध्य कहलाते हैं। अथवा माताके उदरसे जन्म लेनेके पश्चात् अंडेमें से भी जन्म लेनेके कारण पक्षियों को द्विज कहते हैं। पक्षी तक भी अपनी वाणीसे आपका गुण-गान करके आपकी आराधना करते हैं, इसलिए भी आप द्विजाराध्य कहलाते हैं। अथवा द्विज नाम दांतोंका भी है। योगिजन ध्यानके समय दांतोंके ऊपर दांतोंको करके एकाग्र हो आपकी आराधना करते हैं, इसलिए भी द्विजाराध्य हैं (७६)। जाननेकी अपेक्षा अलोकाकाशके पर्यन्त भाग तक आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी भानु अर्थात् किरणें फैलती हैं, ऐसी बृहद् अर्थात् विशाल किरणोंको धारण करनेसे आप बृहद्भानु कहलाते हैं। अथवा आपका

द्विजराजः सुधाशोचिरौषधीशः कलानिधिः । नक्षत्रनाथः शुभ्रांशुः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१०७॥
लेखर्षभोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः । धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिनन्दनः ॥१०८॥
सिंहिकातनयश्छायानन्दनो बृहतांपतिः । पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०९॥

॥ इति ब्रह्मशतम् ॥

भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । तनूं कायं न पातयति छद्मस्थावस्थायां नियतप्रत्तानुपवासान् कृत्वापि लोकानां मार्गदर्शनार्थं पारणां करोति । अथवा भगवान् मुक्तिंगतो यदा भविष्यति तदा तनो परमौदारिकचरमशरीरात् किंचिदूनशरीराकारं सिद्धपर्यायाकारं भव्यजीवान् प्रतिपातयति ज्ञापयतीति ॥१०६॥

द्विजानां विप्र-क्षत्रिय-वैश्यानां राजा स्वामी । सुधावत् अमृतवत् लोचनं सौख्यदायकं शोची रोचिर्यस्य । औषधीनां जन्म जरा मरणनिवारणभेषजानां सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तपसामधीशः स्वामी औषधीशः

पुण्यरूप भानु अति महान् है, इसलिए बृहद्भानु कहलाते हैं । अथवा आपका केवलज्ञानरूप महान् सूर्य लोक और अलोकको जानता है, इसलिए आप बृहद्भानु कहलाते हैं । अथवा बृहद्भानु नाम अग्निका भी है । आप अग्निके समान पाप-पुञ्जको जलाने वाले हैं इसलिए योगिजन आपको बृहद्भानु कहते हैं (७७) । आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी किरणें चित्र-विचित्र हैं अर्थात् त्रैलोक्यके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाली हैं, क्योंकि वे विश्वकी प्रकाशक है अत आपको साधुजन चित्रभानु कहते हैं । अथवा आपका पुण्यरूप सूय संसारको चित्र अर्थात आश्चर्य उत्पन्न करनवाला है, इसलिए भी आप चित्रभानु कहलाते हैं । अथवा आपका दखकर भानु भी आश्चर्यसे चकित रह जाता है, क्योंकि आप कोटि भानुसे भी अधिक प्रभाका धारण करत हैं (७८) । कैवल्य प्राप्तिके पूर्व तक शरीर का पात आपको अभीष्ट नहीं है, यही कारण है कि आप अतुलबलशाली होने पर भी दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् शरीरकी स्थिति रखने और लोगोको साधु-माग दिखानके लिए पारणा करत हैं । अथवा आप मुक्तिगमनके पश्चात् परमौदारिक चरम शरीरसे किंचिदून शरीराकारवाली सिद्धपर्यायको भव्यजीवोके लिए प्रतिपादन करते हैं, इसलिए आप तनूनपात् कहलात है (७९) ।

अर्थ—हे जिनेश्वर, आप द्विजराज[1] हैं सुधाशोचि हैं, औषधीश हैं कलानिधि हैं, नक्षत्रनाथ हैं, शुभ्रांशु हैं, सोम हैं, कुमुदबान्धव हैं लेखर्षभ हैं अनिल हैं पुण्यजन हैं पुण्यजनेश्वर हैं, धर्मराज हैं, भोगिराज हैं, प्रचेता हैं, भूमिनन्दन हैं सिंहिकातनय हैं, छायानन्दन हैं बृहतांपति हैं, पूर्वदेवोपदेष्टा हैं और द्विजराजसमुद्भव हैं ॥१०७–१०९॥

व्याख्या—हे जिनेश, आप द्विजों अर्थात् व्रतियोके राजा हैं इसलिए द्विजराज कहलाते हैं । अथवा संसारमे केवल दो बार ही जन्म लेनेवाले विजयादि अनुत्तरविमानवासी अहमिन्द्रोंके आप राजा हैं । अथवा जरा अर्थात् वृद्धावस्था बलित और पलितके भेदसे दो प्रकारकी होती है । शरीरमें झुर्रियाँ पड़नेको बलित और केशोंके श्वेत होनेको पलित कहते हैं । आप इन दोनों ही प्रकारकी जराओंसे रहित हैं, अर्थात् जीवन-पर्यन्त आपकी युवावस्था बनी रहती है । अथवा स्त्री और पुरुष इन दोके संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले कामको भी द्विज कहते हैं । उसे जो 'राति' कहिए ग्रहण करते हैं, अर्थात् उसके वशमें हो जाते हैं, ऐसे हरि, हर, ब्रह्माको द्विजर कहते हैं । उनके मतका आप 'अजति' कहिये निराकरण करते हैं, अतएव द्विजराज कहलाते हैं (८०) । आपके ज्ञानकी शोचि अर्थात किरणें सुधाके समान संसारको सुखदायक हैं, अत आप सुधाशोचि कहलाते हैं (८१) । संसारमें रोगोंके निवारण करनेवाली जितनी भी औषधियाँ हैं, उनसे जन्म, जरा और मरणरूप रोग दूर नहीं होता, आप उनके भी निवारण करनेवाली रत्नत्रयरूप औषधिके प्रणेता हैं, अत· औषधीश, औषधीश्वर आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं । अथवा उष अर्थात्

१ यहांसे लेकर कुमुदबान्धव तकके नाम चन्द्रमाके हैं ।

जन्म-जरा मरणनिवारक इत्यर्थः । कलानां द्वासप्ततिकलानां लोके प्रसिद्धानां निधिः निधानभूतः । नक्षत्राणां अश्विन्यादीनां नाथ स्वामी । शुभ्रा उज्ज्वलाः कर्ममलकलंकरहिताः अंशवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । सूते उत्पादयति अमृतं मोक्षं सोम सूयते मेरुमस्तके अभिषिच्यते वा सोम । असिसुधुद्विधीपद्माया स्तुत्यो मः । कुमुदानां भव्यकैरवाणां बान्धवः उपकारकारकः मोक्षप्रापक । अथवा कुत्सिते अश्वमेधादिहिंसा कर्मणि मुद् हर्षो येषां ते कुमुद तेषामबान्धवः तन्मतोच्छेदकः ॥१०७॥ लेखेषु देवेषु ऋषभ श्रेष्ठः । न विद्यते इला भूमिर्यस्य स अनिल त्यक्तराज्यत्वात् ऊर्ध्वान्तरिक्षचारित्वाद्वा, तनुवातवलये निराधारः स्थास्य तीति वा । पुण्याः पवित्राः पापरहिताः जनाः सेवका यस्य, पुण्यजननो वा पुण्यजन । अन्तर्गर्भितार्थमिदं

शरीरके दाह या मारणकी बुद्धिको औषधी कहते हैं। जैसे मृत पतिके साथ चितामें जलना, सती होना, नदी-समुद्रादिमें गिरकर मरना, फाँसी आदि लगाकर मरना इत्यादि उपायोंसे आत्मघात करना। इस प्रकारके आत्मघातको आपने महापाप कहकर 'श्यति' कहिए निराकरण किया है, इसलिए भी आप औषधीश नामको चरितार्थ करते हैं। अथवा तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंके जलानेकी बुद्धिको भी औषधी कहते हैं। उसके द्वारा ही 'शं' कहिए सच्चा सुख प्राप्त होता है इस प्रकारके उपदेशको देनेके कारण भी आप औषधीश नामको सार्थक करते हैं (८२)। आप लोक-प्रसिद्ध बहत्तर कलाओंके निधि अर्थात् भंडार हैं अतः कलानिधि कहलाते हैं। अथवा क अर्थात् आत्मस्वरूपको जो लावे, प्राप्त करावे, ऐसी बारह भावनाओंको कला कहते हैं। आप उनके निधि अर्थात् आश्रयस्थान हैं, इसलिए भी कलानिधि कहलाते हैं (८३)। अश्विनी, भरणी इत्यादि नक्षत्रोंके आप नाथ हैं इसलिए नक्षत्रनाथ कहलाते हैं। अथवा नक्षत्र अर्थात् अन्यायको आपने नाथ कहिए संतापका कारण कहा है। अथवा नक्ष नाम गति अर्थात् ज्ञानका है उसका जो त्राण करते हैं उन्हें नक्षत्र अर्थात् ज्ञानी कहते हैं। उनके आप नाथ हैं अतः आप नक्षत्रनाथ कहलाते हैं (८४)। आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी अंशु अर्थात् किरण अत्यन्त शुभ्र या उज्ज्वल हैं, क्योंकि व कर्ममल-कलंकसे रहित हैं, इसलिए आप शुभ्रांशु कहलाते हैं। अथवा लोकालोकके प्रकाशक शुभ्र अंशु अर्थात् निर्मल आत्मप्रदेशोंको आप धारण करते हैं इसलिए शुभ्रांशु कहलाते हैं। अथवा अंशु नाम शिष्योंका भी है, आपके विविध ज्ञान और ऋद्धियोंके धारक अनेक निर्मल तपस्वी शिष्य विद्यमान हैं, अतः आप शुभ्रांशु नामको सार्थक करते हैं (८५)। आप सूते कहिए अमृत और मोक्षको उत्पन्न करते हैं, इसलिए सोम कहलाते हैं। अथवा 'सूयत' अर्थात् मेरुमस्तक पर देवोंके द्वारा अभिषिक्त होते हैं, इसलिए भी सोम कहलाते हैं। अथवा सा नाम सरस्वती और लक्ष्मीका है, आप इन दोनोंसे उमा अर्थात् युक्त हैं। अथवा उमा नाम कान्तिका भी है, आप उमाके साथ शोभाको प्राप्त होत हैं, इसलिए भी सोम कहलाते हैं (८६)। कुमुद अर्थात् भव्यजीवरूप कमलोंके आप बान्धव हैं, उपकारक हैं उन्हें मोक्षमें पहुँचाते हैं, इसलिए आप कुमुदबान्धव कहलाते हैं। अथवा 'कु' अर्थात् पृथ्वीपर जो मोदको प्राप्त होते हैं, ऐसे इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादिको कुमुद कहते हैं। उनके आप बान्धव हैं। अथवा अश्वमेधादि हिंसा कर्मवाले कुत्सित कार्योंमें जिन्हें हर्ष हो, ऐसे पापी याज्ञिकोंको कुमुद कहत हैं। आप उनके अबान्धव हैं, क्योंकि उनके मतका आप उच्छेद करते हैं (८७)। लेख नाम देवोंका है। आप उनमें ऋषभ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए लेखर्षभ कहलाते हैं (८८)। इला अर्थात् पृथ्वी जिसके पास न हो, उसे अनिल कहते हैं। आपने सर्व राज्यलक्ष्मी, पृथिवी आदिका परित्याग कर दिया है, इसलिए आप भी अनिल कहलाते हैं। अथवा आप गगन-विहारी हैं, पृथ्वीके आधारसे रहित हैं (८९)। पुण्य अर्थात् पवित्र या पापसे रहित जन (मनुष्य) आपके सेवक हैं, इसलिए आप पुण्यजन कहलाते हैं। अथवा भक्तोंको या संसारको पुण्यके जनक

नाम पुण्यं जनयतीति पुण्यजनक इति भाव । पुण्यजनानां पुण्यवत्पुरुषाणामीश्वरः । धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य चारित्रस्य रत्नत्रयस्य उत्तमक्षमादेश्च राजा स्वामी । भोगिनां नागेन्द्रादिदेवाना राजा । अथवा भोगिनां दशांग भोगयुक्ताना चक्रवर्तिना राजा । प्रकृष्ट सर्वेषां तु खदारिद्रनाशनपरं चेतो मनो यस्य । भूमीनां अधोमध्योर्ध्व लक्षणत्रैलोक्यलोकान् नन्दयति समृद्धिदानेन वर्धयतीति ॥१ ८॥ त्रिजगज्जयनशीला सिंहिका तीर्थकरजननी, तस्यास्तनयः पुत्र । राहुवत् पापकर्मसु क्रूरचित्तत्वाद्वा सिंहिकातनय । छाया शोभा नन्दयति वर्धयतीति । अथवा छायाया अशोकतरुच्छायायां त्रैलोक्यलोकं सेवाया मिलितं नन्दयति आनंदित शोकरहित च करोति । बृहता सुरेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्राणा पति । पूर्वदेवानामसुरादीनामुपदेष्टा सक्लेशपरिणामनिषेधक । द्विजानां राज्ञ च समुत् सहर्षः भवो जन्म यस्य ॥१ ६॥

॥ इति ब्रह्मशतम् ॥

अर्थात् उत्पादक हैं इसलिए भी पुण्यजन कहलाते हैं (६०)। आप पुण्यवान् जनोंके ईश्वर हैं, अत पुण्यजनेश्वर हैं (६१)। आप अहिंसा-लक्षण धर्मके रत्नत्रयके या उत्तम क्षमादिरूप दश धर्मोंके राजा हैं इसलिए आप धर्मराज कहलाते हैं। अथवा धमाथ अथात पशुहोमके लिए जो 'र कहिए अग्निको सदा अपन घरमे रखते हैं ऐसे ब्राह्मणोंको धर्मर कहते हैं। उनका आप अजति कहिए निराकरण करते हैं इसलिए लोग आपको धर्मराज कहत हैं (६२)। भोगी अर्थात् नागकुमारोंके आप राजा हैं। अथवा दशांग भोग भोगनेवाले चक्रवर्तियोंके आप राजा हैं इसलिए आपको भोगिराज कहते हैं (६३)। आप सर्व प्राणियोंके दु ख-दारिद्र्य-नाशक प्रकृष्ट चित्तके धारक हैं अत प्रचेता कहलाते हैं। अथवा आपके मनका व्यापार प्रगत अथात् प्रणष्ट हो चुका है यानी आप मनके सब संकल्प-विकल्पोंसे रहित हैं इसलिए भी प्रचेता कहलाते हैं (४६)। तीनो लाकोकी भूमियोको अर्थात् उनपर रहनेवाले प्राणियोको आप आनन्द पहुँचाते हैं इसलिए भूमिनन्दन कहलाते हैं (६५)। सिंहके समान पराक्रमशालिनी और त्रिजगज्जयन शीला आपकी माताको लोग सिंहिका कहत हैं उसके आप पराक्रमी बलशाली तनय अथात् पुत्र है, इसलिए सिंहिकातनय कहलाते हैं। अथवा सिंहिकातनय राहुका भी नाम ह। पापकर्म करनेवाले लोगोंके लिए आप राहुके समान क्रूर हैं (६६)। आप छाया अथात् शोभाको 'नन्दयति कहिए बढ़ाते हैं इसलिए छायानन्दन कहलाते हैं। आपके शुभागमनसे संसार सुख सम्पन्न हो जाता है। अथवा आपकी वन्दनाके लिए आये हुए भव्यप्राणी अशाकवृक्षकी छायामे आकर आनन्दित हो जात हैं और अपना अपना शोक भूल जाते हैं इसलिए भी आप छायानन्दन कहलाते हैं। अथवा छाया शब्द शोभा कान्ति सूयभार्या आदि अनेक अर्थोंका वाचक है आप उन सबके आनन्द-वर्धक हैं (६७)। बृहता अर्थात् सुरेन्द्र, नरेन्द्र मुनीन्द्रादिके आप पति हैं, इसलिए बृहतापति या बृहस्पति कहलाते हैं (६८)। पूर्वदेव अर्थात् असुरादि राक्षसोंके आप उपदेष्टा हैं उनके अशुभ और संक्लश प्रचुर-कर्मोंका निषेध करते हैं, इसलिए पूर्वदेवोपदेष्टा कहलाते हैं। अथवा चतुदश पूर्वधारी गणधर देवोंके भी आप उपदेष्टा हैं (६६)। द्विज और राजाओंको आपके जन्मसे समुद् अर्थात् हर्ष उत्पन्न होता है इसलिए आप द्विजराजसमुद्भव कहलाते हैं। अथवा द्विज अर्थात् मुनियोंमें जो राजत' कहिए शोभित होते हैं, ऐसे रत्नत्रयको द्विजराज कहते हैं। रत्नत्रयधारियोंमें ही आपके शुद्ध आत्मस्वरूपका जन्म होता है, इसलिए भी द्विजराजसमुद्भव कहलाते हैं (१००)।

इस प्रकार अष्टम ब्रह्मशतक समाप्त हुआ।

—❀—

(९) अथ बुद्धशतम्

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिज्ञस्तथागतः । समन्तभद्रः सुगतः श्रीघनो भूतकोटिदिक् ॥११०॥
सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षणः । बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्वयवाद्यपि ॥१११॥
महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी संतानशासकः । सामान्यलक्षणचणः पंचस्कन्धमयात्मदृक् ॥११२॥
भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासनः । चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वयः ॥११३॥

बुद्धिः केवलज्ञानलक्षणा विद्यते यस्य । अथवा बुध्यते जानाति सर्वमिति । उत्तमक्षमामार्दवार्जव सत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलक्षणानि धर्माणां इत्युक्तानां दशानां बलं सामर्थ्यं यस्य । अथवा दो दया बोधश्च ताभ्यां सबलः समर्थो दशबलः, श्लेषत्वात् सशयोर्न भेदः । स्वमते शक्नोति शकः तीर्थकृत्पिता शकस्यापत्यं पुमान् । अथवा अकं अग कुटिलायां गतौ भ्वादौ परस्मैपदी । अकनं आकः केवलज्ञानम्, श सुखं अनन्तसौख्यम् श च आकश्च शाकौ, तयोर्नियुक्तः शाक्यः । षड्गुणवादितः । षट् जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशान् षड्द्रव्यसंज्ञान् पदार्थान् अभि समन्तात् जानातीति । तथेति सत्यभूतं गतं ज्ञानं यस्य । समन्तात् सर्वत्र भद्रं कल्याणं यस्य । अथवा समन्तं सम्पूर्णस्वभावं भद्रं शुभं यस्य । शोभनं गतं गमनं यस्य । अथवा सुष्ठु शोभनं गतं केवलज्ञानं यस्य । अथवा सुगा सुगमना अग्रऽज्ञे

अर्थ—हे बोधिनिधान, आप बुद्ध हैं, दशबल हैं शाक्य हैं, षडभिज्ञ हैं, तथागत हैं, समन्तभद्र हैं, सुगत हैं श्रीघन हैं भूतकोटिदिक् हैं सिद्धार्थ हैं, मारजित हैं शास्ता हैं, क्षणिकैकसुलक्षण हैं बोधिसत्त्व हैं निर्विकल्पदर्शन हैं अद्वयवादी हैं महाकृपालु हैं नैरात्म्यवादी हैं, संतान-शासक हैं सामान्यलक्षणचण हैं पंचस्कन्धमयात्मदृक् हैं भूतार्थभावनासिद्ध हैं चतुर्भूमिकशासन हैं चतुरार्यसत्यवक्ता हैं निराश्रयचित हैं और अन्वय हैं ॥११०-११३॥

व्याख्या—यद्यपि बुद्ध आदि नाम बौद्धधर्मके प्रणेता बुद्धके हैं तथापि ग्रन्थकारने अपने पाण्डित्यसे स्वमतके अनुसार अर्थ करके उन्हें जिनेन्द्र भगवान् पर घटित किया है । हे बोधिके निधान आप केवलज्ञानरूप बुद्धिके धारण करनेवाले हैं इसलिए बुद्ध कहलाते हैं । अथवा सर्व जगत्को जानते हैं इसलिए भी बुद्ध कहलाते हैं (१) । आपके क्षमा, मार्दव आर्जव आदि दश धर्म बल अर्थात् सामर्थ्यरूप हैं, इसलिए आप दशबल कहलाते हैं । अथवा 'द' शब्द दया और बोधका वाचक है, इन दोनोंके द्वारा आप सबल अर्थात् सामर्थ्यवान् हैं, इसलिए भी योगिजन आपको दशबल कहते हैं । श्लेषार्थकी अपेक्षा स और श में भेद नहीं होता । बौद्धमतमें बुद्धके दान, शील क्षान्ति वीर्य ध्यान शान्ति सामर्थ्य उपाय, प्रणिधान और ज्ञान ये दश बल माने गये हैं (२) । जो सब शक्तिवाले कार्योंके करनेमें समर्थ हो, उसे शक कहते हैं इस निरुक्तिके अनुसार तीर्थंकरोंके पिता शक कहे जाते हैं । आप उनके पुत्र हैं, इसलिए शाक्य कहलाते हैं । अथवा 'श' अर्थात् सुख और अक यानी ज्ञानका धारण करनेसे भी आप शाक्य कहलाते हैं । बौद्धमतमें बुद्धको शक राजाका पुत्र माना जाता है (३) । जीवादि छह द्रव्योंको उनके अनन्त गुण और पर्यायोंके साथ भलीभांति जाननेसे आप षडभिज्ञ कहलाते हैं । बुद्धके दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र पूर्वभवस्मरण, परचित्तज्ञान, आस्रवक्षय और ऋद्धि ये छह अभिज्ञा पाई जाती है इसलिए उन्हें षडभिज्ञ कहते हैं (४) । आपने वस्तुस्वरूपको तथा कहिए यथार्थ गत अर्थात् जान लिया है, इसलिए आप तथा-गत कहलाते हैं (५) । आप 'समन्तात्' अर्थात् सब ओरसे भद्र हैं, जगत्के कल्याण कर्ता हैं, अथवा आपका स्वभाव अत्यन्त भद्र है, इसलिए आप समन्तभद्र कहलाते हैं (६) । सुन्दर गत अर्थात् गमन करनेसे अथवा सुन्दर गत अर्थात् केवलज्ञान धारण करनेसे आप सुगत कहलाते हैं । अथवा सुगा अर्थात् सुन्दर और जाने गमन करने वाली 'गा' कहिए लक्ष्मी आपके पाई जाती है इसलिए भी आप सुगत कहलाते हैं (७) । श्री अर्थात् अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मीको धारणके लिए

गामिनी ता लक्ष्मीर्यस्य । श्रिया लक्ष्म्या घनो मेघ, कनकवर्षित्वात् । वा श्रिया लक्ष्म्या केवलज्ञानादि लक्षणाया निर्वृत. । भूताना प्राणिनां कोटीरनन्तजीवान् दिशति कथयति मुक्तिगतेष्वपि अनन्तजीवेषु ससारे अनन्तानन्तजीवा सन्तीति न कदाचिदपि जीवराशिक्षयो भवतीति शिक्षयति भूतकोटिदिक् ॥११०॥ सिद्धा प्राप्तिमागता अर्था धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो यस्य । मार कन्दर्प जितवान् । शास्ति विनेयचारान् धर्म शिक्षयति । सर्वे उत्तीपर्वततवादय पदार्था एकस्मिन् क्षणे एकस्मिन् समये उत्पाद व्यय ध्रौव्य त्रयेण युक्ताः क्षणिका ईदृश वचन एकमद्वितीय शोभन लक्षण सर्वज्ञत्वलाञ्छनं यस्य स तथोक्त । रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधि बोधे सत्त्व विद्यमानत्वं अस्तित्व स्वरूपतया सर्वेषु प्राणिषु शक्तिरूपतया विद्यते यस्य मते स बोधिसत्त्व । निर्विकल्प अविशेष सत्तावलोकनमात्र दर्शन यस्य स तथोक्त । अथवा निर्विकल्पानि विचाररहितानि दर्शनानि अपरमतानि यस्य स तथोक्त । निश्चयनयमाश्रित्य आत्मा च कर्म च एतद्द्वय न द्वय वदतीत्येवमवश्य अद्वयवादी ॥१११॥ कृपा विद्यते यस्य स कृपालु महाश्चासौ कृपालु महाकृपालु तद्धित

आप घनके समान हैं क्योकि आपके स्वर्गावतारके पूर्वसे ही भूतल पर रत्न-सुवर्णकी वर्षा होने लगती है । इसलिए श्रीघन कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानरूप लक्ष्मीसे आप घनीभूत अर्थात् निर्वृत हैं अखण्ड ज्ञानके पिण्ड हैं (८) । भूत अर्थात प्राणियोंकी 'कोटि' कहिए अनन्त संख्याका उपदेश देनके कारण आप भूतकोटिदिक् कहलाते हैं। आपके मतानुसार प्राणियोंकी संख्या अनन्त है, निरन्तर मोक्षमे जाने पर भी उनका कभी अन्त नहीं आता । अथवा प्राणियोंके कोटि-कोटि पूर्व और उत्तर भवोका आप जानते हैं और उनका उपदेश देते हैं । अथवा प्राणियोंको जो मिथ्या उपदेश के द्वारा कोटियन्ति कहिए आकुल-व्याकुल करते हैं ऐसे जिमिनि कपिल, कणाद आदिका भी आप सन्मार्गका उपदेश देते हैं अत भूतकोटिदिक् कहलाते हैं । अथवा जीवोके कोटि अर्थात् ज्ञानादि गुणोंके अतिशय वृद्धिका उपदेश देते हैं । अथवा अनन्त प्राणियोंके आप विश्राम स्थान भूत हैं उनके आश्रयदाता हैं इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है (९)। आपको अर्थ अर्थात् चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं अतः आप सिद्धार्थ हैं । अथवा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करना ही आपका अर्थ कहिए प्रयोजन है । अथवा जीव अजीव आदि नव पदार्थ आपके द्वारा प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं इसलिए आप सिद्धार्थ कहलाते हैं । अथवा मोक्षका कारणभूत अर्थ कहिए रत्नत्रय आपके सिद्ध हुआ है, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है (१)। मार अर्थात् काम विकारके जीत लेनसे आप मारजित् कहलाते हैं । अथवा मा अर्थात् लक्ष्मी जिनके समीप रहती है, ऐसे इन्द्र, धरणेन्द्र नरेन्द्रादिको मार कहते हैं उन्हें आपने अपने दिव्य उपदेशके द्वारा जीत लिया है । बुद्धने स्कन्धमार क्लेशमार मृत्युमार और देवपुत्रमार इन चार मारोंको जीता था इसलिए उन्हें मारजित् कहा जाता है (११) । सत्यधर्मका उपदेश देनेके कारण आप शास्ता कहलाते हैं (१२) । सभी पदार्थ क्षणिक हैं अर्थात प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप हैं एकरूप स्थायी नहीं है, इस प्रकारका एक अर्थात् अद्वितीय सुन्दर सर्वज्ञताका प्रतिपादक लक्षण आपके पाया जाता है अतः आप क्षणिकैकसलक्षण कहलाते हैं (१३) । रत्नत्रयकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं। इस बोधिका सत्त्व अर्थात् शक्तिरूपसे अस्तित्व सर्व प्राणियोंमें पाया है इस प्रकारका उपदेश देनेके कारण आप बोधि सत्त्व कहलाते हैं । अथवा बोधिरूप सत्त्व अर्थात बल आपके पाया जाता है (१४) । आपने दर्शन को सत्तामात्रका ग्राहक और निर्विकल्प अर्थात् विकल्पशून्य प्रतिपादन किया है अत आप निर्विकल्पदर्शन कहलाते हैं । अथवा आपने मतान्तररूप अन्य दर्शनोंको निर्विकल्प अर्थात् विचार-शून्य प्रतिपादन किया है, क्योंकि उनका कथन प्रमाणसे बाधित है (१५)। एक-अनेक नित्य-अनित्य सत्-असत आदि द्वैतोंको द्वय कहते हैं आपने इन सबको अप्रामाणिक कहा है, अतः आप अद्वयवादी कहलाते हैं । अथवा निश्चयनयके अभिप्रायसे आत्मा और कर्मरूप द्वैत नहीं है ऐसा आपने कथन

यालु । स्वमते नीरस्य जलस्य अप्कायिकस्य भावो नैर नीरसमूह, तदुपलक्षणं पंचस्थावराणाम् । तत्र आत्मा शक्तिरूपतया केवलज्ञानादिस्वभावो नैरात्मा, नैरात्मनो भाव नैरात्म्यम् तद्वदतीति नैरात्म्यवादी, अतएव महाकृपालुरिति पूर्वमुक्तम् । अनादिसन्तानवान् जीवस्तत्सन्तान शास्तीति सन्तानशासक । शुद्ध निश्चयनयमाश्रित्य सर्वे जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति वचनात् सर्वेषां जीवानां सामान्यलक्षणं तत्र चणो विचक्षण सामान्यलक्षणचण । शुद्धाशुद्धनयमाश्रित्य पचस्कन्धमय पंचज्ञानमयमात्मान पश्यतीति पंचस्कन्धमयात्मदृक् ॥११२॥ भूतार्थभावनया कृत्वा स्वामी सिद्धो घातिसंघातघातनो बभूव केवलज्ञानं प्राप्तवा नित्यर्थ । स्वमते तु चतुर्भूमिक नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिलक्षणा शासन शिक्षणमुपदेशो यस्य । चतुरा मतिश्रुतावधि मन पर्ययज्ञानचतुष्टये प्रवीणाश्चतुरा श्रीमद्गणधरदेवाः । अर्यन्ते सेव्यन्ते गुणैर्गुणवद्भिर्वा आर्या चतुराश्च ते आर्याश्च चतुरार्या तेषां आर्यभूमिभवमनुष्यादीनां वा सत्यस्य वक्ता चतुरार्यसत्य वक्ता । निर्गतो निर्नष्ट आश्रय स्थान यस्या सा निराश्रया निराश्रया चित् चेतना यस्य । बुद्धस्य निराश्रयचित् बौद्धमते किल चेतना निराश्रया भवति । स्वमते तु श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु निराश्रयचित् निराश्रया रागद्वेषमोहसमस्तसकल्पविकल्पादिजालरहिता चित् चेतना शुक्लध्यानैकलोलीभाव आत्मा यस्य स निराश्रयचित् । अनु पृष्ठतो लग्न अय पुण्य यस्य सोऽन्वय ॥११३॥

किया है । इसलिए आपको अद्वयवादी कहते हैं (१६) । कृपा नाम दयाका है । आप महान् दयालु हैं क्योंकि सूक्ष्म जीवो तककी रक्षा करनेका उपदेश देत हैं अत महाकृपालु कहलात हैं (१७) । नीर नाम जलका है नीरके समुदायको नैर कहते हैं । जलमें भी आत्मा है इस प्रकारका उपदेश देने से आप नैरात्म्यवादी कहलाते हैं । यहां नैर पदके उपलक्षणसे पृथिवी आदि पांचो स्थावरोंका ग्रहण किया गया है । अन्य मतवालोंने पृथिवी, जल आदिमें आत्मा नहीं माना है, किन्तु आपने उन सबमे शक्तिरूपसे उसी प्रकारका आत्मा माना है जसा कि हम और आपमें है और वे भी उन्नति करके मनुष्यादि पर्यायको प्राप्त कर सकते हैं । बुद्धने आत्मा नामक कोई पदाथ नहीं माना है और दिखाई देनवाले प्रत्येक पदाथका आत्मासे रहित कहा है अत उन्हे नैरात्म्यवादी कहते हैं (१८) । आपने जीवको अनादि-सन्तानवाला कहा है, इसलिए आप सन्तानशासक कहलाते हैं । बुद्धने आत्माको न मानकर सन्तान नामक एक भिन्न ही पदार्थका उपदेश दिया है (१९) । निश्चयनयकी अपेक्षा सभी जीव शुद्धबुद्धक-स्वभाववाले हैं, ऐसा जीवमात्रका सामान्य लक्षण प्रतिपादन करनेमें आप चण अर्थात् विचक्षण हैं इसलिए सामान्यलक्षणचण कहलाते हैं (२०) । शुद्धाशुद्धनयकी अपेक्षा सभी जीव पांच स्कन्ध अर्थात ज्ञानमय हैं ऐसा आपने प्रतिपादन किया है अतः पंचस्कन्ध मयात्मदृक कहलाते हैं । बुद्धने रूप वेदना विज्ञान संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कन्धमय आत्माको माना है (२१) । भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थकी भावना करनेसे आप सिद्ध हुए हैं अतः भूतार्थभावना सिद्ध कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले पृथिव्यादि चार भूतोंकी भावना अर्थात् संयोगसे आत्माकी सिद्धि मानते हैं (२२) । आपके शासन अर्थात् मतमें संसारी जीवोंको नरक तिर्यंच मनुष्य और देवगतिरूप चार भूमियोंमें विभक्त किया गया है, इसलिए आप चतुर्भूमिकशासन कहलाते हैं । अथवा आपने प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगरूप चार भूमिका अर्थात् वस्तु-स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले आधारोंका उपदेश दिया है । चार्वाकने पृथिवी आदि चार भूतोंसे युक्त सर्व जगत्को माना है (२३) । चार ज्ञानके धारक और आर्य अर्थात् सुयोग्य ऐसे गणधर देवोंको भी आप सत्यार्थका उपदेश देते हैं, अतः चतुरार्यसत्यवक्ता कहलाते हैं । बौद्धमतमें चार आर्यसत्य माने गये हैं, उनके वक्ता होनेसे बुद्धको उक्त नामसे पुकारा गया है (२४) । आपकी चित् अर्थात् चेतना राग, द्वेष, मोहादि सर्व विकल्प-जालोंसे रहित हैं, अतः आप निराश्रयचित् कहलाते हैं । बुद्धने चेतनाका कोई आश्रय नहीं माना है (२५) । आप अन्वय अर्थात् सन्तानवाले

योगी वैशेषिकस्तुच्छाभावभित्षट्पदार्थदृक् । नैयायिकः षोडशार्थवादी पञ्चार्थवर्णकः ॥११४॥
ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः समवायवशार्थभित् । भुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥
सांख्यः समीक्ष्यः कपिलः पंचविंशतितत्त्ववित् । व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥
अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् । त्रिप्रमाणोऽक्षप्रमाणः स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् ॥११७॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् । अकर्त्ता निर्गुणोऽमूर्त्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥

योगो नैयायिक भगवांस्तु ध्यानयोगात् योग । इन्द्रियज ज्ञानं सामान्यं अतीन्द्रिय ज्ञानं विशेष । विशेषण केवलज्ञानेन सह दीव्यति स्तुष्ठु तरति चरति वा वैशेषिक । तुच्छ, गुणतुच्छत्व अभावश्च आत्मनाश तुच्छाभावौ तौ भिनत्ति उत्थापयति उच्छेदयति । जीव पुद्गल धर्माधर्मकालाकाशनामान षट् पदार्था , तान् पश्यति जानाति च द्रव्य-गुण पर्यायतया सम्यग् वेत्तीति । न्याये स्याद्वादे नियुक्तो नैयायिक । दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणानि षोडशार्था तान् वदतीत्येवशील । पञ्च च ते अर्था पञ्चार्था । ते के ? कुंद

अनादि निधन हैं इसलिए अन्वय कहलाते हैं । अथवा आपके अनु अर्थात् पीठके पीछे अय कहिए पुण्यका संचय लगा हुआ है, अर्थात आप महान् पुण्यशाली हैं इसलिए भी आप अन्वय कहलाते हैं (२६) ।

अर्थ—हे वीतराग आप योगी हैं वैशेषिक हैं तुच्छाभावभित हैं षट्पदार्थदृक हैं, नैयायिक हैं, षोडशार्थवादी हैं पञ्चार्थवर्णक हैं ज्ञानान्तराध्यक्षबोध है समवायवशार्थभित हैं, भुक्तैकसाध्यकर्मान्त हैं निर्विशेषगुणामृत हैं सांख्य हैं समीक्ष्य हैं कपिल हैं पंचविंशतितत्त्ववित् हैं, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी हैं ज्ञानचैतन्यभेददृक हैं अस्वसंविदज्ञानवादी हैं सत्कार्यवादसात् हैं त्रिप्रमाण हैं, अक्षप्रमाण हैं, स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् हैं क्षेत्रज्ञ हैं आत्मा हैं, पुरुष हैं नर हैं ना हैं, चेतन हैं पुमान् हैं अकर्त्ता हैं निर्गुण हैं अमूर्त्त हैं भोक्ता हैं सर्वगत हैं और अक्रिय हैं ॥११४-११८॥

व्याख्या—उपर्युक्त नाम क्रमश योग नैयायिक वैशेषिक और सांख्यके हैं किन्तु ग्रन्थकारने विशिष्ट अर्थ करके उन्हें जिनेन्द्रका पर्यायवाचक सिद्ध किया है । हे भगवन् आपके ध्यानरूप योग पाया जाता है अत आप योगी हैं (२७) । इन्द्रियज ज्ञानको सामान्य और अतीन्द्रिय ज्ञानको विशेष कहते हैं । आप अतीन्द्रिय केवलज्ञानके धारी हैं अत वैशेषिक कहलाते हैं (२८) । वैशेषिकोंने अभावको भावान्तर स्वभावी न मानकर तुच्छ अर्थात् शून्यरूप माना है परन्तु आपने उसका खंडन करके उसे भावान्तरस्वभावी अर्थात् अन्य पदार्थके सद्भावस्वरूप सिद्ध किया है अत आप तुच्छाभावभित कहलाते हैं (२९) । वैशेषिकोंने द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय नामक छह पदार्थोंको भावात्मक माना है, पर आपने उनका सबल युक्तियोंसे खंडन कर जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म आकाश और काल इन छह पदार्थोंका उपदेश दिया है अत आप षट्पदार्थदृक कहलाते हैं (३) । जिसके द्वारा पदार्थ ठीक-ठीक जाने जाते हैं उसे न्याय कहते हैं । आप स्याद्वादरूप न्यायके प्रयोक्ता हैं, अत नैयायिक कहलाते हैं (३१) । नैयायिक मतवाले प्रमाण, प्रमेय संशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव तर्क, निर्णय वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास छल जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंको माननेके कारण षोडशार्थवादी कहलाते हैं । परन्तु आपने बताया कि दूसरोंको छल जाति आदिके द्वारा वचनजालमें फंसाकर जीतनेका नाम न्याय नहीं है और न संशय छल वितण्डा जाति आदिके पदार्थपना ही बनता है । इसके विपरीत आपने दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता शीलव्रतानतिचार, आभीक्ष्णज्ञानोपयोग आभीक्ष्णसंवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि वैयावृत्यकरण अर्हद्भक्ति आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये तीर्थंकरप्रकृतिके उपार्जनके

यद्वा हिमपटल-मौक्तिकमालादय:, पंचार्थैः समानो वर्णः पञ्चार्थवर्णः, क कायो यस्य तीर्थंकरपरमदेवसमुदायस्य स पंचार्थवर्णक । अथवा पंचानां जीव-पुद्गल धर्माधर्माकाशानां पंचास्तिकायानां वर्णक प्रतिपादकः ॥११४॥ ज्ञानान्तरेषु मति श्रुतावधि-मनःपर्ययेषु अध्यक्ष प्रत्यक्षीभूतः बोध केवलज्ञान यस्य । समवायवशा ये अर्थास्तन्तुपटवत् मिलितास्तान् भिनत्ति पृथक्तया जानाति य॰ स समवायवशार्थभित् । भुक्तेन अनुभवनेन एकेन अद्वितीयेन साध्य कर्मणामन्त स्वभावो यस्य स तथोक्त । निर्विशेषा विशेषरहितास्तीर्थंकरपरमदेवानां अनगारकेवल्यादीनां च घातिसघातने सति गुणा अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखादयो यस्य मते स निर्विशेषगुणामृत ॥११५॥ सख्यान सख्या तस्यां नियुक्त । सम्यक् ईक्षितु द्रष्टु योग्य । कपिरिव कपि मनोमर्कट कपिं लाति विषय कषायेषु गच्छन्त लाति आत्मनि स्थापयति निश्चलीकरोति यो भगवान् तीर्थंकर परमदेव स कपिल उच्यते । पञ्चविंशतितत्त्वाना भावनाना स्वरूप वेत्तीति । व्यक्ता लोचनादीनां गोचराः संसारिणो जीवा अव्यक्ता केवलज्ञानस्य गम्या सिद्धपरमेष्ठिन , व्यक्ताश्च अव्यक्ताश्च व्यक्ताव्यक्ता ते च ते ज्ञाः जीवा व्यक्ताव्यक्तज्ञा तेषा विशिष्ट ज्ञान शक्तितया व्यक्तितया केवलज्ञानं विद्यते यस्य मते स

करानेके कारण प्रयोजनभूत सोलह पदार्थोंका उपदेश दिया है अतः आप ही सच्चे षोडशार्थवादी हैं (३२)। आपने पंच अस्तिकायरूप अर्थोंका वर्णन किया है, अतः आप पंचार्थवर्णक कहलाते (३३)। ज्ञानान्तरोंमे अर्थात् मति श्रुत अवधि और मन पर्ययज्ञानोंमे आपका केवलज्ञानरूप बोध अध्यक्ष है प्रधान है अत आप ज्ञानान्तराध्यक्षबोध कहलाते हैं (३४)। समवाय अर्थात् अपृथक् आश्रयके वश रहनवाले जो पदार्थ हैं उन्हे आप पृथक्-पृथक् रूपसे जानते हैं, इसलिए समवायवशार्थभित् कहलाते हैं (३५)। किये हुए कर्मोंका अन्त अर्थात् विनाश एकमात्र फलको भोगनेके द्वारा ही साध्य है इसप्रकारका उपदेश देनेके कारण आप भुक्तैकसाध्यकर्मान्त कहलाते हैं (३६)। आर्हन्त्यपद प्राप्त करने पर तीर्थंकरदेव या सामान्यकेवली आदि सभी निर्विशेष-गुणामृतवाले हो जाते हैं अर्थात् उनके अनन्तज्ञानादि गुणोंमे कोई भेद नहीं रहता सभी समानरूपसे आत्मिक गुणामृतका पान करते हैं और अजर अमर हो जाते हैं इसलिए आप निर्विशेषगुणामृत कहलाते हैं (३७)। संख्या अर्थात् गणना किये जाने पर—ईश्वरके अन्वेषण किये जाने पर आदिमें, मध्यमें या अन्तमें आप ही प्राप्त होते हैं आपके अतिरिक्त अन्य कोई परमेश्वरकी गिनतीमें नहीं आता, अतः आपको लोग सांख्य कहते हैं (३८)। आप सम्यक् अर्थात् अच्छी तरह ईक्ष्य कहिए देखनेके योग्य हैं, अत समीक्ष्य कहलाते हैं। अथवा समी कहिए समभाववाले योगियोंके द्वारा ही आप ईक्ष्य हैं दृश्य हैं अन्यके अगोचर हैं अतएव समीक्ष्य कहे जाते हैं (३९)। कपि अर्थात् बन्दरके समान चञ्चल मनको जो लावे अर्थात् वशमे करे, आत्मामें स्थापित करे उसे कपिल कहते हैं। अथवा 'क' अर्थात् परमब्रह्मको भी जो लावे उसे कपिल कहते हैं। आपने अपने ध्यानके बलसे परमब्रह्मस्वरूपको प्राप्त किया है और जीवात्मासे परमात्मा बने हैं, अत कपिल कहलाते हैं (४०)। अहिंसादि पांचों व्रतोंकी पचीस भावनाओंके तत्त्व अर्थात् रहस्यको जाननेके कारण अथवा आस्रवके कारणभूत सम्यक्त्वक्रिया आदि पचीस क्रियाओंके स्वरूपको हेयोपादेयरूपसे जाननेके कारण आप पंचविंशतितत्त्ववित् कहलाते हैं। सांख्यलोग प्रकृति, महान्, अहंकार आदि पचीस तत्त्वोंको मानते हैं और उन्हें जाननेके कारण कपिलको पंचविंशतितत्त्ववित् कहते हैं (४१)। व्यक्तज्ञ अर्थात् इन्द्रियोंके गोचर ऐसे संसारी जीव और अव्यक्तज्ञ अर्थात् इन्द्रियोंके अगोचर ऐसे सिद्धजीव, इन दोनोंके अन्तरको आप भली भांतिसे जाननेवाले हैं, इसलिए आप व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी कहलाते हैं। सांख्यमतमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले चौबीस तत्त्वोंमेंसे कुछको व्यक्त और कुछको अव्यक्त माना गया है और आत्मा या पुरुषको ज्ञाता माना गया है। कपिल इन सबके विवेक या भेदको जानता है, इसलिए उसे व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी कहते हैं

व्यक्ताव्यक्तविज्ञानी । सर्वे जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा इत्यभिप्रायवानित्यर्थ । चेतना त्रिविधा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना चेति । तत्र केवलिना ज्ञानचेतना त्रसाना कर्मचेतना, कर्मफलचेतना चेति द्वे स्थावराणा कर्मफलचेतन्यै (नैव) । चेतनाया भाव चैतन्य ज्ञानस्य चैतन्यस्य (च) भेद पश्यतीति ॥ ११६ ॥ निर्विकल्पसमाधौ स्थित आत्मा राग द्वेष मोहादिसकल्प विकल्परहितत्वात् न स्व सविदितो येन ज्ञानेन तत् अस्वसविदितज्ञान ईदृश ज्ञान वदतीत्येवशील । सगच्छते सत् समीचीन काय संवर-निर्जरादिलक्षणकाय कर्त्तव्य करणीय कृत्य सत्काय तस्य वाद शास्त्र सत्कार्यवाद । असत्कार्यवाद सन् भगवान् सत्कार्यवादो भवति सत्कार्यवादसात् अभि यासौ सपद्यतौ सातिर्वा इत्यनेन सूत्रेण सा प्रत्यय ज्ञातव्यम् । सादन्तमव्ययम् । त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि प्रमाणं मोक्षमार्गतयाऽभ्युपगत यस्य । अथवा त्रिषु लोकेषु इन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्रादीना प्रमाणतयाऽभ्युपगत । वा तिस्र प्रमा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अनिति जीवयति त्रिप्रमाण । अक्ष आत्मा प्रमाण यस्य । स्याद्वा इत्यस्य शब्दस्य अहकारो वाद स्याद्वाहकार । स्याद्वाहकारे नियुक्तः स्याद्वाहकारिक अक्ष आत्मा स्याद्वाहकारिकाक्ष , ईदृशमक्षमात्मान दिशति उपदेशयति स्याद्वाहकारिकाक्षदिक् स्याच्छब्दपूर्वकवादविधायीत्यर्थ ॥११७॥ क्षियन्ति अधिवसति तदिति क्षेत्रम् सर्वधातुभ्यष्ट्रन् । क्षेत्रं अधोमध्योर्ध्वलोकलक्षण त्रैलोक्य अलोकाकाश च जानाति क्षेत्रज्ञ । अत सातत्यगमने अतति सतत गच्छति लोकालोकस्वरूप जानातीति आत्मा । सर्वधातुभ्यो मन् । पुरुणि महति इन्द्रादीना पूजिते पदे शते तिष्ठतीति ।

(४२) । ज्ञानके पाच भेद हैं और चेतनाके ज्ञानचेतना कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना ये तीन भेद हैं । केवली भगवान्के ज्ञानचेतना ही होती है। स्थावर जीवोंके कर्मफलचेतना ही होती है और त्रसजीवोंके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ये दोनो होती हैं । आप ज्ञान और चैतन्य अर्थात् चेतनाके भेदोके या उनके पारस्परिक सम्बधके यथार्थ दर्शी हैं अत ज्ञानचैतन्यभेददृक् कहलाते हैं (४३) । निर्विकल्प समाधिमे स्थित आत्मा अपने आपका भी नहीं जानता, अर्थात् उस समय वह स्व-परके सर्व विकल्पोसे रहित हो जाता है इस प्रकारका कथन करनेसे आप अस्वसंविदित ज्ञानवादी कहलाते हैं । सांख्य लोगोंके मतानुसार कोई भी ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है इसलिए वे अस्वसंविदितज्ञानवादी कहे जाते हैं (४४) । सत्काय अर्थात् समीचीन संवर निर्जरा आदि उत्तम कार्य करनेका उपदेश देनेके कारण आप सत्कायवादसात कहलाते हैं (४५) । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न ही मोक्षमार्गमें प्रमाणरूपसे स्वीकार करनेके कारण आप त्रिप्रमाण कहलाते हैं । अथवा तीनों लोकोंमे इन्द्र धरणेन्द्र और मुनीन्द्रोके द्वारा आप ही प्रमाणरूप माने गये हैं । अथवा रत्नत्रयरूप तीन प्रमाओको आप जीवित रखते हैं इसलिए भी त्रिप्रमाण नामसे पुकारे जाते हैं । साख्य प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोका मानने के कारण त्रिप्रमाण कहलाता है (४६) । आपने अक्ष अर्थात शुद्ध आत्माको प्रमाण माना है, अत लोग आपको अक्षप्रमाण कहलाते हैं । किन्तु साख्यलोग अक्ष अर्थात इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानको प्रमाण माननेके कारण उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (४७) । 'स्याद्वा अर्थात् किसी अपेक्षासे ऐसा भी है, इस प्रकारके अहंकार कहिए वाद या कथन करनेको स्याद्वाहंकार कहते हैं । आपने प्रत्येक आत्माको इस स्याद्वादके प्रयोग करनेका उपदेश दिया है, इसलिए स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् कहलाते हैं (४८) । आप लोक और अलोकरूप क्षेत्रको जानते हैं, अत क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं । अथवा आत्माके शरीरमें निवास करनेके कारण आत्माको भी क्षेत्र कहते हैं । कोई आत्माका 'श्यामाक-तन्दुल' अर्थात् समाके चावल बराबर मानता है कोई अंगुष्ठप्रमाण कहता है और कोई जगद्व्यापी मानता है । आपने इन विभिन्न मान्यताओंका निराकरण करके उसे शरीर प्रमाण ही सिद्ध किया है, अत आत्माको क्षेत्ररूप शरीर-प्रमाण जाननेके कारण आप क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं (४९) । आप 'अतति' कहिए लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, अतः आत्मा कहलाते हैं (५०) । पुरु अर्थात् इन्द्रादिसे पूजित पदमें शयन करते हैं, इसलिए पुरुष कहलाते हैं (५१) । नय अर्थात् न्यायके

द्रष्टा तटस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः। बहिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधानकः ॥११९॥
प्रकृतिः ख्यातिरारूढप्रकृतिः प्रकृतिप्रियः। प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृतिः कृती ॥१२०॥
मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः। परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२१॥

नृणाति नयं करोति नरः। नृ नये, अच्पचादिभ्यश्च। अथवा न राति न किमपि गृह्णातीति नरः। क्रोऽ सशाय्यम पि, परमनिर्ग्रन्थ इत्यर्थः। नयतीति समर्थतया भव्यजीवं मोक्षमिति ना, नयतेर्डिच्च इति तुन् प्रत्ययः। चेतयति लोकस्वरूपं जानाति ज्ञापयतीति वा, नप्त्रादयश्च। पुनाति पुनीते वा पवित्रयति आत्मानं निजानुगं त्रिभुवनस्थितभव्यजनसमूहं पुमान्। पूञो ह्रस्वश्च डिम्सुनश्च स पुमान्। पातीति पुमानिति केचित्। न करोति पापमिति। अथवा अ शिवं परमकल्याणं करोतीति। अथवा अस्य परमब्रह्मणः कर्त्ता, संसारिणं जीवं मोचयित्वा सिद्धपर्यायस्य कारक इत्यर्थः। निश्चिता केवलज्ञानादयो गुणा यस्य। अथवा निर्गता गुणा रागद्वेष-मोह क्रोधादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति। मूर्च्छा मोहसमुच्छाययोः मूर्च्छयते स्म मूर्त्तः मूर्त्तः मोहं प्राप्तः, न मूर्त्तो न मोहं प्राप्तः अमूर्त्तः। अथवा अमूर्त्तो मूर्त्तिरहितः सिद्धपर्यायं प्राप्तः। भुंक्ते परमानन्दसुखमिति। सर्वं परिपूर्णं गतं केवलज्ञानं यस्य। अथवा ज्ञानापेक्षया न तु प्रदेशापेक्षया, सर्वस्मिन् लोकेऽलोके च गतः प्राप्तः। भगवान् खलु प्रमादरहितत्वेन प्रतिक्रमणादिक्रियारहितत्वादक्रियः ॥११८॥

करनेसे आप नर कहलाते हैं। अथवा नहीं कुछ भी ग्रहण करनेके कारण अर्थात् परम निर्ग्रन्थ होनेसे भी आप नर कहलाते हैं। अथवा अर अर्थात् कामविकारके न पाये जानेसे आपको नर कहते हैं। अथवा र अर्थात् रमणी नहीं पाई जानेसे भी आपका नर नाम सार्थक है (५२)। आप भव्यजीवोंको नयति कहिए मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं, इसलिए ना कहलाते हैं (५३)। 'चेतति' कहिए लोकालोकके स्वरूपको जाननेके कारण आप चेतन कहलाते हैं (५४)। अपने आपको और अनुगामी जनोंको पवित्र करनेसे आप पुमान् कहलाते हैं (५५)। पापको नहीं करनेसे अकर्त्ता कहलाते हैं। अथवा अ अर्थात् परमकल्याणके आप कर्त्ता हैं। अथवा 'अ' कहिए संसारी आत्माके परमब्रह्मस्वरूपका आप करनेवाले हैं, क्योंकि उन्हें संसारसे छुड़ाकर सिद्ध बनाते हैं (५६)। राग, द्वेषादि वैभाविक गुणोंके निकल जानेसे आप निर्गुण कहलाते हैं। अथवा केवलज्ञानादि स्वभाविकगुण आपमें निश्चितरूपसे पाये जाते हैं, इसलिए भी आप निर्गुण संज्ञाको सार्थक करते हैं अथवा निर् अर्थात् निम्नवर्गके प्राणियोंको भी आप अपने समान अनन्त गुणी बना लेते हैं इसलिए भी निर्गुण कहलाते हैं (५७)। मूर्च्छा या मोहको जो प्राप्त हो, उसे मूर्त्त कहते हैं, आप मोह-रहित हैं, अतः अमूर्त्त कहलाते हैं। अथवा रूपादि गुणवाले और निश्चित आकार प्रकार वाले शरीरको मूर्त्ति कहते हैं। आप ऐसी मूर्त्तिसे रहित हैं, क्योंकि सिद्धपर्यायको प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए भी अमूर्त्त कहलाते हैं। अथवा मूर्त्तिका नाम प्रतिनमस्कारका भी है, आप नमस्कारके बदलेमें किसीको नमस्कार नहीं करते हैं। अथवा कठिनताको भी मूर्त्ति कहते हैं आप कठिनता या कर्कशतासे सर्वथा रहित हैं उत्तममार्दवगुणके धारक हैं (५८)। परम आनन्दरूप सुखको भोगनेके कारण आप भोक्ता कहलाते हैं (५९)। सबको जाननेसे अथवा लोकपूरण समुद्घातकी अपेक्षा सर्वव्यापक होनेसे आप सर्वगत कहलाते हैं (६०)। मन, वचन, कायकी क्रियासे रहित होनेके कारण आप अक्रिय कहलाते हैं। अथवा आप प्रमत्तदशामें होनेवाले पापोंकी शुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंसे रहित हैं, क्योंकि सदा अप्रमत्त या जागरूक हैं (६१)।

अर्थ—हे विश्वदर्शिन्, आप द्रष्टा हैं, तटस्थ हैं, कूटस्थ हैं, ज्ञाता हैं, निर्बन्धन हैं, अभव हैं, बहिर्विकार हैं, निर्मोक्ष हैं, प्रधान हैं, बहुधानक हैं, प्रकृति हैं, ख्याति हैं, आरूढप्रकृति हैं, प्रकृतिप्रिय हैं, प्रधानभोज्य हैं, अप्रकृति हैं, विरम्य हैं, विकृति हैं, कृती हैं, मीमांसक हैं, अस्त सर्वज्ञ हैं, श्रुतिपूत हैं, सदोत्सव हैं, परोक्षज्ञानवादी हैं, इष्टपावक हैं, और सिद्धकर्मक हैं ॥११९-१२१॥

केवलदर्शनेन सर्व लोकालोकं पश्यतीत्येवंशीलः । तटे संसारपर्यन्ते मोक्षनिकटे तिष्ठतीति तटस्थ । नाम्नि स्थश्च कप्रत्यय । कूटस्थ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात्, त्रैलोक्यशिखराग्रे स्थित इत्यर्थ । तदपि भाविनयापेक्षया ज्ञातव्यम् । जानातीत्येवंशील । निर्गतानि बन्धनानि मोह ज्ञानावरण दर्शनावरणान्त रायकर्माणि यस्य । न विद्यते भव संसारो यस्य । बहिर्बाह्य विकारा विकृतिर्यस्य स बहिर्विकारः, अनग्नत्व रहितो नग्न इत्यर्थ । वस्त्रादिकस्वीकारो विकारस्तस्माद्रहित । निश्चितो नियमेन मोक्षो यस्येति निर्मोक्ष, तद्भव एव मोक्ष यास्यतीति नियमोऽस्ति भगवतो निर्मोक्षस्तेनोच्यते । डुधाञ् डुभृञ् धारण पोषणयोरिति तावद्धातुर्वर्तते । प्रधीयते एकाग्रतया आत्मनि धार्यते इति प्रधान परमशुक्लध्यानं तद्योगाद्भगवानपि प्रधान मित्याविष्टलिंगतयोच्यते । बहु प्रचुरा निर्जरा तयोपलक्षित धानक पूर्वोक्तलक्षण परमशुक्लध्यान बहुधानकम् तद्योगाद् भगवानपि बहुधानकम् ॥११६॥

कृति करण कर्तव्य तीर्थप्रवर्त्तनम् प्रकृष्टा त्रैलोक्यलोकाहितकारिणी कृतिस्तीर्थप्रवर्त्तन यस्य स प्रकृति । ख्यान प्रकृष्ट कथनं यथावत्तत्त्वस्वरूपनिरूपणं ख्याति तद्योगाद् भगवानपि ख्यातिरित्याविष्टलिंगमिद नाम सकलतत्त्वस्वरूपप्रकथक इत्यर्थ । (आ स) मन्तात् रूढा त्रिभुवनप्रसिद्धा प्रकृतिस्तीर्थकरनामकर्म यस्येति । प्रकृत्या स्वभावेन प्रिय सर्वजगद्वल्लभ । अथवा प्रकृतीना लोकाना प्रिय प्रकृतिप्रिय सर्वलोकप्रिय इत्यर्थ ।

व्याख्या—आप केवलदर्शनके द्वारा सर्व लोकालोकको देखते हैं अत द्रष्टा हैं (६२)। संसारके तट पर स्थित हैं अत तटस्थ कहलाते हैं। अथवा परम उपेक्षारूप माध्यस्थ्यभावको धारण करनेसे भी तटस्थ कहलाते हैं (६३)। जन्म और मरणसे रहित होकर सदा कूट (ठूठ) के समान स्थिर एक स्वभावसे अवस्थित रहते हैं अत कूटस्थ कहलाते हैं (६४)। केवलज्ञानके द्वारा सर्व जगतको जानते हैं अत ज्ञाता कहलाते हैं (६५)। ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके बन्धन आपसे निकल गये हैं अत निर्बन्धन कहलाते हैं (६६)। भव अर्थात संसारके अभाव हो जानेसे आप अभव कहलाते हैं (६७)। आपने अपने सब विकारोंको बाहिर कर दिया है अत बहिर्विकार कहलाते हैं। अथवा वस्त्रादिकोंके स्वीकारको विकार कहते हैं आप उससे रहित हैं अर्थात नग्न दिगम्बर हैं। अथवा आत्मस्वरूपको विरूप करनेवाला यह शरीर विकार कहलाता है, आपने उसे अपनी आत्मासे बाहिर कर दिया है। अथवा अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंके द्वारा नाना प्रकारकी विक्रिया करनेको विकार कहते हैं, आप किसी भी ऋद्धिका उपयोग नहीं करते, अर्थात् उनकी विक्रियासे रहित हैं अतः बहिर्विकार कहलाते हैं (६८)। आपके मोक्षकी प्राप्ति नियमसे उसी भवमें निश्चित है, अत निर्मोक्ष नामको सार्थक करते हैं (६९)। जिसके द्वारा प्रकृष्टरूपसे एकाग्र होकर आत्माका धारण किया जाय ऐसे परम शुक्लध्यानको प्रधान कहते हैं। उसके सम्बन्धसे आपभी प्रधान कहलाते हैं। सांख्यमतमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनवाले चौबीस तत्त्वोंके समुदायको प्रधान कहते हैं (७०)। बहु अर्थात प्रचुर परिमाणमें जिसके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा हो, ऐसे परम शुक्लध्यानको बहुधानक कहते हैं उसके संयोगसे आप भी बहुधानक कहलाते हैं। अथवा बहुधा अर्थात् बहुत प्रकारके आनक कहिए पटह या दुन्दुभि आदि बाजे जिसमें पाये जाते हैं ऐसे आपके समवसरणको बहुधानक कहते हैं, उसके योगसे आपभी बहुधानक कहलाते हैं। समवसरण में साढ़े बारह करोड़ जातिके बाजे बजते रहते हैं (७१)। आपकी तीर्थ-प्रवर्तनरूप कृति प्रकृष्ट है अर्थात् त्रैलोक्यके लिए हितकारी है, अत आपको प्रकृति कहते हैं। सांख्य लोग सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं (७२)। तत्त्वके यथावत् स्वरूप-निरूपणको करनेसे आप ख्याति नामसे प्रख्यात हैं। सांख्यमतमें ख्यातिनाम मुक्तिका है (७३)। आपकी तीर्थंकर नामक प्रकृति त्रिभुवनमें आरूढ अर्थात् प्रसिद्ध है, अतः आप आरूढप्रकृति कहलाते हैं (७४)। आप प्रकृति अर्थात् स्वभावसे ही सर्व जगतके प्रिय हैं। अथवा प्रकृति

प्रकृष्टं ध्यानं सावधानं आत्मन एकाग्रचिन्तनं अध्यात्मरसः, तद्दोऽयं आस्वाद्यं यस्य स प्रधानभोज्य । त्रिषष्ठ प्रकृतीनां त्रिषष्टेः कृतक्षयत्वात् शेषा अघातिप्रकृतय सत्योऽपि असमर्थत्वात्तासा सत्त्वमपि असत्त्वं दग्धरज्जु रूपतया निर्बलत्वं अकिंचित्करत्वं यत , तेन भगवानप्रकृति । सर्वेषा प्रभुत्वाद्वा अप्रकृति । विशिष्टानामिन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्रादीना विशेषेण रम्योऽतिमनोहरो विरम्यः अतिशयरूप-सौभाग्यप्रकृतित्वात् । अथवा विगतं विनष्ट आत्मस्वरूपत्वादन्यन्मनोहर वस्तु इष्टवनिताचन्दनादिकं यस्य स विरम्य , आत्मस्वरूपं विना भगवतोऽन्यद्वस्तु रम्यं मनोहरं न वर्तत इत्यर्थ । विशिष्टा कृति कर्तव्यता यस्येति । अथवा विगता विनष्टा कृति कर्म यस्येति । कृत पुण्यं विद्यते यस्य स कृती, निदानदोषरहितविशिष्टपुण्यप्रकृतिरित्यर्थ ॥१२ ॥

मान पूजाया इति तावदयं धातुः मीमांसते मीमांसक , स्वसमय परसमयतत्त्वानि मीमांसते विचारय तीति । सर्व च ते ज्ञाः सर्वज्ञा सर्वविद्वान्स जिमिनि कपिल-कणचर चार्वाक शाक्यादय अस्ता प्रस्फुटा सर्वज्ञा येन सोऽस्तसर्वज्ञ । श्रुतिशब्देन सर्वज्ञवीतरागध्वनि तया पूत पवित्र , सर्वोऽपि पूर्व सर्वज्ञमुखा तीर्थकरनामगोत्र बध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वज्ञ सजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते । सदा सर्वकाल उत्सवो महो महार्चा

अर्थात् लोकोंके प्रिय हैं सर्व-लोक-वल्लभ हैं इसलिए भी प्रकृतिप्रिय कहलात हैं (७५) । अत्यन्त सावधान होकर आत्माका जो एकाग्र मनसे चिन्तवन किया जाता है और उससे जो अध्यात्मरस उत्पन्न होता है उसे प्रधान कहत हैं । वह अध्यात्मरस ही आपका भोज्य अर्थात् भक्ष्य है । अन्य पदार्थ नहीं क्योंकि आप कवलाहारसे रहित हैं, अत प्रधानभोज्य कहलात हैं (७६) । आपने कर्मोंकी मुख्य मानी जानेवाली तिरेसठ प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है अत अघातिया कर्मोंकी अवशिष्ट पचासी प्रकृतियों का सत्त्व भी असत्त्वके समान है अकिंचित्कर है अत॰ आप अप्रकृति अर्थात् प्रकृति-रहित कहलाते हैं । अथवा आपका दूसरा कोई प्रकृति अर्थात प्रभु नहीं है, किन्तु आप ही सबके प्रभु हैं (७७) । इन्द्र धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदि समस्त रम्य पुरुषोंसे भी आप विशिष्ट रम्य हैं, अति सुन्दर हैं अत विरम्य कहलाते हैं । अथवा आत्मस्वरूपके अतिरिक्त आपको कोई दूसरी वस्तु रम्य प्रतीत नहीं होती इसलिए भी विरम्य कहलाते हैं (७८) । विशिष्ट कृति अर्थात् कर्त्तव्यके करनसे आप विकृति कहलात हैं । अथवा कृति अर्थात कर्म आपके विगत हो चुके हैं, करनेयोग्य सर्व कार्योंको आप कर चुके हैं कृतकृत्य हैं कृतार्थ हैं इसलिए भी विकृति कहलाते हैं (७९) । आपके निदानादि दोष-रहित विशिष्ट कृत अर्थात् पुण्य पाया जाता है, इसलिए आप कृती कहलाते हैं । अथवा हरि हर और हिरण्यगर्भादिमें नहीं पाई जानेवाली इन्द्रादिकृत पूजाके योग्य आप ही हैं । अथवा अनन्तचतुष्टयसे विराजमान महान् विद्वान् होनेसे भी आप कृती कहलाते हैं (८०) । आप स्वसमय और परसमयमें प्रतिपादित समस्त तत्त्वोंकी मीमांसा अर्थात् समीक्षा कर उनकी हेय-उपादेयताका निर्णय करते हैं इसलिए मीमांसक कहलाते हैं (८१) । अपने आपको सर्वज्ञ-माननेवाले जिमिनि कपिल कणाद चार्वाक, शाक्य आदि सभी प्रवादियोंको आपने अपने स्याद्वादके द्वारा अस्त अर्थात परास्त कर दिया है, इसलिए आप अस्तसर्वज्ञ कहलाते हैं (८२) । सर्वज्ञ वीतरागकी दिव्यध्वनिको श्रुति कहते हैं । आपने अपनी दिव्यध्वनिरूप श्रुतिके द्वारा सर्व जगत्को पूत अर्थात् पवित्र किया है, अतएव आप श्रुतिपूत कहलाते हैं । अथवा आपकी दिव्यध्वनि-को सुनकर भव्यप्राणी तीर्थंकर नामगोत्रको बांधकर पवित्र होते हैं । अथवा श्रुतिनाम वायुका भी है, वह आपके पृष्ठगामी होनेसे पवित्र हो गया है, और यही कारण है कि वह प्राणियोंके बड़े बड़े रोगोंको भी क्षणभर में उड़ा देता है, इसलिए भी आप श्रुतिपूत कहलाते हैं (८३) । आपका सदा ही उत्सव अर्थात् महापूजन होता रहता है, इसलिए आप सदोत्सव कहलाते हैं । अथवा सर्वकाल उत्कृष्ट सव अर्थात् अध्ययन-अध्यापनरूप या कर्म-क्षपणरूप यज्ञ होते रहने से भी आप सदोत्सव नामको सार्थक करते हैं (८४) । अक्ष अर्थात् इन्द्रियों से परे जो अतीन्द्रिय- केवलज्ञान है, वही

चार्वाको भौतिक ज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतन । प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः ॥१२२॥
पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविदद्वयी । शब्दाद्वैती स्फोटवादी पाखण्डघ्नो नयौघयुक् ॥१२३॥

इति बुद्धशतम् ॥ ६ ॥

यस्य । अथवा सदा सर्वकाल उत्कृष्टः सवो यशो यस्य । अक्षाणामिन्द्रियाणा पर परोक्ष केवलज्ञान तदात्मन वदतीत्येवशील । इष्टाः अभीष्टा पावका पवित्रकारका गणधरदेवादयो यस्य । सिद्ध समाप्तिं गतं परिपूर्ण जात कर्म क्रिया चारित्र यथाख्यातलक्षणं यस्येति सिद्धकर्मा यथाख्यातचारित्रसंयुक्त इत्यर्थः । सिद्ध कर्मा क आत्मा यस्येति सिद्धकर्मक यथाख्यातचारित्रसयुक्तात्मस्वरूप इत्यर्थ ॥१ १॥

अक अग कुटिलायां गतौ इति तावद्धातु भ्वादिगणे घटादिमध्ये परस्मै भाष । आक अकनं आक कुटिला अकुटिला च गतिरुच्यते । यावन्तो गत्यर्था धातवस्तावन्तो ज्ञानार्था इति वचनादाक केवल ज्ञानम् चार्विति विशेषणत्वात् चारु मनोहरस्त्रिभुवनस्थितभव्यजीवचित्तानन्दकारक आक केवलज्ञानं यस्येति चार्वाक । स्वमते भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति वचनात् समवशरणोपलक्षिता लक्ष्मीरष्टौ प्रातिहार्याणि चतुस्त्रिंशदतिशयादिक देवेन्द्रादिसेवा च भूतिरुच्यते । भूत्या चरति विहारं करोति भौतिकं समवशरणादिलक्ष्मी विराजित ज्ञान केवलज्ञान यस्येति । अथवा भूतेभ्यो जीवेभ्य उत्पन्न (भौतिक) ज्ञानं यस्य मते स (भौति) क ज्ञान इत्यनेन पृथिव्यादिभूतसंयोगे ज्ञानं भवतीति निरस्तम् । स्वमते भूतेषु जीवेषु अभिव्यक्ता प्रकटीकृता चेतना ज्ञान येनेति । स्वमते प्रत्यक्ष केवलज्ञानमेव एकमद्वितीय न परोक्षप्रमाणम् अश्रुतादिकत्वात् केवलिन

आत्माका स्वभाविकगुण है, अन्य इन्द्रिय-जनित ज्ञान नहीं; इस प्रकारके उपदेश दनके कारण आप परोक्षज्ञानवादी कहलात हैं (८५) । जगतको पवित्र करनेवाले गणधर दवरूप पावक अर्थात् पावन पुरुष आपको इष्ट हैं क्योकि उनके द्वारा ही आपका पवित्र उपदेश ससारके कोन-कोनमे पहुँचता है अत आप इष्टपावक कहलात हैं । अथवा पावक अर्थात् पवित्र करनेवाले पुरुषोम आप ही सब जगत को इष्ट अथात अभीष्ट हैं इसलिए भी आप इष्टपावक कहलात हैं (८६) । कर्म अर्थात् यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिरूप कर्त्तव्यको आपन सिद्ध कर लिया है इसलिए आपको सिद्धकर्मक कहत हैं । अथवा सीझन या पकानेको भी सिद्ध कहत हैं । आपने अपनी ध्यानाग्निके द्वारा कर्मोंको पका डाला है उन्हे निजराके योग्य कर दिया है इसलिए भी आप उक्त नामको साथक करते हैं (८७) ।

अर्थ—हे चारुवाक आप चार्वाक् हैं भौतिकज्ञान हैं भूताभिव्यक्तचेतन हैं, प्रत्यक्षैक-प्रमाण हैं अस्तपरलाक हैं गुरुश्रुति हैं, पुरन्दरविद्धकर्ण हैं वदान्ती हैं संविदद्वयी हैं, शब्दाद्वैती हैं, स्फोटवादी हैं, पाखण्डघ्न हैं और नयौघयुक हैं ॥१२२-१२३॥

व्याख्या—विश्वका जाननवाला आपका आक अर्थात् केवलज्ञान चारु है—सर्वजगतके पाप-मलको धोनवाला और भव्यजीवोको आनन्द करनवाला है इसलिए आप चार्वाक कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले चवाक ऋषिके शिष्यका चार्वाक कहते हैं (८८) । आपका केवलज्ञान भौतिक अथात समवसरणादि लक्ष्मीसे संयुक्त है ऐश्वय-सम्पन्न हैं अत आप भौतिकज्ञान कहलाते हैं । अथवा ज्ञानकी उत्पत्ति भूत अथात् प्राणियोंसे ही होती है इस प्रकारका कथन करनेसे आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं । नास्तिक मतवाले ज्ञानको पृथिव्यादि चार भूतोंसे उत्पन्न हुआ मानते हैं (८९) । भूतोमे अर्थात् जीवोमें ही चेतना अभिव्यक्त होती है अन्य अचेतन या जड पदार्थोंमें नहीं ऐसा प्रतिपादन करनसे आप भूताभिव्यक्तचेतन कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले भूत-चतुष्टयके संयोगसे चेतनाकी उत्पत्ति मानते हैं उनकी इस मान्यताका आपने खंडन किया है (९०) । केवलज्ञानरूप एक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि वह क्षायिक, अतीन्द्रिय और निरावरण है, अन्य परोक्ष ज्ञान नहीं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे आप प्रत्यक्षैकप्रमाण नामसे पुकारे जाते हैं । नास्तिक लोग एक प्रत्यक्ष ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं (९१) । पर अर्थात्

स प्रत्यवीकमत्ताथा: । स्वमते अस्ता: निराकृतास्तनन्तलीकेनैव चूर्णीकृत्वा अध पातिता: परे लोका जिमिनि कपिल-कणचर चार्वाक-शाक्यादयो जैनमतबहिर्भूता अनार्हता: येनेति । अथवा भगवान् मुक्ति विना मोक्ष मन्तरेणान्यां गतिं न गच्छतीति अस्तपरलोक: । गुर्वी केवलज्ञानसमाना श्रुतिः शास्त्रं यस्येति ॥१२२॥ पुरन्दरेण विद्धौ वज्रसूचिकया कर्णौ यस्य स पुरन्दरविद्धकर्ण: । भगवान् खलु छिद्रसहितकर्ण एव जायते परं जन्माभिषेकावसरे कोलिकपटलेनेव त्वचा अचेतनया मुद्रितकर्णच्छिद्रो भवति । शक्रस्तु वज्रसूचीं करे कृत्वा तत्पटलं दूरीकरोति, तेन पुरन्दरविद्धकर्ण: कथ्यते । स्वमते वेदस्य मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलज्ञानलक्षण ज्ञानस्य अन्त: केवलज्ञानं वेदान्त वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती केवलज्ञानवानित्यर्थ: । संवित् समीचीनं ज्ञानं केवलज्ञानम् तस्य न द्वितीयं ज्ञानं संविदद्वयम् । संविदद्वयं विद्यते यस्य स संविदद्वयी । स्वमते तु यावत्यो वाग्वर्गणा: विद्यन्ते शक्तिरूपतया तावत्य शब्दहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यं स शब्द एव इति कारणात् भगवान् शब्दाद्वैतीत्युच्यते । स्वमते स्फुटति प्रकटीभवति केवलज्ञानं यस्मादिति स्फोट:, निजशुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा तं वदति मोक्षहेतुतया प्रतिपादयतीति स्फोटवादी । पाखण्डान् हन्ति शुद्धान् करोतु गच्छति पाखण्डघ्न । अथवा पाखण्डा: खण्डितव्रतास्तान् हन्ति योग्यप्रायश्चित्तेन शोधनदण्डेन ताडयति कच्छ-महाकच्छादिकानिव वृषभनाथवत् । नयानामोघ समूहस्त युनक्तीति ॥१२३॥

इति बुद्धशतम् ॥ ६ ॥

जैनेतर या अनार्हत कपिल कणाद आदि परमतावलम्बी लोकोको आपने अपने अनेकान्तवादरूप अमोघ अस्त्रसे परास्त कर दिया है अत आप अस्तपरलोक कहलाते हैं। नास्तिक मतवाले परलोक अर्थात् परभवको नहीं मानते हैं (९२)। आपने द्वादशागरूप श्रुतिको केवलज्ञानके समान ही गुरु अथात् गौरवशाली या उपदेश दाता माना है अत आप गुरुश्रुति कहलाते हैं। अथवा गुरु अर्थात् गणधरदेव ही आपकी बीजाक्षररूप श्रुतिको धारण कर ग्रन्थ-रूपसे रचते हैं। अथवा आपकी दिव्यध्वनि रूप श्रति गंभीर एवं गौरवशालिनी है। अथवा मिथ्यादृष्टियोंके लिए आपकी श्रुति गुरु अर्थात् भारी या दुष्प्राप्य है। नास्तिकमतमें गुरु अर्थात् बृहस्पतिको शास्त्रों का प्रणेता माना गया है (९३)। पुरन्दर अर्थात् इन्द्रके द्वारा आपका कर्णवेधन नामका संस्कार होता है इसलिए आप पुरन्दरविद्धकर्ण कहलाते हैं। भगवानके कर्ण यद्यपि गर्भसे ही छिद्र सहित होते हैं परन्तु उनपर मकड़ीके जालेके समान सूक्ष्म आवरण रहता है इन्द्र उसे वज्रसूचीके द्वारा दूर करता है। वस्तुतः भगवान्का शरीर अभेद्य होता है (९४)। वेद अर्थात् ज्ञानकी परिपूर्णताको वेदान्त कहते हैं। केवलज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है और आप उसके धारक हैं अत वेदान्ती कहलाते हैं। अथवा स्त्री पुरुष नपुंसकरूप लिंगको भी वेद कहते हैं। आपने इन तीनों वेदोंका अन्त कर दिया है अत: वेदान्ती कहलाते हैं (९५)। केवलज्ञान ही सम्+वित अर्थात् समीचीन ज्ञान है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा ज्ञान सम्यक् नहीं है, इस प्रकारके अद्वितीय केवलज्ञानके धारक होनेसे आप संविदद्वयी कहलाते हैं (९६)। सभी वचनवर्गणाएँ शब्दोंकी उत्पत्तिकी कारण हैं, अतः सर्व पुद्गलद्रव्य शक्तिरूपसे एकमात्र शब्दरूप है, ऐसा कथन करनेके कारण आप शब्दाद्वैती कहलाते हैं (९७)। जिसके द्वारा केवलज्ञान स्फुटित अर्थात् प्रकटित होता है, उस शुद्ध-बुद्ध आत्माको स्फोट कहते हैं, वही आत्माका स्वभाव है ऐसा उपदेश देनेके कारण आप स्फोटवादी कहलाते हैं (९८)। पाखंड अर्थात् मिथ्यामतोंका घात करनेसे आप पाखंडघ्न कहलाते हैं (९९)। विभिन्न नयोंके समुदायको नयौघ कहते हैं। परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय सत्य हैं, अतः नयोंकी प्रवृत्ति परस्पर-सापेक्ष ही करना चाहिए, इस प्रकारकी योजना करनेके कारण आप नयौघयुक् कहलाते हैं (१००)।

इस प्रकार नवम बुद्धशतक समाप्त हुआ।

(१०) अथ अन्तकृच्छतम्

अन्तकृत्पारकृत्तीरप्राप्तः पारेतमःस्थितः । त्रिदंडी दंडितारातिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१२४॥
संहृतध्वनिरुत्सन्नयोगः सुप्तार्णवोपमः । योगस्नेहापहो योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः ॥१२५॥
स्थितस्थूलवपुर्योगो गीर्मनोयोगकार्श्यकः । सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः ॥१२६॥

अन्तं संसारस्यावसानं कृतवान् । पारं संसारस्य प्रान्तं संसारसमुद्रस्य पारतटं कृतवान् । तीरं संसार समुद्रस्य तटं प्राप्त । तमस पापस्य पारे पारेतम , पारे तमसि पापरहितस्थाने अष्टापद-सम्मेद चम्पापुरी पावापुरी ऊर्जयन्तादौ सिद्धक्षेत्रे स्थित योगनिरोधाय गत पारेतम स्थित । त्रयो दंडा मनोवाक्कायलक्षणा योगा विद्यन्ते यस्य स त्रिदंडी । दंडिता जीवन्तोऽपि मृतसदृशा कृता मोहप्रभुपातनात् असद्वेद्यादिशत्रवो येन स दंडितारातिः । दंडिता स्ववशीकृता अरातय जिमिनि कणाचर चार्वाक शाक्यादयो मिथ्यावादिनो येन स तथोक्त । ज्ञानं च केवलं आत्मज्ञानं कर्म च पापक्रियाया विरमणलक्षणोपलक्षिता क्रिया यथाख्यातचारित्रमित्यर्थः ज्ञान कर्मणी तयो समुच्चयः समूह स विद्यते यस्य ॥१२४॥ संहृत संकोचितो मोक्षगमनकालनिकटे सति ध्वनिर्वाणी येन स तथोक्त । उत्सन्ना विनाशं प्राप्ता मनोवचनकायानां योगा

अर्थ—हे अन्तकान्तक आप अन्तकृत् हैं पारकृत हैं तीरप्राप्त हैं पारेतम स्थित हैं त्रिदंडी है दंडितारातिं हैं ज्ञानकर्मसमुच्चयी हैं संहृतध्वनि हैं उत्सन्नयोग हैं सुप्तार्णवोपम हैं, योगस्नेहापह हैं योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यत हैं स्थितस्थूलवपुर्योग हैं गीर्मनोयोगकार्श्यक हैं सूक्ष्म वाक्चित्तयोगस्थ हैं और सूक्ष्मीकृतवपु क्रिय हैं ॥१२४-१२६॥

व्याख्या—हे भगवन् आपने संसारका अन्त कर दिया अत अन्तकृत कहलाते हैं। अथवा अन्त अर्थात मरणका कृन्तन कहिए अभाव कर देनेसे भी अन्तकृत कहलाते हैं। अथवा आप आत्माके स्वरूपके प्रकट करनेवाले हैं। अथवा आपने मोक्षको अपने समीप किया है। अथवा व्यवहारको छोड़कर निश्चयको करनेवाले हैं इसलिए भी अन्तकृत कहलाते हैं (१)। संसारको पार कर लेनेसे पारकृत कहलाते हैं (२)। संसार-समुद्रके तीरको प्राप्त कर लेनेसे तीर प्राप्त कहलाते हैं (३)। तमके पार अर्थात पाप-रहित स्थानमें स्थित होनेसे आप पारेतमःस्थित कहलाते हैं। भगवान् आर्हन्त्य अवस्थाके अन्तमें योगनिरोध कर सिद्धपद प्राप्त करनेके लिए अष्टापद सम्मेदशिखर, ऊजयन्त आदि सिद्धक्षेत्र पर अवस्थित हो जाते हैं। अथवा आप अज्ञानसे अत्यन्त दूर स्थित हैं इसलिए भी पारेतमःस्थित कहलाते हैं (४)। मन वचन कायरूप तीनों योगोंका निरोध कर आपने उन्हें अच्छी तरह दंडित किया है इसलिए त्रिदंडी कहलाते हैं। अथवा माया मिथ्यात्व और निदान नामक तीन शल्योंको आपने जड़से उन्मूल कर दिया है इसलिए भी त्रिदंडी कहलाते हैं (५)। अराति कहिए असातावेदनीयादि शत्रुओं को आपने दंडित किया है अर्थात् जीवित रहते हुए भी उन्हें मृत-सदृश कर दिया है क्योंकि मोहरूप कर्म-सम्राटके क्षय कर देनेसे उनकी शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई है अतएव आप दंडिता-राति कहलाते हैं। अथवा जिमिनि कणाद चार्वाक आदि मिथ्यावादीरूप अरातियोंको आपने दंडित किया है अपने वशमें किया है, इसलिए भी दंडितारातिं कहलाते हैं (६)। आप ज्ञान और कर्म अर्थात यथाख्यातचारित्रके समुच्चय हैं पुञ्ज हैं अतः ज्ञानकर्मसमुच्चयी कहलाते हैं। अथवा परमानन्दरूप मोक्षके साथ रहनेको समुत् कहते हैं, आप ज्ञान, चारित्र और सुखके चय अर्थात पिंड हैं, इसलिए ज्ञान-कर्मसमुच्चयी कहलाते हैं (७)। मोक्षगमनका समय समीप आने पर आप अपनी दिव्यध्वनिको संहृत अर्थात् संकोचित कर लेते हैं इसलिए संहृतध्वनि कहलाते हैं (८)। आत्म-प्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न करनेवाले योगको आपने उत्सन्न अर्थात् विनाशको

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा । एकदंडी च परमहंसः परमसंवरः ॥१२७॥
नैःकर्म्यसिद्धः परमनिर्जरः प्रज्वलत्प्रभः । मोघकर्मा त्रुटत्कर्मपाशः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥
एकाकाररसास्वादी विश्वाकाररसाकुलः । अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्तः शून्यतामयः ॥१२९॥

आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनहेतवो यस्येति । सुप्त कल्लोलरहितो योऽसावर्णव समुद्र तस्य उपमा सादृश्यं यस्येति सुप्तार्णवोपम मनोवाक्कायव्यापाररहित इत्यर्थ । योगिना (योगाना) मनोवाक्कायव्यापाराणां स्नेह प्रातिमप हन्तीति । अपाक्लेशतमसोरित्यनेन हनोर्धातोर्डप्रत्यय । योगाना मनोवाक्कायव्यापाराणां या कृता किट्टिश्चूर्ण मंडूपादिदलनवत् तस्या निर्लेपनं निजात्मप्रदेशेभ्यो दूरीकरणम् तत्र उद्यतो यत्नपर ॥१२५॥ स्थितस्तावद् गतिनिवृत्तिमागत स्थूलवपुर्योगो बादरपरमौदारिककाययोगो यस्य स तथोक्त । गीश्च वाक् च मनश्च चित्तं तयोर्योग आत्मप्रदेशस्पन्दहेतु तस्य कार्श्यक कृशाकारक. श्लक्ष्णविधायक । पश्चाद्भगवान् सूक्ष्मवाग्मान सयोर्योगे तिष्ठति । असूक्ष्मा सूक्ष्मा कृता सूक्ष्मीकृता वपुष क्रिया काययोगो येन स तथोक्तः ॥१२६॥

सूक्ष्मकायक्रियाया सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठतीत्येवंशील सूक्ष्मकायक्रियास्थायी । पश्चाद्भगवान् कियत्काल पर्यन्त सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठति । वाक् च चित्तं च वाक्चित्त तयोर्योगो वाक्चित्तयोग सूक्ष्मश्चासौ वाक्चित्त योग सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्तं हन्ति विनाशयतीति । एको असहायो दंडः सूक्ष्मकाययोग विद्यते यस्य स एकदंडी भगवान् उच्यते । कियत्कालं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामपरमशुक्लध्याने स्वामी तिष्ठतीति एकदण्डी

प्राप्त कर दिया है अत आप उत्सन्नयोग कहलाते हैं। अथवा विश्वासघातीको भी योग कहते हैं आपने विश्वासघातियोको उच्छिन्न कर दिया है इसलिए आप उत्सन्नयोगी कहलाते हैं (९) आप सुप्त समुद्रकी उपमाको धारण करते हैं इसलिए सुप्तार्णवोपम कहलाते हैं। जिस प्रकार सुप्त समुद्र कल्लोल-रहित शान्त एवं नीरव स्तब्ध रहता है उसी प्रकार आप भी योगके अभावसे आत्मप्रदेशोकी चंचलतासे सर्वथा रहित हैं (१०)। मन, वचन कायके व्यापाररूप योगके स्नेहको आपने दूर कर दिया है इसलिए योगस्नेहापह कहलाते हैं (११)। आप योगोंकी कृष्टियोंके निर्लेपके लिए उद्यत हुए हैं, अर्थात् योग-सम्बन्धी जो सूक्ष्म रज-कण आत्मप्रदेशोंपर अवशिष्ट हैं उन्हें दूर करनेके लिए तत्पर हुए हैं अत योगिजन आपको योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यत कहते हैं (१२)। स्थूल वपुर्योग अर्थात् बादरपरमौदारिककाययोगको आपने स्थित कहिए निवृत्त किया है अत आप स्थितस्थूलवपुर्योग कहलाते हैं। भगवान् योग-निरोधके समय सर्व-प्रथम बादरकाययोगका निरोध करते हैं (१३)। पुनः बादरवचनयोग और बादरमनोयोगको कृश करते हैं अर्थात् उन्हें सूक्ष्मरूपसे परिणत करते हैं, इसलिए आप गीर्मनोयोगकार्श्यक कहलाते हैं (१४)। पश्चाद् सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्ममनोयोगमें अवस्थित रहते हैं इसलिए उन्हें सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थ कहते हैं (१५)। पुन भगवान् वपु क्रिया अर्थात् औदारिककाययोगको सूक्ष्म करते हैं इसलिए उन्हें सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय कहते हैं (१६)।

अर्थ—हे शीलेश, आप सूक्ष्मकायक्रियास्थायी हैं, सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा हैं, एकदण्डी हैं, परमहंस हैं, परमसंवर हैं नैःकर्म्यसिद्ध हैं, परमनिर्जर हैं प्रज्वलत्प्रभ हैं, मोघकर्मा हैं, त्रुटत्कर्मपाश हैं, शैलेश्यलंकृत हैं, एकाकाररसास्वादी हैं, विश्वाकाररसाकुल हैं अजीवन् हैं, अमृत हैं, अजाग्रत हैं, असुप्त हैं और शून्यतामय हैं ॥१२७-१२९॥

व्याख्या—औदारिककाययोगको सूक्ष्म करनेके अनन्तर कुछ काल तक आप सूक्ष्मकाय योगमें अवस्थित रहते हैं, इसलिए सूक्ष्मकायक्रियास्थायी कहलाते हैं (१७)। पुनः आप सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्ममनोयोगका विनाश करते हैं, इसलिए सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा कहलाते हैं (१८)। तदनन्तर आपके केवल एक सूक्ष्मकाययोगरूप दण्ड विद्यमान रह जाता है, इसलिए आप एकदण्डी कहलाते हैं। जितने समय तक भगवान् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यानमें अवस्थित

प्रेयानयोगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः । निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥
वृद्धो निर्वचनीयोऽणुरणीयाननणुप्रियः । प्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरोऽनिष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥
भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः । व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थितः ॥१३२॥

कथ्यते न तु काष्ठादिदण्ड करे करोति भगवान् । परम उत्कृष्टो हंस आत्मा यस्येति । परम उत्कृष्ट संवरो निर्जराहेतुर्यस्य ॥१२७॥ निर्गतानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि यस्येति नि कर्मा । नि कर्मणो भाव कर्म वा नैः कर्म्यम् । नैः कर्म्ये सिद्ध प्रसिद्धो नैः कर्म्यसिद्धः । परमते ये अश्वमेधादिकं हिंसायज्ञकर्म न कुर्वन्ति ते वेदान्तवादिन उपनिषदि पाठका नैः कर्म्यसिद्धा उच्यन्ते । परमा उत्कृष्टा असंख्येयगुणा कर्मणा निर्जरा यस्येति । प्रज्वलन्ती लोकालोकं प्रकाशयन्ती प्रभा केवलज्ञानतेजो यस्य स तथोक्त । मोघानि नि फलानि कर्माणि असद्वेद्यादीनि यस्येति । त्रुटन्ति स्वयमेव छिद्यन्ते कर्माण्येव पाशा यस्येति त्रुटत्कर्मपाश उत्कृष्ट निर्जरावानित्यर्थ । शीलाना अष्टादशसहस्रसंख्यानामीश शीलेश । शीलेशस्य भाव शैलेशी । यथा च स्त्रीनपुंसकाख्या । शैलेश्या शीलप्रभुत्वेन अलंकृत शैलेश्यलंकृत ॥१२८॥ एकश्चासावाकार एकाकार एक विशेषज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । एकाकार एव रस परमानन्दामृत तस्य आस्वादोऽनुभवनं यस्य स एकाकाररसास्वाद निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मज्ञानामृतरसानुभवनवानित्यर्थ । विश्वस्य लोकालोकस्य आकारो विशेषज्ञानं स एव रस अनन्तसौख्योत्पादनं तत्र आकुलो व्यापृत । आनप्राणायुरहितत्वात् अजीवन् । न मृत अमृत, जीवन्मुक्तत्वात् । न जागर्तीति अजाग्रत् योगनिद्रास्थितत्वात् । आत्मस्वरूपे सावधानत्वात् न मोहनिद्रा प्राप्त । शून्यतया मनोवचनकायव्यापाररहितत्वात् ॥१२९॥

रहते हैं, उतने समय तक उनकी एकदण्डी संज्ञा रहती है (१९)। आप कर्म और आत्माको क्षीर नीरके समान उत्कृष्ट विवेक करनेवाले हैं, अतः आपको परमहंस कहते हैं (२)। आपके सर्व कर्मोंके आस्रवका सर्वथा निरोध हो गया है, अत आप परमसंवर कहलाते हैं (२१)। आपने सर्व कर्मोंका अभाव कर सिद्धपद प्राप्त किया है, अतः आप नैःकर्म्यसिद्ध कहलाते हैं (२२)। आपके कर्मोंकी असंख्यातगुणश्रेणीरूप परम अर्थात् उत्कृष्ट निर्जरा पाई जाती है इसलिए आप परमनिर्जर कहलाते हैं (२३)। आपके प्रज्वल प्रभावाला अर्थात् लोकालोकको प्रकाशित करनेवाला अतिशय प्रभावान् केवलज्ञानरूप तेज पाया जाता है, इसलिए आप प्रज्वलत्प्रभ कहलाते हैं (२४)। आपने विद्यमान अघातिया कर्मोंको मोघ अर्थात् निष्फल कर दिया है, इसलिए आपको मोघकर्मा कहते हैं (२५)। आपके कर्मोंके पाश अर्थात् बन्धन स्वयमेव ही प्रतिक्षण टूट रहे हैं इसलिए आपको त्रुटत्कर्मपाश कहते हैं (२६)। शीलके अठारह हजार भेदोंका धारण करनेसे आप शैलेश्यलंकृत कहलाते हैं (२७)। आप एक आकाररूप अर्थात् निज शुद्धबुद्धैकस्वभावरूप ज्ञानामृतरसके आस्वादन करनेवाले हैं, अतः एकाकाररसास्वादी कहलाते हैं (२८)। विश्वाकार अर्थात् लोकालोकके आकार रूप जो विशिष्ट ज्ञानामृतरस है, उसके आस्वादनमें आप आकुल कहिए निरत हैं अर्थात् निजानन्द रस लीन हैं अतएव आप विश्वाकाररसाकुल कहलाते हैं (२९)। आप जीवित रहते हुए भी श्वासोच्छ्वास नहीं लेते हैं अर्थात् आनापानवायुसे रहित हैं, इसलिए अजीवन् कहलाते हैं (३०)। आप मरणसे रहित हैं, अर्थात् जीवन्मुक्त हैं, अतः अमृत कहलाते हैं (३१)। आप योगनिद्रामें अवस्थित हैं अत अजाग्रत कहलाते हैं (३२)। आप आत्मस्वरूपमें सावधान हैं, मोहनिद्रासे रहित हैं, अतः असुप्त कहलाते हैं (३३)। आप शून्यरूप हैं, अर्थात् मन वचन, कायके व्यापारसे रहित हैं, अतएव शून्यतामय कहलाते हैं (३४)।

अर्थ—हे जगत्गुरु, आप प्रेयान् हैं, अयोगी हैं, चतुरशीतिलक्षगुण हैं अगुण हैं निःपीता-नन्तपर्याय हैं, अविद्यासंस्कारनाशक हैं, वृद्ध हैं, निर्वचनीय हैं, अणु हैं, अणीयान् हैं, अनणुप्रिय हैं, प्रेष्ठ हैं, स्थेयान् हैं, स्थिर हैं, निष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं, सुनिष्ठित हैं भूतार्थशूर हैं, भूतार्थदूर हैं, परमनिर्गुण हैं, व्यवहारसुषुप्त हैं, अतिजागरूक हैं और अतिसुस्थित हैं ॥१३०-१३२॥

अतिशयेन प्रिय (प्रेयान्)। न विद्यन्ते योगा मनोवाक्कायव्यापारा यस्येति । चतुरशीतिलक्षा गुणा यस्येति । न विद्यन्ते गुणा रागादयो यस्य सोऽगुण । निःपीता अविवक्षिता केवलज्ञानमध्ये प्रवेशिता अनन्ता सर्वद्रव्याणां पर्याया येन स तथोक्तः । अविद्या अज्ञानं तस्याः संस्कार आसंसारमभ्यासोऽनुभवनं तस्य नाशक मूलादुन्मूलकः, निर्मूलकार्षं कषक ॥१२०॥ वर्धते स्म वृद्ध. केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति स्मेति समुद्घातापेक्षया लोकप्रमाणो वा वृद्ध. । निरुक्तु निरुक्तिमानेतु शक्यो निर्वचनीय । अथवा निर्गतं वचनीयमपकीर्तिर्यस्य यस्माद्वा । 'अण रण वण भण मण कण क्वण ध्वन ध्वन शब्दे' अणति शब्दं करोति अणु । पदसिवसिहनिमनिजपिहृदिकंदिवधिवञ्चिभ्यश्च उप्रत्यय अणुरिति वाक्यम् । अणोरप्यतिसूक्ष्मः अणीयान् । न अणव , न अल्पो अनणवो महान्त इन्द्र मुनीन्द्र-चन्द्रादय तेषा प्रिय अतीवाभीष्ट । अतिशयेन इन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्र चन्द्रादीनां प्रिय प्रेष्ठ । अतिशयेन स्थिरः ।

व्याख्या—हे सब हितकर, आप जगत्को अतिशय प्रिय हैं अत प्रेयान् कहलाते हैं (३५)। आप योग-रहित हैं, अत अयोगी हैं (३६)। आपके चौरासी लाख उत्तर गुण पाये जाते हैं[1], अत योगिजन आपको चतुरशीतिलक्षगुण नामसे पुकारते हैं (३७)। राग, द्वेष आदि वैभाविक गुणोंके अभावसे आपको अगुण कहते हैं (३८)। सर्व द्रव्योंकी अविवक्षित अनन्त पर्यायोंको आपने अच्छी तरह पी लिया है अर्थात् केवलज्ञानके द्वारा जान लिया है, उन्हें आत्मसात् कर लिया है अत आपको निःपीतानन्तपर्याय कहते हैं (३९)। अविद्या अर्थात् अनादि-कालीन अज्ञानके संस्कारका आपने सर्वथा विनाश कर दिया है, अत आपको अविद्यासंस्कारनाशक कहते हैं। अथवा आपने अविद्याको अपने विशिष्ट संस्कारोंसे नाश कर दिया है (४०)। आप सदा वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं, अथवा लोकपूरण-समुद्घातकी अपेक्षा सबसे बड़े हैं, अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकमें व्याप्त हैं, अत वृद्ध कहलाते हैं (४१)। आप निरुक्तिके द्वारा वचनीय अर्थात् कहनेके योग्य हैं, अथवा वचनीय अर्थात् निन्दा अपवादसे रहित हैं अत निर्वचनीय कहलाते हैं (४२) अणति, शब्दं करोतीत्यणुः अर्थात् जो शब्द करे उसे अणु कहते हैं। अर्हन्त अवस्थामें आपकी दिव्यध्वनि खिरती है अत आप भी अणु कहलाते हैं। अथवा पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी अंशको अणु कहते हैं। वह अतिसूक्ष्म होनेसे इन्द्रियोंके अगोचर रहता है। आप योगियोंके भी अगम्य हैं, अत अणुसदृश होनेसे अणु कहलाते हैं (४३)। आप अणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं इसलिए अणीयान् कहलाते हैं। अणु यद्यपि सूक्ष्म है इन्द्रियोंके अगोचर है तथापि वह मूर्त होनेसे अवधि-मनःपर्ययज्ञानियोंके दृष्टि-गोचर हो जाता है। पर आप अवधि मनःपर्ययज्ञानी महायोगियोंके भी अगोचर हैं, क्योंकि अमूर्त हैं, अतः अतिसूक्ष्म होनेसे आपको अणीयान् कहते हैं (४४)। अणुता अर्थात् क्षुद्रतासे रहित महान् पुरुषोंको अनणु कहते हैं। आप इन्द्र, नागेन्द्र, मुनीन्द्रादि महापुरुषोंके प्रिय हैं, अभीष्ट वल्लभ हैं, अतः अनणुप्रिय कहलाते हैं। अथवा शरीर-स्थितिके लिए स्वभावत आनेवाले नोआहारवर्गणाके परमाणु भी आपको अभीष्ट नहीं हैं क्योंकि योगनिरोध करनेपर आप उन्हें भी ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिए भी अनणुप्रिय कहलाते हैं (४५)। आप सर्व जगत्को अत्यन्त प्रिय हैं, अतः प्रेष्ठ कहलाते हैं (४६)। योग निरोध करने पर अर्थात् अयोगिकेवली गुणस्थानके प्राप्त हो जानेपर आप प्रदेश-परिस्पन्दसे रहित निश्चल रहते हैं, अतः एकरूपसे स्थिर रहनेके कारण आप स्थिर कहलाते हैं[2] (४७)। अत्यन्त स्थिरको स्थेयान् कहते हैं। आप सुमेरुके समान अचल हैं, अतः स्थेयान् कहलाते हैं (४८)। आप अपने ध्येयमें अत्यन्त दृढ़ता-पूर्वक स्थिर हैं अतः स्थिष्ठ कहलाते हैं (४९)। अत्यन्त प्रशंसाके योग्य होनेसे आपको श्रेष्ठ कहते हैं (५०)। ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त वृद्ध होनेसे आप ज्येष्ठ

---

१ विशेषके लिए प्रस्तावना देखिये । २ [illegible] सुविधाके लिए स्थेयान्से पहले स्थिरकी कथा है ।

उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः । अमेयमहिमाऽत्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वयंवरः ॥१३३॥
सिद्धानुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः । सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिंग्यः सिद्धोपगूहकः ॥१३४॥
पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः पुण्यशंबलः । वृत्ताग्रयुग्यः परमशुक्ललेश्योऽपवारकृत् ॥१३५॥

योगनिरोधे सति उद्भासनेन पद्मासनेन वा तिष्ठति निश्चलो भवतीति स्थिरः । अतिशयेन प्रशस्यः, अतिशयेन वृद्धः प्रशस्यो वा ज्येष्ठः । सुष्ठु शोभनं यथा भवति तथा न्यतिशयेन स्थितः सुनिष्ठितः । ष्ठति स्यति मास्था न्यगुणे इत्थ । अथवा शोभना निष्ठा योगनिरोधः संजातो यस्येति सुनिष्ठितः । तारकितादिदर्शनात् सञ्जातेऽर्थे इतच्प्रत्ययः ॥१३१॥ भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूरः पापकर्मसेनाविध्वंसनसमर्थत्वात् । अथवा भूतानां प्राणिनां अर्थे प्रयोजने स्वर्गमोक्षसाधने शूरः सुभटः । अथवा भूतः प्राप्तः अर्थः आत्मपदार्थो येन स भूतार्थः, मुक्तात्मा तत्र शूरः । अकातरः । भूतार्थः सत्यार्थो दूरः केवलज्ञानं विना अगम्यत्वात् विप्रकृष्टः । अथवा भूता अतीता ये अर्थाः पञ्चेन्द्रियविषयाः भुक्तमुक्तास्तेभ्यो दूरो विप्रकृष्टः सर्वेन्द्रियविषयासामनिकट इत्यर्थः । निर्गता गुणा राग द्वेष मोहादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः परम उत्कृष्टो निर्गुणः परमनिर्गुणः । व्यवहारे विहारकर्मणि धर्मोपदेशादिके च सुष्ठु अतिशयेन सुप्तो निश्चिन्तः अव्यापृतः । जागर्तीत्येवंशील जागरूकः आत्मस्वरूपे सदा सावधानः । अतिशयेन जागरूकः अतिजागरूकः । अतिशयेन सुस्थितः सुखीभूतः ॥१३२॥

उदितादप्युदितं परमप्रकर्षमागतं माहात्म्यं प्रभावो यस्य स तथोक्तः निर्गता उपाधिर्धर्मचिन्ता

कहलाते हैं (५१)। आप अच्छी तरहसे आत्मामें स्थित हैं, अतः सुनिष्ठित कहलाते हैं (५२)। भूतार्थ अर्थात् परमार्थसे आप शूर-वीर हैं, क्योंकि कर्मोंकी सेनाका आपने विध्वंस किया है इसलिए भूतार्थशूर कहलाते हैं। अथवा भूत अर्थात् प्राणियोंके अर्थ कहिए प्रयोजन या अभीष्टको पूर्ण करनेमें आप शूर हैं सुभट हैं। अथवा भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थमें आप शूर हैं। अथवा आत्मस्वरूपकी प्राप्तिरूप प्रयोजन आपका पूर्ण हो गया है, ऐसे शूर होनेसे भी आपको भूतार्थशूर कहते हैं (५३)। भूतकालमें भोगकर छोड़ हुए पंचेन्द्रियोंके विषयोंको भूतार्थ कहते हैं आप उनसे दूर हैं अर्थात् सर्वथा रहित हैं अतः भूतार्थदूर कहलाते हैं। अथवा भूत कहिए प्राणियोंके प्रयोजनभूत अर्थोंसे आप अत्यन्त दूर हैं। अथवा भूत पिशाचोंके समान संबोधित किये जाने पर भी जो प्रबोधको प्राप्त नहीं होते हैं ऐसे अभव्य जीवोंको भूत कहते हैं उनके प्रयोजनभूत अर्थसे आप अत्यन्त दूर हैं अर्थात् उन्हें सम्बोधनमें असमर्थ हैं इसलिए भी भूतार्थदूर कहलाते हैं। अथवा सत्यार्थका ज्ञान केवलज्ञानके विना दूर अर्थात् असम्भव है ऐसा आपने प्रतिपादन किया है (५४)। राग द्वेष आदि वैभाविकगुणोंके अत्यन्त अभाव हो जानेसे आप परमनिर्गुण कहलाते हैं। अथवा परं+अनिर्गुण ऐसी सन्धिके अनुसार यह भी अर्थ निकलता है कि आप निश्चयसे गुण-रहित नहीं हैं किन्तु अनन्त गुणोंके पुञ्ज हैं (५५)। आप व्यवहार अर्थात् संसारके कार्योंमें अत्यन्त मौन धारण करते हैं या उनसे रहित हैं अतएव व्यवहारसुषुप्त कहलाते हैं (५६)। अपने आत्मस्वरूपमें आप सदा अतिशय करके जाग्रत अर्थात् सावधान रहते हैं, इसलिए अतिजागरूक कहलाते हैं (५७)। आप अपने आपमें अत्यन्त सुखसे स्थित हैं, अतः अतिसुस्थित कहलाते हैं (५८)।

अर्थ—हे अचिन्त्यमाहात्म्य, आप उदितोदितमाहात्म्य हैं निरुपाधि हैं, अकृत्रिम हैं, अमेयमहिमा हैं, अत्यन्तशुद्ध हैं सिद्धिस्वयंवर हैं, सिद्धानुज हैं, सिद्धपुरीपान्थ हैं सिद्धगणातिथि हैं, सिद्धसंगोन्मुख हैं सिद्धालिंग्य हैं सिद्धोपगूहक हैं, पुष्ट हैं अष्टादशसहस्रशीलाश्व हैं, पुण्यशंबल हैं, वृत्ताग्रयुग्य हैं परमशुक्ललेश्य हैं और अपवारकृत् हैं ॥१३३-१३५॥

व्याख्या—आपका माहात्म्य उत्तरोत्तर उदयशील है, परम प्रकर्षको प्राप्त है इसलिए आपको उदितोदितमाहात्म्य कहते हैं (५९)। आप सर्व परिग्रहरूप उपाधियोंसे रहित हैं, अतः

धर्मोपदेशविहारकर्मादिको यस्येति । अथवा निर्गत उप समीपात् आधिर्मानसी पीडा यस्येति निरुपाधिः जन्म-जरा-मरण व्याधित्रयरहितत्वात् निश्चिन्त इत्यर्थः । अथवा निश्चित उपाधिरात्मधर्मस्यात्मस्वरूपस्य चिन्ता परमशुक्लध्यानं यस्येति । अकरणेन अविधानेन धर्मोपदेशादेरकृत्रिम । डुकृञ् करणे क्त्रिमप् । महतो भावो महिमा । पृथ्वादिभ्य इमन् । मा अमेयोऽमर्यादीभूतो लोकालोकव्यापी महिमा केवलज्ञान व्याप्तिर्यस्यासावमेयमहिमा । अत्यन्तमतिशयेन शुद्ध कर्ममलकलंकरहितः अत्यन्तशुद्ध, रागद्वेषमोहादिरहितो वा, द्रव्यकर्म भावकर्म-नोकर्मरहितो वा सन्निकटतरसिद्धपर्यायत्वात् । सिद्धेरात्मोपलब्धे कन्यायाः स्वयंवर परिणेता ॥१३३॥ सिद्धानां मुक्तात्मनामनुजो लघुभ्राता पश्चाज्जातत्वात् । सिद्धानां मुक्तात्मनां पुरी नगरी मुक्ति ईषत्प्राग्भारसंज्ञं पत्तनं तस्याः पान्थः पथिक । सिद्धानां मुक्तजीवाना गण समूह, अनन्तसिद्ध समुदाय सिद्धगण तस्य अतिथि प्राघूर्णक । सिद्धानां भवविच्युतानां संगो मेलस्तं प्रति उन्मुखो बद्धोत्कठ । सिद्धै कर्मविच्युतै सत्पुरुषै महापुरुषैरालिंगितुं योग्य आश्लेषोचित सिद्धालिंग्य । सिद्धानां मुक्तिवल्लभानामुपगूहक आलिंगनदायक अंकपालीविधायक ॥१३४॥ पुष्यति स्म पुष्ट पूर्ण सिद्धसमानज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणै सबल । अश्नुवते क्षणेन अभीष्टस्थानं प्राप्नुवन्ति जातिशुद्धत्वात् स्वस्वामिनमभिमतस्थानं नयन्तीति अश्वा अष्टभिरधिका (दश) अष्टादश अष्टादश च तानि सहस्राणि अष्टादशसहस्राणि । अष्टादशसहस्राणि च तानि शीलानि अष्टादशसहस्रशीलानि तान्येव अश्वा वाजिनो यस्य सोऽष्टादशसहस्रशीलाश्व । पुण्य सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं शंबलं पथ्योऽदनं यस्य स भवति पुण्यशंबल । वृत्त चारित्र अग्रं मुख्यं युग्यं वाहनं यस्येति । कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्योच्यते जीवं हि कर्मणा लिम्पतीति लेश्या । कृत्ययुटोऽन्यत्रापि चेति सूत्रेण कर्तरि ध्यण् नामिनश्चोपधाया लघोरिति गुण पृषोदरादित्वात् पकारस्य शकार स्त्रियामादा । परमशुक्ला लेश्या यस्य स तथोक्त । अपवरणम

निरुपाधि कहलात हैं । अथवा मानसिक पीड़ाको उपाधि कहते हैं, आप उससे सर्वथा रहित हैं । अथवा धमापदेश विहार आदि कार्योंको भी उपाधि कहते हैं । योग निरोध कर लेने पर आप उनसे भी रहित हो जाते हैं । अथवा आत्मस्वरूपके चिन्तन करनेवाले परमशुक्लध्यानको उपाधि कहते हैं । वह आपके निश्चित है, इससे भी आप निरुपाधि नामको सार्थक करते हैं (६०)। आप अपने स्वाभाविक रूपको प्राप्त हैं अत अकृत्रिम कहलाते हैं । अथवा योगनिरोधके पश्चात् धर्मोपदेशादिका नहीं करनेसे भी आप अकृत्रिम कहलाते हैं (६१)। अमेय अर्थात् अमर्यादीभूत लोकालोकव्यापी महिमाके धारण करनेसे आप अमेयमहिमा कहलाते हैं (६२)। आप राग, द्वेष, मोहादिरूप भावमलसे, अष्टकर्मरूप द्रव्यमलसे और शरीररूप नोकममलसे सर्वथा रहित हैं अत अत्यन्तशुद्ध कहलाते हैं (६३)। आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप सिद्धिके आप स्वयंवर अर्थात् परिणेता हैं, अतः सिद्धिस्वयंवर नामसे प्रसिद्ध हैं (६४)। सिद्धोंके पश्चात् मुक्ति प्राप्त करनेसे आप सिद्धोंके लघुभ्राता हैं अत सिद्धानुज कहलाते हैं (६५)। ईषत्प्राग्भार नामक सिद्धपुरीके आप पथिक हैं अतः सिद्धपुरीपान्थ कहलाते हैं (६६)। सिद्धसमुदायके आप अतिथि अर्थात् मेहमान या पाहुने हैं अतः सिद्धगणातिथि कहलाते हैं (६७)। सिद्धोंके संगमके लिए आप उन्मुख अर्थात् उत्कण्ठित हैं इसलिए सिद्धसंगोन्मुख कहलाते हैं (६८)। सिद्धोंके द्वारा आलिंगन या भेंट करनेके योग्य होनसे आप सिद्धालिंग्य कहलाते हैं (६९)। सिद्धोंके उपगूहक अर्थात् आलिंगन-दायक या अंकपाली-विधायक होनेसे आप सिद्धोपगूहक कहलाते हैं (७०)। सिद्धोंके समान अनन्त ज्ञानादिगुणोंसे पुष्टिको प्राप्त होनेके कारण आप पुष्ट कहलाते हैं (७१)। अठारह हजार शीलके भेदरूप अश्वोंके स्वामी होनेसे आप अष्टादशसहस्रशीलाश्व कहलाते हैं । जिस प्रकार उत्तम अश्व मनुष्यको क्षणभरमें अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, उसी प्रकारसे आपको अपने अभीष्ट सिद्धिरूप शिवपुरीको पहुँचानेवाले शीलके अठारह हजार भेद प्राप्त हैं (७२)। आपके पुण्यरूप संबल अर्थात् पाथेय या मार्गका भोजन पाया जाता है, अतः आप पुण्यशंबल कहलाते

क्षेपिष्ठोऽन्त्यक्षणसखा पंचलघ्वक्षरस्थितिः । द्वासप्ततिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१३६॥
अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनग्निपरिग्रहः । अनग्निहोत्री परमनिःस्पृहोऽत्यन्तनिर्दयः ॥१३७॥
अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः । अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥१३८॥

पचारो मारणं कर्मशत्रूणामेवापचारो घातिकर्मणां विध्वंसनमित्यर्थः । अपचार घातिसंघातघातनं पूर्वमेव कृतवान् भगवानित्यर्थ । अथवा अपचार मारणं कृंतति उच्छेदयतीति अपचारकृत् ॥१३५॥

अतिशयेन क्षिप्र शीघ्रतर क्षेपिष्ठ एकेन क्षणेन त्रैलोक्यशिखरगामित्वात् । अन्त्यक्षणस्य सखा अन्त्यक्षणसखा, संसारस्य पश्चिम समय तेन सह गामुको मित्रमित्यर्थ । अथवा अन्त्यक्षणस्य पंचमकल्याणस्य सखा मित्रम् । अथवा अन्त्यक्षणसख इति पाठे अन्त्यक्षण सखा मित्रं यस्येति । पंच च तानि लघ्वक्षराणि च पंचलघ्वक्षराणि अ इ उ ऋ ऌ इत्येवंरूपाणि क च ट त प रूपाणि वा क ख ग घ ङ इत्यादि रूपाणि वा । यावत्कालपंचलघ्वक्षराण्युच्चार्यन्ते तावत्कालपर्यन्त चतुर्दशे गुणस्थाने अयोगिकेवल्यपरनाम्नि स्थितिर्यस्येति । पचानामक्षराणां मध्ये य पूर्व समय स समयो द्विचरमसमय कथ्यते उपान्त्यसमयश्चाभिधीयते । तस्मिन्नुपान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीर्भगवान् क्षिपते द्विसप्ततिप्रकृतीरस्यति क्षिपते इत्येवशील द्वासप्त

हैं (७३) । वृत्त अर्थात् सम्यक चारित्र ही आपका मुख्य युग्य कहिए वाहन है इसलिए आप वृत्ताग्रयुग्य कहलाते हैं (७४) । परमशुक्ल लेश्याके धारक होनेसे परमशुक्ललेश्य कहलाते हैं (७५) । आपने घातिया कर्मोंके अपचार अर्थात मारणको किया है इसलिए अपचारकृत कहलाते हैं । जिस प्रकार शत्रु पर विजय पानेका इच्छुक कोई मनुष्य मारण उच्चाटन, विष प्रयोग आदिके द्वारा शत्रुका विनाश करता है उसी प्रकार आपने भी ध्यान और मंत्र रूप विष प्रयोगके द्वारा कर्मोंका मारण, उच्चाटन आदि किया है । अथवा आप अपचार अर्थात् मारणका 'कृन्तति कहिए उच्छेदन करते हैं अर्थात हिंसा विधान करनेवाले मतोंका निराकरण करते हैं इसलिए भी अपचारकृत कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे क्षेमंकर आप क्षेपिष्ठ हैं, अन्त्यक्षणसखा हैं पंचलघ्वक्षरस्थिति हैं, द्वासप्ततिप्रकृत्यासी हैं त्रयोदशकलिप्रणुत हैं अयाजक हैं अयज्य हैं अयाज्य हैं अनग्निपरिग्रह हैं अनग्निहोत्री हैं परमनिःस्पृह हैं, अत्यन्तनिर्दय हैं अशिष्य हैं अशासक हैं अदीक्ष्य हैं अदीक्षक हैं अदीक्षित हैं अक्षय हैं अगम्य हैं अगमक हैं अरम्य हैं, अरमक हैं और ज्ञाननिर्भर हैं ॥१३६-१३८॥

व्याख्या—हे जगत्कल्याणकर आप अत्यन्त शीघ्रगामी हैं एक क्षणमें त्रैलोक्यके शिखर पर जा विराजते हैं, अतः क्षेपिष्ठ कहलाते हैं (७७) । आपके संसारवासका जो अन्तिम क्षण है उसके आप सखा हैं क्योंकि उसके साथ ही निर्वाणको गमन करते हैं । सहगामीको ही मित्र कहते हैं अतः आप अन्त्यक्षणसखा कहलाते हैं । अथवा क्षण शब्द कल्याण-वाचक भी है । अन्तिम निर्वाणकल्याणके आप मित्र हैं क्योंकि वही आपको मुक्ति-लाभ कराता है । अथवा अन्तिम क्षण ही आपका सखा है क्योंकि उसके द्वारा ही आप अजर अमर बनते हैं (७८) । अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें आपकी स्थिति अ इ उ ऋ, ऌ इन पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण-काल प्रमाण रहती है, इसलिए आपको पंचलघ्वक्षरस्थिति कहते हैं (७९) । आप चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य या द्विचरम समयमें अघातिया कर्मोंकी बहत्तर प्रकृतियोंका नाश करते हैं, इसलिए आपको द्वासप्ततिप्रकृत्यासी कहते हैं । वे बहत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—औदारिकादि पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात छह संस्थान, छह संहनन आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध पाँच वर्ण, तीन आंगोपांग, ये ५० प्रकृतियाँ, तथा देवगति देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति अप्रशस्तविहायोगति, स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, निर्माण अयशःकीर्ति अनादेय, प्रत्येकशरीर, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उच्छ्वास,

तिप्रकृत्याशी । त्रयोदश कलीन् त्रयोदशकर्मप्रकृतीः नुदति क्षिपते त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१२६॥ न विद्यते वेदः स्त्रीपुंनपुंसकत्वं यस्येति अवेद लिंगत्रयरहित इत्यर्थः । न याजयति, निजां पूजां कारयति अतिनिःस्पृहत्वात् । यष्टुं शक्यो यज्यः, न यज्य अयज्य । शकिसहिपवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः । शक्तिग्रहणात् शक्यार्थो ग्राह्यः स्वामिनोऽलक्ष्यस्वरूपत्वात् केनापि यष्टुं न शक्यते तेन अयज्य इत्युच्यते । इज्यते याज्यः न यष्टुं शक्यते अयाज्य । ऋवर्णाव्यंजनांताद् ध्यण् । कर्मसमिधां भस्मीकरणेन अग्नेर्गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निनामत्रय-वैश्वानरस्य न परिग्रह स्वीकारो यस्य सोऽनग्निपरिग्रहः । अग्निहोत्रो विप्रप्रोक्तं यज्ञविशेषः, अग्निहोत्रो विद्यते यस्य सोऽग्निहोत्री ब्राह्मणविशेषः । न अग्निहोत्री अग्निं विनापि कर्मेन्धनदहनकारित्वात् । परम उत्कृष्टो निःस्पृहः परमनिःस्पृह । अथवा परा उत्कृष्टा केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः । परमश्चासौ निःस्पृह परमनिःस्पृह । अतिगतो विनष्टोऽन्तो विनाशो यस्येति अत्यन्त । निश्चिता सगुण निर्गुणप्राणिवर्गरक्षणलक्षणा दया करुणा यस्येति निर्दय । अथवा अतिशयेन अन्ते अन्तके यमे निर्दयो

~ ~~~ ~~ ~~ ~~ ~~~ ~ ~~~ ~~~~ ~~~ ~~ ~~~~~~~ ~~ ~~~

उपघात, परघात कोई एक वेदनीय कर्म और नीच गोत्र । इन बहत्तर प्रकृतियोंको अयोगिकेवली भगवान् चौदहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें सत्तासे व्युच्छिन्न करते हैं (८०)। वे ही अन्तिम समयमें मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर पर्याप्त, सुभग आदेय यशः कीर्ति, तीर्थंकरप्रकृति मनुष्यायु, उच्चगोत्र और कोई एक वेदनीयकर्म, इन तेरह कलि अर्थात् कर्मप्रकृतियोंका नुदति कहिए क्षेपण करते हैं सत्त्वसे व्युच्छिन्न करते हैं इसलिए चरमसमयवर्ती अयोगिकेवली भगवान्का त्रयोदशकलिप्रणुत् कहते हैं (८१)। आप तीनों वेदोंसे रहित हैं अतः अवेद या अपगतवेदी कहलाते हैं । अथवा आपने ऋग्वेदादिको प्रमाण नहीं माना है, इसलिए भी अवेद कहलाते हैं । अथवा 'अ' शब्द शिव, केशव, वायु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और सूर्यका वाचक है। 'व' शब्द वरुणका वाचक है । आप इन सबके 'इव' अर्थात् पापको 'यति' कहिए खंडित करते हैं, इसलिए भी अवेद नामको सार्थक करते हैं (८२)। अतिनिःस्पृह होनेसे आप भक्तोंके द्वारा अपनी पूजाको नहीं कराते हैं, अत अयाजक कहलाते हैं । अथवा अय नाम गतिका है । वह तीर्थ प्रवर्त्तनरूप गति तेरहवें गुणस्थानमें होती है । पर अयोगिकेवली भगवान् तो व्युपरतक्रियानिवर्त्ति शुक्लध्यानवाले हैं अत उनके योगनिरोधके साथ ही विहार धर्मोपदेश आदि सर्व क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, इसलिए भगवान् अयके अजक अर्थात् गतिके निरोधक होनेसे अयाजक कहलाते हैं (८३)। आपका स्वरूप अलक्ष्य है अतः किसीके द्वारा भी नहीं पूजे जा सकते इसलिए आपको अयज्य कहते हैं (८४)। आप अतीन्द्रिय अमूर्तस्वरूप हैं इन्द्रियोंके अगोचर हैं, इसलिए किसीके द्वारा द्रव्यपूजाके योग्य नहीं हैं अतएव आपको अयाज्य कहते हैं (८५)। अग्नि तीन प्रकारकी होती है—गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणाग्नि । आपके इन तीनों ही प्रकारकी अग्नियों का परिग्रह नहीं है, अत अनग्निपरिग्रह कहलाते हैं । अथवा स्त्रीके ग्रहणको भी परिग्रह कहते हैं । आप अग्नि और स्त्री दोनोंसे रहित हैं, इसलिए भी अनग्निपरिग्रह कहलाते हैं (८६)। अग्निके द्वारा यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणको अग्निहोत्री कहते हैं आप बिना ही अग्निके कर्मरूप समिधाको भस्म करनेवाले हैं, अतः अनग्निहोत्री कहलाते हैं (८७)। आप संसारकी सर्व वस्तुओंकी इच्छासे सर्वथा रहित हैं, अत परमनिःस्पृह कहलाते हैं । अथवा पर अर्थात् उत्कृष्ट मा कहिए लक्ष्मीके धारकको परम कहते हैं । आप समवसरणरूप उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारण करने पर भी उससे सर्वथा निःस्पृह हैं, इसलिए भी आपको परमनिःस्पृह कहते हैं (८८)। आप परम दयालु होकरके अत्यन्त निर्दय हैं यह परस्पर विरोधी कथन भी आपमें संभवता है:—जिसके सभी छोटे बड़े प्राणियों पर भी दया निश्चितरूपसे पाई जाती है, उसे निर्दय कहते हैं और अन्त रहितको अत्यन्त कहते हैं । इस प्रकार

महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भव । ज्ञानैकचिज्जीवघन सिद्धो लोकाग्रगामुक ॥१२९॥

इत्यन्ताष्टकम् । एकमेकत्र १ ८ ।

निःकरुणाः । अथवा अत्यन्ता अतिशयेन विनाश प्राप्ता निर्दया अन्तरम्लेच्छादयो यस्मादिति । अथवा अतिशयेन अन्ते मोक्षगमनकाले निश्चिता दया स्व परजीवरक्षणलक्षणा यस्येति ॥१३७॥ न केनापि शिष्यते अशिष्य । अथवा मोक्षगमनकाले मुनिशिष्यसङ्घादिगणैर्न वेष्टितोऽपि परमनि स्पृहत्वात् निरीहत्वाच्च अशिष्यः । न शास्ति न शिष्यान् धर्म ब्रूते अशासक योगनिरोधत्वात् । न केनापि दीक्ष्यते अदीक्ष्य स्वयंबुद्धत्वात् । न कमपि दीक्षते व्रतं ग्राहयति, साधुचरितार्थत्वात् । न केनापि व्रत ग्राहित स्वयमेव स्वस्य गुरुत्वात् । नास्ति क्षयो विनाशो यस्य । अथवा न अक्षाणि इन्द्रियाणि याति प्राप्नोति अक्षयः । आत्मोऽनुपसर्गात्मक । न गन्तु शक्य अगम्य । शुक्लध्यानिप्रभृतिवर्गान्ताश्च यग्रयय । अविशयस्वरूप इत्यर्थ । न कमपि गच्छती यगमक निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थित इत्यर्थ । आत्मस्वरूप विना (न) किमपि रम्यं मनोहर वस्तु यस्येति । आत्मस्वरूपमन्तरेण न क्वापि रमते । ज्ञानेन केवलज्ञानेन निर्भर परिपूर्ण आकण्ठममृतभृत-सुवर्णघटवदित्यर्थ ॥१३८॥

इत्यन्त कृच्छतम् ॥१ ॥

यह अर्थ हुआ कि आप अनन्त दयाके भंडार हैं । अथवा अन्त अथात यमराजके ऊपर आप अत्यन्त निर्दय हैं, अर्थात् उसके अन्तक या विनाशक हैं इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है । अथवा हिंसा करनेवाले निर्दयी पुरुषोंके आप अतिशय अन्तको करनेवाले अथात उनके विनाशक हैं, क्योंकि उनके मलका खंडन करते हैं । अथवा अन्तमें अर्थात् मोक्ष-गमनके समय आपमे निश्चित रूपसे परिपूर्ण दया पाई जाती है इसलिए भी आपको अत्य तनिदय कहत हैं (८९)। आप किसीके भी शिष्य नहीं हैं क्योंकि स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त हुए हैं, अत आपको अशिष्य कहते हैं । अथवा निर्वाण-गमनके समय आप गणधरादि समस्त शिष्य-परिवारसे रहित हो जाते हैं इसलिए भी आप अशिष्य कहलाते हैं (९०)। यागनिरोधके पश्चात आप शासन नहीं करते हैं, अर्थात् शिष्योंको उपदेश नहीं देते हैं अत अशासक कहलाते हैं (९१)। आप किसीके द्वारा भी दीक्षाको ग्रहण नहीं करते क्योंकि स्वयंबुद्ध हैं अत अदीक्ष्य कहलाते हैं (९२)। आप कृत-कृत्य हो जानसे किसीको दीक्षा भी नहीं देते हैं इसलिए अदीक्षक कहलाते हैं (९३)। आप किसीसे भी दीक्षित नहीं हैं स्वयं ही अपने आपके गुरु हैं अत अदीक्षित नामको चरितार्थ करते हैं (९४)। आपके आत्मस्वरूपका कभी क्षय नहीं होता अत अक्षय कहलाते हैं। अथवा आपका ज्ञान अक्ष कहिए इन्द्रियोंकी सहायताको प्राप्त नहीं करता है (९५)। आप बड़े-बड़े योगियोंके भी गम्य नहीं हैं, वे भी आपका स्वरूप नहीं जान पाते हैं इसलिए आपको अगम्य कहते हैं (९६)। आप किसीके भी पास नहीं जाते हैं किन्तु सदा अपने आत्मस्वरूपमे स्थित रहत हैं, इसलिए अगमक कहलात हैं (९७)। आपके आत्मस्वरूपके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु रम्य नहीं है, अतः आपको अरम्य कहते हैं (९८)। आप अपने शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी रमण नहीं करते, किन्तु स्व-रत रहते हैं अतएव अरमक कहलाते हैं (९९)। आप ज्ञानसे भली-भांति परिपूर्ण हैं अर्थात् भरे हुए हैं इसलिए ज्ञाननिर्भर कहलात हैं (१००)।

इस प्रकार दशम अन्तकृत् शतक समाप्त हुआ।

अर्थ—हे भगवन्, आप महायोगीश्वर हैं, द्रव्यसिद्ध हैं, अदेह हैं, अपुनर्भव हैं, ज्ञानैकचित् हैं, जीवघन हैं सिद्ध हैं, और लोकाग्रगामुक हैं ॥१२९॥

इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम् । योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भुक्तिमश्नुते ॥१२०॥
इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुत्तमम् । इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥१२१॥
इदमेव परं तीर्थमिदमेवेष्टसाधनम् । इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम् ॥१२२॥
एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नघैः । मुच्यते किं पुन सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥१२३॥

महायोगिना गणधरदेवानामीश्वर स्वामी । द्रव्यरूपेण सिद्धो द्रव्यसिद्धः साक्षात्सिद्ध इत्यर्थ । न विद्यते देह शरीर यस्येति अदह परमौदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयरहित इत्यर्थ । न पुन संसारे भवतीति । अथवा न विद्यते पुनर्भव संसारो यस्येति । अथवा न पुन' भवो रुद्रो उपलक्षणात् ब्रह्माविष्ण्वादिको देवः संसारेऽस्ति, अयमेव श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ एव देव इत्यर्थः । ज्ञानमेव केवलज्ञानमेव एका अद्वितीया चित् चेतना यस्येति ज्ञानैकचित् । जीवेन आत्मना निवृतो निष्पन्नो जीवघन जीवमय इत्यर्थ । सिद्धि स्वात्मोपलब्धि संजाता यस्येति । लोकस्य त्रैलोक्यस्य अग्रे शिखरे तनुवातवातवलये मुक्तिशिलाया उपरि मनागूनैक गव्यूतिप्रदेशे गच्छतीत्येवंशील ॥१३६॥

इत्यन्ताष्टकम् ।

(इदं) प्रत्यक्षीभूतं अनन्ताना अतीतानागतवर्तमानकालापेक्षया अनन्तसंख्यानां अर्हता श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञाना अष्टोत्तर अष्टाधिकं सहस्रं दशशतप्रमाणं य पुमान् आसन्नभव्यजीव भक्तित परमधर्मानुरागेण विनयत अधीते पठति असौ भव्यजीव मुक्तिरन्ते यस्या सा मुक्त्यन्ता, तां भुक्तिं अभ्युदयलक्ष्मीभोगं अश्नुते भुङ्क्ते संसारे उत्तमदेवोत्तममनुष्यपदस्य अभ्युदयसौख्यं भुक्त्वा मोक्षसौख्यं प्राप्नोतीत्यर्थ ॥१४॥ इदं प्रत्यक्षीभूत श्रीजिननामस्तवन लोकोत्तमं अर्हल्लोकोत्तम सिद्धलोकोत्तम साधुलोकोत्तम केवलिप्रज्ञप्तधर्मलोकोत्तमवत् । पुंसां भव्यजीवानां इद शरणं अर्हच्छरणं सिद्धशरणं साधुशरण-केवलिप्रज्ञप्तधर्मशरणवत् । कथम्भूतम् ? उत्तमं उद्रिक्तम् । इद प्रत्यक्षीभूत जिनसहस्रनामस्तवनं मङ्गलं मं मलं पापं अनन्तभवोपार्जितमशुभं कर्म गालयतीति । अथवा मगं सुखं अभ्युदय निःश्रेयसलक्षणं लाति ददातीति । अर्हन्मङ्गल सिद्धमङ्गल-साधु मङ्गल केवलिप्रज्ञप्तधर्ममङ्गलवत् । कथम्भूतं मङ्गलम् ? अग्रीयं अग्राय त्रैलोक्यशिखराय मोक्षाय हितं अग्रीयं

व्याख्या—आप गणधरदेवादि महायोगियोंके भी ईश्वर हैं, अत महायोगीश्वर हैं (१)। आप द्रव्यरूपसे साक्षात् सिद्ध हो चुके है, इसलिए द्रव्यसिद्ध कहलात हैं (२)। आप शरीरसे रहित हैं, अत अदेह कहलात हैं (३)। अब आप संसारमें कभी भी जन्म नहीं लेंगे, लौटकर नहीं आवेंगे, इसलिए आपको अपुनर्भव कहते हैं (४)। आपकी केवलज्ञानमय ही चेतना है, इसलिए ज्ञानैकचित् कहलाते हैं (५)। आप जीवरूपसे घन हैं अर्थात अपने आप निष्पन्न जीवमय हैं, इसके अतिरिक्त आपमें अन्यका संश्लेष भी नहीं है (६)। आपने स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिको प्राप्त कर लिया है अत सिद्ध कहलात हैं (७)। लोकके अग्र भागपर गमनशील होने से आप लोकाग्रगामुक कहलाते हैं (८)।

इस प्रकार अन्तिम अष्ट नामोंके समूहरूप अष्टक समाप्त हुआ। उपर्युक्त दश शतकोंके साथ इस अष्टकको जोड़ देनेपर आपके १००८ नाम पूर्ण हो जात हैं।

अर्थ—जो आसन्न भव्य पुरुष भक्तिसे कालत्रयकी अपेक्षा अनन्त संख्यावाले अर्हन्तोंके इन एक हजार आठ नामोंको पढ़ता है, वह मुक्ति है अन्तमें जिसके ऐसी भुक्ति अर्थात् अभ्युदयलक्ष्मीको प्राप्त करता है अर्थात् स्वर्गादिकके सुख भोगकर अन्तमें निर्वाण-लाभ करता है। आपके सहस्रनामोंके स्तवनरूप यह जिनसहस्रनाम लोकमें उत्तम है और पुरुषोंको परम शरण है। यह मुख्य मंगल है और परम पावन है। यही परम तीर्थ है, यही इष्टका साधन है और यही सर्व क्लेश और संक्लेशोंके क्षयका कारण है। अर्हन्तभगवान्के इन सहस्रनामोंमेंसे एक भी नामका उच्चारण करनेवाला मनुष्य

मुख्यं मङ्गलमित्यर्थः । इद प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं परम पावनं परमपवित्रं तीर्थकरपरमदेवपक्षे को मनुष्यमात्रस्यापि स्थापकमित्यर्थः ॥ १४१ ॥ इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परं उत्कृष्टं संसारसमुद्रतरणो पायभूतम् । इदमेव मनोऽभीष्टवस्तुदायकं अखिलानां शारीर मानसागंतुकाना क्लेशानां दुःखाना संक्लेशानामार्त्त रौद्रध्यानाना क्षयकारणं विध्वसविधायको हेतुरित्यर्थः ॥१४२॥ पूर्वोक्तानां अष्टाधिकसहस्रसंख्यानां श्रीमद्भगवद र्हत्सर्वज्ञतीर्थकरपरमदेवाना मध्ये एकमपि नाम उच्चारयन् जिह्वाग्रे कुर्वन् पुमान् अनन्तजन्मोपार्जितपापैर्मुच्यते परिह्रियते परित्यज्यते । किं पुन सर्वाणि, य सर्वाणि अर्हन्नामानि अष्टाधिकैकसहस्रसंख्यानि उच्चारयति पठति भक्तिपूर्वक य स पुमान् पापैर्मुच्यते इति । किं पुनरुच्यते सर्वाणि नामान्युच्चारयन् पुमान् भव्यजीवोऽ नन्तभवोपार्जितमहापातकैरपि मुच्यते एवात्र सन्देहो न कर्त्तव्य । अष्टाधिकसहस्रनाम्ना यो विद्वज्जनशिरोरत्नं अर्थ जानाति अर्थज्ञ स पुमान् जिन इवाचरति जिनायते उपमानादाचारे आय्यताश्च ति सूत्रद्वयेन क्रमादायिप्रत्यय आत्मनेपदं च सिद्धम् ॥१४३॥

॥ इति जिनसहस्रनामस्तवन समाप्तम् ॥

पापोंसे मुक्त हो जाता है, फिर जो सर्व नामों उच्चारण करेगा उसका तो कहना ही क्या है। आपके इस सहस्रनामकी अधिक क्या प्रशंसाकी जाय जो पुरुष इनके अर्थको जानता है वह जिन भगवान्के समान आचरण करता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि गुणी पुरुषोंके द्वारा महान् सम्मान को प्राप्त होता है ॥१४-१४३॥

व्याख्या—ग्रन्थकार जिनसहस्रनामके अध्ययन करनेका फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो निकट भव्यजीव अर्हन्त भगवान्के इन सहस्रनामोंको भक्ति पूर्वक पढ़ता है वह स्वर्गलोक और मनुष्यलोकके उत्तमोत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें मोक्ष सुखको प्राप्त होता है। जिस प्रकार लोकमें अर्हन्त मंगल-स्वरूप हैं सिद्ध मंगल-स्वरूप हैं, साधु मंगल-स्वरूप हैं और केवली भगवान्के द्वारा प्रणीत धर्म मंगल-स्वरूप हैं, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनामरूप स्तवन भी मंगल-स्वरूप हैं। तथा जैसे अर्हन्त भगवान् लोकमें उत्तम हैं सिद्ध भगवान् लोकमे उत्तम है साधु लोकमें उत्तम हैं, और केवल प्रणीत धर्म लोकमे उत्तम है, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनाम-स्तवन भी लोकमें उत्तम है। तथा जैसे अर्हन्त भगवान् शरण हैं, सिद्ध भगवान शरण हैं साधु शरण हैं और केवलि प्रणीत धर्म शरण है उसी प्रकार यह जिनसहस्रनामस्तवन भी जीवोंको शरणभूत हैं। जैसे सम्मेदाचल, गिरनार आदि तीर्थ पतित-पावन हैं उसी प्रकार यह जिनसहस्रनाम स्तवन भी परम तीर्थ है, सर्व मनोवाञ्छित पदार्थोंका देनेवाला है सभी प्रकारके शारीरिक मानसिक आगन्तुक दुःख और संक्लेशोंका नाशक है। जो पुरुष जिनभगवान्के एक भी नामका उच्चारण करता है वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है फिर जो भक्ति-पूर्वक सम्पूर्ण नामोंका उच्चारण करेगा वह तो नियमसे ही पापोंसे मुक्त होगा। इस जिनसहस्रनामकी अधिक क्या प्रशंसा की जाय इसके अर्थका जानकार व्यक्ति तो जिन भगवान्के समान सन्मानको प्राप्त करता है, इसलिए भव्यजीवोंकों चाहिए कि वे प्रतिदिन इसका भक्तिपूर्वक पाठ करें।

इस प्रकार जिनसहस्रनामस्तवन समाप्त हुआ।

---

* प्रतिके अन्तमें इस प्रकारकी पुष्पिका पाई जाती है —

*इत्याशाधरसूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम्। मुनि श्रीविनयचन्द्रेण लिखितम्। श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे भ० श्री ५ सकलकीर्त्ति, तत्पट्टे भ श्री ५ भुवनकीर्त्ति तत्पट्टे भ श्री ५ ज्ञानभूषण तद्भ्रातृ स्थविराचार्यगौर श्री ५ रत्नकीर्त्ति तच्छिष्यमुनिश्री विनयचन्द्रपठनार्थ। ग्रन्थाग्र ११४५ शुभं भवतु।

... 'पंचाचारादि व्रततपोद्यापनयमनियमेत्यादिसमस्तपापदोषप्रायश्चित्त नि समस्तकर्मक्षयविना शात्मनिःशुद्धचिद्रूपप्राप्तिनिमित्तवेणरेण मुनिविनयचन्द्रेण भावना भाविता।

जिनसहस्रनाम

[श्रुतसागरी टीका]

ध्यात्वा विद्यानन्दं समन्तभद्रं मुनीन्द्रमहन्तम् ।
श्रीमत्सहस्रनाम्नां विवरणमावच्मि संक्षिप्य ॥

अथ **श्रीमदाशाधरसूरि**गृहस्थाचार्यवर्यो जिनयज्ञादिसकलशास्त्रप्रवीणस्तर्क व्याकरण-छंदोऽलंकार साहित्य सिद्धान्त स्वसमय परसमयागमनिपुणबुद्धि संसारपारावारपतनभयभीतो निर्ग्रन्थलक्षणमोक्षमार्ग श्रद्धालु प्रज्ञापुञ्ज इतिविरुदावलीविराजमान **जिनसहस्रनामस्तवन** 'चिकीर्षु **प्रभो भवाङ्गभोगेषु**' इत्यादिस्वाभिप्रायसंसूचनपर श्लोकमिममाह । **श्रीविद्यानन्दसूरीणां** शिष्याः **श्रीश्रुतसागरनामानस्तु**[2] [3]तद्विवरणं कुर्वन्तीति ।

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुक ।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥

हे **प्रभो**[4], त्रिभुवनैकनाथ य कोऽपि तीर्थकरपरमदेवस्तस्येदं सम्बोधनम् । **एष** प्रत्यक्षीभूतोऽहं[5] आशाधरमहाकवि त्वा भवन्त[6] **विज्ञापयामि** विज्ञप्तिं करोमि । कथम्भूतोऽहम् ? **भवाङ्गभोगेषु** संसार शरीर भोगेषु **निर्विण्णो** निर्वेदं प्राप्त । उक्तञ्च—

भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥

कस्मात्कारणान्निर्विण्ण इत्याह—**दुःखभीरुको** यस्मात् इति अध्याहार सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्तीति वचनात् । भवत्यस्माद्विश्वमिति भव , अचूपचादिभ्यश्च । अगति कुटिलं गच्छति रोगादिपीडित रागादिविकृत [7]चेत्यङ्गम् । अत्रापि[1] अच् । भुज्यन्ते रागद्वेषमोहाद्याविष्टै पुरुषै स्त्रीभिश्चेति भोगाः । अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् । भवश्च अङ्गञ्च भोगाश्च भवाङ्गभोगा इतरेतरयोगो द्वन्द्व । तेषु भवाङ्ग भोगेषु । निर्विण्ण , निरपूर्वो विद विचारणे क्ते सति दाद्रस्य च उभयोरपि नत्वं निर्विण्न इत्यर्थ । भयेन चलितं इति यावत् । उक्तञ्च ।

वेत्तेर्विद्रितं वित्तेर्विन्नं वित्तं विद्यते विन्नम् ।
वित्त धने प्रतीते च विन्दतेर्विन्नमन्यत्र ॥

अन्यत्र लाभार्थे इतिवचनात् विद ज्ञाने अदादौ, विद विचारणे रुधादौ विद सत्तायां दिवादौ, विदॢ लाभे तुदादौ चतुर्ष्वादिषु मध्ये विद विचारणे इत्यस्य निर्विण्ण इति प्रयोगो ज्ञातव्य अन्येषामवचनात् । दुःखाद्भीरुकः दुःखभीरुक । भियो रुग्लुकौ च । कथम्भूत त्वाम् **शरण्यम्** । शृणाति भयमनेनेति शरणम्, करणाधिकरणयोश्च युट् । शरणाय हितः शरण्य , तं शरण्यम् । यथुगवादित । आर्तिमथनसमर्थ इत्यर्थ । भूयः कथम्भूतं त्वाम् ? **करुणार्णवम्** । क्रियते स्वर्गगामिभि प्राणिवर्गेषु इति करुणा, कृ वृ दृ तृ कमिदारिभ्य उनन् । अर्णो जलं विद्यते यस्य सोऽर्णवः । अर्णसः सलोपश्च अस्त्यर्थे वप्रत्ययः, करुणायाः अर्णवः करुणार्णवः, तं करुणार्णवं दयासमुद्रमिति यावत् ।

---

१ अ ललितकीर्ति । २ अ श्रुतसागरसूरि० । ३ ख प्रे —सहस्रनामस्तवन विवरणं । ४ अ हे त्रिभु० । ५ अ इमा । ६ ख समवन्तं । ७ अ इत्यध्याहार । ८ स० प्र सूत्राणि । ९ अ नीति ज्ञानं । १० अ प्रयोक्तव्य ।

सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्तत ।
सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥

सुखयति आत्मन प्रीतिमुत्पादयतीति सुखम् । अचि इन् लोप । भृश पुन पुनर्वा लसन लालसा । मुह्यत्यनेनेति मोहो अज्ञानम् । **अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ्** । भ्राम्यतीति भ्राम्यन् **वर्तमाने लट्** **लट शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे** शतृ । दिवादेश्यन् **शमादीनां दीर्घो यनि** । बहिस् इतस् ततस् इमान्य व्ययानि । हे भगवन् **सुखलालसया** सुखस्य शर्मण सद्वेद्यस्य सातस्य लालसया अत्याकाङ्क्षया । **मोहाद्** अज्ञानात् मिथ्यात्वकर्मोदयाच्च **भ्राम्यन्** पर्यटन् सन् **बहि** कुदेवादौ प्रार्थयमान **इतस्तत** यत्र तत्र **तव** सर्वज्ञवीतरागस्य **नामापि** अभिधानमात्रमपि **पुरा** पूर्वकाले अनादिकाले न **ज्ञातवान्** अहम् । कथंभूतस्य तव ? **सुखैकहेतो** सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य एकोऽद्वितीयो हेतु कारण सुखैकहेतुस्तस्य सुखैकहेतो ।

अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात् किञ्चिदुन्मुख ।
अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वा श्रुत्वा स्तोतुमुद्यत ॥ ३ ॥

हे स्वामिन् **अद्य** अस्मिन् भवे **मोहग्रहावेशशैथिल्यात्** । मोहो अज्ञान मिथ्यात्वमोहो वा स एव ग्रह पिशाच ग्रथिल्यकारित्वात् मोहग्रह तस्य आवेश प्रवेश अयथार्थप्रवर्त्तनम् तस्य शैथिल्यं उपशम क्षयोपशमो वा तस्मात् मोहग्रहावेशशैथिल्यात् । कियत् शैथिल्यात् **किञ्चित्** ईषत् मनाक् । **उन्मुख** सद्योत्कण्ठ । कियत् उन्मुख ? किञ्चित्-अल्पमात्रम् । **त्वा** भवन्तं **स्तोतु** स्तुतिविषयीकर्त्तु अहम् **उद्यत** उद्यम पर सञ्जात । किं कृत्वा ? पूर्व त्वा श्रुत्वा भवन्तमाकर्ण्य । कीदृश श्रुत्वा ? अनन्तगुण अनन्तकेवलज्ञानं अनन्तकेवलदर्शन अनन्तसुखमनन्तवीर्यं इत्याद्यनन्तगुणसंयुक्तम् । केभ्य श्रुत्वा ? **आप्तेभ्य उदयसेन मदनकीर्ति महावीर**नामादिगुरुभ्य आचार्येभ्य सकाशात् ।

भक्त्या प्रोत्साह्यमाणोऽपि दूर शक्त्या तिरस्कृत ।
त्वा नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वाऽऽत्मान पुनाम्यहम् ॥४॥

हे त्रिभुवनैकनाथ **अहं** आशाधरमहाकवि **त्वां** भवन्त स्तुत्वा स्तुतिं नीत्वा **आत्मान** निजजीवस्वरूपं **पुनामि** पवित्रयामि अनन्तभवोपार्जित बहुलनिकाचितदुरितमुक्तो भवामि । केन कृत्वा ? **स्तुत्वा नामाष्टसहस्रेण** अष्टभिरधिकं सहस्रं अष्टसहस्र नाम्ना अष्टसहस्रं नामाष्टसहस्रम् तेन नामाष्टसहस्रेण । कथम्भूतोऽहम् ? **भक्त्या** परमधर्मानुरागेण **प्रोत्साह्यमाण** प्रकृष्टमुद्यमं [2]प्राप्यमाण त्व जिनवरस्तवनं कुर्विति[3] प्रेर्यमाण । अपर कथम्भूतोऽहम् **दूर** अतिशयेन **शक्त्या** सामर्थ्येन **तिरस्कृत** त्व जिनस्तवनं मा कार्षीरिति निषिद्ध । अत्राय भावार्थ—भक्तिरपि स्त्री शक्तिरपि स्त्री । तयोर्मध्ये एका[4] स्त्री प्रेरयति अपरा मा निषेधयति । कस्या वचनं करोमि ? यद्येकस्या एव वाक्यं करोमि तदा अन्यतरा कुप्यति मह्य इति विचार्य द्वयोरपि वाक्यं विदधामीति स्तोका स्तुतिं नामाष्टसहस्रमात्रीं स्तुतिं करोमि । एव सति भक्ति सुप्रसन्ना भविष्यति । अधिका स्तुतिं न करोमीति शक्तिरपि सुप्रसन्ना भविष्यति । स्त्रीषु अकुहकेन भवितव्यमिति वचनात् । स्त्री हि कुपिता आत्मघातं करोति । तथा चोक्त—

कुद्धा प्राणहरा[5] भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचि
तेषामौषधयश्च[6] सन्ति बहव सद्यो विषव्युच्छिद ।
हन्युः स्त्रीभुजगा परेह च मुहु कुद्धा प्रसन्नास्तथा
तस्माद् दृष्टिविषाहिवत्परिहर त्वं सद्दृशं मा स्म गा ॥

---

१ द भवोपार्जितानि बहुलनिकाचित । अ भवोपार्जितनिकाचित । २ द प्राप्यमान । ३ द कुर्वीति । ४ द 'एका' इति पाठो नास्ति । ५ अ हरी । ६ द मौषधय । ७ स पुरेह । ८ द सद्दिशे ।

जिन-सर्वज्ञ-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथयोगिनाम् ।
निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ ५ ॥

हे सकलविमलकेवलज्ञान अहं [1]अष्टोत्तरैः शतैः स्तुत्वा आत्मने पुनामीति क्रियाकारकसम्बन्ध । केषां शतैरित्याह—**जिनसर्वज्ञयज्ञार्हतीर्थकृन्नाथयोगिनाम्**, जिननामशतेन सर्वज्ञनामशतेन यज्ञार्हनाम शतेन तीर्थकृन्नामशतेन नाथनामशतेन योगिनामशतेन । समासस्तु जिनश्च सर्वज्ञश्च यज्ञार्हश्च तीर्थकृच्च नाथश्च योगी च जिनसर्वज्ञयज्ञार्हतीर्थकृन्नाथयोगिनस्तेषां जिनसर्वज्ञयज्ञार्हतीर्थकृन्नाथयोगिनाम् । इति षट् शतानि । तथा **निर्वाणब्रह्मबुद्धान्तकृता** निर्वाणश्च ब्रह्मा च बुद्धश्च अन्तकृच्च निर्वाणब्रह्मबुद्धान्तकृत, तेषां इति चत्वारि शतानि (५) । तद्यथा तदेव निरूपयति—

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट जिनप्रष्ठो जिनोत्तमः ।
जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥

अनेक विषमभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति क्षय नयतीति जिन । इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (१) । एकदेशेन समस्तभावेन वा कर्मारातीन् जितवन्तो जिना सम्यग्दृष्टय श्रावका प्रमत्तसयता अप्रमत्ता अपूर्वकरणा अनिवृत्तिकरणा सूक्ष्मसाम्पराया उपशान्तकषाया क्षीणकषायाश्च जिनशब्दे नोच्यन्ते । तेषामिन्द्र स्वामी जिनेन्द्र । अथवा जिनश्चासाविन्द्रो **जिनेन्द्र** (२) । **जिनराट्** जिनेषु अर्हत्सु राजते जिनराट् क्विपा[2] सिद्ध (३) । **जिनपृष्ठ**-जिनेषु प्रष्ठ प्रधानं जिनप्रष्ठः (४) । **जिनोत्तम**-जिनेषु उत्तमो जिनोत्तम (५) । **जिनाधिप** जिनानामधिप स्वामी जिनाधिप (६) । **जिनाधीशः**-जिनानामधीश स्वामी जिनाधीश (७) । जिनाना स्वामी **जिनस्वामी** (८) । जिनानामीश्वर स्वामी **जिनेश्वर** (९) ।

जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट् ।
जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्ता जिनाधिभूः ॥ ७ ॥

जिनाना नाथ स्वामी **जिननाथ** (१०) । जिनानां पति स्वामी **जिनपतिः** (११) । जिनाना राजा स्वामी **जिनराज** (१२) । जिनानामधिराट् स्वामी **जिनाधिराट** (१३) । जिनानां प्रभु स्वामी **जिनप्रभु** (१४) । जिनाना विभु स्वामी **जिनविभु** (१५) । जिनानां भर्ता स्वामी **जिनभर्ता** (१६) । जिनानामधिभू स्वामी **जिनाधिभू** (१७) ।

जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायक ।
जिनेट जिनपरिवृढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥

जिनाना नेता स्वामी **जिननेता** (१८) । जिनानामीशान स्वामी **जिनेशान** (१९) । जिनानामिन स्वामी **जिनेन** (२) । जिनाना नायक स्वामी **जिननायक** (२१) । जिनानामीट् स्वामी **जिनेट** (२२) । जिनानां परिवृढ स्वामी **जिनपरिवृढः** । परिवृढ इति प्रभुवचनं (२३) । जिनाना देव स्वामी **जिनदेव** (२४) । जिनानामीशिता स्वामी **जिनेशिता** (२५) ।

जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता ।
जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपालक ॥ ९ ॥

जिनानामधिराज स्वामी **जिनाधिराज** (२६) । जिनान् पातीति **जिनप** । आतोऽनुपसर्गात्कः (२७) । जिनेषु ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवति इत्येवंशीलो **जिनेशी** (२८) । जिनानां शासिता रक्षकः **जिनशासिता** (२९) । जिनानामधिको नाथ **जिनाधिनाथः** (३०) । जिनानामधिपतिः स्वामी **जिनाधिपतिः** (३१) । जिनानां पालकः स्वामी **जिनपालकः** (३२) ।

---

१ द्र अर्ह अर्ह । २ 'ब जिता० ।

जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुञ्जर ।
जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तर ॥ १ ॥

जिनाना चन्द्र आह्लादको **जिनचन्द्र** (३३) । जिनानामादित्य प्रकाशको **जिनादित्य** (३४) । जिनानामर्क प्रकाशक **जिनार्क** (३५)। जिनाना कुंजर प्रधान **जिनकुञ्जर** (३६) जिनानामिन्दुश्चन्द्र **जिनेन्दु** (३७) । जिनाना धुरि नियुक्तो **जिनधौरेय** (३८) । जिनानां धुरि नियुक्तो **जिनधुर्य** (३९) । जिनेषु उत्तर उत्कृष्ट **जिनोत्तर** (४) ।

जिनवर्यो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्वह ।
जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्न जिनोरसम् ॥ ११ ॥

जिनेषु वर्या मुख्यो **जिनवर्य** (४१) । जिनेषु वर श्रेष्ठ **जिनवर** (४२) । जिनाना जिनेषु वा सिंह मुख्य **जिनसिंह** (४३) । जिना उद्वहा पुत्रा यस्य स **जिनोद्वह** [1] जिनानुद्वहति ऊ र्ध्व नयतीति वा **जिनोद्वह** (४४) । जिनेषु ऋषभ [2] श्रेष्ठो **जिनर्षभ** (४५) । जिनेषु वृष श्रेष्ठ **जिनवृष** (४६) । जिनेषु रत्न उत्तम **जिनरत्नम्** (४७) । जिनानामुर प्रधानो **जिनोरसम्** । उर प्रधानाथ राजादौ (४८) ।

जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाग्र्य जिनपुंगव ।
जिनहंसो जिनोत्तंसो जिननागो जिनाग्रणी ॥ १ ॥

जिनानामीश स्वामी **जिनेश** (४९) । जिनाना शार्दूल प्रधान **जिनशार्दूल** (५) । जिनानां अग्र्य प्रधान **जिनाग्र्यम्** (५१) । जिनाना पुङ्गव प्रधान **जिनपुङ्गव** (५२) । जिनाना हंसो भास्कर **जिनहंस** (५३) । जिनानामुत्तंस मुकुट **जिनोत्तंस** (५४) । जिनाना नाग प्रधान **जिननाग** (५५) । जिनानामग्रणी प्रधान **जिनाग्रणी** (५६) ।

जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीर्जिनसत्तम ।
जिनप्रवर्ह परमजिनो जिनपुरोगम ॥ १३ ॥

जिनाना प्रवेक प्रधान **जिनप्रवेक** (५७) । जिनानां ग्रामणी प्रधान **जिनग्रामणी** । अथवा जिनग्रामान् सिद्धसमूहान् नयतीति **जिनग्रामणी** (५८) । जिनाना सत्तम श्रेष्ठ प्रधान **जिनसत्तम** (५९) । जिनेषु प्रवर्ह मुख्य **जिनप्रवर्ह** (६) । परया उत्कृष्टया मया लक्ष्म्या अभ्युदय निःश्रेयसलक्षणोपलक्षितया वर्तत इति परम । परमश्चासौ जिन **परमजिन** (६१) । जिनाना पुरोगम प्रधान अग्रेसर **जिन पुरोगम** (६२) ।

जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिम ।
श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥ १४ ॥

जिनाना श्रेष्ठ प्रशस्य **जिनश्रेष्ठ** (६३) । जिनाना ज्येष्ठ अतिशयेन वृद्ध प्रशस्यो वा **जिनज्येष्ठ** (६४) । जिनेषु मुख्य प्रधान **जिनमुख्य** (६५) । जिनानामग्रिम प्रधान **जिनाग्रिमः** (६६) । श्रिया अभ्युदय नि श्रेयसलक्षणया लक्ष्म्या उपलक्षितो जिन **श्रीजिन** (६७) । उत्तम उत्कृष्टो जिन **उत्तमजिन** (६८) । जिनाना वृन्दारक श्रेष्ठ जिनवृन्दारक । जिनाना वृन्दारको देवता वा **जिन वृन्दारक** (६९) । अरिं मोहं जितवान् **अरिजित्** (७) ।

निर्विघ्नो विरजा शुद्धो निस्तमस्को निरञ्जन ।
घातिकर्मान्तक कर्ममर्मावित्कर्महानघः ॥ १५ ॥

निर्गतो विनष्टो विघ्नोऽन्तरायो यस्येति **निर्विघ्नः** (७१) । विगतं विनष्टं रजो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं यस्येति **विरजा** (७२) । **शुद्ध** —कर्ममलकलंकरहित (७३) । निर्गतं तमो अज्ञानं यस्येति **निस्तमस्कः**

१ द स जिनानुद्वह । २ द वृषभ । ३ अ ज्येष्ठो ।

(७४)। निर्गतं अञ्जनं यस्येति निरञ्जनः, द्रव्यकर्म भावकर्म-नोकर्मरहितः (७५)। घातिकर्मणां मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरणान्तरायाणां अन्तको विनाशक घातिकर्मान्तकः (७६)। कर्मणां मर्म जीवनस्थानं विध्यतीति **कर्ममर्माविद्**। न हि वृति वृधि व्यधिरुचिसहितनिषु क्विबन्तेषु प्रादिकारकाणामेव दीर्घ (७७)। कर्म हन्तीति **कर्महा** (७८)। अविद्यमानमघं पापचतुष्टयं यस्येति **अनघ** (७९)।

वीतरागोऽक्षुदद्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽगदः।
वितृष्णो निर्ममोऽसगो निर्भयो वीतविस्मय ॥१६॥

वीतो विनष्टो रागो यस्येति **वीतरागः**। अजेर्वी। (८)। अविद्यमाना क्षुद् बुभुक्षा यस्येति **अक्षुद्** (८१)। अविद्यमानो द्वेषो यस्येति **अद्वेष** (८२)। निर्गतो मोहो अज्ञानं यस्मादिति **निर्मोह** (८३)। निर्गतो मदोऽहंकारोऽष्टप्रकारो यस्मादिति **निर्मद** (८४)। अविद्यमानो गदो रोगो यस्येत्यगद । इत्यनेन ये केवलिना रोगं कवलाहारं च कथयन्ति ये प्रयुक्ता निराकृता (८५)। विगता विशेषेण विनष्टा तृष्णा विषयाभिकांक्षा अभिलाषो यस्य स भवति **वितृष्ण** । विशिष्टा वा तृष्णा मोक्षाभिलाषो यस्येति वितृष्ण । वीना पक्षिणां निस्तारणे तृष्णा यस्येति वितृष्ण । तदुपलक्षणं अन्येषामपि कर्मबद्धाना पशूनां संसारिणा निस्तारकेच्छु इत्यर्थ । तथा सति अपायविचयसंज्ञकं धर्मध्यानं भवति भगवत[१] इत्यर्थ (८६)। निर्गतं ममेति मनो यस्येति **निर्मम** । निश्चिता मा प्रमाण यस्येति निर्म प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणवानित्यर्थ । निर्म सन् पदार्थान् माति मिनोति मिमीते वा निर्मम । आतोऽनुपसर्गात्क (८७)। अविद्यमान संग परिग्रहो यस्येति **असग** । न सम्यक् गम्यते ध्यान विना प्राप्यते असग । डोऽसज्ञायामपि (८८)। निर्गत भयं यस्य भव्यानां वा यस्मादिति **निभय** । अथवा निश्चिता भा दीप्तिर्यत्र तत् निभ केवलाख्यं ज्योति तद्याति गच्छति प्राप्नोति निर्भय । आतोऽनुपसर्गात्क (८९)।

इहपरलोयत्ताणं अगुत्ति-मय मरण वेदना[२] कस्सं।
सत्तविह भयमेय णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेण[३] ॥

वीतविस्मय—वीतो विनष्टो विस्मयोऽद्भुतरसोऽष्टविधो मदो वा यस्येति वीतविस्मयः।

ज्ञान पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपु ।
अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया ॥

अथवा वीतो विनष्टो वेर्गरुडस्य स्मयो गर्वो यस्मादिति वीतविस्मय । भगवान् विषं कर्मविषं च विनाशयति यस्मादिति भाव (९)।

अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमर ।
अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विषादस्त्रिषष्टिजित् ॥१७॥

अस्वप्नः—अविद्यमान स्वप्नो निद्रा यस्येति अस्वप्नः अप्रमत्त इत्यर्थः। अथवा असून् प्राणिनां प्राणान् अपोऽवार्सि जीवनं नयतीति परमकारुणिकत्वात् अस्वप्न अन्यत्रापि च डप्रत्ययः (९१)। **निःश्रमः** निर्गत श्रम खेदो यस्येति निःश्रम, निश्चित श्रमो बाह्याभ्यन्तरलक्षणं तपो यस्येति निःश्रमः (९२)। **अजन्मा** न विद्यते जन्म गर्भवासो यस्येति अजन्मा (९३)। **निस्स्वेदः** शिशुत्वेऽपि स्वेदरहितो निःस्वेदः। अथवा नि स्वानां दरिद्राणां ई कामं वांछितं अभीष्टं धनादिकं ददातीति निःस्वेद ।

---

१ सिद्धान्तबुद्ध्या विचिन्त्यमेतत्कथनमस्ति २ क वेयणा। ३ ज 'इह च परश्च इहपरौ तौ लोकौ च इहपरलोकौ। तत्राणं अत्राणं अपालनं अगुत्ति-अगुप्ति प्राकाराद्यभाव । मरणं च मृत्युश्च। वेयणा वेदना पीडा। आकस्मिकं घनादिगर्जा भयशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते १ इहलोकभय २ परलोकभयं ३ अत्राणभयं ४ अगुप्तिभयं ५ मरणभयं ६ वेदनाभयं ७ आकस्मिकभयमित्यादि इति पाठोऽधिकः।

[illegible] पीसिउ तुहुं [illegible] ।
तुहु [illegible] केवलणाणो तुहुं परमप्पउ परमपद ॥

इत्यभिधानात् (६४)। **निर्जर**—निर्गता जरा यस्मादिति निर्जर (६५)। **अमर**—न म्रियते अमरः (६६)। **अरत्यतीत**—अरतिररुचिस्तया अतीतो रहित अरत्यतीत (६७)। **निश्चिन्त**—निर्गता चिन्ता यस्मादिति निश्चिन्त (६८)। **निर्विषाद**—निर्गतो विषाद पश्चात्तापो यस्मादिति निर्विषाद । अथवा निर्विषं पापविषरहितं परमानन्दामृत अस्ति आस्वादयाति निर्विषाद (६६)। **त्रिषष्टिजित्**—त्रिषष्टिं कर्मप्रकृतीनां जय तीति त्रिषष्टिजित् । कास्ताकित्रषष्टिप्रकृतय इति चेदुच्यते—नरकायु तिर्यगायु देवायु इत्यायुकर्मण प्रकृत यस्तिस्र । सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्वं चेति दर्शनमोहस्य कर्मण प्रकृतयस्तिस्र । अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभाश्चारित्रमोहस्य कर्मण प्रकृतयश्चतस्र । तथा अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाश्चत्वार । तथा प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाश्चत्वार । तथा सज्वलनक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारश्चेति षोडश कषाया । तथा हास्यं रति अरति शोक भयजुगुप्सा षट् । स्त्रीवेद पुन्वेद नपुसकवेदाश्चेति त्रयो वेदा एवमष्टाविंश तिप्रकृतयो मोहनीयस्य । नामकर्मण प्रकृतयस्त्रयोदश । तथाहि—साधारण आतप एकेन्द्रियजाति द्वीन्द्रि यजाति त्रीन्द्रियजाति चतुरिन्द्रियजातिनरकगति नरकगत्यानुपूर्वी स्थावर सूक्ष्म तिर्यग्गतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्य उद्योत इति । मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण मन पर्ययज्ञानावरण केवलज्ञानावरण इति पञ्च ज्ञाना वरणप्रकृतय । दर्शनावरणस्य नव । तथाहि चक्षुदर्शनावरण अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरण केवलद र्शनावरण निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि । एव आवरण १४ । अन्तरायकमप्रकृतय पच दानान्तराय लाभान्तराय भोगान्तराय उपभोगान्तराय वीर्यान्तराय । ३ । २८ । १३ । १४ । ५ । एव त्रिषष्टिजित् (१) ।

॥ इति जिनशतकनामा प्रथमोऽध्याय समाप्त ॥

—

अथ द्वितीयोऽध्याय

सर्वज्ञ सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वावलोकन ।
अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मक ॥१८॥

अथेदानीं सर्वज्ञशतं व्याख्यास्याम । **सर्वज्ञ**—सर्वं त्रिलोकं कालत्रयवर्तिद्रव्यपर्यायसहितं वस्तु अलो कं च जानातीति सर्वज्ञ (१)। **सर्ववित्**—सर्व वेत्तीति सर्ववित् (२)। **सर्वदर्शी** सर्व द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्य स सर्वदर्शी (३)। **सर्वावलोकन**—सर्वस्मिन् अवलोकनं ज्ञानचक्षुर्यस्य स सर्वावलोकन (४)। **अनन्तविक्रमः**—अनन्तोऽपर्यन्तो विक्रम पराक्रमो यस्येत्यनन्तविक्रम केवलज्ञानेन सर्ववस्तुवेदकशक्तिरित्यर्थ । अथवा शरीर सामर्थ्येन मेर्वादिकान् अपि समुत्पाटनसमर्थ इत्यर्थ । तथा चोक्तम्—

करतलेन [illegible] पिबेत् ।
प्रकम्पयेद् गिरिराजमथवा [illegible] जिनः [illegible] ॥

अथवा अनन्ते अलोकाकाशे विक्रमो ज्ञानेन गमनं यस्येति अनन्तविक्रमः । अथवा अनन्तः शेष नाम श्रीविष्णु[1] आकाशस्थितसूर्याचन्द्रमसादयो विशेषेण क्रमयोर्नम्रीभूता यस्येति अनन्तविक्रम । अथवा अनन्तो विशिष्ट क्रमआदिर्न अनुक्रमो वा यस्येति अनन्तविक्रमः (५) । अनन्तवीर्य—अनन्त वीर्य शक्तिर्यस्येति अनन्तवीर्यः (६) । अनन्तसुखात्मकः—अनन्तं सुखमात्मनो यस्य सोऽनन्तसुखात्मक । नद्यन्ताच्छेषाद्वा बहुव्रीही क । अथवा अनन्तं सुखं निश्चयनयेन आत्मानं कायति कथयति य सोऽनन्तसुखात्मक । कै गै रै शब्दे । आतोऽनुपसर्गात्कः (७) ।

अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽखिलार्थदृक् ।
न्यक्षदृग्विश्वतश्चक्षुर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥ १६ ॥

अनन्तसौख्य —अनन्तं सौख्य यस्येति अनन्तसौख्य (८) । विश्वज्ञ —विश्व जगत् जानातीति विश्वज्ञ । आतोऽनुपसर्गात्कः क (९) । विश्वदृश्वा —विश्व दृष्टवान् विश्वदृश्वा । दृशे [1]क्वनिप् अतीते (१) । अखिलार्थदृक्—अखिलान् अर्थान् पश्यतीति अखिलार्थदृक । सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य इति वचनात् (११) । न्यक्षदृक्—न्यक्षं सर्वं पश्यतीति न्यक्षदृक् । न्यक्षं इन्द्रियरहितं पश्यतीति वा न्यक्षदृक् । (१२) । उक्तञ्च काव्यपिशाचेन—

सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमूढु[2] ण पत्तियइ ।
सो णिंदिउ पंचिंदिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥

विश्वतश्चक्षु —विश्वतो विश्वस्मिन् चक्षु केवलदर्शनं यस्येति विश्वतश्चक्षु । सार्वविभक्तिकं तस् इत्येके (१३) । विश्वचक्षु — विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षु केवलज्ञान दर्शनद्वयं यस्येति विश्वचक्षुः (१४) । अशेषवित्— अशेष लोकालोकं वेत्तीति अशेषवित् (१५) ।

आनन्द परमानन्द सदानन्द सदोदयः ।
नित्यानन्दो महानन्द परानन्द परोदय ॥ २ ॥

आनन्द — आसमन्तात् नन्दति आनन्द (१६) । परमानन्द — परमः उत्कृष्टः आनन्द सौख्यं यस्येति परमानन्द (१७) । सदानन्द —सदा सर्वकाल आनन्द सुखं यस्य स सदानन्दः । अथवा सत्[3] समीचीनं आनन्दो यस्येति सदान द (१८) । सदोदय —सदा सर्वकालं उदयो अनस्तमनं यस्येति । अथवा सदा सर्वकालं उत्कृष्टो अय शुभावहो विधिर्यस्य स सदोदय ।

मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ ।
प्रशस्तवाचकान्यमून्यय: शुभावहो विधि ॥

इति अमरदत्तः (१९) । नित्यानन्दः— नित्य शाश्वत आनन्दः सौख्य यस्येति नित्यानन्द (२) । महानन्द— महान् आनन्द सौख्यं यस्येति महानन्दः । अथवा महेन तत्कारणपूजया आनन्दो भव्यानां यस्मादिति महानन्द (२१) । परानन्द — पर उत्कृष्ट आनन्दो यस्येति परानन्द । अथवा परेषा सर्वप्राणिनामानन्दो यस्मादिति परानन्द (२२) । परोदय — परः उत्कृष्ट उदयोऽभ्युदयो यस्येति परोदय । अथवा परेषां भव्यानां उत्कृष्टः अय पुण्यं विशिष्ट शुभं शुभायुर्नामगोत्रलक्षणं मिथ्यात्वादिरहितं तीर्थकरनामगोत्रोपलक्षणोपलक्षितं पुण्यं यस्मादिति परोदय (२३) ।

परमोजः परंतेजः परंधाम परंमहः ।
प्रत्यग्ज्योतिः परंज्योतिः परंब्रह्म परंरहः ॥ २१ ॥

परमोजः—परं अतिशयवत् ओज उत्साहरूपः परमोज (२४) । परंतेज —परं उत्कृष्टं तेजो भूरिभास्करप्रकाशस्वरूपः[4] परंतेज (२५) । परंधाम—परमुत्कृष्टं धाम तेज स्वरूपः परंधाम (२६) ।

१ अ क्विनिप् । २ द मयमूढ । ३ द सन् । ४ अ प्रकाशरूपः ।

परंमह—परमुत्कृष्टं मह: तेज स्वरूप: परंमह (२७)। **प्रत्यग्ज्योति**—प्रत्यक् पाश्चात्यं ज्योति तेज स्वरूप प्रत्यग्ज्योति (२८)। **परंज्योति**—परमुत्कृष्टं ज्योति चक्षु:प्राय परंज्योति लोकालोकलोचनत्वात् (२९)। **परब्रह्म**—परमुत्कृष्टं ब्रह्म पञ्चमज्ञानस्वरूप परंब्रह्म (३)। **पररह**—परमुत्कृष्ट रहो गुह्यस्वरूप स्तत्त्वस्वरूपो वा पररह । तत्त्वे रते च गुह्ये च रह इत्यभिधीयते इति वचनात् (३१)।

प्रत्यगात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदय ।
परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतन ॥ ८२ ॥

प्रत्यगात्मा—प्रत्यक् पाश्चात्य आत्मा बुद्धिर्यस्य स प्रत्यगात्मा ।

सूर्योऽग्नौ पवने चित्त धृतौ यत्नेऽसुमत्यपि ।
बुद्धौ काये मताश्चात्मा स्वभावे परमात्मनि ॥

इत्यभिधानात् (३२)। **प्रबुद्धात्मा**—प्रबुद्ध प्रकर्षेण केवलज्ञानसहित आत्मा जीवो यस्य स प्रबुद्धात्मा (३३)। **महात्मा**—महान केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापक आत्मा यस्य स महात्मा (३४)। **आत्ममहोदय**—आत्मनो महानुदयो यस्य स आत्ममहोदय, कदाचिदपि न ज्ञानरहित इत्यर्थ। अथवा महस्य पूजाया उदयस्तीर्थकरनामोदयो यस्य स आत्ममहोदय (३५)। **परमात्मा**—परम उत्कृष्ट केवलज्ञानी आत्मा जीवो यस्य स परमात्मा (३६)। **प्रशान्तात्मा**—प्रशान्तो घातिकर्मक्षयवान् आत्मा यस्य स प्रशान्तात्मा (३७)। **परात्मा**—पर उत्कृष्ट केवलज्ञानोपेतत्वात् परात्मा। अथवा परे एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ता प्राणिन आत्मानो निश्चयनयेन निजसमाना यस्य स परात्मा। उक्तञ्च **योगीन्द्रदेवेन**—

जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ[१] ॥

अत्र हेतुहेतुमद्भाव उक्तो भवतीति भाव (३८)। **आत्मनिकेतन**—आत्मैव शरीरमेव निकेतनं गृह यस्येति आत्मनिकेतनः व्यवहारेणेत्यर्थ। निश्चयनयेन तु आत्मा जीवो निकेतन गृह यस्य स आत्मनिकेतन (३९)। तथा चोक्त **योगीन्द्रदेवै**—

ते वंदउ सिरि सिद्धगण जे अप्पा णिवसंति ।
लोयालोउ वि सयलु इहु[२] अच्छहिँ विमलु णियंत[३] ॥

व्यवहारनयेन तु—

एकस्तम्भ नवद्वार पञ्च पञ्च [४]जनाश्रितम् ।
अनेकक्षणमेवेद शरीर योगिनां गृहम् ॥

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठित ।
ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक् ॥ ८३ ॥

परमेष्ठी—परमे उत्कृष्टे इन्द्र धरणेन्द्र-नरेन्द्र-गणी न्द्रादिवन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी (४)। **महिष्ठात्मा** अतिशयेन महान् आत्मा यस्येति महिष्ठात्मा। अथवा मही अष्टमभूमौ तिष्ठतीति महिष्ठः, महिष्ठ आत्मा यस्येति महिष्ठात्मा। उक्तञ्च—

---

१ ह ख लोक । २ ख प्रे चित्त तोये ते सतुपत्यपि इति पाठ ।
३ ह मतावीदृक् पाठ—जीवा जिनवर जो यः कोऽपि जीवान् जिनवर जानाति मुणइ जिणवर जीव मुणेइ। सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ४ अ इहु । ५ ख नियत । ६ अ जना ।

सोहम्म¹-अच्चुदाणिय-माणुस लोहस्सिय कप्पवासी य ।
गेवेय-सव्वसिद्धी लोयग्गदी अट्ठमी पुढई ॥

श्रेष्ठात्मा अतिशयेन प्रशस्य श्रेष्ठ । अथवा अतिशयेन वृद्ध लोकालोकव्यापी श्रेष्ठ, श्रेष्ठ आत्मा यस्येति श्रेष्ठात्मा केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापिजीवस्वरूप इत्यर्थ (४२) । **स्वात्मनिष्ठित** —स्वात्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वरूपे न्यतिशयेन स्थित स्वात्मनिष्ठित (४३) । **ब्रह्मनिष्ठ** – ब्रह्मणि केवलज्ञाने न्यतिशयेन तिष्ठतीति ब्रह्मनिष्ठ (४४) । तथा चोक्त—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्म ति गी प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा² ॥

महानिष्ठ —महती निष्ठा स्थिति क्रिया यथाख्यातचारित्रं यस्येति महानिष्ठ परमौदासीनता प्राप्त इत्यर्थः । सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायय्थाख्यातमिति चारित्र पञ्चविधम् (४५) । **निरूढात्मा**—न्यतिशयेन रूढस्त्रिभुवनप्रसिद्ध आत्मा यस्येति निरूढात्मा (४६) । **दृढात्मदृक्**– दृढात्मा निश्चलस्वरूपा अनन्तबलोपेता सत्तामात्रावलोकिनी दृक् दर्शनं यस्येति दृढात्मदृक् (४७) । उक्तं च नेमिचन्द्रेण भगवता सैद्धान्तचक्रवर्तिना—

दंसण पुव्वं णाण छदुमत्थाणं³ ण दोण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोण्णि ॥

तथा चोक्त **आशाधरेण**—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं⁴ दर्शनं
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वत
स्फूर्जन्ती⁵ युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगा ॥

ननु अयमभिप्राय सिद्धाना कथित अर्हतां कथं सगच्छते इत्याह—सत्य, अर्हत्सिद्धयोरन्तरं शरीरसहिताशरीरत्वार्वतते न तु अनन्तचतुष्टयेन ।

एकविद्यो महाविद्यो महाब्रह्मपदेश्वर ।
पञ्चब्रह्ममय सार्व सर्वविद्येश्वर स्वभू ॥ २४ ॥

एकविद्य —एका अद्वितीया केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मतिश्रुतावधिमन पर्ययरहिता विद्या यस्येति एकविद्यः । (४८) । उक्तञ्च **पूज्यपादेन**—

क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम् ॥

महाविद्य —महती केवलज्ञानलक्षणा विद्या यस्येति महाविद्यः (४९) । **महाब्रह्मपदेश्वरः**— ब्रह्मणः केवलज्ञानस्य पदं स्थानं ब्रह्मपदम् । महच्च तद् ब्रह्मपदं च महाब्रह्मपदं मोक्ष तस्य ईश्वरः स्वामी महाब्रह्मपदेश्वरः । अथवा महाब्रह्माणो गणधरदेवादयः पदयोश्चरणयोर्लग्नाः महाब्रह्मपदा, तेषामीश्वरः महाब्रह्मपदेश्वरः । अथवा महाब्रह्मपदं समवसरणं तस्येश्वरः महाब्रह्मपदेश्वर (५) । **पञ्चब्रह्ममय** —पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानैर्निर्वृत्तो निष्पन्नः पञ्चब्रह्ममयः ज्ञानचतुष्टयस्य केवलज्ञानान्तर्भूतत्वात् । अथवा पञ्चभिर्ब्रह्मभिः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभिर्निवृत्त पञ्चब्रह्ममय, पञ्चपरमेष्ठिनां गुणैरुपेतत्वात्

---

१ द नारकय लभे पारक । २ स ब्रह्मा । ३ द जगत्यकानां इत्यधिकपाठ । ४ द कथितं इत्यधिकः पाठः । ५ द स्फूर्जन्ती ।

(५१) । **सार्वः**—सर्वेभ्यः सद्दृष्टिमिथ्यादृष्टिभ्य एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय सूक्ष्म बादर पर्याप्तापर्याप्त लब्ध्यपर्याप्तादिजीवाना हित सार्व सर्वप्राणिवर्गहितो[1]पदेशकत्वात् । अत्र शैविको अण्[2] ज्ञातव्यः रागाद्यशेषत्वात् (५२) । **सर्वविद्येश्वरः**—सर्वा चासौ विद्या सर्वविद्या, सकलविमलकेवल ज्ञानम् तस्या ईश्वर स्वामी सर्वविद्येश्वर । अथवा सर्वा विद्या विद्यन्ते येषा ते सर्वविद्या श्रुतकेवलि गणधर देवानगारकेवलिन तेषामीश्वर सर्वविद्यश्वर । अथवा सर्वासु विद्यासु स्वसमय परसमय सम्बन्धिनीषु विद्यासु लोकप्रसिद्धासु चतुर्दशसु ईश्वर समर्थ सर्वविद्येश्वर । कास्ता सर्वविद्या ? एकादशांगानि चतुर्दश पूर्वाणि चतुर्दश प्रकीर्णकानि च । कास्ता परसमयचतुर्दशविद्या इति चेत्—

षडंगानि चतुर्वेदा मीमांसा न्यायविस्तर ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥

शिक्षा कल्पो व्याकरण ज्योतिष छंदो निरुक्तं चेति षडंगानि । ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदश्चतुर्थकोऽथर्वणवेदश्चेति चत्वारो वेदा । मीमांसा पूर्वमीमांसा उत्तरमीमासा चेत्येकमीमासा न्यायविस्तर । नीति शास्त्र धर्मशास्त्र अष्टादश स्मृतय पुराण च तदपि अष्टादशप्रकार । तेषाम तर्भेदा लोकतो ज्ञातव्याः । सर्वविद्येश्वर इत्यनेन सर्वज्ञनाम्नाऽल्पविद्यो रुद्र सर्वज्ञो न भवतीति सूचितम् । उक्तञ्च—

सुगतो यदि सर्वज्ञ कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदा कथं तयो ॥ इति ॥

अलमतिविस्तरेण (५३) । **सुभूः**—शोभना समवसरणलक्षणा मोक्षलक्षणा ईषत्प्राग्भारनाम्नी भू स्थानं यस्येति सुभू (५४) ।

अनन्तधीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तदृक् ।
अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिदनन्तमुत् ॥२५॥

अनन्तधीः—केवलज्ञानलक्षणा धीबुद्धिर्यस्येति अनन्तधी । अथवा अनन्तस्य शेषनागस्य धीश्चिन्तनं यस्मिन् सोऽनन्तधी । अथवा अनन्ते मोक्षे धीयस्य अथवा अनन्तेषु सिद्धेषु दीक्षावसरे धीर्यस्य सोऽनन्तधी (५५) । **अनन्तात्मा**—अनन्तेन केवलज्ञानेनोपलक्षिता आत्मा यस्येति अनन्तात्मा । अथवा अनन्तो विनाशरहित आत्मा यस्येति अनन्तात्मा । अथवा अनन्तानन्ता आत्मानो जीवा यस्य मते सोऽनन्तात्मा । अथ मुक्तिं गच्छत्सु जीवेषु कदाचित्तदन्तो भविष्यतीति चेन्न, ससाराब्धि तरत्स्वपि जीवेषु तेषामनन्तत्वात् । तदुक्तं—

जइया होहिसि पेच्छा जिणागमे अत्थि उत्तर तइया ।
एक णिगोदसरीरे भागमणंतेण सिद्धिगया ॥

झल्लरीशाखादिशब्दवत् अपवरकादिनिर्गच्छद्वातवत् ससारिजीवानामन्तो न वर्तते सिद्धानामनन्तत्वेऽपीत्यर्थ । इत्यनेन ये वदन्ति मुक्तिं गतेषु जीवेषु ससारो रिक्तो भवति तदनन्तर परमेश्वर कर्ममलकलङ्कं तेषां लगयते, पश्चाच्च ससारे पतन्ति पुनरपि च मुक्तिमार्गश्चलतीति प्रत्युक्ता भवन्ति (५६) । **अनन्तशक्तिः**—अनन्ता शक्ति सामर्थ्य यस्येति अनन्तशक्ति (५७) । **अनन्तदृक्**—अनन्ता दृक् केवलदर्शन यस्येति अनन्तदृक् (५८) । **अनन्तानन्तधीशक्तिः**—अनन्तानन्ता धी शक्तिर्विक्रम प्रज्ञासामर्थ्यमष्टधा यस्येति अनन्तानन्तधीशक्ति (५९) । उक्तञ्च—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीती श्रोतुरष्टौ गुणान् विदु[5] ॥

---

१ द सर्वदोष । २ द अन् । ३ अ विद्या एता । ४ द अथवा । ५ महापुराण पर्व १ श्लो १४६ ।

अनन्तचित्—अनन्ता चित् केवलज्ञानं यस्येति अनन्तचित् (६०)। अनन्तमुत्—अनन्ता मुत् हर्षः सुखं यस्येति अनन्तमुत् (६१)।

सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधीः ।
कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽचलस्थितिः ॥ २६ ॥

सदाप्रकाश—सदा सर्वकालं प्रकाशः केवलज्ञानं यस्येति सदाप्रकाश । एकसमयेऽपि ज्ञानं न त्रुट्यति भगवत इत्यर्थः (६२)। **सर्वार्थसाक्षात्कारी**—सर्वान् अर्थान् द्रव्याणि पर्यायांश्च साक्षात्करोति प्रत्यक्षं जानाति पश्यति चेत्येवंशीलः सर्वार्थसाक्षात्कारी, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य इति वचनात् (६३)। **समग्रधी**—समग्रा परिपूर्णा ज्ञेयप्रमाणा धीः बुद्धि केवलज्ञानं यस्येति समग्रधी (६४)। **कर्मसाक्षी**—कर्मणां पुण्यपापानां साक्षी ज्ञायक कर्मसाक्षी अन्धकारेऽपि प्रविश्य पुण्यं पापं वा य कश्चित्करोति तत्सर्वं भगवान् जानातीत्यर्थ (६५)। **जगच्चक्षुः**—जगतां त्रिभुवनस्थितप्राणिगणानां चक्षुर्लोचनसमान, त विना सर्वेऽप्यन्धा वर्तन्त इत्यर्थ (६६)। **अलक्ष्यात्मा**—अलक्ष्य अविज्ञेय आत्मा स्वरूप यस्येति अलक्ष्यात्मा छद्मस्थाना मुनीनामपि अदृश्य इत्यर्थः (६७)। **अचलस्थिति**—अचला निश्चला स्थितिः स्थान सीमा वा यस्येति अचलस्थिति । आत्मनि एकलोलीभावो दृढचारित्र इत्यर्थ (६८)।

निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांवर ।
भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रिय ॥ २७ ॥

निराबाध—निर्गता आबाधा कष्ट यस्येति निराबाध (६९)। **अप्रतर्क्यात्मा**—अप्रतर्क्यः अविज्ञेय अविचार्य अवक्तव्य आत्मा स्वभाव स्वरूपं यस्येति अप्रतर्क्यात्मा (७०)। **धर्मचक्री**—धर्मेणोपलक्षित चक्र धर्मचक्रम् धर्मचक्र विद्यते यस्य स धर्मचक्री । भगवान् पृथिवीस्थितभव्यजनसंबोधनार्थं यदा विहार करोति तदा धर्मचक्रं स्वामिन सेनाया अग्रेऽग्रे निराधार आकाशे चलति । उक्तञ्च धर्मचक्रलक्षण **श्रीदेवनन्दिना**[1]—

स्फुरदरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम् ।
प्रहसितसहस्रकिरणद्युतिमण्डलमग्रगामि धर्मसुचक्रम् ॥

सर्वेषामभयदानदायकं भवति (७१)। **विदांवर**—विदां विद्वज्जनानां मध्ये वर श्रेष्ठ विदांवर । क्वचिन्न लुप्यन्ते विभक्तयोऽभिधानात् (७२)। **भूतात्मा**—भूत सत्यार्थ आत्मा यस्येति भूतात्मा । कोऽसौ आत्मशब्दस्य सत्यार्थ इति चेदुच्यते—अत सातत्यगमने इति तावद् धातुर्वर्तते । अतति सतत गच्छति लोकालोकस्वरूप जानातीत्यात्मा । सर्वधातुभ्यो मन् । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इत्यभिधानात् । तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदोः ।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भू ॥

इति वचनात् भूतो लोकालोकस्य ज्ञानेन व्यापक आत्मा यस्येति भूतात्मा, न तु पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणचतुर्भूतमयश्चार्वाककथित आत्मा वर्तते (७३)। **सहजज्योति**—सहजं स्वाभाविक ज्योतिः केवलज्ञानं यस्येति सहजज्योति (७४)। **विश्वज्योति**—विश्वस्मिन् लोके अलोके च ज्योतिः केवलज्ञान केवलदर्शनलक्षणं ज्योतिर्लोचनं यस्येति विश्वज्योतिः । अथवा विश्वस्य लोकस्य ज्योतिश्चक्षुः विश्वज्योतिः लोकलोचनमित्यर्थं । ज्योतिश्चक्षुषि तारके इत्यभिधानात् (७५)। **अतीन्द्रिय**—अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येनेति अतीन्द्रियः, इन्द्रियज्ञानरहित इत्यर्थः (७६)। उक्तञ्च—

---

1. क 'स्वामिना भट्टारकेण' इत्यधिकः पाठः । २ द्रु मद ।

सव्वण्हु अखिंदिउ णाणमउ जो मयमूढु न पत्तियइ ।
सो णिंदिउ पंचिंदिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥

केवली केवलालोको लोकालोकविलोकन ।
विविक्त केवलोऽव्यक्त शरण्योऽचिन्त्यवैभव ॥ २८ ॥

केवली— केवल केवलज्ञानं विद्यते यस्येति केवली (७७) । **केवलालोक** — केवलोऽसहायो मति ज्ञानादिनिरपेक्ष आलोक केवलज्ञानोद्योतो यस्येति केवलालोक (७८) । **लोकालोकविलोकन** — लोकालोकयोर्विलोकन अवलोकनं यस्येति लोकालोकविलोकन (७६) । **विविक्त** विविच्यते स्म विविक्त सर्वविषयेभ्य पृथग्भूत । विचिर्[1] पृथग्भावे (८) । **केवल** —केवल असहाय । **अथवा** के आत्मनि बल यस्येति केवल (८१) । **अव्यक्त** —इन्द्रियाणा मनस अगम्य अगोचर केवलज्ञानेन गम्य इत्यर्थ (८२) । **शरण्य** – शरण साधु शरण्य अत्तिमथनसमथ इत्यर्थ (८३) । **अचिन्त्य वैभव** – अचिन्त्य मनस अगम्य वैभव विभुत्व प्रभुत्वं यस्येति अचिन्त्यवैभव (८४) ।

विश्वभृद्विश्वरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुख ।
विश्वव्यापी स्वयज्योतिरचिन्त्यात्माऽमितप्रभ ॥ २६ ॥

विश्वभृत्—विश्व बिभर्ति धरति पुष्णाति वा विश्वभृत् (८५) । **विश्वरूपात्मा** — विशति प्रविशाति पयटन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति विश्वं त्रलोक्य तद्रूपस्तदाकार आत्मा लोकपूरणावसरे जीवो यस्येति विश्वरूपात्मा । अथवा विशंति जीवादय पदार्था यस्मिन्निति विश्व केवलज्ञान विश्वरूप कवलज्ञानस्वरूप आत्मा यस्येति विश्वरूपात्मा । अशि लटि खटि विशिभ्य क्व (८६) । **विश्वात्मा** —यथा चक्षुषि स्थित कज्जल चक्षुरिति, प्रस्थप्रमित धान्य प्रस्थ इत्युपचर्यते तथा विश्वस्थित प्राणिगणो विश्वशब्देनोच्यते विश्व[2] आत्मा निजसदृशो यस्येति विश्वात्मा (८७) । **विश्वतोमुख** — विश्वतश्चतुर्दिक्षु मुख वक्त्र यस्येति विश्वतोमुख केवलज्ञानवन्त स्वामिनं सर्वेऽपि जीवा निज निजसन्मुख भगवन्त पश्यन्तीति भाव तस्य तादृशनिर्मलत्वात् । अथवा विश्वतोमुख खलु जल[3]मुच्यते तत्स्वभावत्वात् अमितजन्मपातकप्रक्षालन त्वात्[4] विषयसुखतृष्णानिवारकत्वात् प्रसन्नभावत्वाच्च भगवानपि विश्वतोमुख उच्यते । अथवा विश्व ससार तस्यति निराकरोति मुख यस्येति विश्वतोमुख भगवन्मुखदर्शनेन जीव पुनर्भवे न सभवेदिति भाव । अथवा विश्वत सर्वांगेषु मुख यस्येति विश्वतोमुख सहस्रशीर्ष सहस्रपात् इत्यभिधानात् (८८) । **विश्वव्यापी**—विश्व लोकालोक केवलज्ञानेन व्याप्नोतीत्येवशील विश्वव्यापी । अथवा लोकपूरणप्रस्तावे विश्व जगत् आत्मप्रदेशैर्व्याप्नोतीत्येवंशील विश्वव्यापी (८६) । **स्वयज्योति** स्वय आत्मा ज्योतिश्च क्षुर्यस्येति स्वयंज्योति प्रकाशकत्वात् स्वयसूर्य इत्यथ (६) । **अचिन्त्यात्मा**— अचिन्त्य अवाग्मनस गोचर. आत्मा स्वरूप यस्येति अचिन्त्यात्मा अचिन्त्यस्वरूप (६१) । **अमितप्रभ** – अमिता प्रभा केवल ज्ञानस्वरूप तेजो यस्येति अमितप्रभ । अथवा अमिता प्रभा कोटिभास्कर कोटिचन्द्रसमान शरीरतेजो यस्येति अमितप्रभ (६२) ।

महौदार्यो महाबोधिमहालाभो महोदय ।
महोपभोग सुगतिमहाभोगो महाबल ॥ ३ ॥

महौदार्य— महत् औदाय दानशक्तिर्यस्येति महौदार्य । भगवान् निर्ग्रन्थोऽपि सन् वाञ्छितफलप्रदा यक इत्यर्थ । उक्तञ्च—

निःकिंचनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि निकाम कामितानि ।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टि किमु खादिह नो चकास्ति ॥

---

१ द विचिर् । २ ख विश्वं इति पाठ । ३ द अन । ४ द प्रक्षालत्वात् ।

अथवा वैराग्यकाले सर्वं त्याजीति भाव (९३)। **महाबोधिः**—महती बोधिर्वैराग्यं रत्नत्रयप्राप्तिर्वा यस्येति महाबोधिः (९४)। उक्तञ्च—

> रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सोऽतीव दुर्लभा ।
> लब्ध्वा कथं कथंचिच्चेत्कार्यो यत्नो महानिह ॥

महालाभः—महान् लाभो नवकेवललब्धिलक्षणो यस्येति महालाभ । सम्यक्त्वं चारित्रं ज्ञान दर्शनं दान लाभो भोग उपभोगो वीर्यं चेति नवकेवललब्धय (९५)। **महोदयः**—महान् तीर्थंकरनाम कर्मण उदयो विपाको यस्येति महोदय । अथवा महान् उत्कृष्ट अयः शुभावहो विधिर्यस्येति महोदयः । अथवा महान् कदाचिदप्यस्त न यास्यति उदय कर्मक्षयोत्पन्न केवलज्ञानस्योद्गमो यस्येति महोदयः । अथवा महस्तेजो दया सर्वप्राणिकरुणा यस्येति महोदयः । अथवा महसा केवलज्ञानेन युक्ता दया यस्येति महोदय. । उक्तञ्च—

> यस्य ज्ञान दयासिन्धोरगाधस्यानघा गुणा ।
> सेव्यतामक्षयो धीरा सश्रिये चामृताय च ॥

ज्ञानेन दयया च मोक्षो भवतीति सूचितमत्र (९६)। **महोपभोगः**—महान् उपभोगश्छत्र चामर सिंहासनाशोकतरुप्रमुखो मुहुर्भोग्य समवसरणादिलक्षण वस्तु यस्येति महोपभोग (९७)। **सुगतिः**—शोभना गति केवलज्ञान यस्येति सुगति । अथवा शोभना गति पचमीगतिर्यस्येति सुगतिः । अथवा शोभना गतिर्गगनगमन यस्येति सुगति छद्मस्थावस्थाया मन्दगमनो वा (९८)। तथा चोक्त—

> गिरिभित्त्यवदानवत श्रीमत इव दन्तिन स्रवद्दानवत ।
> तव समवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवत ॥

महाभोगः—महान् भोग गन्धोदकवृष्टि पुष्पवृष्टि शीत मृदु सुगन्धपृषतो वातादिलक्षणो भोग सकृद् भोग्य वस्तु यस्येति महाभोग । समय समय प्रत्यनन्यसाधारणशरीरस्थितिहेतुपुण्यपरमाणुलक्षणो नोकर्माभिधानो भोगो यस्येति महाभोग । अथवा महान् आभोगो मनस्कारो लोकालोकव्यापकं केवलज्ञान यस्येति महाभोग । चित्ताभोगो मनस्कार इत्यभिधानात् (९९)। **महाबल**—महत् बल समस्तवस्तु-परिच्छेदकलक्षणं केवलज्ञान यस्येति महाबल । अथवा महत् बल शरीरसामर्थ्य निर्भयत्वं च यस्येति महाबल (१)। तथा चोक्तं **आशाधरेण**—

> नागेन्द्रान्[1] विस्मयान्तर्हितपतनकृशो द्रुतकम्पान् वितन्वन्,
> नि अर्धीकृत्य भोगं[2] वलयितपृथुतन्मूलमाङ्गीहिताहि ।
> श्रीकुण्डकुण्डग्रामवनिसरसिजवनवर्णोऽवतीर्णःस्ववर्ग्य
> व्यासङ्गं संगमस्य व्यधित त्रिजगद्गुरो महावीरनाथ स वोऽव्यात् ॥

अस्यायमर्थ—श्री वीरनाथ किल बालकुमार बालक्रीडां काकपक्षधरै राजकुमारै समान वयोभिर्यदा तरुक्रीडां करोति तस्मिन्नवसरे सौधर्मेन्द्रसभायां कथा बभूव—यद्देवानां मध्ये श्रीवीरनाथ शूरो वर्तते । तच्छ्रुत्वा संगमको नामदेवस्तत्परीक्षितु कुंडपुरं प्राप्त । तत्रोद्यानवने बहुभी राजकुमारैः सह क्रीडां कुर्वाणः श्रीवीरस्वामी संगमासुरेण दृष्ट । तस्मिन्नवसरे वृक्षमारुह्य श्रीवीरराजो[3] राजकुमारै सह क्रीडां कुर्वन्नास्ते । संगमो नाम देवः सर्परूपं धृत्वा तरुमूलमारभ्य स्कन्धपर्यन्तं वेष्टयित्वा स्थित । तं दृष्ट्वा सर्वेऽपि नृपकुमाराः विटपेभ्यो भयविह्वला धरण्यां पतिताः यत्र तत्र पलायिताश्च । श्रीवीरस्तु तं कालदर्पं सर्पं समारुह्य ललजिह्वाशतेन तेनाहिना मातुरुत्संगं गत इव क्रीडां चकार । संगमस्तु विजृम्भमाणप्रमोदा म्भोधिः स्वामिनः स्तुतिं चकार, त्वं महावीर इति स्वामिनो नाम कृत्वा स्वर्गं गत । तदवधारयन्

---

१ द 'नृप कुमारान्' इत्यधिकः पाठः । २ द सर्पशरीरं इत्यधिकः पाठः । ३ द श्रीवीरो ।

आशाधरः पद्यमिदं चकार—नार्पत्यानित्यादि । स्रग्धराछंद । स जगत्प्रसिद्ध महावीरनाथ श्रीमहावीरस्वामी वो युष्मान् अव्यात् संरक्षतात् । स क ? य सगमस्य संगमनामदेवस्य स्ववर्णव्यासंगं व्यधित निजयशो व्यावर्णनपरायणं कृतवान् भगवान् । किं कुर्वन् नार्पत्यान् राजपुत्रान् दत्तझम्पान् कृताध पतनान् वितन्वन् कुर्वन् । कथम्भूतान् नार्पत्यान् ? विस्मयान्तर्हितपतनरुज -विस्मयेन आश्चर्येण अन्तर्हिता विस्मृता पतनरुक् पतनवेदना येषा ते विस्मयान्तर्हितपतनरुज तान् तथोक्तान् । भगवान् कथम्भूतः आर्द्रांहितांह्रि आर्द्रतया सकरुणया आहितौ सर्पशरीरे आरोपितावंह्री पादौ येन स आर्द्राहितांह्रि । अस्य सर्पकीटकशरीरे मत्करचरणव्यथा मा भूदित्यभिप्राय । किं कृत्वा ? पूर्व भोग सर्पशरीर नि श्रेणीकृत्य अधिरोहिणी कृत्वा विधाय । आरोहण स्यात्सोपान निःश्रेणिस्त्वधिरोहणी इत्यभिधानात् । कथंभूतं भोगं, वलयित पृथुतन्मूलं वलयितं वेष्टित पृथु महत् तन्मूलं यन भोगेन स वलयितपृथुतन्मूलस्त तथोक्तम् । भगवान् कथम्भूत अवतीर्ण ? तरोरध आगत । कस्मादवतीर्ण ? श्रीकुंडद्रुगगृह्यावनितरुशिखरात् श्रीमान् लक्ष्मीविराजितो योऽसौ कुडद्रुग कुडपुर नामपत्तन तस्य गृह्या समीपवर्त्तिनी या अवनिभूमि तस्या योऽसौ तरु आमलकी वृक्ष , तस्य शिखर अग्र श्रीकुडद्रुगगृह्यावनितरुशिखरम् तस्मात्तथोक्तात् इति क्रियाकारकसम्बन्ध ।

सवज्ञवचनरचनाविचक्षणो लक्षणे प्रवीणतर ।
श्रीविद्यानन्दिगुरो शिष्य श्रीश्रुतसागरो जयति ॥

इति सर्वज्ञशतनामा द्वितीयोऽध्याय समाप्त ।

अथ तृतीयोऽध्याय ।

ॐ नमः सिद्धेभ्य [1] । अथेदानीं यज्ञार्हशत विव्रियते ।

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मघवार्चित ।
भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थक्रतुपौरुष ॥ ३१ ॥

यज्ञार्हः—यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । जिनानां यजन यज्ञ । याचि विचि प्रच्छि यजि स्वपि रक्षियतां नङ । यज्ञं इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्रादिकृतामहणां पूजामनन्यसंभविनीमर्हतीति यज्ञार्ह । कर्मण्यण् (१) । भगवान्—भगो ज्ञान परिपूर्णैश्वर्य तप श्री वैराग्य मोक्षश्च विद्यते यस्य स भगवान् (२) । उक्तञ्च—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य तपस श्रिय ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृत ॥

अर्हन्—इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीमर्हणामर्हतीति योग्यो भवतीति अर्हन् । वर्तमाने शन्तृङानशाव प्रथमैकाधिकरणामंत्रितयो इत्यनेन शन्तृप्रत्यय । अथवा अकारशब्देन अरिर्लभ्यते, स एव मोहनीय । 'समुदायेषु प्रवृत्ता शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते इत्यभिधानात् । रकारेण रजो रहस्यं च लभ्यते । किं तत् रज ? ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च द्वयमेतत् रज उच्यते रहस्यशब्देन अन्तरायकर्मोच्यते । मोहनीयं एतत्त्रय च घातिकर्मचतुष्टयं कथ्यते । तत् हत्वा अर्हणामर्हतीत्यर्हन् । तदुक्त श्रीगौतमेन महर्षिणा—

मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्य सदाहतरजोभ्यः ।
विरहितरहस्कृतेभ्य पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः ॥

---

१ ॐ अ प्रत्योः नास्त्ययं पाठः । २ अ प्रारभ्यते ।

४

तथा च चारित्रसारग्रन्थे चामुण्डेन राज्ञा नान्दीसूत्रस्य पूर्वार्धेऽयमेवार्थोऽभ्यधायि—

अरिहनन रजोहनन-रहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥

तथा चोक्तमुमास्वामिना—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्[1] (३)। **महार्हः**—महस्य यज्ञस्य अर्हो योग्य: महार्ह । अथवा महमर्हतीति महार्ह । कर्मण्यण् । अथवा महाश्चासावर्हं महार्हः । अर्हं प्रशंसायामिति साधु । (४) । **मघवार्चित** — मघवता मघोना वा शतक्रतुना शक्रेण इन्द्रेण इन्द्रस्य वार्ऽर्चित पूजितः मघवार्चित । अथवा मघ कैतव कपट वायन्ति शोषयन्ति ये ते मघवा जैना[2] दिगम्बरा तैरर्चित मघवार्चित । श्वन् युवन् मघोनां च । सौ च मघवान् मघवा वा (५) । **भूतार्थयज्ञपुरुष**—भूतार्थ सत्यार्थ यज्ञपुरुषः पूजार्ह पुरुष भूतार्थयज्ञपुरुष । भागवता किल नारायणं यज्ञपुरुष वदन्ति तन्मिथ्यार्थं इत्यर्थ (६) । **भूतार्थक्रतुपुरुष**—भूतार्थ सत्यार्थ क्रतुपुरुषः यज्ञपुरुष भूतार्थ क्रतुपुरुष । अत्रापि स एवार्थ (७) ।

पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवानत्रभवान्महान् ।
महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक् ॥ ३२ ॥

पूज्य पूजाया नियुक्त पूज्य (८) । **भट्टारक** —भट्टान् पंडितानारयति[3] प्रेरयति स्याद्वादमर्यादार्थमिति भट्टारक (९) । **तत्रभवान्**— पूज्य (१०) । **अत्रभवान्**—पूज्यः (११) । **महान्**—पूज्य (१२) । **महामहार्ह** – महापूजायोग्य (१३) । **तत्रायुः**—पूज्यः (१४) । **ततोदीर्घायुः**—पूज्य (१५) । **अर्घ्यवाक्**— अर्घ्या पूज्या वाक् यस्य स अर्घ्यवाक् (१६) ।

आराध्य परमाराध्य पञ्चकल्याणपूजित ।
दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधारार्चितास्पद ॥ ३३ ॥

आराध्य —पूज्य (१७) । **परमाराध्य** —परमैरिन्द्रादिभिराराध्यते परमाराध्य । अथवा परमश्चासावाराध्य (१८) । **पञ्चकल्याणपूजित** —पञ्चसु कल्याणेषु गर्भावतार जन्माभिषेक निःक्रमण ज्ञान निर्वाणेषु पूजित पञ्चकल्याणपूजित । (१९) । **दृग्विशुद्धिगणोदग्रः**—दृशः सम्यक्त्वस्य विशुद्धि निरतीचारता यस्य गणस्य द्वादशभेदगणस्य स दृग्विशुद्धि , दृग्विशुद्धिश्चासौ गण दृग्विशुद्धिगण , तस्मिन् उदग्र उत्कर्षेण मुख्य दृग्विशुद्धिगणोदग्र । काऽसौ दृग्विशुद्धिरिति चेदुच्यते—

मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥

तत्र मूढत्रयम्—लोकमूढं देवतामूढं पाखंडिमूढं चेति मूढत्रयम् । तत्र लोकमूढम्—

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्यय ।
सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चनाविधिः ॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।
रत्न-वाहन-भू-वृक्ष-शस्त्र-शैलादिसेवनम् ॥
आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥

---

१ तत्त्वार्थ० १० १। २ द जैनदिगम्बराः। ३ ब 'पंडितान् पाखण्डदीन् आरयति' इति पाठः।

तत्र देवतामूढम्—

वरोपलिप्सयाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसा ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥

तत्र पाखण्डिमूढम्—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥

तत्राष्टौ मदा —

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

तत्र अनायतनानि षट्—

कुदेव शास्त्र शास्त्रृणां तत्सेवककतॄणां तथा ।
स्थानके गमनं पुसामित्यनायतनानि षट् ॥

तत्र शंकादयोऽष्टौ दोषाः सप्तभयरहितत्वं जैनं दर्शनं सत्यमिति निःशंकितत्वम् (१)। इह परलोक भोगोपभोगकांक्षारहितत्वं निःकांक्षत्वम् (२)। शरीरादिकं पवित्रमिति मिथ्यासङ्कल्पनिरासो निर्विचिकित्सता (३) अनार्हततत्त्वेषु मोहरहितत्वममूढदृष्टिता (४)। उत्तमक्षमादिभिरात्मनो धर्मवृद्धिकरणं चतुर्विध संघदोषप्रच्छादनं चोपबृंहणं उपगूहनापरनामधेयम् (५)। क्रोधमानमायालोभादिषु धर्मविध्वंसकारणेषु विद्यमानेष्वपि धर्मादप्रच्यवनं स्थितीकरणम् (६)। जिनशासने सदानुरागित्वं वात्सल्यम् (७)। सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं जिनशासनोद्योतकरणं च प्रभावना (८)। एतेऽष्टौ सम्यक्त्वगुणाः। तद्विपरीता अष्टौ दोषाः। तथा चर्मजलघृततैलभूतनाशनमूलक पद्मिनीकंद पलाण्डु तुम्बक कलिंग-सूरण कन्द सर्षपुष्प सन्धानकभक्षणवर्जनादिकं दृग्विशुद्धिरुच्यते। ते के द्वादश गणाः ?

निग्रन्थकल्पवनिता-व्रतिका भ भौम
नागस्त्रियो भवन भौम भ कल्पदेवाः ।
कोष्ठस्थिता नृ पशवोऽपि नमन्ति यस्य
तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥

इति वसन्ततिलकावृत्ते कथितो द्वादशविधगणः अर्हद्भिगणतो गण्यते। तथाहि—प्रथमकोष्ठे निर्ग्रन्था मुनयस्तिष्ठन्ति। द्वितीयकोष्ठे षोडशस्वर्गवनिता भवन्ति। तृतीयकोष्ठे व्रतिकाः पंचमगुणस्थानवर्तिन्यो राजपत्न्यादयः क्षान्तयश्च तिष्ठन्ति। चतुर्थकोष्ठे ज्योतिषां सूर्यचन्द्रमसग्रहनक्षत्रताराणां स्त्रियो वसन्ति। पंचमे कोष्ठे व्यन्तराणामष्टविधवनिता देव्य आसते। षष्ठे कोष्ठे भवनवासिनीवासिता सन्ति। सप्तमे कोष्ठे भवनवासिनो देवा जाग्रति। अष्टमे कोष्ठे अष्टविधा व्यन्तरसुराश्चकासति। नवमे कोष्ठे ज्योतिर्देवाः पंचधा वर्तन्ते। दशमे कोष्ठे कल्पजा देवाः षोडशभेदा उपविशन्ति। एकादशे कोष्ठे नृपादयो मनुष्याः सन्तिष्ठन्ते। द्वादशे कोष्ठे सिंह-गजाश्व हंस मयूर उन्दुरगर्दभादयोऽपि भवन्ति। ते सर्वेऽपि दृग्विशुद्धिसहिता भवन्तीति आगमाद् बोद्धव्यं।

मिथ्यादृष्टिरभव्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव ।
यश्चानध्यवसायो यः संदिग्धो विपर्यस्तः ॥
अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि श्रृण्वन्ति बधिराः श्रुतिम् ।
मूकाः स्पष्टं विभाषन्ते चंक्रमन्ते च पङ्गवः ॥

कस्य च यथा क्रूरो भवति । मिथ्यादृष्टिश्च मांसाहारी प्रमथनामा भवति, न तथा स्वामिनो यथा इति भावः (२०) । वसुधारार्चितास्पदः—वसुधाराभी रत्नसुवर्णादिघनवर्षणैरर्चितं पूजितमास्पदं मातुरङ्गणं यस्येति वसुधारार्चितास्पदः । धने वृद्धौषधे रत्ने स्वादौ च वसु कथ्यते इत्यभिधानात् (२१) ।

सुस्वप्नदर्शी दिव्यौजाः शचीसेवितमातृकः ।
स्याद्रत्नगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रितः ॥ ३४ ॥

सुस्वप्नदर्शी—सुष्ठु शोभनान् स्वप्नान् मातुर्दर्शयतीति सुस्वप्नदर्शी ।

गज वृषभ सिंह कमलादामेन्दु रवीति मीन घटौ[1] च सरः ।
अब्ध्यासनं सुरसद्म च नागगृहं मणिगणो वह्निः ॥

गर्भागमनकाले मुखे गजराजप्रवेशश्च, इति सुस्वप्नदर्शी (२२) । **दिव्यौजा**—दिव्यं अमानुषं ओजोऽवष्टम्भो दीप्तिः प्रकाशो बलं धातु तेजो वा यस्य स दिव्यौजाः (२३) ।

धातु तेजो बलं दीप्तिरवष्टम्भश्च कथ्यते ।
ओज शब्देन विद्वद्भिः प्रकाश श्रुतसागरे ॥

शचीसेवितमातृकः—शच्या शक्रस्य महादेव्या सेविता आराधिता माता अम्बिका यस्य स शचीसेवितमातृकः । नद्यृदन्ताच्छेषाद्वा बहुव्रीहौ कः (२४) । **रत्नगर्भः**—गर्भेषु उत्तमो गर्भः रत्नगर्भः, रत्नैरुपलक्षितो गर्भो वा यस्य स रत्नगर्भः नवमासेषु रत्नवृष्टिसम्भवात् (२५) । **श्रीपूतगर्भः**—श्रीशब्देन श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी शान्ति पुष्टिप्रभृतयो दिक्कुमार्यो लभ्यन्ते । श्रीभिः पूतः पवित्रितो गर्भो मातुरुदरं यस्य स श्रीपूतगर्भः (२६) । **गर्भोत्सवोच्छ्रितः**—गर्भस्य उत्सवो गर्भकल्याणं देवैः कृतं तेनोच्छ्रितः उन्नतः गर्भोत्सवोच्छ्रितः (२७) ।

दिव्योपचारोपचितः पद्मभूर्निष्कलः स्वजः ।
सर्वीयजन्मा पुण्याङ्गो भास्वानुद्भूतदैवतः ॥ ३५ ॥

दिव्योपचारोपचितः—दिव्येन देवोपनीतेनोपचारेण पूजया उपचितः पुष्टिं प्राप्तः पुष्टिं नीतो वा दिव्योपचारोपचितः (२८) । **पद्मभूः**—पद्मैरुपलक्षिता भूर्मातुरुदरं[2] यस्येति पद्मभूः । अथवा मातुरुदरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमलं भवति तत्कर्णिकायां सिंहासनं भवति तस्मिन् सिंहासने स्थितो गर्भरूपो भगवान् वृद्धिं याति इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् भण्यते पद्माद् भवति पद्मभूः (२९) । उक्तञ्च महापुराणे—

कुशेशय सम देवं सा दधानोदरे शयम् ।
कुशेशय शयेवासीन्माननीया दिवौकसाम् ॥

निष्कलः—निर्गता कला कालो यस्येति निष्कलः । निश्चिता कला विज्ञानं वा यस्येति निष्कलः । उक्तञ्च—

षोडशांशकले विधोर्मूलं वृद्धिः कलन कला ।
शिल्पं कालश्च विज्ञेया कला बुधजनैरिह ॥

अथवा निर्गतं कलं रेतो यस्येति निष्कलः, अमलमूत्रत्वात् । अथवा निर्गतं कलमजीर्णं यस्येति निष्कलः, कवलाहाररहितत्वात् । उक्तञ्च—

अव्यक्तमधुरध्वाने कलं रेतस्यजीर्णके ।

1. द्व पु० 'ग्रियौ कुम्भौ । 2. म० मातुरुदरं । द० मातुरुदरं ।

अथवा निष्कं हेम लाति आदत्ते रत्नवृष्टेरवसरे निष्कल । अथवा निष्कं सुवर्णं लाति ददाति पश्चाद्‌ र्थावसरे वाञ्छकजनस्येति निष्कलः । अथवा निष्कं लाति राज्यावसरे वक्षोविभूषणं गृह्णाति सतरलं सहस्रसरहारं कण्ठे दधातीति निष्कल (३०)। उक्तञ्च—

वक्षोविभूषणे साष्टशते हेम्नश्च हेम्नि च ।
तत्पले चैव दीनारे कर्षे निष्को निगद्यते ॥

स्वज —स्वेन आत्मना जायते उत्पद्यते स्वानुभूत्या प्रत्यक्षीभवतीति स्वज । अथवा शोभनो रागद्वेषमोहादिरहित अजो ब्रह्मा स्वज । अन्यस्तु लोकोक्तलक्षण अज स तु दुरज । (३१)। तथा चोक्त **भट्टाकलङ्केन**—

उर्वश्यामुदपादि रागबहुलं चेतो यदीयं पुन
पात्री दण्ड कमण्डलुप्रभृतयो यस्याकृतार्थस्थितिम् ।
आविर्भावयितु भवन्ति स कथं ब्रह्मा भवेन्मादृशां
क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोषरहितो ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु न ॥

सर्वीयजन्मा—सर्वेभ्यो हितं सर्वीयम् सर्वीयं जन्म यस्येति सर्वीयजन्मा । भगवज्जन्मसमये नारका णामपि क्षणं सुख भवति यस्मात् तेन सर्वीयजन्मा (३२)। **पुण्याङ्ग** —पुण्य पुण्योपार्जनहेतुभूतमङ्ग शरीर यस्येति पुण्याङ्ग मलमूत्ररहितशरीरत्वादिति । अथवा पुण्यानि पूर्वापर विरोधरहितानि अङ्गानि आचाराङ्गादीनि द्वादश यस्येति पुण्याङ्ग । अथवा पुण्यानि पापरहितानि अङ्गानि हस्त्यश्वादीनि ऊर्ध्वगा मीनि यस्येति पुण्याङ्ग (३३)। **भास्वान्**—भासो दीप्तयो विद्यन्ते यस्य स भास्वान् चन्द्रार्ककोटेरपि अधिकतेजा इत्यर्थ (३४)। **उद्भूतदैवत** —उद्भूत उदयमागतमुत्कृष्टभूतं वा दैवतं पुण्य यस्य स उद्भू तदैवत । अथवा उद्भूतं अनन्तानन्तभवोपार्जित दैव कर्म तस्यति क्षयं नयतीति उद्भूतदैवत । अथवा उत्कृष्टाना भूताना प्राणिना शक्रादीना दैवत देव उद्भूतदैवत (३५)।

विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुत ।
शचीसृष्टप्रतिच्छन्द सहस्राक्षदृगुत्सव ॥ ३६ ॥

विश्वविज्ञातसंभूति —विश्वस्मिन् त्रिभुवने विज्ञाता संभूतिर्जन्म यस्येति विश्वविज्ञातसम्भूति । अथवा विश्वस्मिन् विज्ञाता विदिता विख्याता संभूतिः समीचीनमैश्वर्य यस्येति विश्वविज्ञातसंभूति (३६)। **विश्वदेवागमाद्भुत** —विश्वेषा भवनवासि व्यन्तर ज्योतिष्क-कल्पवासिना देवानामागमनेन सेवोपढौकनेन अद्भुतमाश्चर्य यस्मात् लोकाना स विश्वदेवागमाद्भुतः । अथवा विश्वदेवाना आगमेन शास्त्रेण अद्भुत माश्चर्य यस्मादिति विश्वदेवागमाद्भुत (३७)। **शचीसृष्टप्रतिच्छन्द** —शच्या इन्द्राण्या सृष्टो विक्रियया कृत प्रतिच्छन्द प्रतिकायो मायामयबालको यस्य स शचीसृष्टप्रतिच्छन्द (३८)। **सहस्राक्ष दृगुत्सव** —सहस्राक्षस्य इन्द्रस्य दृशा लोचनाना उत्सव आनन्दो यस्मादिति सहस्राक्षदृगुत्सव (३९)। तथा चोक्त **समन्तभद्रस्वामिना**—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्ष शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मय ॥

नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृत ।
हर्षाकुलामरखगश्चारणर्षिमतोत्सव ॥ ३७ ॥

नृत्यदैरावतासीन —नृत्यन् नर्तनं कुर्वन् योऽसावैरावत तस्मिन् आसीन उपविष्ट । ई उपवास इति साधु, नृत्यदैरावतासीन (४)। **सर्वशक्रनमस्कृतः**—सर्वैः द्वात्रिंशता शक्रैर्देवेन्द्रैर्नमस्कृत प्रणाम

भाविषयीकृतः सर्वात्मकमस्कृतः । दशभिर्भवनवासिभिः अष्टभिर्व्यन्तराणैः चन्द्रेण रविणा च द्वादशभिः कल्पवासीन्द्रैर्नमस्कृत इत्यर्थः । के ते द्वादश कल्पवासीन्द्राः ? सौधर्मः ऐशानः सानत्कुमारः माहेन्द्रः ब्रह्मलोकेन्द्रः लान्तवेन्द्रः शुक्रेन्द्रः शतारेन्द्रः आनतेन्द्रः प्राणतेन्द्रः आरणेन्द्र अच्युतेन्द्रश्चेति द्वादश (४१)। **हर्षाकुलामरखग**—न म्रियन्ते आयुषा विना अमरा, खे गच्छन्तीति खगाः । अमराश्च खगाश्च अमरखगा । हर्षेण जन्माभिषेकावलोकनार्थं आकुला अधीरा हर्षाकुलाः, हर्षाकुला आनन्देन उत्सुका विह्वलीभूता परमधर्मानुरागं प्राप्ता अमरखगा यस्येति स हर्षाकुलामरखगः (४२)। **चारणर्षिमतोत्सव**—चारणर्षीणां मतोऽभीष्ट उत्सवो जन्माभिषेककल्याणं यस्येति चारणर्षिमतोत्सव । क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विधा चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणत्वं तावदनेकविधं । तत्रेयमार्या—

जंघाश्रेण्यग्निशिखाजलदलफलपुष्पबीजतन्तुपरैः ।
चारणनाम्न स्वैरं चरतश्च दिवि स्तुमो विक्रियर्द्धि गताम् ॥

तत्र जङ्घाचारणा भूमेरुपरि आकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेप निक्षेपशीघ्रकारणपटव बहुयोजनशतगमनप्रवणा जङ्घाचारणा । श्रेणिं आलीं आलम्ब्य पूर्ववद्गच्छन्ति ते श्रेणिचारणा एवमग्निज्वालाम स्पृशन्तो गच्छन्ति अग्निशिखाचारणा । एवं जलमस्पृश्य भूमाविव पादोद्धार निक्षेप-कुशला जलचारणाः । अथवा वापी-तडाग नद्यादिषु जलमुपादाय अप्कायिकजीवानविराधयन्तो गच्छन्ति ते जलचारणा । एवं दलोपरि गच्छन्ति ते दलचारिणः । एवं फलानामुपरि गच्छन्ति ते फलचारणा । एवं पुष्पाणामुपरि गच्छन्ति ते पुष्पचारणा तद्विराधना न प्रकुर्वन्ति । एवं बीजाङ्कुरोपरि गच्छन्ति ते बीजचारणा । एवं तन्तूनामुपरि गच्छन्ति ते तन्तुचारणा । ते चारणा आकाशगामिनश्चारणाः कथ्यन्ते । पर्यङ्कासनस्था आकाशे गच्छन्ति निषण्णा वा गच्छन्ति, कायोत्सर्गेण वा आकाशे गच्छन्ति, पादोद्धारनिक्षेपणेन वा आकाशे गच्छन्ति पादोद्धारनिक्षेपणं विनापि उद्धा एव उड्डीयन्ते ये ते आकाशगामिनश्चारणा कथ्यन्ते । तेषा मतोत्सव चारणर्षिमतोत्सव (४३) ।

व्योम विष्णुपदारक्षा स्नानपीठायिताद्रिराट् ।
तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धि स्नानाम्बुस्नातवासव ॥ ३८ ॥

व्योम- विशेषेण अवति रक्षति प्राणिवर्गानिति व्योम (४४) । **विष्णुपदारक्षा**—वेवेष्टि व्याप्नोति लोकमिति विष्णु, प्राणिवर्गः । विषे किच इत्यनेन नुप्रत्ययः । विष्णोः प्राणिवर्गस्य पदानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि गुणस्थानानि च तेषामासन्तात् रक्षा विष्णुपदारक्षा परमकारुणिकत्वात् स्वामिन । उक्तञ्च—**गोमट्टसारग्रन्थे श्रीनेमिचन्द्रेण भगवता ।**

गइ इ दियं च काये जोए वेए कसायणाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

तथा चतुर्दशगुणस्थानगाथाद्वयं—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरदो य ।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चोद्दस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा मुणेयव्वा ॥

व्योम विष्णुपदारक्षा इति नामद्वयं भाविकजिन अवलम्ब्य (४५) । **स्नानपीठायिताद्रिराट्**—स्नानस्य जन्माभिषेकस्य पीठं चतुष्किका तद्वदाचरति स्म स्नानपीठायितः अद्रिराट् मेरुपर्वतो यस्य स स्नान

१ ख सुख ।

पीठाधिताद्रिराट् (४६)। **तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धि**—तीर्थानां जलाशयानामीशः स्वामी तीर्थेशः। तीर्थेशमात्मानं मन्यते तीर्थेशम्मन्य। तीर्थेशम्मन्यो दुग्धाब्धि क्षीरसागरो यस्य स तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धिः (४७)। **स्नानाम्बुस्नातवासव**—स्नानाम्बुना स्नानजलेन स्नातः प्रक्षालितशरीरो वासवो देवेन्द्रो यस्येति स्नानाम्बुस्नातवासव। स्वामिनं स्नानजलेन सर्वेऽपि शक्राः स्नानं कुर्वन्ति (४८)।

गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिश्रवा।
कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः ॥३९॥

गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य गन्धाम्बुना ऐशानेन्द्रावर्जितेन गन्धोदकेन पूतं पवित्रीभूतं त्रैलोक्यं यस्येति गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य (४९)। **वज्रसूचीशुचिश्रवा**—परमेश्वरस्य कर्णौ किल स्वभावेन सच्छिद्रौ भवत। ऊर्णानामपटलसदृशेन पटलेन झम्पितौ च भवत। पश्चाद्देवेन्द्रो वज्रसूचीं गृहीत्वा तत्पटलं दूरीकरोति कर्णौ च्छिद्रौ च प्रकटीभवत तत्र कुंडलं आरोपयति। अथ आचार इति कर्णवेधं करोति। तत्प्रस्तावे इदं भगवतो नाम—यत् (वज्र) सूच्या शुचिनी श्रवसी कर्णौ यस्येति वज्रसूचीशुचिश्रवाः (५०)। **कृतार्थितशचीहस्त** कृतार्थितौ सफलीकृतौ शच्या इन्द्रमहादेव्या हस्तौ येन स कृतार्थितशचीहस्त। भगवतो जन्माभिषेकानन्तरं इन्द्राणि किल जलकणान् दूरीकरोति वस्त्राभरणानि परिधापयति विलेपन[1] तिलकादिकं च विदधाति। तस्मिन्नवसरे शच्या करौ कृतार्थौ भवत इति कृतार्थितशचीहस्त (५१)। **शक्रोद्घुष्टेष्टनामक** शक्रेण उद्घुष्टमुच्चैरुच्चारितं इष्टं सर्वैर्मानितं नाम यस्येति शक्रोद्घुष्टेष्टनामक (५२)।

शक्रारब्धानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः।
इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्णमनोरथः ॥४०॥

शक्रारब्धानन्दनृत्य शक्रेण सौधर्मेन्द्रेण आरब्धं मेरुमस्तके जिनेश्वराग्रे आनन्दनृत्यं भगवज्जन्माभिषेककरणोत्पन्नविशिष्टपुण्यसमुपार्जनसमुद्भूतहर्षनाटक यस्येति शक्रारब्धानन्दनृत्य (५३)। **शचीविस्मापिताम्बिक**—शच्या इन्द्राण्या सौधर्मेन्द्रपत्न्या विस्मापिता स्वपुत्रवैभवदर्शनेनाश्चर्यं प्रापिता अम्बिका माता यस्येति शचीविस्मापिताम्बिक। गोरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादादीनां चेति ह्रस्व (५४)। **इन्द्रनृत्यन्तपितृक**—नर्तनं नृति। स्त्रियां क्ति। इन्द्रस्य नृति इन्द्रनृति। इन्द्रनृति अन्ते अग्रे पितुर्यस्येति इन्द्रनृत्यन्तपितृकः। नद्यृदन्तात्कषेयाद्वा बहुव्रीहौ क। मेरुमस्तके स्वाम्यग्रे स्वाम्यानयनानन्तरं पितुरग्रे च वारद्वयं सौधर्मेन्द्रो नृत्यं करोतीति नामद्वयेन सूचितमिति भाव (५५)। **रैदपूर्णमनोरथ**—रैदेन कुबेरयक्षेण सौधर्मेन्द्रादेशात् पूर्णाः परिपूरिता समाप्तिं नीता भोगोपभोगपूरणेन मनोरथा दोहदा यस्येति रैदपूर्णमनोरथ (५६)।

आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यमः।
दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद्भूर्भुवःस्वःपतीडितः ॥४१॥

आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव—आज्ञा शिष्टिरादेश इति यावत्। आज्ञाया आदेशस्य अर्थी ग्राहकः आज्ञार्थी स चासाविन्द्रश्च आज्ञार्थीन्द्र। आज्ञार्थीन्द्रेण कृता विहिता आसमन्तात् सेवा पर्युपासनं यस्येति आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवः (५७)। **देवर्षीष्टशिवोद्यम**—देवाना ऋषयो देवर्षयो लौकान्तिका। देवर्षीणां लौकान्तिकदेवानामिष्टो वल्लभः शिवोद्यमः शिवस्य मोक्षस्य उद्यमो यस्येति देवर्षीष्टशिवोद्यमः। उक्तञ्च—

चतुर्लक्षा सहस्राणि सप्त चव शताष्टकम्।
विंशतिर्मिलिता एते लौकान्तिकसुराः स्मृताः ॥

पञ्चमस्वर्गस्य अन्ते वसन्ति अष्टतागपयुषो भवन्ति दीक्षाकल्याणे तीर्थकरसम्बोधनार्थमागच्छन्ति भूलोकम्। अन्येषु कल्याणेषु नागच्छन्ति। एकं मनुष्यजन्म गृहीत्वा मुक्तिं गच्छन्तीति लौकान्तिकदेवा भवन्तीति

---

[1] क विलेपयति।

ज्ञातव्यम् । (५८) । **दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत्**—दीक्षाक्षणे निःक्रमणकल्याणे क्षुब्धं क्षोभं प्राप्तं जगत् त्रैलोक्यं यस्येति दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत् (५९) । **भूर्भुवःस्वःपतीडितः**—भूर् पाताललोकः, भुवर् मध्यलोकः, स्वर् ऊर्ध्वलोकः । तेषां पतयः स्वामिनः भूर्भुवःस्वःपतयः, तैरीडितः स्तुतीनां कोटिभिः कथितः भूर्भुवःस्वःपतीडितः (६०) । वैदिकादिका एते शब्दा रकारान्ताः अव्यया ज्ञातव्याः । उक्तञ्च[1] संहितायां गायत्रीमन्त्रः—ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुग्योगीश्वरार्चितः ।
ब्रह्मेड्यो ब्रह्मविद् वेद्यो याज्यो यज्ञपतिः क्रतुः ॥ ४२ ॥

कुबेरनिर्मितास्थानः—कुबेरेण ऐलविलेन राजराजेन शक्रभाण्डागारिणा धनदयक्षेण निर्मितं सृष्टं आस्थानं समवसरणं यस्येति कुबेरनिर्मितास्थानः । उक्तञ्च—

मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिकापुष्पवाटी
प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाद्याः ।
सालः[2] कल्पद्रुमाणां सपरिवृतिवनं स्तूपहर्म्यावली च
प्राकारः स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभापीठिकाग्रे स्वयम्भूः ॥

इति वृत्ते स्तूपाः पूर्वं गृहीता अपि हर्म्यावलीपश्चात् ज्ञातव्या इति विशेषः (६१) । **श्रीयुक्**—श्रियं नवनिधिलक्षणां द्वादशद्वारेषु दीनजनदानार्थं शोभार्थं वा युनक्तीति श्रीयुक् । अथवा श्रियं अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणोपलक्षितां लक्ष्मीं युनक्ति योजयति भक्तानामिति श्रीयुक् (६२) । **योगीश्वरार्चितः**—यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिलक्षणा अष्टौ योगा विद्यन्ते येषां ते योगिनः । योगिनां मुनीनां ईश्वराः गणधरदेवादयः तैरर्चितः पूजितः योगीश्वरार्चितः । अथवा योगी चासौ ईश्वरश्च सयोगकेवली, स चासौ अर्चितः योगीश्वरार्चितः । अथवा योगो विद्यते स्त्रीसंयोगो विद्यते यस्य स चासौ ईश्वरो रुद्रः तेनार्चितः योगीश्वरार्चितः । श्रीवर्धमानजिनः किल उज्जयिनीनगरस्य बाह्ये अतिमुक्तकनाम्नि श्मशाने रात्रौ कायोत्सर्गेण स्थितः । तत्र पार्वतीसहितो रुद्रः आगतः । स दुष्टस्वभावः परमेश्वरधैर्यपरीक्षार्थं सर्वरात्रौ उपसर्गं कुर्वन् स्थितः । विद्याबलेनानेकराक्षससिंहशार्दूलवेतालरूपाणि कृत्वा भीषितवान् तथा दृषद्वृष्ट्यादिकं च कृतवान् । तं चालयितुमसमर्थः सन् उमया सह पादयोः पतित्वा नर्तनं विधाय महतिमहावीरसंज्ञां कृत्वा वृषभारूढः पार्वत्या सह क्वापि गतः, इति योगीश्वरार्चितः (६३) । **ब्रह्मेड्यः**—ब्रह्मभिरहमिन्द्रैरीड्यः स्वस्थानस्थितैः स्तूयते ब्रह्मेड्यः । अथवा ब्रह्मनाम्ना मायाविना विद्याधरेण ईड्यः ब्रह्मेड्यः । अथवा ब्रह्मणा ज्ञानेन द्वादशाङ्गेन ईड्यो ब्रह्मेड्यः (६४) । **ब्रह्मवित्**—ब्रह्माणमात्मानं वेत्तीति ब्रह्मवित् (६५) । **वेद्यः**—वेद ज्ञाने नियुक्तो वेद्यः । अथवा वेदितुं योग्यो वेद्यः (६६) । **याज्यः**—याज्यते याज्यः । स्वराध्यः (६७) । **यज्ञपतिः**—यज्ञस्य पतिः स्वामी यज्ञपतिः (६८) । यदाह संहितायाम्—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं[3] नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ।

क्रतुः—क्रियते योगिभिर्ध्यानेन प्रकटो विधीयते क्रतुः (६९) ।

यज्ञाङ्गममृतं यज्ञो हविः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः ।
भावो महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजकः ॥ ४३ ॥

यज्ञाङ्गम्—यज्ञस्य अङ्गं अभ्युपायः, स्वामिनं विना पूज्यो जीवो न भवतीति यज्ञाङ्गम् । आविष्टलिङ्गं नामेदं (७०) । **अमृतम्**—मरणं मृतम्, न मृतं अमृतं मृत्युरहितं इत्यर्थः । आविष्टलिङ्गमिदं नाम ।

---

1 द प्रतिमें 'उक्तञ्च संहितायां गायत्री मंत्र' इतना लिखकर उसपर हरताल फिरा हुआ है और आगेका पाठ नहीं है। 2 द साल । 3 द केतं पूतकेतं । ज केतपूकेतं ।

अमृत रसायनम् जरामरणनिवारकत्वात् । संसार शरीर भोग तृष्णानिवारकत्वात् स्वभावेन निर्मलत्वाद्वा अमृत जलम् । अनन्तसुखदायकत्वाद्वा अमृतं मोक्ष । अमृत अयाचित स्वभावेन लभ्यत्वाद् । अमृतं यज्ञ शेष, यज्ञे कृतेऽनुभूयमानत्वात् । अमृत आकाशरूप कर्ममलकलङ्कलेपरहितत्वात् शाश्वतत्वाद्वा ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

इति वेदान्तवाक्यत्वादाकाशरूप परमानन्दरसस्वभावत्वात् अमृत स्वादु । अथवा शरीरतेजोदायकत्वादमृत घृतम् । तदुक्त मश्वमेधे—आज्यौदन पचति रेत एव तद्रेतो यदाज्यमुच्छिष्यते तेन रसनामभ्यज्यादरो । तेजो वा आज्यं प्राजापत्योऽश्व प्रजापतिमेव तेजसा समर्द्धयन्त्यपूतो वा एषोऽमेध्यो यदश्व । अमृत मनोहरो वा, मनोव्यापारनिवारकत्वात् (७१) । तदुक्त—

मोक्षे सुधायां पानीये यज्ञशेषेऽप्ययाचिते ।
गोरसस्वादुभोज्येष्वाकाशे घृतहृद्ययो ॥
रसायनेऽन्ने च स्वर्गे तथाऽमृतमुदीर्यते ॥

यज्ञः—इज्यते पूज्यते यज्ञ । कृष्णोऽश्वावात्मनीष्टौ च यज्ञ इत्युच्यते बुधै इति वचनादात्मस्वरूप (७२) । हवि—हूयते निजात्मनि लक्षतया दीयते हवि (७३) । अर्चि शुचि रुचि हु स्पृहि छादि छर्दिभ्य इस । पादो द्वितीय । सूत्र ४४ । स्तुत्य—स्तोतु योग्य स्तुत्य । वृञ् दृजुषीण्शासुस्तुगुहां क्यप । (७४) । स्तुतीश्वर—स्तुतेरीश्वर स्तुतीश्वर । स्तुतौ स्तुतिकरणे ईश्वरा इन्द्रादयो यस्य स स्तुतीश्वर (७५) । भाव—समवसरणविभूतिमण्डितत्वात् भाव । अथवा य पुमान् विद्वान् भवति स भाव कथ्यते । अथवा स्वर्गमोक्षादिकारणभूतत्वात् भाव । अथवा शब्दाना प्रवृत्तिहेतुत्वाद्भाव । भगवन्त विना शब्द कुत प्रवर्त्तते अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितमित्यादिभि तत्स्तुतिसन्धानात् । अथवा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् भाव । उक्तञ्च—

शब्दप्रवृत्तिहेतुश्चाभिप्रायो जन्म वस्तु च ।
आत्मक्रीडा क्रिया भूतिर्योनिश्च रा बुधस्तथा ॥
सत्ता स्वभावो जन्तुश्च शृंगारादेश्च कारणम् ।
अर्थेषु पंचदशसु भावशब्द प्रकीर्तित ॥

अथवा भा दीप्तिमवति रक्षति अवाप्नोति आलिंगति ददाति वा भाव (७६) । उक्तञ्च—

पालने च गतौ कान्तौ प्रीतौ तृप्तौ च याचने ।
स्वाम्यर्थेऽवगमे दीप्त्यवाप्त्योः श्रवणेऽपि च ॥
प्रवेशे च क्रियायां चालिंगने वृद्धिभावयो ।
हिंसायां च तथा दानेऽभिलाषे भाव इष्यते ॥

महामहपति—महामहस्य महापूजाया पति स्वामी महामहपतिः । अथवा महस्य यज्ञस्य पतिः महपति महांश्चासौ महपति महामहपति (७७) । महायज्ञ महान् घातिकर्मसमिद्धोमलक्षणो यज्ञो यस्य स महायज्ञ । अथवा महान् इन्द्र धरणेन्द्र महामण्डलेश्वरादिभि कृतत्वात् त्रिभुवनमध्यजनमेलापकत्वसंजातत्वात् क्षीरसागरजलधारास्वर्गसञ्जातचन्दनकाश्मीरजकृष्णागुरुगन्धद्रव्यमुक्ताफलाक्षतामृतपिण्डहविः[२] पाक

१ द श्रुचिति । २ द हवि शुद्धम हवि । अ हवि पानैकवेन इति पाठः ।

नैवेद्यदिव्यरत्नप्रदीपकालागुरुधूपाक्षतफलनालिकेरकदलीफलपनसादिफलमहार्घकुसुमप्रकरदर्भदूर्वासिद्धार्थनन्द्यावर्तस्वस्तिकछत्रचामरध्वजगीतनृत्यवादित्रादिसम्भूतो यज्ञो यस्येति महायज्ञ । न तु महादि सर्वप्राणिसंघातघातलक्षणो शुद्धदुर्दयहिंसादिलक्षणो यज्ञ महापापोत्पादकत्वात् । अथवा महान् केवलज्ञानलक्षणो यज्ञो यस्य स भवति महायज्ञः । अथवा महान् पञ्चविधो यज्ञो यस्य स महायज्ञ (७८) । तथा चोक्तं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

अग्रयाजकः—अग्र श्रेष्ठोऽधिकः प्रथमो वा याजको यज्ञकर्ता अग्रयाजक ।
आग्नीध्राद्या धनवीर्या ऋत्विजो याजकाश्च ते ।

आग्नीध्र पोतृ प्रशास्तृ ब्राह्मण्य छन्दस्य छायाकग्रावस्तु-ब्रह्मा-मत्रो वरुण पति प्रस्थातृ प्रतिहर्तृ नेष्टृ नेतृ सुब्रह्मण्या इत्थं सप्तदश ऋत्विज । यो यजमानेभ्यो यज्ञं कारयति स याजक उच्यते । अग्र याजक अग्रदेवपूजक त्रैलोक्याग्रस्थितेषत्प्राग्भारनामशिलोपरि तनुवातस्थितसिद्धपरमेश्वराणां दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्य इति नमस्कारकर्मकारक इत्यर्थः (७९) ।

दयायागो जगत्पूज्यः पूजार्हो जगदर्चितः ।
देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥ ४४ ॥

दयायाग—दया सगुण निर्गुणसर्वप्राणिवर्गाणां करुणा याग पूजा यस्य स दयायाग । मिथ्या दृष्टयो ब्राह्मणा कर्मचाण्डाला ब्राह्मणादीनपि मारयित्वाऽग्निकुण्डे जुह्वति स यागो न भवति । किन्तु महद् यागो भवति (८०) । उक्तञ्च—ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं इत्यादि देवसवित्रध्याये काण्डो द्वाविंशति । **जगत्पूज्य**—जगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां पूज्यो जगत्पूज्य (८१)। **पूजार्ह**—पूजाया अष्टविधार्चनस्य अर्हो योग्य पूजार्ह (८२)। **जगदर्चितः**—जगतां त्रैलोक्यस्थित भव्यप्राणिना अर्चित पूजितो जगदर्चित (८३) । **देवाधिदेव**—देवानां इन्द्रादीनामधिको देव देवाधिदेव । उक्तञ्च—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत ।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिन वृष प्रसीद न ॥

अथवा देवानामाधिर्मानसी पीडा देवाधि । देवाधिं दीव्यति जिगीषुतया स्फेटयतीति देवाधिदेव (८४) । **शक्रार्च्य**—शक्नोतीति शक्रा द्वात्रिंशदिन्द्रास्तेषामर्च्यः पूज्यः शक्रार्च्यः (८५) । **देवदेव**—देवानामिन्द्रादीनामाराध्यो देव देवदेव । अथवा देवाना राज्ञा देवो राजा देवदेव राजाधिराज इत्यर्थः । अथवा देवाना मेघकुमाराणां परमाराध्यो देवदेव (८६) । उक्तञ्च—

आयात भो मेघकुमारदेवा मनोभिरुद्यत्परमाद्भुतेन ।
गृहीत मनोमरुदीर्णसङ्घैः गन्धोदकैः प्रोक्षत यज्ञभूमिम् ॥

जगद्गुरु—जगतां जगति स्थितप्राणिवर्गाणां गुरु पिता धर्मोपदेशको वा महान् जगद्गुरु (८७) ।

संहूतदेवसंघार्च्यः पद्मयानो जयध्वजी ।
भामण्डली चतुःषष्टिचामरो देवदुन्दुभिः ॥ ४५ ॥

संहूतदेवसंघार्च्यः—संहूत इन्द्रादेशेनामन्त्रितो योऽसौ देवसंघ चतुर्णिकायदेवसमूहः, तेन अर्च्यः पूज्य संहूतदेवसंघार्च्यः (८८) । उक्तञ्च—

वृतैतेऽसित्यसितं ज्योतिर्व्यन्तरदिवौकसामसृतभुज ।
कुलिशाङ्कुशाशापनया कुर्वन्त्यन्ये समन्ततो व्याह्वानम ॥

पद्मयान—पद्म न यान गमन यस्य स पद्मयान (८६)। उक्तञ्च—

वरपद्मरागकेसरमतुलसुखस्पर्शहेममयदलनिचयम् ।
पादन्यासे पद्म सप्त पुर पृष्ठतश्च सप्त भवन्ति ॥

जयध्वजी—जयध्वजा विद्यते यस्य स जयध्वजी (६)। **भामण्डली**—भामण्डल कोट्यर्क समानतेजोमडल विद्यते यस्य स भामडली (६१)। **चतुःषष्टि चामर** – चतुरधिका षष्टि चतु षष्टि । चतुःषष्टिश्चामराणि प्रकीर्णकानि यस्य स चतु षष्टिचामर (६२)। **देवदुन्दुभि** —देवाना संबन्धिन्यो दुन्दुभय सार्धद्वादशकोटिपटहा यस्येति देवदु दुभि (६३)।

वागस्पृष्टासनश्छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् ।
दिव्याशोको मानमर्दी सगीतार्होऽष्टमगल ॥४६॥

वागस्पृष्टासन —वाग्भिर्वाणीभिरस्पृष्ट आसनं उरःप्रभृतिस्थानं यस्य स वागस्पृष्टासन । उक्तञ्च—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कंठ शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं त विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥

अवर्णकवर्गहविसर्जनीया कण्ठ्या । ऋवर्णटवर्गरषा मूर्धन्याः । वज्राकृतिवर्णो जिह्वामूलीय । ⌣⌣ [1]इति जिह्वामूलीय । लृवर्णतवर्गलसा दन्त्या । नासिक्योऽनुस्वार । उवर्णपवर्गउपध्मानीया ओष्ठ्या । इ वर्णचवर्गयशास्तालव्या । ए ऐ कठतालव्यौ । ओ औ कंठोष्ठ्यौ । वा दन्त्योष्ठ्य । अवर्ण सवमुख स्थानश्च । इत्युक्तानि वर्णस्थानानि । भगवत वाक् वर्णात्मकोऽपि श दा न स्पृशति । ये तु अक्षररहितं ध्वनिं भगवत कथयन्ति त अयुक्तिवादिन अक्षरात्मकशब्द विना अर्थस्यानुपलम्भात् । तथा च ये देवकृतजिन ध्वनिं ध्वनयन्ति तेऽपि अयुक्तिवादिन जिनगुणविलोपनत्वात् ।

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथिय सम्म ।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा ॥

इति सिद्धान्तवचनविरुद्धत्वाच्च । तेन ज्ञायते अक्षरात्मक एव स्वामिनो ध्वनिर्भवति । स्वामिन एव च ध्वनिर्भवतीति निरक्षरी इत्यस्यार्थ –निर्गतान्यक्षराणि यस्यां सा निरक्षरी न तु अक्षररहिता इत्यर्थ वागस्पृष्टासन (६४)। **छत्रत्रयराट्**–छत्रत्रयेणोपर्युपरि धृतेन राजते छत्रत्रयराट् (६५)। **पुष्पवृष्टिभाक्**–द्वादश योजनानि व्याप्य पुष्पवृष्टिर्भवति, तानि च पुष्पाणि उपरिमुखानि अधोवृन्तानि स्यु । इदृग्विधा पुष्पवृष्टिं भजते योग्यतया गृह्णातीति पुष्पवृष्टिभाक् (६६)। **दिव्याशोक** –दिव्योऽमानुषो महामंडपोपरि स्थित योजनैकप्रमाण कटप्रो मणिमयोऽशोकोऽशोकवृक्षो यस्य स दिव्याशोक (६७) **मानमर्दी**–मानस्तम्भचतुष्टयेन प्रत्येकं सरोवरचतुष्टयवेष्टितेन प्रत्येकं सालत्रितयपरिवृतेन प्रत्येकं षोडशसोपानयुक्तपीठेन प्रत्येकं पद्मासनस्थितजिनप्रतिमा चतुष्कयुक्तेन प्रत्येक उपरितनभागे सरोवरसहितेन हैमयक्षण तत्रकृतजलक्रीडेन प्रत्येक छत्रत्रयशोभितेन प्रत्येकं ध्वजचामरादिविराजितेन मिथ्यावादिना मानमहंकार दूरादपि दर्शनमात्रेण मर्दयति शतखंडीकरोतीत्येवंशीलो मानमर्दी (६८)। **संगीतार्ह**–गीतनृत्यवादित्रविराजमाननाट्यशालागतदेवाङ्गनानृत्ययोग्य संगीतार्ह । यत्र

---

१ द अुष्क इति ।

नाट्यशालायां रत्नस्तम्भसहस्रशोभितायां एका पि नटी नृत्यन्ती स्तम्भेषु प्रतिबिम्बिता रूपसहस्रं दर्शयति। यदि कापि स्फुरयति यच्छृङ्गकोटि नटीनाम्, इति वचनात् संगीतार्हः (६६)। अष्टमंगल —अष्टौ मंगलानि प्रतिप्रतोलि यस्येति अष्टमंगल । उक्तञ्च—

भृङ्गार-ताल-कलश ध्वज सुप्रतीक-श्वेतातपत्र-वरदर्पण-चामराणि ।
प्रत्येकमष्टशतकानि विभान्ति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥

सुप्रतीकशब्देन स्तम्भाधार नानाविचित्रचित्रित पूजाद्रव्यस्थापनायोग्य कुम्भिकापरनामा समुच्यते । अन्यत्सुगमम् (१)।

अकलङ्क पूज्यपादा विद्यानन्दा समन्तभद्राद्याः ।
श्रुतसागरैश्च विनुता दिशन्तु सिद्धिं तृतीयशते ॥

इति यज्ञार्हशतनामा तृतीयोऽध्याय समाप्तः ।

अथ चतुर्थोऽध्याय

तीर्थकृत्तीर्थसृट् तीर्थकरस्तीर्थंकर सुदृक ।
तीर्थकर्त्ता तीर्थभर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायक ॥ ४७ ॥

ॐ नम । **तीर्थकृत्**—तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थ द्वादशांग शास्त्रम् तत्करोतीति तीर्थकृत् । शमि कापि कुषि[2] यातृ वचि रिचि सिचि-शुभ्यस्थक् । क्विप् धातोस्तोऽन्त पानुबन्धे (१) । **तीर्थसृट्**—तीर्थ सृजतीति तीर्थसृट् (२) । **तीर्थकर**—तीर्थ करोतीति तीर्थकरः (३) । **तीर्थंकर**—तीर्थ करोतीति तीर्थंकर । बहुलागमत्वात् मोऽन्त (४) । **सुदृक्**—शोभना दृक् क्षायिक सम्यक्त्व यस्य स सुदृक् । शोभनलोचनो वा सुदृक् (५) । उक्तञ्च—

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरम्लानबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूपः ।
प्राप्तो महाजनपदाश्रगराजि तत्र सूतेन चाह जगदे जगदेकनाथ ॥

तीर्थकर्त्ता—तीर्थस्य कर्त्ता तीर्थकर्त्ता (६) । **तीर्थभर्ता**—तीर्थस्य भर्त्ता स्वामी तीर्थभर्त्ता । अथवा तीर्थ बिभर्तीत्येवंशील तीर्थभर्त्ता (७) । **तीर्थेश**—तीर्थस्य ईश स्वामी तीर्थेश (८) । **तीर्थनायक**—तीर्थस्य नायक स्वामी तीर्थनायक (९) ।

धर्मतीर्थंकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारक ।
तीर्थप्रवर्त्तकस्तीर्थवेधास्तीर्थविधायक ॥ ४८ ॥

धर्मतीर्थंकरः—धर्मश्चारित्रं स एव तीर्थं, तं करोतीति धर्मतीर्थंकर (१०) । **तीर्थप्रणेता**—तीर्थं प्रणयतीति करोति तीर्थप्रणेता (११) । उक्तञ्च—

---

१ पद्यमिदं ज प्रती नास्ति । २ द कुषि । ज प्रती नाग्यमं पाठ ।

सृजति करोति प्रथयति घटयति निर्माति निर्मिमीते च ।
अनुतिष्ठति विदधाति च रचयति कल्पयति चेति² कत्रार्थे ॥

तीर्थकारक – तीर्थस्य कारक तीर्थकारक (१२) । **तीर्थप्रवर्त्तक** — तीर्थस्य प्रवर्त्तक तीर्थ प्रवत्तक (१३) । **तीर्थवेधा** —तीर्थस्य वेधा कारक तीर्थवेधा (१४) । **तीर्थविधायक** —तीर्थस्य विधायक कारक तीर्थविधायक (१५) ।

सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तैर्थिकतारक ।
सत्यवाक्याधिप सत्यशासनोऽप्रतिशासन ॥ ४१ ॥

सत्यतीर्थकर — सत्यतीर्थ करोतीति सत्यतीर्थकर (१६) । **तीर्थसेव्य** तीर्थाना तीर्थभूत पुरुषाणा सेव्य सेवनीय तीर्थसेव्य (१७) । **तैर्थिकतारक** — तीर्थे शास्त्रे नियुक्तास्तैर्थिक । तीर्थ गुरु, तस्मिन्नियुक्ता सेवापरा तैर्थिका: । अथवा तीर्थ जिनपूजनम् तत्र नियुक्तास्तैर्थिका । अथवा तीर्थ पुण्यक्षेत्रं गिरनारादि तद्यात्राकारका तैर्थिका । अथवा तीर्थ पात्र त्रिविध तस्य दानादौ नियुक्तास्तैर्थिका तेषा तारको मोक्षदायकस्तैर्थिकतारक (१८) उक्तञ्च—

दर्शनं क्षीरजो योनि पात्र सत्री गुरु श्रुतम् ।
पुण्यक्षेत्रावतारौ च ऋषिजुष्टजलं तथा ॥
उपायपञ्जौ विद्वान्सस्तीर्थमित्यूचिरे चिरम् ॥

सत्यवाक्याधिप —स्यादि-त्यादिचयो वाक्यमुच्यते । क्रियासहितानि कारकाणि वाक्यं कथ्यते । सत्यानि सत्पुरुषयोग्यानि तानि च तानि वाक्यानि सत्यवाक्यानि । सत्यवाक्यानामधिप स्वामी सत्यवाक्याधिप । अथवा सत्यानि वाक्यानि येषा ते सत्यवाक्या ऋषय । ऋषय सत्यवचस इत्यभिधानात् । सत्यवाक्यानामृषीणा दिगम्बरमुनीनामधिप सत्यवाक्याधिप । अथवा सत्यवाक्याना सत्यवादिनां आधिं धर्मचिन्ता पाति रक्षति सत्यवाक्याधिप (१९) । **सत्यशासन** —सत्य शासन शास्त्रं यस्य स सत्यशासन । अथवा सत्यं श्यन्ति असत्य वदन्ति पूर्वापरविरोधिशास्त्रं मन्वते ते सत्यशा जैमिनि-कपिल कणचर चार्वाक शाक्या तान् अस्यति निराकरोति इति सत्यशासन । कोऽसौ पूर्वापरविरोध इति चेत् पूर्व ब्रुवन्ति ब्राह्मणो न हन्तव्य सुरा न पेया । पश्चात् कथयन्ति ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत । इन्द्राय क्षत्रियं मरुद्भ्यो वैश्यं तमसे शूद्रमुत्तमसे तस्करं आत्मने क्लीबं कामाय पुंश्चलं अतिक्रुष्टाय मागध गीताय सूतं च दिवसाय क्षिप गभिणीम् । तथा सौत्रमण्यां य पूर्वविधौ सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ सम्मता पैष्टी गौडी माध्वी चेति । तथा ब्रह्मचारी सदाशुचिरित्येवमुक्त्वा पश्चात् गोसवे ब्राह्मणो गोसवे नेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारम् । तथा—

तिल-सर्षपमात्रं च मांस खादन्ति ये द्विजा ।
तिष्ठन्ति नरके तावद्यावच्चन्द्र-दिवाकरा ॥

एवमुक्त्वा—

महोक्षो वा महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते ।
निवेद्यते तु दिव्याय शाकसुगन्धनिधिविधि ॥

तथा—

गंगाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे संभवेन्न पुनर्भवे ॥

[illegible] नित्यं [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ॥

तथा च हिंस्यात्सर्वभूतानि उक्त्वा ।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥

इत्यादि पूर्वापरविरोधवाक्यानि बोधव्यानि (२) । **अप्रतिशासन.**—[1]अविद्यमानं प्रतिशासनं मिथ्यामतं यत्र सोऽप्रतिशासन । अथवा अविद्यमान प्रतिशं दुःखं आसने यस्य स अप्रतिशासन । भगवान् खलु वृषभनाथ किंचिदूनपूर्वलक्षकालपर्यन्तं पद्मासन एवोपविष्ट धर्मोपदेशं दत्तवान्, तथापि दुःखं नान्वभूत् अनन्तसुखानन्तवीर्यत्वात् (२१) ।

स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहतार्थवाक् ।
पुण्यवागर्थ्यवागर्धवागधीयोक्तिरिद्धवाक् ॥५ ॥

स्याद्वादी—स्याच्छब्दपूर्व वदतीत्येवंशील स्याद्वादी । स्यादस्ति घट, स्यान्नास्ति घट , स्यादस्ति नास्ति घट स्यादवाच्यो घट स्यादस्ति वाऽवक्तव्यो घटः स्यान्नास्ति वाऽवक्तव्यो घट , स्यादस्ति नास्ति वाऽवक्तव्यो घट एवं पटादिष्वपि पर्यायेषु योज्यम् । तथा जीवादिपदार्थेष्वपि द्रव्येषु कार्येषु[2] तत्त्वेषु च योजनीयम् । स्याच्छब्दोऽयमव्यय सर्वथैकान्तनिषेधको ज्ञातव्य (२२) । उक्तञ्च—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

दिव्यगी—दिव्या अमानुषी गीर्वाणी यस्य स दिव्यगी (२३) । **दिव्यध्वनि**—दिव्यो अमानुषो ध्वनि शब्दव्यापारो वचनरचना यस्येति दिव्यध्वनि (२४) । **अव्याहतार्थवाक्**—अव्याहतार्था परस्पराविरुद्धार्था असंकुलार्था वाग्वाणी यस्येति अव्याहतार्थवाक् । उक्तञ्च—

व्याहतार्थवाग्लक्षणम्—

अजो भक्षितुमारब्धस्तमनंगुलिरावयेत् ।
तमग्रीव प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यनन्दयत् ॥

अथवा—आसमन्ताद् हनन आहतम् अवीना छागादीनां आहतस्य आहननस्य अर्थोऽभिधेय प्रयोजनं वा यस्या सा अव्याहतार्था । अविशब्दात् आहतशब्दाच्चोपरि अकारप्रश्लेषो ज्ञातव्य । अव्याहतार्था छागादिप्राणिनामघातप्रयोजना वाग्यस्य स अव्याहतार्थवाक् (२५) । **पुण्यवाक्** पुण्या पुण्योपार्जन हेतुभूता वाग्वाणी यस्य स पुण्यवाक् । अथवा पुण्या अस्थि-रोम चर्मनिवारणत्वात् पवित्रा वाक् यस्य स पुण्यवाक् । इत्यनेन ये यतयोऽपि सन्तो रोमवस्त्रं परिदधति चर्मजलं पिबन्ति, गजास्थिवलयादिकं च करे धारयन्ति ते प्रत्युक्ता भवन्ति (२६) । **अर्थ्यवाक्**—अर्थादनपेता अर्थ्या निरर्थकतारहिता वाग्वाणी यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थ्या गणधर-चक्रि शक्रादिभि प्रार्थनीया[2] वाग् यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थेषु जीवादिपदार्थेषु नियुक्ता परमतपदार्थोच्छेदिनी वाग्यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थिभ्यो याचकेभ्यो हिता बोधि समाधिदायिनी वाग् यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थ्या हेतुवादिनी, न तु आज्ञामात्रा वाग् यस्य । अथवा अर्थ्या निवृत्तिकथिका अनेकप्रकार धनदायिनी वा वाक् यस्य स अर्थ्यवाक् । उक्तञ्च—

वस्तु ग्रन्थ प्रकाराभिधेयेषु विषयेषु च ।
निवृत्तौ कृति हेतौ च[3] शब्दोऽर्थो वर्तते ॥

---

१ ज 'न विद्यते' । १ ज कार्येषु । २ द ज प्रार्थनी । ३ द ज 'च' नास्ति' [illegible] पाठः ।

अथवा अर्यो याचनीय अर्ध्यः प्रार्थ्य इति वाक् नाम[1] यस्य स अर्घ्यवाक्, अयाचक इत्यर्थः (२७)। **अर्धमागधीयोक्ति** —भगवद्भाषाया अर्ध मगधदेशभाषात्मकम् अर्ध च सर्वभाषात्मकम्। कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत्—मगधदेवसन्निधाने तथा परिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तन्ते मागध देवातिशयवशात् मागधभाषया परस्पर भाषन्ते, प्रीतिकरदेवातिशयवशात् परस्पर मित्रतया च प्रवर्तन्ते, इति कारणात्। अर्धमागधीया उक्तिर्भाषा यस्य स अर्धमागधीयोक्ति (२८)। **इद्धवाक्**—इद्धा परमातिशय प्राप्ता वाक् भाषा यस्य स इद्धवाक्। ईदृशी वाकस्यापि न भवतीति भाव (२९)।

अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तभिद् दुर्णयान्तकृत्।
सार्थवागप्रयत्नोक्ति प्रतितीर्थमदघ्नवाक् ॥५१॥

अनेकान्तदिक्—अनेकान्तं स्याद्वादं अनेकस्वभावं वस्तु दिशति उपदिशति अनेकान्तदिक् (३०)। **एकान्तध्वान्तभित्**—एकान्तं यथा स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्, तथा पररूपादिचतुष्टयेनापि सत्। एवं सत्येकान्तवादो भवति। स एव ध्वान्त अन्धकार वस्तुयथावत्स्वरूपप्रच्छादकत्वात् एकान्तध्वान्तम्। एकान्तध्वान्त भिनत्ति नयवशात् शतखण्डीकरोतीति एकान्तध्वान्तभित् (३१)। **दुर्णयान्तकृत्**—दुर्णया पूर्वोक्तस्वरूपादि पररूपादिचतुष्टयप्रकारेण सदेव असदेव नित्यमेव अनित्यमेव एकमेव अनेकमेवेत्यादि दुष्टतया प्रवर्त्तन्ते ये नया एकदेशवस्तुग्राहिणो दुर्णया कथ्यन्ते। दुर्णयानामन्तकृद् विनाशक दुर्णयान्तकृत् (३२)। **सार्थवाक्**—सार्था अर्थसहिता न निरर्थिका वाक् यस्य स सार्थवाक्। अथवा सार्था प्रयोजनवती वाक् यस्य स सार्थवाक्। अथवा अर्थैर्जीवादिपदार्थै सहिता वाक् यस्य स सार्थवाक्। अथवा सा लक्ष्मी रभ्युदयनि श्रेयसलक्षणा तया सहित अर्थवाक् यस्य स सार्थवाक्। भगवद्वाणीमनुश्रुत्य जीवा स्वर्ग मोक्षादिकाय साधयन्तीति कारणात् (३३)। **अप्रयत्नोक्ति**—अप्रयत्ना अविनक्षापूर्विका भव्यजीवपुण्य प्रेरिता वाक् यस्य स अप्रयत्नोक्ति। तथा चोक्त—

लोकालोकदृशा सदस्यसुकृतैराम्यायथार्थश्रुत
निर्यात प्रथितं गणेश्वरवृषभान्तमुहूर्तेन यत्।
आरातीयमुनिप्रवाहपतितं यत्पुस्तकेष्वर्पित
तज्जैनेन्द्रमिहापयामि विधिना भक्तु श्रुत शाश्वतम् ॥

अथवा अप्रयत्ना अनायासकारिणी उक्तिर्यस्य स अप्रयत्नोक्ति (३४)। **प्रतितीर्थमदघ्नवाक्**—प्रतितीर्थाना हरि-हर हिरण्यगर्भमतानुसारिणा जिमिनि कपिल कणाचर चार्वाक शाक्याना वा मिथ्यादृष्टीना मदघ्नी अहंकारनिराकारिणी वाक् वाणी यस्य स प्रतितीर्थमदघ्नवाक् (३५)।

स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौष्ठवाक्।
अपौरुषेयवाक्छास्ता रुद्धवाक् सप्तभंगवाक् ॥५२॥

स्यात्कारध्वजवाक्—स्यात्कार स्याद्वाद, स एव ध्वजश्चिन्हं अनेकान्तमतप्रसादमण्डनत्वात् स्यात्कारध्वजा वाग् वाणी यस्य स स्यात्कारध्वजवाक् (३६)। **ईहापेतवाक्**—ईहापेता निराकाङ्क्षा प्रत्युपकारानपेक्षिणी वाक् यस्य स ईहापेतवाक्। अथवा ईहा उद्यमस्तदपेता वाक् यस्य स ईहापेतवाक् अह लोकं सम्बोधयामीत्युद्यमरहितवाक् स्वभावेन सम्बोधकवागित्यर्थः। (३७)। तथा चोक्तम्।

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोग।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशु स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ॥

---

१ द वाक्मय। क वाग्नाम। २ द निरर्था।

अचलौष्ठवाक्–अचलौ निश्चलौ ओष्ठौ अधरौ यस्यां सा अचलौष्ठा, अचलौष्ठा वाक् भाषा यस्य स अचलौष्ठवाक् (३८)। **अपौरुषेयवाक्छास्ता**–[1]अपौरुषेयीणामनादिसूत्रानां वाचां वाणीनां शास्ता गुरुः अपौरुषेयवाक्छास्ता । अथवा अपौरुषेयीणां दिव्यानां वाचां शास्ता अपौरुषेयवाक्छास्ता (३९)। **रुद्धवाक्**–रुद्धा मुखविकाररहिता वाक् यस्य स रुद्धवाक् (४०)। **सप्तभंगिवाक्**–सप्तानां भंगाना समाहारः सप्तभंगी । सप्तभंगीसहिता वाक् यस्य स सप्तभंगिवाक् । ङ्यापौ सौत्रौ ह्रस्वौ क्वचित् इति वचनात् भंगीशब्दस्य ईकारस्य ह्रस्व । के ते सप्तभंगा ? स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्य स्यादस्ति चावक्तव्य स्यान्नास्ति चावक्तव्य स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यम् । एतेषां सप्तानां भंगानां विस्तरः तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे तथा तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारे देवागमालंकारे अष्टसहस्र्यपरनाम्नि न्यायकुमुदचन्द्रोदये न्यायविनिश्चयालंकारे प्रमेयकमलमार्तण्डे प्रबन्धे इत्यादौ ज्ञातव्य । (४१)।

अवर्णगी सर्वभाषामयगीर्व्यक्तवर्णगी ।
अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥५३॥

अवर्णगी –न विद्यन्ते वर्णा अक्षराणि गिरि भाषायां यस्य स अवर्णगीः । अथवा अवगत अर्थं पुन पुनरभ्यासो यस्या सा अवर्णा ईदृशी गीर्यस्य स अवर्णगी । अभ्यासमन्तरेणापि भगवान् विद्वानित्यर्थः । उक्तञ्च वाग्भटेन–

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वरा ।
अनलंकारसुभगा पान्तु युष्मान् जिनेश्वरा ॥

अथवा अवर्णा आकारादिलक्षणोपलक्षिता गिरो वाण्यो यस्य स अवर्णगी [2] । दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्य इति उक्तवान् (४२)। **सर्वभाषामयगी** – सर्वेषां देशाना भाषामयी गीर्वाणी यस्य स सर्वभाषामयगी (४३)। **व्यक्तवर्णगी**—व्यक्ता वर्णा अक्षराणि गिरि यस्य स व्यक्तवर्णगी (४४)। **अमोघवाक्**—अमोघा सफला वाक् यस्य स अमोघवाक् (४५)। **अक्रमवाक्**—अक्रमा युगपद्दर्शिनी वाक् यस्य स अक्रमवाक् (४६)। **अवाच्यानन्तवाक्**—अवाच्या वक्तुमशक्या अनन्ता अनन्तार्थप्रकाशिनी वाक् यस्य स अवाच्यानन्तवाक् (४७)। **अवाक्**—न विद्यते वाक् यस्य स अवाक् (४८)।

अद्वैतगी सूनृतगी सत्यानुभयगी सुगी ।
योजनव्यापिगी क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्वगीः ॥ ५४ ॥

अद्वैतगी – अद्वैता एकान्तमयी गीर्वाणी यस्य स अद्वैतगी । आत्मैकवादिका अद्वैता प्रोच्यते (४९)। **सूनृतगी** —सूनृता सत्या गीर्यस्य स सूनृतगी (५०)। **सत्यानुभयगी** —सत्या सत्यार्था अनुभया असत्यरहिता सत्यासत्यरहिता च गीर्यस्य स सत्यानुभयगी (५१)। **सुगी** —सुष्ठु शोभना गीर्यस्य स सुगी (५२)। **योजनव्यापिगी** —योजनव्यापिनी गीर्यस्य स योजनव्यापिगी (५३)। **क्षीरगौरगी** —क्षीरवद् गोदुग्धवद् गौरा उज्ज्वला गीर्यस्य स क्षीरगौरगीः (५४) **तीर्थकृत्वगी**—तीर्थकृत्वा अमितजन्मपातकप्रक्षालिनी गीर्यस्य स तीर्थकृत्वगीः (५५)।

भव्यैकश्रव्यगु सद्गुश्चित्रगु परमार्थगु ।
प्रशान्तगु प्राश्निकगु सुश्रुतिर्नियतकालगुः ॥ ५५ ॥

भव्यैकश्रव्यगु —भव्यैरेकैः केवलैः श्रव्या श्रोतु योग्या गौर्वाणी यस्य स भव्यैकश्रव्यगु । गोर प्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादुनौ चेति ह्रस्व । संध्यक्षरस्यापि ह्रस्वादेशो (५६)। **सद्गु**—सती समीचीना पूर्वापरविरोधरहिता शारदा सरस्वती वा गौर्वाणी यस्य स सद्गु (५७)। **चित्रगु**—चित्रा विविधा

---

[1] स अपौरुषेयाणां । [2] स प्रो 'शिवाः गिरि वाण्यो यस्य स अवर्णगीः' इति पाठः ।

नानाप्रकारा त्रिभुवनभव्यजनचित्तचमत्कारिणी गौर्वाणी यस्य स चित्रगु (५८)। **परमार्थगु**—परमार्था सत्यमयी गौर्यस्य स परमार्थगु (५६)। **प्रशान्तगु**—प्रशान्ता कर्मक्षयकारिणी रागद्वेषमोहादि रहिता गौर्यस्य स प्रशान्तगु (६)। **प्राश्निकगु**—प्रश्ने भवा प्राश्निकी, प्राश्निकी गौर्यस्य स प्राश्निकगुः। प्रश्न विना तीर्थकरो न ब्रूते यत ततएव कारणाद्वीरस्य गणधर विना कियत्कालपर्यन्तं ध्वनिर्नाभूत् (६१)। **सुगु**—सुष्ठु शोभना गौर्यस्य स सुगु (६२)। **नियतकालगु**—नियतो निश्चित कालोऽवसरा यस्या सा नियतकाला। नियतकाला गौर्यस्य स नियतकालगु (६३)। तदुक्त—

> पुव्वण्ह मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए।
> छ छग्घडिया णिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सिद्ध तं॥

सुश्रुति सुश्रुतो याज्यश्रुति सुश्रुन्महाश्रुति ।
धर्मश्रुति श्रुतिपति श्रुत्युद्धर्त्ता ध्रुवश्रुति ॥५६॥

सुश्रुति—सुष्ठु शोभना श्रुतिर्यस्य स सुश्रुति अबाधितवागित्यर्थ (६४)। **सुश्रुत**—शोभन श्रुत शास्त्र यस्य स सुश्रुत अबाधितार्थश्रुत इत्यथ। अथवा सुष्ठु अतिशयेन श्रुतो विख्यातस्त्रिभुवनजन प्रसिद्ध सुश्रुत (६४)। **याज्यश्रुति**—याज्या पूज्या महापण्डितैर्मान्या श्रुतियस्य स याज्यश्रुति (६५)। **सुश्रुत्**—सुष्ठु शोभन यथा भवति तथा शृणोतीति सुश्रुत् (६७)। **महाश्रुति**—महती सर्वार्थप्रकाशिका श्रुतिर्यस्य स महाश्रुति (६८)। **धर्मश्रुति**—धर्मण विशिष्टपुण्येन निदानरहितेन पुण्येनोपलक्षिता श्रुति र्यस्य स धर्मश्रुति तीर्थकरनामकर्मप्रदायिनी भव्याना श्रुतिर्यस्येति धर्मश्रुति (६६)। **श्रुतिपति**—श्रुतीनां शास्त्राणा पति स्वामी श्रुतिपति (७)। **श्रुत्युद्धर्त्ता**—श्रुते श्रुतीनां वा उद्धर्त्ता उद्धारकारक श्रुत्युद्धर्त्ता (७१)। **ध्रुवश्रुति**—ध्रुवा शाश्वती अनादिकालीना श्रुतियस्य स ध्रुवश्रुति (७२)।

निर्वाणमार्गदिङ्मार्गदेशक सर्वमार्गदिक ।
सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥

निर्वाणमार्गदिक्—निर्वाणाना मुनीना मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रलक्षण मोक्षमार्ग दिशति उपदिशति य स निर्वाणमार्गदिक्। अथवा निर्वाणस्य मोक्षस्य तत्फलभूतस्य सुखस्य वा मार्ग सूत्र दिशतीति निर्वाणमार्गदिक् (७३)। **मार्गदेशक**—मार्गस्य रत्नत्रयस्य देशक उपदेशक मार्गदेशक (७४)। **सर्वमार्गदिक**—सर्व परिपूर्ण मार्ग सर्वेषा सद्दृष्टि मिथ्यादृष्टीना च मार्ग संसारस्य मोक्षस्य च मार्ग दिशतीति सर्वमार्गदिक् (७५)। **सारस्वतपथ**—सरस्वत्या भारत्या पन्था मार्ग सारस्वतपथ। अथवा सारस्य स्वत वस्य आत्मज्ञानस्य पन्था सारस्वतपथ (७६)। **तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत्** तीर्थेषु समस्त समयसिद्धान्तेषु परमोत्तमं परमप्रकृष्ट तीर्थ करोतीति तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत्। अथवा तीर्थपरमोत्तमेन जैन शास्त्रेण तीर्थ मिथ्यादृष्टीना शास्त्र कृन्तति छिनत्तीति शतखण्डीकरोतीति तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् (७७)।

देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशक ।
वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभङ्गीशो गिरा पति ॥५८॥

देष्टा—दिशति स्वामितया आदेशं ददातीति देष्टा (७८)। **वाग्मीश्वर**—वाग्मिनो वाचोयुक्ति पटवस्तेषामीश्वर वाग्मीश्वर (७६)। **धर्मशासक**—धर्म चारित्रं रत्नत्रयं वा जीवानां रक्षणं वा, वस्तुस्वभावो वा क्षमादिदशविधो वा धर्म। तं शास्ति शिक्षयति धर्मशासक (८)। उक्तञ्च—

> धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
> रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

धर्मदेशक—धर्मस्य देशकः कथक धर्मदेशक (८१)। **वागीश्वर**—वाचां वाणीनामीश्वरो वागीश्वरः (८२)। **त्रयीनाथ**—त्रयी त्रैलोक्यं कालत्रयं च, तस्या नाथ धर्मदेशक त्रयीनाथ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणां वा समाहारस्त्रयी, तस्या नाथः । ब्रह्म विष्णु महेश्वराणां वा नाथः त्रयीनाथ । ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदानां वा नाथ हेयत्वोपदेशक त्रयीनाथ (८३) । उक्तञ्च—

> यवच्छ्यविजल्पकल्पविहृयोद्रिक्तश्रुतिः सूरिभिः,
> सान्धाचारपुरस्सर विरचितं यत्काशिकाद्य च यत् ।
> सांख्यं शाक्यवचस्त्रयीगुरुवचाम्नाय यद्धौकिकं,
> सोऽय भारतिमुक्तिमुक्तिफलद सर्वोऽनुभावस्तव ॥

त्रिभंगीश —त्रयो भंगा समाहृतास्त्रिभंगी । तस्या ईशस्त्रिभंगीश । उक्तञ्च—

> पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत ।
> अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥

अथवा—सत्ता उदय उदीरणा इति त्रिभंगी शास्त्रे कथिता तस्या ईशस्त्रिभंगीश । उक्तञ्च—

> ससारसंभवाणां जीवाणं जीवियाइ बहुवारं ।
> णवदोभागतिभेगं कुप्पचइइद्गतितिभणिदव्वं ॥

६५६१ आयुष एते भागा क्रियन्ते । द्वयोर्भागयोर्गतयोस्तृतीये भागस्य प्रथमसमये गतिं बध्नाति । यदि न बध्नाति तदा तृतीयभागस्य त्रया भागा क्रियन्ते । तत्रापि द्वयोर्भागयोर्गतयोस्तृतीये भागे प्रथम समये गतिं बध्नाति । यदि तत्रापि प्रथमसमये न बध्नाति तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागा क्रियन्ते द्वयोर्भागयो र्गतयोस्तृतीये भागे प्रथमसमये गतिं बध्नाति । यदि तत्रापि प्रथमसमये न बध्नाति तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागा क्रियन्ते । एव भागद्वये गते तृतीये भागे गतिं बध्नाति । एवं ६५६१।२१८७।७२६।२४३।८१।२७।६ ३।१ एव नववारान् भागा क्रियन्ते । इति त्रिभंगीश (८४) । **गिरापतिः**—गिरा वाणीना पति । गिरापति । क्वचित्त लुप्यन्तेऽभिधानात् (८५) ।

सिद्धाज्ञ सिद्धवागाज्ञासिद्ध सिद्धैकशासन ।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त सिद्धमन्त्रः सुसिद्धवाक ॥५६॥

सिद्धाज्ञ—सिद्धा आज्ञा वाग्यस्य स सिद्धाज्ञ (८६) । **सिद्धवाक्**—सिद्धा वाग् यस्य स सिद्ध वाक् (८७) । **आज्ञासिद्ध**—आज्ञा वाक् सिद्धा यस्य स आज्ञासिद्ध (८८) । **सिद्धैकशासन**—सिद्धं एकमद्वितीय शासन वाक् यस्य स सिद्धैकशासन (८६) । **जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त**—जगति संसारे प्रसिद्धो विख्यात सिद्धान्तो वाग् यस्य स जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त (६) । **सिद्धमन्त्र**—सिद्धो मन्त्रो वेदो यस्य स सिद्ध मंत्र (६१) । **सुसिद्धवाक्**—सुष्ठु अतिशयेन सिद्धा वाक् यस्य स सुसिद्धवाक् (६२) ।

शुचिश्रवा निरुक्तोक्तिस्तन्त्रकृन्न्यायशास्त्रकृत् ।
महिष्ठवाग्महानाद कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वन ॥६ ॥

शुचिश्रवा—शुचिनी पवित्रे श्रवसी कर्णौ यस्य स शुचिश्रवा (६३) । **निरुक्तोक्ति**—निरुक्ता निश्चिता उक्तिर्वचनं यस्य स निरुक्तोक्ति (६४) । **तन्त्रकृत्**—तन्त्र शास्त्र करोतीति तन्त्रकृत् (६५) । **न्याय शास्त्रकृत्**—न्यायशास्त्र अविरुद्धशास्त्र कृतवान् न्यायशास्त्रकृत् (६६) । **महिष्ठवाक्**—महिष्ठा पूज्या वाक् यस्य स महिष्ठवाक् (६७) । **महानादः**—महान् नादो ध्वनिर्यस्य स महानाद (६८) । **कवीन्द्र**—कवीनां गणधर देवादीनामिन्द्र स्वामी कवीन्द्र (६६) **दुन्दुभिस्वन**—दुन्दुभिर्जयपटह तद्वत्स्वन शब्दो यस्य स दुन्दु भिस्वन (१ ०) ।

इति तीर्थकृच्छतनामा चतुर्थोऽध्याय समाप्तः ।

—: :—

अथ पञ्चमोऽध्याय

नामसहस्रज्ञान तीर्थकृतामल्पकोऽप्युपायोऽयम् ।
तीर्थंकरनामकृते श्रुतसागरसूरिभि प्रविज्ञात ॥
विद्यानन्दकलक समन्तभद्रं च गौतम नत्वा ।
नाथशतं व्याक्रियते श्रुयुत श्रुतसागरमुनिभि ॥

नाथ पति परिवृढ स्वामी भर्त्ता विभु प्रभु ।
ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥

नाथ—राज्यावस्थाया नाथते षष्ठ भागधेय याचते च नाथ । नाधृ नाथ याचने इति धातो प्रयोगात् अचा सिद्धम् । नाथ्येते स्वर्गमोक्षौ याच्येते भक्तैर्वा नाथ । अन्यत्रापि चेति कर्मणि अच् (१) । **पति** पाति रक्षति ससारदु खादिति पति । पाति प्राणिवर्ग विषय कषायेभ्य आत्मानमिति वा पति । पातेर्डति औणादिक प्रत्ययोऽयम् (२) । **परिवृढ**—परि सम तात् वृहति स्म वर्हति स्म वा परिवृढ स्वामी । परिवृढ दृढौ प्रभु-बलवतोरिति क्ते निपातनात् नलोप इड्भावश्च निपातस्य फलम् । वृह वृहि वृहि वृहि वृद्धौ इति प्रकृत्यन्तरेण वा वृहि वृहि वृद्धौ इत्यस्य वृह वृहि दृह दृहि वृह वृहि वृद्धाविति छान्दसा मन्यन्ते (३) । **स्वामी**—स्व आत्मा विद्यतेऽस्य स स्वामी । स्वस्येति सुरात्व चेति इन् आत्व च (४) । **भर्त्ता**—बिभर्त्ति धरति पुष्णाति वा जगद्भव्यजनं । उत्तमस्थाने धरति केवलज्ञानादिभि गुणै पुष्णातीति भर्त्ता (५) । **विभु**—विभवति विशेषेण मंगल करोति वृद्धिं विदधाति समवसरणसभाया प्रभुतया निवसति केवलज्ञानेन चराचर जगद् व्याप्नोति सम्पदं ददाति जगत्तारयामीति अभिप्राय वैराग्यकाले करोति तारयितु शक्नोति तारयितुं प्रादुर्भवति एकेन समयेन लोकालोक गच्छति जानातीति विभु । तदुक्त—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदो ।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भू ॥

भुवो डुर्विंश प्रेषु चेति साधु (६) । **प्रभु**—प्रभवति समर्थो भवति, सर्वेषां स्वामित्वात् प्रभु । (७) । **ईश्वर**—ईष्टे समर्थो भवति ऐश्वर्यवान भवति ईश्वर । कसि पिसि भासीशस्थाप्रमदां च शीलार्थ वर । इकारप्रश्लेषे ई लक्ष्मीरभ्युदय निश्रेयसलक्षणा तस्या ईश्वर स्वामी ईश्वर लक्ष्मीकान्त इत्यर्थ । घोषवत्योश्च कृति नेट (८) । **अधीश्वर**—अधिक ईश्वर इन्द्रादीनामपि प्रभु अधीश्वर । अधियां अज्ञानिना पशूनामपि सम्बोधने समर्थ अधीश्वर (९) । **अधीश**—अधिक ईश स्वामी अधीशः । अधिया हरि हर हिरण्यगर्भादीनामीश (१०) । **अधीशान**—ईष्ट इशान अधिक ईशान अधीशान । अथवा ये अधियो निर्विवेका लोका भवन्ति ते स्वामिन ऐश्वर्य दृष्ट्वा इशानमिति मन्यते मिथ्यामतित्वात् (११) । उक्तञ्च—

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नून विभो हरि हरादिधिया प्रपन्ना ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥

अधीशिता—अधिकृतोऽधिको वा ईशिता स्वामी अधीशिता (१२) । **ईशिता**—ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवंशील ईशिता (१३) ।

ईशोऽधिपतिरीशान इन इन्द्रोऽधिपोऽधिभू ।
महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥

---

१ वृ विना तैसम । स विना तेसम ।

ईशः—ईष्टे निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात् ईशः (१४)। उक्तञ्च—

> [illegible]
> [illegible] ॥

अधिपति—अधिकः पतिः स्वामी अधिपतिः (१५)। ईशानः—ईष्टे अहमिन्द्राणामपि स्वामी भवति ईशानः (१६)। इनः—एति योगिनां ध्यानबलेन हृदयकमलमागच्छति इनः। इण् गि [illegible] नक् (१७)। इन्द्रः—इंदति परमैश्वर्यं प्राप्नोति, शक्रादीनामप्याराध्यत्वात् इन्द्रः। स्फायि तंचि-वंचि शकि-क्षिपि क्षुद्रि-सृदि भदि मदि चंदि उन्दीरिभ्यो रक (१८)। अधिपः—अधिकं पाति सर्वजीवान् रक्षति अधिपः। उपसर्गे त्वातो ड। अथवा अधिकं पिबति केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति अधिपः (१९)। अधिभूः—अधिका त्रैलोक्यसम्बन्धिनी भूर्भूमिर्यस्य स अधिभूः त्रिभुवनैकनाथ इत्यर्थः।

> सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति संपदोः।
> अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

इति वचनात्। अधिकं मलं गालयति मंगं सुखं वा ददाति अधिभूः। अधिकवृद्धियोगात् अनन्तकालं मुक्तिनिवासात् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापनात् अधिकसंपत्प्रसंगात् लोकालोकव्याप्त्यभिप्रायात्, अनन्तशक्तित्वात् विरुद्धपर्यायेण प्रादुर्भावात् एकेन समयेन त्रैलोक्याग्रगमनात् अधिभूः। उक्तञ्च—

> घोषाभावे वेढि जिम यक्कइ वाणु बलेवि।
> मुक्कह जसु पइ बिंबियउ परमसहाउ भणेवि ॥

अधिभूर्नायको नेता इति वचनात् त्रिभुवनैकनायक इत्यर्थः (२०)। महेश्वरः—महतामिन्द्रादीनामीश्वरः स्वामी महेश्वरः। अथवा महस्य पूजाया ईश्वरः स्वामी महेश्वरः (२१)। महेशानः—महांश्चासावीशानो महेशानः। अथवा महतामीशानः अथवा महस्य यज्ञस्य ईशानो महेशानः (२२)। महेशः—महांश्चासावीशः महेशः। अथवा महतामीशः महेशः। अथवा महस्य यागस्य ईशः महेशः (२३)। परमेशिता—परमः प्रकृष्टः ईशिता परमेशिता। अथवा परा उत्कृष्टा मा बहिरभ्यन्तरलक्षणा लक्ष्मीः परमा। परमाया ईशिता परमेशिता (२४)।

अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वरः।
विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेट् विश्वेश्वरोऽधिराट् ॥ ६३ ॥

अधिदेवः—अधिकः शक्रादीनां देवः परमाराध्यः अधिदेवः (२५)। महादेवः—महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवो महादेवः। अथवा महादेवः क्षत्रियः, तस्य देवी महादेवीति कारणात् महादेवशब्देन क्षत्रिय एव क्षत्रियभार्या महादेवीति। (२६)। देवः—दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे देवः परमाराध्य इत्यर्थः (२७)। त्रिभुवनेश्वरः—त्रीणि भुवनानि समाहृतानि त्रिभुवनं स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकाः, तस्य त्रिभुवनस्य ईश्वरः त्रिभुवनेश्वरः (२८)। विश्वेशः—विश्वस्य त्रैलोक्यस्य ईशः स्वामी विश्वेशः (२९)। विश्वभूतेशः—विश्वेषां भूतानां प्राणिवर्गाणामीशः स्वामी विश्वभूतेशः। अथवा विश्वेषां भूतानां [illegible] [illegible]मीशः विश्वभूतेशः। अथवा विश्वभूस्त्रैलोक्यम्, तस्य या लक्ष्मीस्तस्या ईशो विश्वभूतेशः (३०)। विश्वेट्—विश्वस्य त्रिभुवनस्य ईट् स्वामी विश्वेट् (३१)। विश्वेश्वरः—विश्वस्य [illegible] ईश्वरः प्रभुः विश्वेश्वरः (३२)। अधिराट्—अधिकं राजते अधिराट्। अथवा अधि वशीकृता राजानो येन स अधिराट्। उक्तञ्च—अधि [illegible] (३३)।

---

१ द प्रत्यौ।

लोकेश्वरो लोकपतिर्लोकनाथो जगत्पतिः ।
त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभु ॥ ६५ ॥

लोकेश्वर — लोकाना त्रिभुवनजनानामीश्वर स्वामी लोकेश्वर । अथवा लोकस्य सम्यग्दर्शनस्य ईश्वर. लोकेश्वर । लोकृ लोचृ दर्शने इति धातो प्रयोगात् (३४) । **लोकपति** — लोकस्य त्रिभुवनस्थित-प्राणिवर्गस्य पति स्वामी लोकपति (३५) । **लोकनाथ** — लोकस्य त्रिभुवनस्य नाथ स्वामी लोकनाथ । अथवा लोकैकर्तृभूतैर्भगवान् कर्मतापन्न मोक्ष प्रति याच्यते । याचि नाथेत्यादीना द्विकमकर्तृत्व याचिनाथो । नाथ्यते मोक्ष याच्यते इति लोकनाथ (३६) । **जगत्पति** — जगता त्रिभुवनाना पति स्वामी जगत्पति. (३७) । **त्रैलोक्यनाथ** — त्रैलोक्यस्य भुवनत्रयस्य नाथ स्वामी त्रैलोक्यनाथ (३८) । **लोकेश** — लोकानां जगज्जनानामीश स्वामी लोकेश (३६) । **जगन्नाथ** — जगता नाथो जगन्नाथ (४) । **जगत्प्रभु** — जगत्त्रैलोक्यस्य प्रभु स्वामी जगत्प्रभु (४१) ।

पिता पर परतरो जेता जिष्णुरनीश्वर ।
कर्त्ता प्रभूष्णुर्भ्राजिष्णु प्रभविष्णु स्वयप्रभु ॥ ६६ ॥

पिता—पाति रक्षति दुर्गतौ पतितुं न ददाति इति पिता । स्वस्त्रादय स्वसृ नप्तृ नेष्टृ-त्वष्टृ क्षत्तृ होतृ पोतृ प्रशास्तृ पितृ दुहितृ जामातृ भ्रातृ एते तृन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते (४२) । **पर** —पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा लोकान् निर्वाणपदे स्थापयति पर । अन्य । सिद्धादपर पर (४३) । **परतर** —परस्मात् सिद्धात् उत्कृष्ट पर परतर सर्वेषा धर्मोपदेशेन गुरुत्वात् (४४) । **जेता** — जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते इत्येवशीलो जेता (४५) । **जिष्णु** — जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते इत्येवंशीलो जिष्णु । जि भुवो ष्णुक (४६) । **अनीश्वर** —न विद्यते ईश्वर एतस्मादपर अनीश्वर (४७) । **कर्त्ता**—अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनं अनन्तवीर्य अनन्तसौख्यमात्मन करोतीति कर्त्ता (४८) । उक्तञ्च

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

एवं सति—

अकर्त्ता निर्गुण शुद्धो नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान् कपिलशासने ॥

इति न घटते । कथं न घटते ?

अकर्त्तापि पुमान् भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता ।
नित्योऽपि जातसंसर्ग सर्वगोऽपि वियोगभाक् ॥
शुद्धोऽपि देहसंबद्धो निर्गुणोऽपि स मुच्यते ।
इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वच ॥

प्रभूष्णु—प्रभवति इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र चन्द्र गणीन्द्रादीना प्रभुत्व प्राप्नोतीत्येवशील प्रभूष्णु (४६)। **भ्राजिष्णु** —भ्राजृ भासृ टुभ्लासृ दीप्तौ इति धातो प्रयोगात् भ्राजते चन्द्रार्ककोटिभ्योऽपि अधिकां दीप्तिं प्राप्नोतीत्येवशील भ्राजिष्णुः । भ्राज्यलंकृञ भू सहि रुचि वृति वृधि चरि प्रजनापत्रपेणामिष्णुच् (५०) । **प्रभविष्णु** —प्रभवति अनन्तशक्तित्वात् समर्थो भवतीत्येवशील प्रभविष्णु (५१) । उक्तञ्च—

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
त्यागसहितं च वित्त दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥

तथा चोक्तमभोघवर्षेण राज्ञा—

द्रव्यगुणपर्यायपदार्थविभासकं केवलज्ञानम् ॥ १ ॥ द्रव्य क्षेत्र-काल भावै प्रत्येकं विज्ञायमानैर्देशावधि परमावधि सर्वावधिभेदभिन्नं अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्त रूपिद्रव्यविषयमवधिज्ञानम् ॥ २ ॥ द्रव्य क्षेत्र काल भावै प्रत्येकमवगम्यमाने ऋजुमतिविपुलमतिभेद मन पर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमकारणं रूपिद्रव्यानन्त भागविषयं मनःपर्ययज्ञानम् ॥ ३ ॥ सुकृष्टसमर्थकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्ष बीजमेकमुप्त यथाऽनेक बीजकोटिप्रद भवति, तथा नोमनइन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति सख्यपशब्दस्य अनन्तार्थ प्रतिबद्धस्य अनन्तलिंगै सह एकबीजपदस्य ग्रहणादनेकार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धि ॥ ४ ॥ कोष्ठागारिकस्थापिता नामसंकीर्णानामविनष्टाना भूयसामन्यबीजाना यथा कोष्ठेऽवस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानामर्थग्रन्थ बीजाना भूयसा अव्यतिकीर्णाना बुद्धावस्थानं कोष्ठबुद्धि ॥ ५ ॥ पदानुसारित्वं त्रिधा—प्रतिसारि अनुसारि उभयसारि चेति । तत्र बीजपदादध स्थितान्येव पदानि बीजपदस्थितलिंगेन जानाति प्रतिसारि । उपरिस्थिता न्येव पदानि जानाति अनुसारि । उभयपार्श्वस्थितानि पदानि यदा नियमेन अनियमेन वा जानाति उभयसारि । एवमेकस्य पदस्यार्थ परत उपश्रुत्य आदावंते मध्ये वा अशेषग्रन्थार्थधारणं पदानुसारित्वम् ॥ ६ ॥ द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रवर्तिस्कन्धावारे गज वाजि खरोष्ट्र-मनुष्यादीनामक्षरानक्षररूपाणां नानाविधकरंबितशब्दाना युगपदुत्पन्नाना तपोविशेषबललाभापादितसर्वजीवप्रदेशप्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियपरिणामा त्सर्वेषा मेककाले ग्रहण तत्प्रतिपादनसमर्थत्व च संभिन्नश्रोतृत्वम् ॥ ७ ॥ तप शक्तिविशेषाविर्भावित साधारणरसनेन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमांगोपांगनामलाभापेक्षस्य अवधृतनवयोजनक्षेत्राद्बहिर्बहुयोजन विप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसस्य आस्वादनसामर्थ्य दूरास्वादनम् । अवधृतक्षेत्र यत्कथित तत्किम् ? पंचेन्द्रि यसंज्ञिस्पर्शन नव योजनम् रसन नवयोजनम् घ्राण नव योजनम् अवलोकन योजनाना त्रिषष्टि अधिकद्विशतोपे तसप्तचत्वारिंशत्सहस्र ४७२६३ । श्रवण योजनद्वादशकम् (१२) । इति अवधृतक्षेत्रम् । तथा पञ्चेन्द्रियासंज्ञिस्प र्शन धनुषां चतु शताधिक सहस्रषट्कम् । रसन धनुषा द्वादशाधिक पञ्चशतकम् । घ्राण धनुषा चतु शतानि । चक्षु अष्टाधिकनवशतोपेतयोजनसहस्रपञ्चकम् । श्रोत्र अष्टसहस्राणि धनुषाम् । चतुरिन्द्रियस्पर्शन द्विशताधिका नि द्विशतधनूंषि । घ्राणं शतद्वय धनुषाम् । चक्षु चतु पञ्चाशदधिकनवशताग्रे योजनाना द्वे सहस्र । त्रीन्द्रि यस्पर्शनषोडश शतानि धनुषाम् । रसनं अष्टाविंशतियुत शतमेक धनुषाम् । घ्राण धनु शतमेकम् । द्वीन्द्रियस्प र्शन अष्टशतानि धनुषाम् । रसनं चतु षष्टिधनुषाम् । एकेन्द्रियस्पर्शन धनुषा चतु शतानि । उक्तञ्च—

सण्णिस्स बार सोदे तिण्हं नव जोयणाणि चक्खुस्स ।
सत्तेदालसहस्सा बे सय तेसट्ठिमिदरे य ॥

इति संज्ञिपञ्चेन्द्रियविषयक्षेत्रगाथा । तथा एकेन्द्रियादीना अवधृतक्षेत्रगाथा—

धणु वीसडदसय कदी जोयणछादालहीणतिसहस्सा ।
अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा य जा असण्णि त्ति ॥

विंशतिकृति ४ अष्टकृति ६४ दशकृति १ । एव कदिशब्देन कृति कृतिशब्देन गुणाकारो लभ्यते । एवं स्पर्शनावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरस्पर्शनम् ॥ ८ ॥ एवं रसनावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरा स्वादनम् ॥ ९ ॥ घ्राणावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरघ्राणम् ॥ १ ॥ एव चक्षुरवधृतत्रिषष्ट्यधिकद्विशतोपेत सप्तचत्वारिंशत्सहस्रयोजनाद्बहिर्दूरं पश्यन्ति ॥ ११ ॥ । एव श्रोत्रावधृतद्वादशयोजनाद्बहिर्दूरायातं शब्द शृण्वन्ति ॥ १२ ॥ रोहिणीप्रज्ञप्तिप्रमुखपंचशतमहाविद्यादेवताभि अनुगताङ्गुष्ठप्रसेनादिसप्तशतक्षुल्लकविद्यादेवताभि स्तीन् वारानागताभिः प्रत्येकमात्मीयस्वरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिरचलितचारित्रस्य दश पूर्वदुस्तरश्रुतसागरोत्तरणं दशपूर्वित्वम् ॥ १३ ॥ श्रुतकेवलीनां चतुर्दशपूर्वित्वम् ॥ १४ ॥ अष्टौ महानिमित्तानि कथ्यन्ते—आन्तरिक्षं १ भौमं २ आंगं ३ स्वर ४ व्यंजन ५ लक्षणं ६ छिन्न ७ स्वप्नश्चेति ८ अष्टमहा निमित्तानि । तत्र सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रतारका पंचविधज्योतिर्गणोदयास्तमयप्रभृतिभिरतीतानागतफलप्रविभागदर्शनं

आन्तरिक्षम् ॥१॥ भूमौ घन सुषिर-स्निग्ध रूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रनिन्यासेन च वृद्धि हानि-जय-पराजयादिविज्ञानं भूम्यन्तर्गतकनकरूप्यप्रभृतिसूचनं भौमम् ॥ २ ॥ अङ्गप्रत्यङ्गदर्शनादिभिः मानवानां च सत्त्वस्वभाव वातादि प्रकृति-रस-रुधिरादिसप्तधातु शरीर वर्ण गन्ध निम्नोन्नतांग प्रत्यङ्गनिरीक्षणादिभिस्त्रिकालभाविसुख दुःखादिविभावनं आङ्गम् ॥३॥ नर नारी खर पिंगलोलूक वायस शिवा शृगालादीनां अक्षरानक्षरात्मकशुभाशुभशब्दश्रवणेन इष्टानिष्टफलाविर्भाव स्वर ॥ ४ ॥ शिरो मुख-ग्रीवादिषु तिलक मशक-लांछनव्रणादि वीक्षणेन त्रिकालहिताहितावेदन व्यञ्जनम् ॥५॥ कर चरणतल वक्ष स्थलादिषु श्रीवृक्ष-स्वस्तिक भृंगार कलश कुलिशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थान-मानैश्वर्यादिविशेषक लक्षणम् ॥ ६ ॥ वस्त्र शस्त्र छत्रोपानदासन शयनादिषु देव मानव राक्षसकृतविभागेषु शस्त्र कटक मूषकादिकृतच्छेददर्शनात् कालत्रयविषयभागेन लाभालाभ सुख दुःखादिसूचनं छिन्नम् ॥७॥ वात पित्त श्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिविभागेन चन्द्र सूर्य धरा-समुद्र मुखप्रवेशनसकलमहीमण्डलोपगूहनादिशुभस्वप्नदर्शनात् घृत-तैलाक्तात्मीयदेह खर-करभारूढापाग्दिग्गमनाद्यशुभ स्वप्नदर्शनात् आगामिजीवित मरण सुख दु खाद्याविर्भावक स्वप्न ॥८॥ स च द्विविध —छिन्न मालाविकल्पात् । गजेन्द्र वृषभ सिंहपोत-प्रभृतिश्छिन्न । पूर्वापरसम्बन्धाना भानां दर्शनं माला । एतेषु महानिमित्तेषु कुशलत्वं अष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता (१५) । अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषये अनुपयुक्ते अनधीतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभात् नि सशयनिरूपणं प्रज्ञाश्रमणत्वम् । सा च प्रज्ञा चतुर्विधा—औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति । तत्र जन्मान्तरविनयजनितसंस्कारसमुत्पन्ना औत्पत्तिकी ॥ १ ॥ विनयेन द्वादशाङ्गानि पठत समुत्पन्ना वैनायिकी ॥ २ ॥ दुश्चरतपश्चरणबलेन गुरूपदेशेन विना समुत्पन्ना कर्मजा ॥ ३ ॥ स्वकीय स्वकीयजातिविशेषेण समुत्पन्ना पारिणामिकी चेति ॥ ४ ॥ (१६) । परोपदेश विना स्वशक्तिविशेषादेव ज्ञान-संयमविधाने नैपुण्यं प्रत्येकबुद्धता (१७) । शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्सु अप्रतिहतया प्रतिभया निरुत्तराभिधान परर प्रापेक्षण च वादित्वम् (१८) । इति बुद्धिऋद्धिरष्टादशविधा समाप्ता ।

औषधर्द्धिरष्टविधा— असाध्यानामपि व्याधीनां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतु आमर्श १ क्ष्वेल २ जल्ल ३ मल ४ विट् ५ सर्वौषधिप्राप्त ६ आस्याविष ७ दृष्ट्यविष ८ भेदात् । हस्त पादादिसंस्पर्श आमर्श सकलौषधित्व प्राप्तो येषां ते आमर्शौषधिप्राप्ता ॥ १ ॥ क्ष्वेलो निष्ठीवन तदुपलक्षणं श्लेष्मलालाविट्सिंहाणकादीनां तदौषधित्व प्राप्तो येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ता ॥२॥ स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्ल स औषधि प्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ता ॥३॥ कर्णदन्तनासिकालोचनसमुद्भवो मल औषधित्वं प्राप्तो येषां ते मलौषधिप्राप्ता ॥४॥ विट् उच्चार शुक्र मूत्र च औषधियेषां ते विडौषधिप्राप्ता ॥५॥ अंग प्रत्यंग नख दंत केशादिरवयव तत्संस्पर्शी वाय्वादि सर्वौषधित्व प्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ता ॥ ६ ॥ उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषो भवति ते आस्याविषा । अथवा येषां वच श्रवणान्महाविषपरीता अपि पुरुषा निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषा । अथवा आसीविषमविष येषां ते आस्यविषाः ॥ ७ ॥ येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविष दूषिता अपि विगतविषा भवन्ति ते दृष्ट्यविषा । अथवा दृष्टिविषाणां विष अविष येषां ते दृष्ट्याविषा ॥ ८ ॥ (२) बलालम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा—मनोवाक्कायविषयभेदात् । तत्र मनोऽनिन्द्रिय श्रुतावरण वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति खेद विना अ तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तने अवदाता मनोबलिन ॥ १ ॥ जिह्वाश्रुतावरण वीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्था सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिन ॥ २ ॥ वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षादाविर्भूतासाधारणकायबलित्वात् मासिक चातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लेशविरहितास्त्रिभुवनमपि कनीयस्यां गुल्योद्धृत्यान्यत्र स्थापयितु समर्थाश्च कायबलिन ॥ ३ ॥

तपोऽतिशयऋद्धि सप्तविधा—उग्रतप १ दीप्ततप २ तप्ततप ३ महातप ४ घोरतप ५ घोर पराक्रम ६ घोरगुणब्रह्मचारि ७ चेति । तत्रोग्रतपसो द्विभेदा —उग्रोग्रतपस अवस्थितोग्रतपसश्चेति ।

---

१ ब हततया । २ ब अधौष ।

तत्र एकमुपवास कृत्वा पारणं विधाय द्विदिनमुपोष्य तत्पारणान्तरं पुनरप्युपवासत्रयं कुर्वन्ति । एवमेकोत्तर वृद्ध्या यावज्जीव त्रिगुप्तिगुप्ता सन्तो ये केचिदुपवसन्ति ते उग्रोग्रतपस । दीक्षोपवासं कृत्वा पारणानन्तर मेकान्तरेण चरतां केनापि निमित्तेन षष्ठोपवासे जाते तेन विहरतामष्टमोपवाससंभवे तेनाचरतामेवं दशम द्वादशादिक्रमेण अधो न निवर्तमाना यावज्जीव येषा विहरण तेऽवस्थितोग्रतपस (१) । महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकायवाग्मानसबला विगन्धराहतवदना पद्मोत्पलादिसुरभिनि श्वासा प्रतिदिनप्रवर्धमानाप्रच्युत महादीप्तिशरीरा दीप्ततपस । (२) । तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्काल्पाहारतया मलरुधिरादिभाव परिणामविरहिताभ्यवहरणास्तप्ततपस (३) । अणिमादिजलचारणाद्यष्टगुणालकृता विस्फुरितकायप्रभा द्विविधाक्षीणर्द्धियुक्ता सर्वौषधिप्राप्ता अमृतीकृतपाणिपात्रनिपतितसर्वाहारा सर्वामरेन्द्रेभ्योऽनन्तबला', आशीविष दृष्टिविषर्द्धिसमन्विताश्च तप्ततपस सकलविद्याधारिणो मति श्रुतावधि मन पर्ययज्ञानावगत त्रिभुवनगत व्यापारा महातपस (४) । वात पित्त श्लेष्म सन्निपातसमुद्भतज्वर नासाक्षि कुक्षिशूल कुष्ठ प्रमेहादिविविधरोगसतापितदेहा अप्रयच्युतानशनादितपसोऽनशने षण्मासोपवासा अवमोदर्ये एककवलाहारा, वृत्तिपरिसख्याने चतुर्गोचरगृहा रसपरित्यागे उष्णजलधौतोदनभोजिन विविक्त शयनासने भीमश्मशानाद्रि मस्तकगिरि-गुहा दरी कन्दर शून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्ष राक्षस पिशाचप्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु परुषशिवारु तानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणेषु च घोरचौरादिप्रचरितेष्वभिरुचितावासा कायक्लेशे अतितीव्रशीता तपवर्षनिपातप्रदेशेषु अभ्रावकाशातपन वृक्षमूलयोगग्राहिण । एवमाभ्यन्तरतपोविशेषेष्वपि उत्कृष्टतपोऽ नुष्ठायिनो घोरतपस (५) । त एव गृहीततपोयोगवर्धनपरास्त्रिभुवनोपसहरणमही महाचल ग्रसन-सकलसागर सलिलसंशोषण जलाग्नि शिला शैलादिवर्षणसक्ता ये ते घोरपराक्रमा (६) । चिरोषितास्खलितब्रह्मचर्या वासा प्रकृष्टचारित्रमोहक्षयोपशमात् प्रणष्टदु स्वप्ना घोरगुणब्रह्मचारिण । अथवा अघोरब्रह्मचारिण इति पाठे अघोर शान्त ब्रह्म चारित्र येषा ते अघोरगुणब्रह्मचारिण शान्ति पुष्टिहेतुत्वात् । येषा तपो माहात्म्येन डामरेति मारि दुर्भिक्ष वैर कलह वध बन्धन रोगादिप्रशमनशक्ति समुत्पद्यते ते अघोरगुण ब्रह्मचारिण (७) ।

रसर्द्धिप्राप्ताः षड्विधा —आस्यविषा १ दृष्टिविषा २ क्षीरास्राविण ३ मध्वास्राविण ४ सर्पि रास्राविण ५ अमृतास्राविणश्चेति ६ । प्रकृष्टतपोबला यतयो य ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षणादेव महा विषपरीतो म्रियते ते आस्यविषा । आशीर्विषा इति केचित् तत्राप्ययमेवार्थ — तथाऽऽशंसनादेव म्रियमाणत्वात् (१) । उत्कृष्टतपसो यतय क्रुद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषा (२) । विरसमप्यशन येषा पाणिपुटे निक्षिप्त क्षीररसगुणवीर्यपरिणामिता भजते येषा वा वचासि श्रोतृणा क्षीरवत् क्षीणाना सतर्पकाणि भवन्ति' ते क्षीरास्राविण (३) । येषा पाणिपुटे पतित आहारो नीरसोऽपि मधुररस वीर्यपरिणामिता भजते येषा वा वचासि श्रोतृणा दुःखार्दितानामपि मधुरगुणं पुष्णाति ते मध्वास्राविण (४) । येषा करपुट प्राप्त जलतक्रादिकमपि घृतपुष्टिं करोति घृतं भवति अथवा श्रोतारोऽस्माभिषु तमा स्वादित घृतव पुष्टिं तेषा करोति ते सर्पिरास्राविण (५) येषा करपुट प्राप्त भोजन यत्किञ्चिदपि अमृत भवति येषां वा वचनानि प्राणिनाममृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृतास्राविण (६) ।

क्रियागोचरा ऋद्धिर्बहुविधा अणिमा १ महिमा २ लघिमा ३ गरिमा ४ प्राप्ति ५ प्राकाम्य ६ ईशित्व ७ वशित्व ८ अप्रतिघात ९ अन्तर्धानं १० कामरूपित्व ११ इत्येवमादि । तत्र अणुशरीरविकरणं अणिमा । बिसच्छिद्रमपि प्रविश्याऽऽसीत उपविशेत् तत्र चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत् (१) । मेरोरपि मह त्तरशरीरविकरण महिमा (२) । वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा (३) । वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा (४) । भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखर दिवाकर दिस्पर्शनसामर्थ्य प्राप्ति (५) । अप्सु भूमाविव गमनं, भूमौ जल इवोन्मज्जन निमज्जनकरण प्राकाम्यम् । अनेकजातिक्रियागुणद्रव्यादीना स्वाङ्गादभिन्नमभिन्न च निर्माण प्राकाम्यम् । सैन्यादिरूपमिति केचित् (६) । त्रैलोक्यस्य प्रभुता ईशित्वम् (७) । सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वम् (८) ।

---

१ स प्र यथा प्राणिनां दुर्बलानां क्षीरं पुष्टिं नयति इत्यधिकः पाठ ।

अद्रिमध्ये स्थितीव गमनमप्रतिघातः (९) । अदृश्यरूपता अन्तर्धानम् (१०) । युगपदनेकाकाररूपविकरण शक्तिः कामरूपित्वम् । यथाभिलषितैकमूर्तामूर्ताकार[1] स्वांगस्य मुहुर्मुहुःकरणं कामरूपित्वमिति वा (११) ।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्ता द्वेधा-अक्षीणमहानसा १ अक्षीणमहालयाश्चेति २ । लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षं प्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुंजीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसा (१) । अक्षीणमहालयत्वं प्राप्ता यतयो यत्र हस्तचतुष्टयमात्रावासे वसन्ति तत्र देव मनुष्य तिर्यग्योनय सर्वे निवसेयु परस्परमबाधमाना सुखमासते तेऽक्षीणमहालया (२) ।

क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विधा—चारणत्व आकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणा अनेकविधा —जल १ जंघा २ तन्तु ३ पुष्प ४ पत्र ५ बीज ६ श्रेणि ७ अग्निशिखाद्यालम्बनगमना ८ । जलमुपादाय वाप्यादिषु अप्कायिकजीवानविराधयन्तो भूमाविव पादोद्धार निक्षेपकुशला जलचारणा । भूमेरुपरि आकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेप निक्षेप शीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशतमाशुगमनप्रवणा जघाचारणा । एवमितरे च वेदितव्या । पर्यकावस्थाना वा निषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धार निक्षेपणविधिमन्तरेण वा आकाशगमन कुशला आकाशगामिन । एव ऋद्धिप्राप्ता आचार्योपाध्यायसर्वसाधवोऽपि ऋद्धिशब्देनोच्यन्ते । प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा तथा ऋद्धिप्राप्ता मुनयोऽपि ऋद्धय । ऋद्धीनामीश ऋद्धीश (६६) ।

भूतनाथ — भूताना प्राणिना देवविशेषाणां च नाथ स्वामी भूतनाथ । भूतै पृथिव्यप्तेजोवायु भिश्चतुर्भिर्भूतैरुपलक्षितो नाथो भूतनाथ । अतीतानामुपलक्षणात् वर्तमानभविष्यतां च नाथ भूतनाथ । अथवा भुवि पृथिव्या उता सन्तानं प्राप्ता पृथिव्या व्याप्ता[3] ये ते भूता तेषा नाथ भूतनाथ (६७) । **भूतभृत्**—पूर्वोक्तो भूतशब्दार्थ । भूतान् बिभर्ति पालयति भूतभृत् (६८) ।

गति पाता वृषो वर्यो मन्त्रकृच्छुभलक्षण ।
लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुर्निरुत्सुक ॥ ६८ ॥

गति —गमन ज्ञानमात्र गति सर्वेषा अर्तिमथनसमर्थो वा गति । आविष्टलिंग गति शरणम् (६९) । **पाता**—पाति रक्षति दु खादिति पाता रक्षक (७) । **वृष** —वर्षति धर्मामृत वृष । नाम्नु पधप्रीकगॄज्ञां क (७१) । **वर्य** —व्रियते वर्य । स्वराद्य । सेवायातदेवेन्द्रादिभिर्वेष्टव इत्यर्थ । वर्यो वर णीया मुक्तिलक्ष्म्याभिलषणीय इत्यथ । मुख्यो वा वर्य (७२) । **मन्त्रकृत्**—मन्त्र श्रुतं कृतवान् मन्त्रकृत् । मिथ्यादृष्टयस्तु मन्त्र च त्रिंशदध्यायादिलक्षणं वेदं मन्त्र भणन्ति (७३) । **शुभलक्षण** —शुभानि लक्षणानि यस्य स शुभलक्षण । कानि तानि शुभलक्षणानीति चेदुच्यन्ते[4]—पाणिपादेषु श्रीवृक्ष शंख अब्जं स्वस्तिक अंकुश तोरणं चामर छत्र श्वेतं सिंहासन ध्वज मत्स्यौ कुम्भौ कच्छप चक्र समुद्र सरोवर विमान भवनं नाग नारी नर सिंह बाण धनु मेरु इन्द्र गंगा नगर गोपुर चन्द्र सूर्य जात्यश्व वीणा व्यजन वेणु मृदङ्ग माले हट्ट पट्टकूल भूषा पक्वशालिक्षेत्र वन सफल रत्नद्वीप वज्र भूमि महालक्ष्मी सरस्वती सुरभिः वृषभ चूडारत्नं महानिधि कल्पवल्ली धन जम्बूवृक्ष ग रुड नक्षत्राणि तारका राजसदनं ग्रहा सिद्धार्थ तरु प्रातिहार्याणि अष्टमंगलानि ऊर्ध्वरेखादीनि अन्यानि च शुभलक्षणानि अष्टशतम् (७४) । **लोकाध्यक्ष** —लोकाना प्रजानामध्यक्ष प्रत्यक्षीभूत ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ।

तद्वत् सर्वेषां प्रत्यक्षत्वात् । अथवा लोकानां अध्यक्षो लोको परिभुक्त राजनियोगिकनाकाध्यक्ष वत्[5] । अथवा लोकास्त्रीणि भुवनानि अध्यक्षाणि प्रत्यक्षाणि यस्येति लोकाध्यक्ष । अथवा लोकेभ्य प्रजाभ्य

१ द यथाभिलषितैकमूर्ताकार । २ ब प्र कदाचिज्जलचारणो जलार्थी सन् वापीं गत्वा तन्मध्यादञ्जलिनं गृहन् न जलं कमण्डलुप्रविष्ट सत् अग्निमाहत्याग्निप्रासुकं भवति इत्यधिकः पाठ । ३ द प्राप्ता । ४ द चेदुच्यते । ५ द राज नियोगिकं नाकाध्यक्षवत् ।

अधिकानि अक्षीणि ज्ञानलक्षणानि लोचनानि यस्येति लोकाध्यक्ष (७५)। दुराधर्ष —दु खेन महता कष्टेनापि आसमन्तात् धर्षितु पराभवितुमशक्यो दुराधर्ष । ईषद्दु-सुसुकृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् प्रत्ययः (७६)। भव्यबन्धु —भव्याना रत्नत्रययोग्याना बन्धुरुपकारक भव्यबन्धु (७७)। निरुत्सुक — स्थिरप्रकृतिरित्यर्थ (७८)।

धीरो जगद्धितोऽजय्यस्त्रिजगत्परमेश्वर ।
विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वर ॥६१॥

धीर —ध्येय प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर । अथवा धिय राति ददाति भक्तानामिति धीर । तर्हि दाधातोर्दानार्थत्वात्तद्योगे चतुर्थी कथं न भवति? सत्यं यस्मै दित्सा दातुमिच्छा भवति तत्र चतुर्थी भवति। परमेश्वरस्तु स्वभावेन बुद्धि ददाति नत्विच्छया, तस्या मोहजनितत्वात्। स तु मोहो भगवति न वर्तते तेन लिंगात् षष्ठी भवति सम्बन्धमात्रविवक्षितत्वात् (७९)। जगद्धित —जगता हित जगद्भ्यो वा हितो जगद्धित स्पष्टमेतत् (८०)। अजय्य – न जेतु केनापि इन्द्रादिना काम-क्रोध मोह-लोभादिना वा शक्य अजय्य । शक्ये य स्वरवत् स्वराद्य (८१)। त्रिजगत्परमेश्वर —त्रयाणा जगता परम उत्कृष्ट ईश्वर स्वामी त्रिजगत्परमेश्वर । अथवा त्रिजगता परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीस्तस्या ईश्वर त्रिजगत्परमेश्वर (८२)। विश्वासी—विश्वासो विद्यते यस्य स विश्वासी। तदस्यास्तीति मत्वं स्वीन्। अथवा विश्वस्मिन् लोकालोके केवलज्ञानापेक्षया आस्ते तिष्ठतीत्येवशील विश्वासी। नाम्न्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (८३)। सर्वलोकेश —सर्वस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्थितप्राणिगणस्य ईश प्रभु सर्व लोकेश (८४)। विभव —विगतो भव ससारो यस्य स विभव । अथवा विशिष्टो भवो जन्म यस्य स विभव (८५)। भुवनेश्वर —भुवनस्य त्रैलोक्यस्य ईश्वर प्रभु भुवनेश्वर (८६)।

त्रिजगद्वल्लभस्तुङ्गस्त्रिजगन्मङ्गलोदय ।
धर्मचक्रायुध सद्योजातस्त्रैलोक्यमङ्गल ॥७॥

त्रिजगद्वल्लभ —त्रिजगता वल्लभोऽभीष्ट त्रिजगद्वल्लभ (८७)। तुङ्ग —उन्नत विशिष्टफल दायक इत्यर्थ (८८)। उक्तञ्च—

तुंगात्फल यत्तदकिंचनाच्च प्राप्य समृद्धान्न धनेश्वरादे ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे नैकापि निर्याति धुनी पयोधे ॥

त्रिजगन्मङ्गलोदयः—त्रिजगता त्रिभुवनस्थितभव्यजीवाना मङ्गलाना पञ्चकल्याणानामुदय प्राप्ति र्यस्मादसौ त्रिजगन्मङ्गलोदय । तीर्थकरनामगोत्रयोर्भक्ताना दायक इत्यर्थ (८९)। धर्मचक्रायुध — धर्म एव चक्रम् पापारातिखण्डकत्वात् धर्मचक्रम्। धर्मचक्रमायुध शस्त्र यस्यासौ धर्मचक्रायुध (९०)। उक्तञ्च—

पापसरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समय यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥

सद्योजात —सद्यस्तत्काल स्वर्गात्प्रच्युत्य मातुर्गर्भे उत्पन्नत्वात्सद्योजात (९१)। उक्तञ्च—

सद्यो जातश्रुतिं बिभ्रत्स्वर्गावतरणेऽच्युत ।
त्वमद्य वासरौ वत्से कामनीयकमुद्वहन् ॥

त्रैलोक्यमङ्गल —त्रैलोक्यस्य मङ्ग सुख लाति ददाति मल वा गालयति इति त्रैलोक्यमङ्गल (९२)।

वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकर ।
महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायक ॥ ५१॥

वरद—वरमभीष्टं स्वर्गं मोक्षं च ददाति वरद (९३)। **अप्रतिघ**—अविद्यमान प्रतिघ क्रोधो यस्य स अप्रतिघ (९४)। **अच्छेद्य**—न छेत्तुं शक्य अच्छेद्य (९५)। **दृढीयान्**—अतिशयेन दृढ दृढीयान् (९६)।

पृथु मृदु दृढं चैव भृशं च कृशमेव च ।
परिपूर्वं वृढं[1] चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

अभयंकर—न भयंकरो रौद्र अभयंकर । अथवा अभयं निर्भयं करोतीति अभयंकर (९७)। **महाभाग**—महान् भागो राजदेय यस्य स महाभाग । अथवा महेन पूजया आसमन्ताद् भज्यते सेव्यते महाभाग (९८)। **निरौपम्य**—निर्गतमौपम्य यस्य स निरौपम्य (९९)। **धर्मसाम्राज्यनायक**—धर्म एव साम्राज्यं चक्रवर्तित्वम् तस्य नायक स्वामी धर्मसाम्राज्यनायक (१)।

नाथशतमेतदित्थं जिनगुणगणसारतो मया विवृतम् ।
सकलमलनाशहेतु भव्यजनैर्भावितं भवति ॥
विद्यानन्दिमुनीन्द्रात्संजात सकलसूरिगुणहेतु ।
श्री कुन्दकुन्दवंशो श्रुतसागरसूरिरिह जयतु ॥

इति नाथशतनामा पंचमोऽध्याय समाप्त ।

अथ षष्ठो ऽध्याय

योगी प्रव्यक्तनिर्वेद साम्यारोहणतत्पर ।
सामयिकी सामयिको निःप्रमादोऽप्रतिक्रम ॥ ५२ ॥

योगी—योगो ध्यानसामग्री अष्टाङ्गा विद्यते यस्य स योगी । कानि तानि अष्टाङ्गानि ? यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधय इति । तत्र यमो महाव्रतानि पञ्च । कानि तानि ? प्राणातिपातविरति १ अनृतविरति २ स्तेयविरति ३ ब्रह्मचर्य ४ आकिञ्चन्यम् ५ । रात्रिभुक्तिपरिहाराणुव्रत षष्ठम्। (१) कालमर्यादासहितं व्रत नियम (२)। (आसनं) उद्भासनं पद्मासनं च (३) प्राणायामो वायुरोध (४) विषयेभ्य पञ्चभ्य ऐन्द्रियेभ्यो मन पश्चात् आनीय ललाटपट्ट अर्हमक्षरोपरि स्थाप्यते प्रत्याहार (५) धारणा पञ्चविधा । सा का ? तिर्यग्लोक सर्वोऽपि क्षीरोदधि चिन्त्यते । तन्मध्ये जम्बूद्वीपः सहस्रदल कमलं चिन्त्यते तन्मध्ये महामेरु कर्णिका चिन्त्यते । तदुपरि पद्मासनेन अहमुपविष्ट इति चिन्त्यते । इति पार्थिवीधारणा कथ्यते । तत्र त्रिकोणमग्निमण्डल मध्ये रेफ-रकारैर्वेष्टितं कोणाग्रेषु स्वस्तिकत्रयसहितं चिन्त्यते। तन्मध्ये उपविष्टोऽहमिति चिन्त्यते । नाभौ षोडशदल कमलं चिन्त्यते । तत्कर्णिकाया अर्ह लिखित चिन्त्यते । तत्पत्रेषु षोडश स्वरा लिखिताश्चिन्त्यते । हृदयमध्ये अष्टदलं कमल अधोमुख स्थित अष्टकर्मसकलं

---

१ वृ ज दृढं ।

चिन्त्यते । सर्वरकारेभ्यो रकाग्निमण्डलस्थितेभ्योऽग्निज्वाला निर्गच्छन्त्यश्चिन्त्यते । ताभिः शरीरं दह्यते बहिः अभ्यन्तरे अर्हं अक्षरस्थितरेफात्पूर्वं धूमो निर्गच्छन् चिन्त्यते । तन्मध्यात्स्फुलिङ्गा निर्गच्छन्तश्चिन्त्यन्ते । ताभिश्छदलं कमलं दह्यते । इति शरीरं कर्माणि च भस्मभूतानि चिन्त्यन्ते । टङ्कोत्कीर्णस्फटिकबिम्बसदृश आत्मा स्थित इति चिन्त्यते । इति **आग्नेयीधारणा** । तदनन्तरं वायुमण्डलं चिन्त्यते तेन तद्भस्म उड्डाप्यते । इति **मारुतीधारणा** । तदनन्तरं वरुणमण्डलं चिन्त्यते तेनात्मा प्रक्षाल्यते । इति **वारुणी धारणा** । तदनन्तरं समवसरणमंडित आत्मा केवलज्ञानमंडितः कोटिभास्करतेजा निर्ग्रन्थादिभिर्द्वादशगणैर्नम्यमानश्चिन्त्यते । इति **तात्त्विकीधारणा** । एवं पञ्चविधा धारणा (६)। आर्त्तरौद्रपरिहारेण यत् धर्मशुक्लध्यानद्वयं क्रियते तद्ध्यानम् (७)। आत्मरूपे स्थीयते जलभृतघटवत् निश्चलेन भूयते स समाधिः (८)। एवमष्टाङ्गो योगो यस्य विद्यते स योगीत्युच्यते (१)। उक्तञ्च—

> तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम्।
> यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः॥

प्रव्यक्तनिर्वेदः—प्रव्यक्तः स्फुटो मुखकमलविकाससूचितो निर्वेदः संसारशरीरभोगवैराग्यं यस्य स प्रव्यक्तनिर्वेदः (२)। उक्तञ्च—

> भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ।
> तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टइ॥

साम्यारोहणतत्परः—साम्यस्य समाधेरारोहणे चटने तत्परः अनन्यवृत्तिः साम्यारोहणतत्परः (३)। उक्तञ्च—

> साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
> शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥

सामयिकी—सर्वजीवानां समतापरिणामः सामयिकम्। सम्यक् अयः समयः शुभावहो विधिः जैनधर्मः समय एव सामायिकम्। **स्वार्थे शैषिक इकण्**। सामयिकं सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं विद्यते यस्य स सामयिकी। अथवा सा लक्ष्मीर्भार्या यस्य स सामायः सर्वर्षि (र्द्धि) समूहः स विद्यते यस्य स सामायी। सामायी एव सामायिकः। **स्वार्थे कः**। सामायिका गणधरदेवसमूहा विद्यते यस्य स सामायिकी। **इन् प्रत्ययः** (४)। **सामायकः**—समये जैनधर्मे नियुक्तः सामयिकः। **इकण्** (५)। **निःप्रमादः**—निर्गतः प्रमादो यस्य स निःप्रमादः। (५)। उक्तञ्च—

> विकहा तह य कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणओ य।
> चदु चदु पणमेगेगे हुंति पमादा य पण्णरसा॥

अप्रतिक्रमः—न विद्यते प्रतिक्रमो यस्य स अप्रतिक्रमः। कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणम्। ते तु दोषाः स्वामिनो न विद्यन्ते तेन प्रतिक्रमणमपि न करोति ध्यान एव तिष्ठति तेन अप्रतिक्रमः (७)।

> **यमः प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासनः।**
> **प्राणायामचणः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः ॥७२॥**

यमः—यमो यावज्जीवनियमः, तद्योगात् स्वाम्यपि यमः, सर्वसावद्ययोगोपरतत्वात् (८)। **प्रधाननियमः**—प्रधानो मुख्यो नियमो यस्य स प्रधाननियमः (९)। उक्तञ्च—

---

१ द स्वार्थे शैषिकण्।

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।
नियम परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

स्वभ्यस्तपरमासन—सुष्ठु अतिशयेन अभ्यस्तमनुशीलितं आसनं पद्मासनं येन स स्वभ्यस्त परमासन । किञ्चिदूनकोटिपूर्वपर्यन्तं भगवान् खलु पद्मासनेनोपविष्टो हि धर्मोपदेश ददाति । जघन्येन त्रिंशद्वर्षपर्यन्तमेकासनेन पद्मासनेन तिष्ठति । मध्ये नानाविधकालपर्यन्तं ज्ञातव्यम् । अथवा सुष्ठु अति शयेन अभ्यस्ता भुक्ता या परमा परमलक्ष्मीस्ता अस्यति त्यजति नि क्रमणकाले य स स्वभ्यस्तपरमासनः (१) । **प्राणायामचण**—प्राणायामे कुम्भक पूरक रेचकादिलक्षणे वायुप्रचारे (चणो) वित्तो विचक्षण प्रवीण प्राणायामचण । वित्त चञ्चु चणौ इति तद्धित चणप्रत्यय (११) । तथा चोक्तम्—

मन्द मन्द क्षिपेद्वायु मन्द मन्द विनिक्षिपेत् ।
न क्वचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्रं विमुच्यते ॥

तथा चोक्तम्—

वासविणिग्गउ सासडा अबरि जत्थु विलाइ ।
तुट्टइ मोहु तडित्ति तहि मणु [1]अत्थवणह जाइ ॥

सिद्धप्रत्याहार—सिद्ध प्राप्तिमायात प्रत्याहार पूर्वोक्तनिर्विषय बीजाक्षरललाटस्थापन मनो यस्य स सिद्धप्रत्याहार (१२) । **जितेन्द्रिय** जितानि विषयसुखपराङ्मुखीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्रलक्षणानि येन स जितेन्द्रिय (१३) । निरुक्त तु—

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना ।
गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥

धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठ समाधिराट् ।
स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायक ॥७४॥

धारणाधीश्वर—धारणा पूर्वोक्ता पञ्चविधा तस्या अधीश्वर समर्थो धारणाधीश्वर । अथवा धारणा जीवाना स्वर्ग मोक्षयो स्थापना तस्या धाबुद्धिर्धारणाधी भव्यजीवाना स्वर्गे मोक्षे च स्थापना बुद्धिस्तस्या ईश्वरो रत्नत्रयदानसमर्थस्तद्विना तद्द्वयं न भवतीति कारणात् धारणाधीश्वर मोक्षहेतुरत्नत्रय बुद्धिदायक इत्यर्थ (१४) । इत्यनेन—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुख दु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

इति निरस्तम् । **धर्मध्याननिष्ठ**—धर्मध्याने आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणे न्यतिशयेन तिष्ठतीति धर्मध्याननिष्ठ (१५) । **समाधिराट्**—समाधिना शुक्लध्यान केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते समाधिराट् (१६) । **स्फुरत्समरसीभाव**—स्फुरन् अतिशयेन चित्त चमत्कुर्वन् समरसीभाव सर्वे जीवा शुद्धबुद्धकस्वभावा इति परिणाम समरसीभावो यस्य स स्फुरत्समरसीभाव । अथवा स्फुरन् आत्मनि समरसीभाव एकलोलीभावो यस्य स स्फुरत्समरसीभाव (१७) । **एकी**—एक एव अद्वितीयसकल्प विकल्प रहित आत्मा विद्यते यस्य स एकी । अथवा एके एकसदृशा आत्मानो जीवा विद्यन्ते यस्य स एकी (१८) । उक्तञ्च वेदान्ते—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥

---

१ इद भवणु ।

करणनायक—करणानां पञ्चानामिन्द्रियाणां मन षष्ठानां स्व-स्वविषयगमननिषेधे नायक समर्थ करणनायक । अथवा करणशब्देन परिणामा उच्यन्ते तेषां त्रिविधानामपि नायक प्रवर्तक । (१६) । तथा चोक्तं जिनसेनपादैः—

> करणत्रययाथात्म्यव्यक्तयेऽथवच्मि वै । ह्यान्यमूनि सूत्रार्थसज्ञानशैरनुक्रमात् ॥
> करणा परिणामा ये विभक्ता प्रथमे क्षणे । ते भवेयुर्द्वितीयेऽस्मिन् क्षणेऽन्ये च पृथग्विधा ॥
> द्वितीयक्षणसम्बन्धिपरिणामकदम्बकम् । तत्रान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात् ॥
> ततश्चाधःप्रवृत्ताख्यं करणं तन्निरुच्यते । अपूर्वकरणे नवं ते ह्यपूर्वाः प्रतिक्षणम् ॥
> करणे त्वनिवृत्त्याख्ये न निवृत्तिरिहाङ्गिनाम् । परिणामैर्मिथस्ते हि समा भावा प्रतिक्षणम् ॥
> तत्राद्य करणे नास्ति स्थितिघातायुपक्रम । ह्रापयन् केवल शुद्धयन् बन्ध स्थित्यनुभागयो ॥
> अपूर्वकरणेऽप्येवं किन्तु स्थित्यनुभागयो । हन्त्यादश्च गुणश्रेण्यां कुर्वन् संक्रमनिर्जरे ॥
> तृतीये करणेऽप्येव घटमान पटिष्ठधी । अकृत्वान्तरमुच्छिन्द्यात् कर्मारीन् षोडशाष्ट च ॥
> गत्योरथाद्ययोर्नामप्रकृतीर्नियतोदया । स्त्यानगृद्धित्रिकं चास्येद् घातेनकेन योगिराट् ॥
> ततोऽष्टौ च कषायांस्तान् हन्यादध्यात्मतत्त्ववित् । पुन कृतान्तर शेषा प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥
> अश्वकर्णक्रिया कृष्टिकरणादिश्च यो विधि । सोऽत्र वाच्यस्तत सूक्ष्मसम्परायत्वसंश्रय ॥
> सूक्ष्मीकृत ततो लोभं जयन् मोहं व्यजेष्ट स । कर्शितो ह्यरिरल्पोऽपि सुजयो विजिगीषुणा[1][2] ॥

एवमध प्रवृत्तकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणलक्षणत्रय करणास्तेषां नायक प्रवर्तक करणनायक इत्युच्यते (१६) ।

> **निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्र ऋषि साधुर्यतिर्मुनि ।**
> **महर्षि साधुधौरेयो यतिनाथो मुनीश्वर ॥७५॥**

निर्ग्रन्थनाथ—निर्ग्रन्थानां चतुर्विधमुनीनां नाथो निर्ग्रन्थनाथ । उक्तञ्च—

> निर्ग्रन्था शुद्धमूलोत्तरगुणमणिभिर्येऽनगारा इतीयु
> संज्ञां ब्रह्मादिधर्मैर्मुनय इति च ये बुद्धिलब्ध्यादिसिद्ध ।
> श्रेण्योरारोहणार्थं यतय इति समग्रतराध्यक्षबोध
> यें मुन्याख्यां च सर्वान् प्रमुमह इह तानर्घयामो मुमुक्षून् ॥

निर्ग्रन्थनाथ इति द्वादशगुणस्थानवर्ती । ब्रह्मादिसिद्धरिति कोऽर्थ [1] बुद्धिलब्ध्या औषधलब्ध्या[1] च ब्रह्मर्षि । विक्रियालब्ध्या अक्षीणमहानसालयलब्ध्या च राजर्षि । वियद्गमनलब्ध्या देवर्षि । केवलज्ञानवान् परमर्षि (२) । उक्तञ्च—

> देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनि स्यादृषि प्रोद्गतर्द्धि
> रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि[4] यतिरनगारोऽपर साधुरुक्त ।
> राजा ब्रह्मा च देव परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति
> प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥

योगीन्द्र—योगिनां ध्यानिनामिन्द्र स्वामी योगीन्द्र (२१) । **ऋषि**—रिषी[5] गती । ऋषति गच्छति बुद्धिऋद्धिं औषधर्द्धिं विक्रियर्द्धिं अक्षीणमहानसालयर्द्धिं वियद्गमनर्द्धिं केवलज्ञानर्द्धिं प्राप्नोतीति ऋषि । गनाम्युपधा त्कि । अथवा रिष धातु आदान-संवरणयो (२२) ।

---

१ द लक्ष्मीकृत ज लक्षीकृतं । २ महापुराण पर्व २ श्लोक २४९ २६
३ ज भद्र या । ४ ज जनयति । ५ द ऋषि ।

देवयक्षोरगरक्षोविद्याधरविमानुषकैश्रित ।
मान्यत्वाद्ज्ञानविज्ञानैर्महद्भि कीर्त्यते मुनि ॥

साधु—[1]साधयति रत्नत्रयमिति साधु । कृ वा पा जि मि स्वदि साध्य सूदवधि जनि चरि चटिभ्य उण् । (२३) । **यति**—यतते यत्नं करोति रत्नत्रये इति यति । सर्वधातुभ्य इ (२४) । निरुक्त तु—

य पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् ॥

मुनि—मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचर जगदिति मुनि । मन्यते किच्च उच्च (२५) । **महर्षि**—महांश्चासौ ऋषि ऋद्धिसम्पन्न महर्षि (२६) । उक्तञ्च—

विसिरद्धो रिद्धि[2]पत्तया मुणियो पच्चक्खणाणिणो णेया ।
जइणो उवसमखवया सेसा अणगारया भणिया ॥

साधुधौरेय—साधना रत्नत्रयसाधकानां धुरि नियुक्त साधुधौरेय । ढग्भ्यो धुरो ढेयण् (२७) । **यतिनाथ**—यतीना निःकषायाणां नाथः स्वामी यतिनाथ (२८) । तथा च लौकिक वाक्यम्—

पक्षिणां काकचाण्डाल पशुचाण्डालगर्दभ ।
यतीनां कोपचाण्डाल सर्वचाण्डालनिन्दक ॥

मुनीश्वर—मुनीना प्रत्यक्षज्ञानिनामीश्वरो मुनीश्वर (२९) ।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती ।
महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादम ॥७६॥

महामुनि—महांश्चासौ मुनि प्रत्यक्षज्ञानी महामुनि (३०) । **महामौनी**—मुनिषु ज्ञानिषु भवं मौनम् । मौनं विद्यते यस्य स मौनी । महांश्चासौ मौनी महामौनी । वर्षसहस्रपर्यन्तं खल्वादिनाथो न धर्ममुपदिदेश । ईदृश स्वामी महामौनी भण्यते (३१) । **महाध्यानी**—ध्यान धर्मं शुक्लध्यान द्वय विद्यते यस्य स ध्यानी । महांश्चासौ ध्यानी महाध्यानी (३२) । **महाव्रती**—महाव्रतानि प्राणातिपातपरिहारानृतवचनपरित्यागाचौर्यव्रतब्रह्मचर्याकिंचन्य रजनीभोजन परिहारलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स व्रती । महान् इन्द्रादीनां पूज्यो व्रती महाव्रती (३३) । **महाक्षम**—महती अनन्यसाधारणा क्षमा प्रशमो यस्य स महाक्षम (३४) । उक्तञ्च—

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृत ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥

महाशील—महान्ति अष्टादशसहस्रगणनानि शीलानि व्रतरक्षणोपाया यस्य स महाशील । कानि तानि अष्टादशशीलसहस्राणीति चेदुच्यते—**आशाधरमूलाचारग्रन्थे** चतुर्थाध्याये एकसप्तत्यधिकशततमे श्लोकेऽय विचार ।

शील व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम् ।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं यमांश्च ॥
गुप्ता संयमविकल्पा, शुद्धयः कायसंयमा ।
सेव्याऽहिंसाऽऽकंपितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जना ॥

---

[1] प्रतिषु साध्नाति' । [2] स संपत्ता

शुभयोगवृत्ति उपैतु–शुभमनोवचनकाययोगा ३। इतर इति उपैतु–अशुभमनोवचनकायान् त्रीन् शुभमनसा हन्तु इति त्रीणि। अशुभमनोवचनकायान् शुभवचसा हन्तु इति षट्। अशुभमनोवचनकायान् शुभकायेन हन्तु इति नव। एते नव संज्ञाभिर्गुणिता षट्त्रिंशत्। ते इन्द्रियै सह गुणिता अशीत्यधिकं शतं १८ । क्षमादियममलात्ययम् पृथ्वी अप् तेजो वायु वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञिसंज्ञिपंचेन्द्रिय इति दशभिर्गुणिता अष्टादशशतानि भवन्ति १८ । क्षमादीश्च–उत्तमक्षमादिभिर्दशभिर्गुणिता अष्टादश सहस्राणि भवन्ति १८ । अथवा अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राणि चैतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति १७२८ । विंशत्यधिकसप्तशतानि अचैतन्यसम्बन्धीनि ७२ । देवी मानुषी तिरश्चीति तिस्र कृतकारितानुमतगुणिता नव ६। मनोवचनकायगुणिता सप्तविंशति २७। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैर्गुणिता पञ्चत्रिंशदधिकं शत १३५। द्रव्यभावगुणिता सप्तत्यधिके द्वे शते २७ । संज्ञाभिर्गुणिता अशीत्यधिक सहस्र १ ८ । अनन्तानुबन्धि अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान सज्ज्वलनषोडशभिर्गुणिता अशीत्यधिकद्विशतसप्तदशसहस्राणि भवन्ति १७२८ । इति चेतनसम्बन्धिभेदा । अचेतनकृतभेदा कथ्यन्ते—काष्ठ पाषाण लेपकृता स्त्रिय मन कायकृतगुणिता षट। कृत कारितानुमतगुणिता अष्टादश १८। स्पर्शादिपंचगुणिता नवति ६ । द्रव्य-भावगुणिता अशीत्यग्रं शतं १८ । कषायैश्चतुर्भिर्गुणिता विंशत्यधिकानि सप्तशतानि ७२ । एकत्र १८ । अथ गुणा कथ्यन्ते ८४ ।

हिंसा[1]ऽनृतं[2] तथा स्तेय[3] मैथुनं च[4] परिग्रह[5] ।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भय[11] मप्यरती[1] रति [1] ॥
मनोवाक्कायदुष्टत्वं[16] मिथ्यात्वं[1] सप्रमादकम् ।
पिशुनत्वं[1] तथाऽज्ञानमक्षाणां चाऽप्यनिग्रह[21] ॥

तेषां वर्जनानि एकविंशति । २१ अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार अनाचारैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीति ८४ । दशकाय-संयमैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि ८४ । ते आकम्पितादिभिर्दशभिर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि ८४ । दशधर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षा ८४ । आकम्पितादीनां दशानां गाथा यथा—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥

दशकायसंयमा के ?

पञ्चस्थावररक्षा विकलत्रयरक्षा पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञी ।
तद्रक्षा इति दश दश संयमसंयतान वन्दे ॥

अथवा—महत् नवविधं शीलं यस्य स महाशील । के ते नवविधा ? मनोवचनकायै कृतकारितानुमोदैर्नव भवन्ति । अथवा—

इत्थिविसयाहिलासो अंगविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥
सक्कारपुरक्कारो[2] अदीदसुमरणमणागदहिलासो ।
इट्ठविसयसेवा वि य नवभेदमिदं अबंभ तु ॥

एतानि नव विपरीतानि नवविधब्रह्मचर्याणि भवन्ति । तानि महान्ति शीलानि यस्य स महाशील (३५)।

महाशान्तः—महांश्चासौ शान्तो रागद्वेषरहितः कर्ममलकलंकरहितो वा महाशान्तः । अथवा महत् वा सुष्ठु शान्तः स्वभावो यस्य स महाशान्तः । अथवा महत्या आशाया वांछाया अन्तो विनाशो यस्य स महाशान्तः (३६) । उक्तञ्च—

> रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ।
> तावेव यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ॥

अन्यच्च—

> जं मुणि लहइ अणंतु सुहु णियअप्पा झायंतु ।
> तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥

अन्यच्च—

> आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
> कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

महादम—महान् दमस्तपःक्लेशसहिष्णुता यस्य स महादमः । अथवा महान् सर्वप्राणिगणरक्षालक्षणो दो दानं महादमः । महादे महादाने मा लक्ष्मीर्यस्य स महादमः (३७) । तथा चोक्तं—**विश्वशम्भुमुनिप्रणीतायामेकाक्षरनाममालायाम्**—

> दो दाने पूजने छेदे दाने शौण्डे च पालके ।
> देवे दीप्तौ दुराधर्षे दो भुजे दीर्घदेहके ॥
> दयायां दमने दीने दंदशूकेऽपि द स्मृतः ।
> बद्धे च बन्धने बोधे बाले बीजे बलोद्धते ॥
> विद्रोषेऽपि पुमानेष चालने[१] चीवरे चरे ।

> **निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वजः ।**
> **ब्रह्मयोनिः स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित् ॥७७॥**

निर्लेप—निर्गतो निर्नष्टो लेपः पापं कर्ममलकलंको यस्य स निर्लेपः । अथवा निर्गतो लेप आहारो यस्य स निर्लेपः (३८) । उक्तञ्च—

> श्वेतद्रव्येऽशने चापि लेपने लेप उच्यते ॥

निर्भ्रमस्वान्त—निर्भ्रमं तत्त्वे भ्रान्तिरहितं स्वान्तं मनो रथो यस्य स निर्भ्रमस्वान्तः संशयविमोहविभ्रमरहिततत्त्वप्रकाशक इत्यर्थः (३९) । **धर्माध्यक्ष**—धर्मे चारित्रे अध्यक्षः अधिकृतः अधिकारी नियोगवान् नियुक्तो न कमपि धर्मविध्वंसं कर्तुं ददाति धर्माध्यक्षः । अथवा धर्मस्य आधिश्चिन्ता धर्माधिः । धर्माधौ धर्मचिन्तायां अक्षो ज्ञानं आत्मा वा यस्य स धर्माध्यक्षः । उक्तञ्च—

> आशाबन्धक चिन्तासु व्यसनेषु तथैव च ।
> अधिष्ठाने च विद्वद्भिराधिशब्दो नरि स्मृतः ॥

अथवा धर्मादौ धर्मचिन्तायामक्षाणीन्द्रियाणि यस्य स धर्माध्यक्षः (४०) । उक्तञ्च—

> अक्षमिन्द्रियमित्युक्तं तुषकं सौवर्चलं तथा ।
> अक्षो रावणपुत्रः स्यात् आत्मा ज्ञानं कर्षश्च सूचिका ॥
> पाशकं शकटं कीलो रथस्य च बिभीतकः ।
> व्यवहारो नयार्थेषु पुस्यं परिकीर्तितः ॥

---

[१] द चलने ।

दयाध्वज —दया ध्वजा पताका यस्य स दयाध्वज । अथवा दयाया अध्वनि मार्गे जायते योगिनां प्रत्यक्षो भवतीति दयाध्वज । अथवा दया ध्वजा लाञ्छनं यस्य स दयाध्वज (४१) । **ब्रह्मयोनि** — ब्रह्मणस्तपसो ज्ञानस्यात्मनो मोक्षस्य चारित्रस्य वा योनिरुत्पत्तिस्थान ब्रह्मयोनि (४२) । उक्तञ्च—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्मे ति गी प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥

स्वयंबुद्ध —स्वय आत्मना गुरुमन्तरेण बुद्धो निर्वेद प्राप्त स्वयबुद्ध (४३) । उक्तञ्च—

निच्छिरा तवतवा निप्पडिलोहा य अवहियारवी य ।
णिग्गुरुणा अरहंता णिक्कम्मा होंति सिद्धा य ॥

ब्रह्मज्ञ —ब्रह्माणमात्मान ज्ञानं तपश्चारित्र मोक्ष च जानातीति ब्रह्मज्ञ (४४) । **ब्रह्मतत्त्ववित्** — ब्रह्मणो मोक्षस्य ज्ञानस्य तपसश्चारित्रस्य च तत्त्व स्वरूप हृदय मर्म वेत्तीति जानातीति ब्रह्मतत्त्ववित् (४५) ।

पूतात्मा स्नातको दान्तो भदन्तो वीतमत्सर ।
धर्मवृक्षायुधोऽक्षोभ्य प्रपूतात्मा मृतोद्भव ॥७ ॥

पूतात्मा—पूत पवित्र कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स पूतात्मा (४६) । **स्नातक** — स्नात कर्ममलकलकरहित द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरहितत्वात् पूत प्रक्षालित क आत्मा यस्य स स्नातक (४७) । उक्तञ्च—

पुलाक सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो भव्यबोधक ।
कुशीले स्तोकचारित्र निर्ग्रन्थो ग्रन्थहारक ॥
स्नातक केवलज्ञानी शेषा सर्वे तपोधना ।

दान्तः—दान्त तप क्लेशसह । अथवा दो दानं अभयदान अन्त स्वभावो यस्य स दान्त (४८) । **भदन्त** —भदन्त इन्द्र चन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्रादीना पूज्यपर्यायत्वाद्भदन्त । (४९) । **वीतमत्सर** —वीतो विनष्टो मत्सर परेषा शुभकर्मद्वेषो यस्य स वीतमत्सर । अजेर्वी (५०) । उक्तञ्च गुणभद्रदेवै –

उद्युक्तस्त्व तपस्यस्यधिकमभिभवस्त्वध्यगच्छन् कषाया
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लक्ष्यमन्यै ।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिवमनाग्निम्नदेशेष्ववश्य
मात्सर्यन्ते स्वतुल्यभवति परवशाद्दुर्जय तज्जहीहि ॥

धर्मवृक्षायुध—धर्म एव वृक्ष स्वर्ग मोक्षफलप्रदायित्वात् । धर्मवृक्ष स एव आयुध प्रहरणं, कर्मशत्रुनिपातनत्वात् । धर्मवृक्ष आयुध यस्य स धर्मवृक्षायुध । (५१) । **अक्षोभ्य** —न क्षोभयितु चारित्राच्चालयितु शक्य अक्षोभ्य । हेलाविधि सति स्वराद कारितस्यानामिव विकरणे । इनो लोपे रूपमिदम् । अथवा अक्षेण केवलज्ञानेन उभ्यते ऊभ्यते पूर्यते[१] अक्षोभ्य (५२) । **प्रपूतात्मा**—प्रकर्षेण पूतःपवित्र आत्मा यस्य स प्रपूतात्मा । अथवा प्रपुनाति प्रकर्षेण पवित्रयति भव्यजीवान् इति प्रभू पवित्र कारकः सिद्धपरमेष्ठी । तस्य ता लक्ष्मीरनन्तचतुष्टयं तथा उपलक्षित आत्मा स्वभावो यस्य स प्रपूतात्मा सिद्ध स्वरूप इत्यर्थ (५३) । **अमृतोद्भव** —अविद्यमानं मृतं मरण यत्र तत् अमृतं मोक्ष तस्य उद्भव उत्प त्तिर्भव्याना यस्मादसावमृतोद्भव । अथवा मृतं मरणम्, उद्भवो जन्म । मृतं च उद्भवश्च मृतोद्भवौ । न विद्येते मृतोद्भवौ मरण जन्मनी यस्य स अमृतोद्भव (५४) ।

---

१ द ब्रह्म । २ ज उभ्यते इति पाठो नास्ति । ३ ज पूज्यते ।

मन्त्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतन्त्रो ब्रह्मसम्भवः ।
सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥ ७१ ॥

मंत्रमूर्तिः—मंत्र णमो अरहंताण इति सप्ताक्षरो मंत्रः, स एव मूर्तिः स्वरूप यस्य स मंत्रमूर्तिः। विप्रास्तु—ईषेत्वोर्जित्वा वायव स्थ देवो व सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे इत्यादि चत्वारिंशदध्यायान् मन्त्र भणन्ति। स इदग्विधो मन्त्र पापवेदाशो[1] मूर्तिः काठिन्य हिंसाकर्महेतुत्वात् निर्दयत्व यस्य मते स मन्त्रमूर्तिः। अथवा मन्त्र स्तुति स मूर्तिः यस्य स मन्त्रमूर्तिः। मन्त्र स्तुतिं कुर्वन्तो भगवन्तं प्रत्यक्ष पश्यन्तीति कारणात् मन्त्रमूर्तिः। उक्तञ्च—

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुंबितम् ।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ॥
नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनस सुधिय प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षय ॥

अथवा मन्त्रेण गुप्तभाषणेन ताल्वोष्ठाद्यचलनेनोपलक्षिता मूर्तिः शरीर यस्य स मन्त्रमूर्तिः (५५)। **स्वसौम्यात्मा**—स्वेन आत्मना स्वयमेव परोपदेश विनैव सौम्योऽक्रूर आत्मा स्वभावो यस्य स स्वसौम्यात्मा (५६)। **स्वतन्त्र**—न पराधीन स्व आत्मा तन्त्र शरीर यस्य। स्व आत्मा तन्त्र इति कर्तव्यता यस्य। स्व आत्मा इहलोक परलोकलक्षणद्व्यर्थसाधको यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्र करण यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्र शास्त्र यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्र परिच्छेदो यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्रं औषध यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्रं कुटुम्बकृत्य यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्र प्रधानो यस्य स स्वतन्त्र। स्व आत्मा तन्त्र सिद्धान्तो यस्य स स्वतन्त्र (५७)। उक्तञ्च—

इति कर्तव्यतायां च शरीरे द्व्यर्थसाधके ।
श्रुतिशाखान्तरे राष्ट्र कुटुम्बकृति चौषधे[2] ॥
प्रधाने च परिच्छदे करणे च परिच्छदे ।
तंतुवाने च शास्त्र च सिद्धान्ते तन्त्रमिष्यते ॥

ब्रह्मसम्भव—ब्रह्मण आत्मनश्चारित्रस्य ज्ञानस्य मोक्षस्य च सम्भव उत्पत्तिर्यस्मात् स ब्रह्मसम्भव। अथवा ब्रह्मण क्षत्रियात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स ब्रह्मसम्भव। अथवा ब्रह्मा धर्मसृष्टिकारक स चासौ स समीचीनो भव पापसृष्टिप्रलयकारक ब्रह्मसम्भव (५८)। **सुप्रसन्न**—सुष्ठु अतिशयेन प्रसन्न प्रहसितवदन स्वर्गमोक्षवरदायको वा सुप्रसन्न (५९)। **गुणाम्भोधि**—गुणाना अनन्तकेवलज्ञान अनन्तदर्शन अनन्त वीर्य अनन्तसौख्य सम्यक्त्व अस्तित्व वस्तुत्व प्रमाणत्व प्रमेयत्व चतन्यादीना अनन्तगुणाना अम्भोधि समुद्र गुणाम्भोधि। अथवा गुणानां चतुरशीतिलक्षाणा अम्भोधि गुणाम्भोधि। के ते चतुरशीतिलक्षगुणा ?

हिंसाऽनृतं तथा स्तेय मैथुनं च परिग्रह ।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरती रति ॥
मनोवाक्कायदुष्टत्वं मिथ्यात्वं सप्रमादकम् ।
पिशुनत्वं तथाऽज्ञानमक्षाणां चाप्यनिग्रह ॥

एतेषामेकविंशतेर्वर्जनानि एकविंशतिगुणा भवन्ति। ते च अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार अनाचारैश्च चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिर्भवन्ति। उक्तञ्च—

१ द् वेशो । २ द् चौषधे । अ स चौषधि ।

मनस शुद्धिविनाशोऽतिक्रम इति च व्यतिक्रमो ज्ञेय ।
शीलवृतेश्च विलंघनमतिचारो विषयवर्तनं चैव ॥
विषयेष्वतिसक्तिरिय मोक्षोऽनाचार इह महामतिभि ।
इति चत्वार सुधिया विवर्जनीया गुणग्राही ॥

ते च चतुरशीतिगुणा दशकायसंयमैगु णिताश्चतुरशीतिशतानि भवन्ति। ते चाकंपिताद्यभावदशकेन गुणिताश्चतुरशीतिसहस्रा भवन्ति । ते च दशधर्मैगु णिताश्चतुरशीतिलक्षा भवन्ति (६)। **पुण्यापुण्य निरोधक** — पुण्य च शुभकम अपुण्यं च पापकर्म सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् अतोऽन्यत्पापमिति वचनात् । पुण्यापुण्ययोर्निरोधको निषेधकारक पुण्यापुण्यनिरोधक । अवरावसरे भगवति न पुण्यमास्रवति न च पापमास्रवति द्वयोरपि निषेधक इत्यर्थ (६१)।

सुसवृत सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लव ।
महोदर्को महोपायो जगदेकपितामह ॥८ ॥

सुसंवृत – सुष्ठ अतिशयेन सवृणोति स्म सुसवृत अतिशयवद्विशिष्टसवरयुक्त इत्यर्थ । उक्तञ्च

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसवरविसेसा ॥

अस्यायमथ — पञ्च महाव्रतानि पञ्च समितय तिस्रो गुप्तय दशलाक्षणिको धर्म द्वादशानुप्रेक्षा द्वाविंशति परीषहजय सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यातलक्षण पञ्चविध चारित्रम् । एते प्रत्येक बहुभेदा भावसवरविशेषा ज्ञातव्या (६२)। **सुगुप्तात्मा**—सुष्ठु अतिशयेन गुप्त आस्रवविशेषाणामगम्य आत्मा टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव आत्मा जीवो यस्य स सुगुप्तात्मा तिसृभिगु प्तिभि सवृतत्वात् (६३)। **सिद्धात्मा**—सिद्धो हस्तप्राप्तिमायात आत्मा जीवा यस्य स सिद्धात्मा । अथवा सिद्धस्त्रिभुवनविख्यात पृथिव्यादिभूतजनितत्वादिमिथ्यादृष्टितत्त्वरहित आत्मा जीवरूप यस्य स सिद्धात्मा । अथवा सिद्धो मुक्त आत्मा यस्य स सिद्धात्मा (६४)। **निरुपप्लव** —निगता निनष्टो मूलादुन्मूलित समूलकाष कषित उपप्लव उत्पात उपसर्गो यस्य स निरुपप्लव तपोविघ्नरहित षडूर्मिदूर । (६५)। उक्तञ्च—

प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्व मनस शोकमोहने ।
जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहित शिव ॥

महोदर्क —महान् सवकर्मनिर्मोक्षलक्षणोऽनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणश्च उदक उत्तरफल यस्य स महोदर्क । (६६)। **महोपाय** —महान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोलक्षण उपायो मोक्षस्य यस्य स महोपाय (६७)। **जगदेकपितामह** —जगतामधऊर्ध्वमध्यलोकस्थितभव्यलोकानामेकोऽद्वितीय पितामह जनकजनको हितकारकत्वात् जगदेकपितामह (६८)।

महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशांकुश शुचि ।
अरिजय सदायोग सदाभोग सदाधृति ॥८१॥

महाकारुणिक –करुणायां सर्वजीवदयायां नियुक्त कारुणिक । महाश्चासौ कारुणिको महाकारुणिकः सर्व दैव मरणनिषेधक इत्यर्थ (६९)। **गुण्य** —गुणेषु पूर्वोक्तेषु चतुरशीतिलक्षसंख्येषु नियुक्तः, साधुर्वा गुण्य (७)। **महाक्लेशाकुशः**—महान् तप संयमपरीषहसहनादिलक्षणो योऽसौ क्लेश कृच्छ्रं स

एवांकुश ऋषिर्मेलगजेन्द्रोन्मार्गनिषेधकारकत्वात् महाङ्कुशांकुश (७१)। शुचि — परमब्रह्मचर्यपालनेन निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मपवित्रतीर्थनिर्मलभावनाजलप्रक्षालितान्तरगशरीरत्वाच्छुचि परमपवित्र । उक्तञ्च—

आस्माऽशुद्धिकरैर्यस्य न संग कर्मदुर्जनै ।
स पुमान् शुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तक ॥

अथवा कर्माष्टकाष्ठसमुच्चयभस्मभावकरणशक्तित्वात् शुचिरग्निमूर्त्ति । जन्मप्रभृति मलमूत्ररहितत्वाद्वा शुचि । अभ्यन्तरपापमलप्रक्षालनसमर्थनिर्लोभत्वजलस्नातत्वाद्वा शुचि (७२)। **अरिंजय** — अरीन् अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहमहाशत्रून् जयति निर्मूलकाष कषति अरिंजय । (७३)। **सदायोग** — सदा सर्वकाल योगो आसवारमल घलाभलक्षण परमशुक्लध्यानं यस्य स सदायोग । (७४)। **सदाभोग** — सदा सर्वकालं भोगो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मैकलोलीभावलक्षणपरमानन्दामृतरसास्वादस्वभावो भोगो यस्य स सदाभोग । अथवा सन् समीचीन आभोगो मनस्कारो मनोव्यापारो यस्य स सदाभोग (७५)। उक्तञ्च—

भुञ्जानोऽप्युदय चाहन् अनैर्भोगीव लक्ष्यते ।
बुधर्योगीव तत्वं तु जानाति त्वादृगेव ते ॥

सदाधृति – सदा सर्वकाल धृति सतोषो यस्य स सदाधृति , दिवा रात्रौ च सतोषवानित्यर्थ । रात्रिभोजनपरिहारपञ्चभावनायुक्त इति भाव । उक्तञ्च—

धिदिवतो समभुत्तो झाणजोगे परिट्ठिदो ।
परीसहाण उरदितो उत्तम वदमस्सिदो ॥

धृतिरित्युपलक्षण एकत्वतपोभावनानाम् (७६)।

परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशी शान्तनायक ।
अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्त्तिरधर्मधक् ॥८२॥

परमौदासिता—परम उत्कृष्ट उदासिता उदास्ते इत्येवशील उदासिता । तृन । उत्कृष्टौदासीन शत्रु मित्रतृणकाचनादिसमानचित्तो मध्यस्थपरिणाम इत्यथ (७७)। उक्तञ्च—

दोषानाकृष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
तत्सर्वस्व गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवित स्थानमन्य ।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशि
मत्तो मा भूदसौख्य कथमपि भविन कस्यचित्पूत्करोमि ॥

अनाश्वान्—न आश न भुक्तवान् अनाश्वान् । क्वंसुकानौ परोक्षावच्च ओषवत्योश्च कृति नेट । अनाश्वान् अनाश्वासौ अनाश्वास इत्यादिरूपाणि भवन्ति । अनाशुषा अनाश्वद्भ्यामित्यादि च (७८)। उक्तञ्च **निरुक्तशास्त्र**—

योऽक्षस्तेनेषु विश्वस्त शाश्वते पथि निष्ठित ।
समस्तसत्वविश्वास्य सोऽनाश्वानिह गीयते ॥

सत्याशी —सत्सु भव्यजीवेषु योग्या सत्या, सत्सु नियोज्या सत्या, सद्भ्यो हिता वा सत्या । सत्या सफला वा आशी अक्षयं दानमस्तु इत्यादिरूपा आशीराशीर्वादो यस्य स सत्याशी । ये केचन मुनयस्तेषा माशीर्वादातुर्लाभान्तरायवशात् कदाचिन्न फलति जन्मान्तरे तु फलत्येव । भगवतस्त्वाशीरिहलोके परलोके च

१ द् वर्ग ।

फलत्येव तेन भगवान् सत्याशीरुच्यते (७९) । **शान्तनायक** — शान्ताना रागद्वेषमोहरहिताना नायकः स्वामी, शान्त मोक्षनगर प्रापको वा शान्तनायक । अथवा शान्तोऽक्रूर स चासौ नायकः स्वामी शान्त नायक । अथवा शान्त सर्वकर्मरहितो मोक्षस्तस्य नायक स्वामी शान्तनायक । अथवा शस्य सुखस्य अन्तो विनाशो यस्मादसौ शान्त ससार तस्य न आय आगमनं यस्य स शान्तनायक । **न आट नपादिति**[२] नस्य स्थिति (८) । **अपूर्ववैद्य** — विद्या मंत्रौषधलक्षणा विद्यते यस्य स वैद्य । **प्रज्ञादित्वात्** णप्रत्यय । स वैद्यो लोकानां व्याधिचिकित्सने किमपि फलमभिलषति तेन स वैद्य सर्वेषामपि सपूर्वो दृष्ट श्रुतश्च विद्यते । भगवास्तु सर्वेषा जन्मप्रभृत्यपि व्याधितानां प्राणिना नाममात्रेणापि व्याधिविनाश करोति कुष्ठिनामपि शरीर सुवर्णशलाकासदृश विदधाति जन्मजरामरण च मूलादुन्मूलयति तेन भगवान् अपूर्वश्चासौ वैद्य अपूर्ववैद्य (८१) ।

> कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ।
> अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ॥

इत्यष्टाङ्गचिकित्साप्रवीणो **वाग्भटो** वैद्यो यदाह—

> रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
> औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

अथवा पूर्वाणि उत्पादादिचतुर्दशपूर्वाणि विद्या श्रुतज्ञान सा विद्यते यस्य स पूर्ववैद्य श्रुतकेवली । न पूर्ववेद्य अपूर्ववैद्य केवलज्ञानित्वादश्रुत इत्यर्थ । अथवा अपूर्वा आससारमप्राप्ता विद्या केवलज्ञान विद्यते यस्य स अपूर्व वैद्य । अथवा पूर्वभवे एकादशाङ्गानि पठित्वा तीर्थकरनाम बद्ध्वा अपूर्वविद्याया भव अपूर्ववैद्य (७१) । **योगज्ञ** — योगं धर्मशुक्लध्यानद्वय जानात्यनुभवति योगज्ञ । योग मनोवचनकाय व्यापार शुभमशुभ च जानाति योगज्ञ । अन्यादयो हि ग्राम्ययतय किल योगान् औषधप्रयोगान् जानन्ति पापसूत्र प्रवृत्तत्वात्तेषामशुभमनोवाक्काययोगैः ससारपर्यटनहेतुभि पापमास्रवति । भगवतस्तु शुभध्यानद्वये नात्मनि प्रवृत्तत्वात्कर्मक्षयो भवति तेन भगवानेव योगज्ञो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितत्वात् भगवानेव योगज्ञ मोक्षमार्गप्रवृत्तत्वात् (८२) । उक्तञ्च —**वीरनन्दिशिष्य पद्मनन्दिपाद सद्बोधचन्द्रोदये**—

> योगतो हि लभते विबन्धन योगतोऽपि खलु मुच्यते नर ।
> योगवर्त्म विषम गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिल मुमुक्षुणा ॥

तथा **चोक्त**—

> संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
> तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्व त्यजाम्यहम् ॥

तथा च **सोमदेव** —

> वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसङ्ग स्थिरचित्तता ।
> ऊर्मिस्मयसहत्व च पञ्च योगस्य हेतव ॥
> प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनस शोकमोहने ।
> जन्ममृत्यू शरीरस्य षड्ूर्मि रहित शिव ॥

धर्ममूर्तिः— धर्मस्य चारित्रस्य मूर्तिराकारो धर्ममूर्ति । धर्मस्य न्यायस्य मूर्ति धर्ममूर्ति । धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य मूर्तिर्धर्ममूर्ति । धर्मस्य पुण्यस्य मूर्ति धर्ममूर्ति । ये भगवन्त विराधयन्ति तेषां धर्मस्य यमस्य कालस्य कृतान्तस्येति यावत् मूर्तिः, तेषामनन्तमरणहेतुत्वात् धर्ममूर्ति । उक्तञ्च—

२ द नमाद्विति ।

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥

अथवा धर्मस्य गतिलक्षणस्य मूर्त्तिरुपमा यस्य स धर्ममूर्त्ति अवाङ्मयस्वरूपत्वात् । तदुपलक्षणमाका शादेरपि मूर्त्ति (८३)। उक्तञ्च—

अहिंसादौ तथा न्याये तथा पञ्चदशेऽहनि ।
आचारोपमयो पुण्ये स्वभावे च शरासने ॥
सत्त्यागे चोपनिषदि प्रोक्तो धर्मो यमे नरि ।
दानादिके नपुंस्येतद्बुधाद्गार्थेषु धीधनै ॥

अधर्मधक्—अधर्म हिंसादिलक्षण पाप स्वस्य परेषा च दहति भस्मीकरोति अधर्मधक् (८४)।

ब्रह्मेट् महाब्रह्मपतिः कृतकृत्य कृतक्रतु ।
गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रय ॥८३॥

ब्रह्मेट्—ब्रह्मणो ज्ञानस्य वृ तस्य मोक्षस्य च ईट् स्वामी ब्रह्मेट् (८५)। **महाब्रह्मपतिः**—ब्रह्मणां मतिज्ञानादीना चतुर्णा उपरि वर्तमान पञ्चम केवलज्ञान महाब्रह्मोच्यते तस्य पति स्वामी महाब्रह्मपति । अथवा महाब्रह्मा सिद्धपरमेष्ठी स पति स्वामी यस्य स महाब्रह्मपति । दीक्षावसरे नम सिद्धेभ्य इत्युच्चारणत्वात् । अथवा महाब्रह्मणा गणधराणा लौकान्तिकानामहमिन्द्राणा च पति स्वामी महाब्रह्मपति (८६)। **कृत कृत्य**—कृत्य कृत्य आत्मकार्य येन स कृत्यकृत्य । अथवा कृतं पुण्य कृत्यं कार्य कर्त्तव्य करणीय यस्य स कृतकृत्य (८७)। **कृतक्रतु**—कृतो विहित क्रतुर्यज्ञ शक्रादिभिर्यस्य स कृतक्रतु । अथवा कृत परिपूर्ण फल वा क्रतौ पूजाया यस्य स कृतक्रतु । भगवतो भव्यै कृता पूजा नि फला न भवति किन्तु स्वर्ग-मोक्षदा यिका भवति तेन कृतक्रतु । अथवा कृत पर्याप्त समाप्तिं नीत क्रतुर्यज्ञो येन स कृतक्रतु (८८)। उक्तञ्च—

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु वि मणस्स ।
दोहिंवि समरसहूआह पुज्ज चडावउ कस्स ॥

गुणाकर—गुणाना केवलज्ञानादीना चतुरशीतिलक्षाणा वा आकर उत्पत्तिस्थानं गुणाकर । अथवा गुणाना षट्चत्वारिंशत्सख्यानामाकरो गुणाकर । उक्तञ्च—

अरहंता छायाला सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसा ।
उवझाया पणवीसा साहूणं होंति अडवीसा ॥

तत्रार्हता षट्चत्वारिंशद्गुणा —चतुस्त्रिंशदतिशया पूज्यपादेन नन्दीश्वरभक्तौ विस्तरेण प्रोक्ता अष्टप्रातिहार्याणि च, अनन्तचतुष्टय चेति । सिद्धाना सम्यक्त्वादयोऽष्टौ गुणा । आचार्याणा षट्त्रिंशद् गुणा । ते के ?

पञ्चाचारधर [1] संघगुणाधार [2] स्तथा यति
यामाश्रमस्थानग्रामाद्यवधिषु व्यवहारवान् [3] ॥
गुणदोषप्रकाशी [4] सात्त्वोत्कर्षी दोषसंवृति: [5] ।
यतिदोषप्रकाशी [6] अक्षेपा [7] सम्प्रदाता च लोपक ॥
परीषहादिभि सात्त्वोत्कृष्टस्य वचाक्षये ।
हितोपदेशैर्मार्गैः स्थापको ज्ञानवद्गुणा ॥

---

* अ भाभमस्थादी ।

स्थितिकल्पेंऽशुकत्यागो[1] ऽनुद्दिष्टाहारभोज्यपि ।
निग्रामामेऽन्यदिवसे तत्राभोजी[2] विरागमुक्[3] ॥
दीक्षाप्रभृति नित्य च समता सुप्रतिक्रम ।
व्रतानां धारणं[1] सज्ज्येष्ठत्वं पाक्षिकादिमान ॥
षण्मासयोगी मासद्विनिषिद्यालोकन दश ।
गुणा द्विषट्तपोधारी षडावश्यकसद्विधि ॥
आचार्याणां गुणा एते षडग्रा त्रिंशदेव च ।
अथोपाध्यायसम्बन्धिगुणा स्यु पञ्चविंशति ॥
एकादशाङ्गद्वि सप्तपूर्वाणि श्रुतसंश्रिता ।

साधनामष्टाविंशतिगुणा भवन्ति । ते के ? दशसम्यक्त्वगुणा मत्यादिपञ्चज्ञानानि त्रयोदशचारित्र गुणा एतेषु अष्टाविंशतौ गुणेषु सर्व प्रसिद्धम् । पर दश सम्यक्त्वानि अप्रसिद्धानि तान्यत्र कथ्यन्ते—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥

अस्या आर्याया विवरणार्थ वृत्तत्रयम् । तथाहि—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्त यदुत विरुचित वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्च शिवममृतपथ श्रद्दध मोहशान्ते ।
मार्गश्रद्धानमाहु पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या सज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टि ॥
आकर्ण्याचारसूत्र मुनिचरणविधे सूचन श्रद्दधान
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीज ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टि पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधुसंक्षेपदृष्टि ॥
य श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ त विद्धि विस्तारदृष्टिं
सञ्जातार्थात् कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टि ।
दृष्टि साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥

एव यधिकचत्वारिंशदग्रशत गुणाना भवति तथामाकर इत्युच्यते (८९) । गुणोच्छेदी—गुणान् क्रोधादीन् उच्छेदयतीत्येवंशीलो गुणोच्छेदी । अगुणोच्छेदी इति पा अगुणान् दोषानुच्छिनत्तीति अगुणोच्छेदी । अथवा अगुणानामुच्छेदो विद्यते यस्य सोऽगुणोच्छेदी अष्टादशदोषरहित इत्यर्थ । उक्तञ्च—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते ॥

चकाराच्चिन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते (९) । निर्निमेष —चक्षुषोर्मेषोन्मेषरहित दिव्यचक्षुरित्यर्थ [1]लोचनस्पन्दरहित इति यावत् (९१) । निराश्रय —निर्गतो निर्नष्ट आश्रयो गृह यस्य स निराश्रय । अथवा निर्निश्चिन्त आश्रयो निर्वाणपद यस्य स निराश्रय (९२) ।

सूरि सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमय शमी ।
प्रक्षीणबन्धो निर्द्वन्द्व परमर्षिरनन्तग ॥८४॥

---

१ अ स्पन्दन ।

सूरिः—सूते बुद्धिं सूरिः । षू सू अदिभ्य क्रि (९३) । तथा चोक्तमुनान्द्रिदेवैः—

पञ्चाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणी ।
चतुर्विधस्य संघस्य य स आचार्य इष्यते ॥

सुनयतत्त्ववित्—ये स्याच्छब्दोपलक्षितास्ते सुनया । यथा स्यान्नित्य स्यादनित्य स्यान्नित्यानित्य स्यादवाच्य स्यान्नित्यश्चावक्तव्य स्यादनित्यश्चावक्तव्य स्यान्नित्यानित्यश्चावक्तव्य इति सप्त नया अनेकान्ताश्रिता सुनया उच्यन्ते । तेषा तत्त्व मम जानातीति सुनयतत्त्ववित् । ये तु सर्वथैकान्ताश्रिता नित्य एव अनित्य एवेत्यादिरूपास्ते दुर्नया ज्ञातव्या (९४) । महामैत्रीमय — महती चासौ मैत्री महामैत्री, सर्वजीवेष्वनुद्धि तया निर्वृत्त महामैत्रीमय (९५) । शमी—शम सर्वकर्मक्षयो यस्य स शमी । 'समी इति पाठे सम समतापरिणामो विद्यते यस्य स समी । अथवा शाम्यतीति शमी शमाभ्यष्टाभ्यो घिणुण् (९६) । प्रक्षीणबन्ध —प्रकर्षेण क्षीण क्षय गतो बन्धो यस्य स प्रक्षीणबन्ध (९७) । निर्द्वन्द्व —निर्गत द्वन्द्व कलहो यस्य स निर्द्वन्द्व (९८) । परमर्षि —परमश्चासौ ऋषि केवलज्ञानर्द्धिसहित परमर्षि (९९) । अनन्तग —अनन्त केवलज्ञान गच्छति प्राप्नोति अनन्तग । अथवा अनन्तात् संसारात् गतो मुक्त अनन्तग । अथवा अनन्ते आकाशे गच्छतीति अनन्तग (१) ।

श्रीवीरगौतमगुणाधिककुन्दकुन्द श्रीभद्रबाहु जिनचन्द्र समन्तभद्रान ।
देवेन्द्रकीर्तिममल स्वगुरु च विद्यानन्दिप्रभु विनयतो विनतोऽस्मि नित्यम् ॥

श्रीश्रुतसागरगुरुणा योगिशतं पूर्णतां समानीतम् ।
निर्वाणशताध्याय विचार्यते श्रृणुत भव्यजना ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिताया सहस्रनामटीकाया योगिशतनामषष्ठोऽध्याय समाप्त ।

अथ सप्तमोऽध्याय

निर्वाण सागर प्राज्ञो महासाधुरुदाहृत ।
विमलाभोऽथ शुद्धाभ श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥

[1]निर्वाण —निर्वाति स्म निर्वाण सुखीभूत अनन्तसुख प्राप्त । निर्वाणोऽवाते इति साधु । अथवा निर्गता बाणा शरा कंदर्पबाणा यस्मादिति निर्वाण । अथवा निर्गता बाणा सामान्यशरास्तदुपलक्षणं[2] सर्वायुधाना निर्वाण । अथवा वने नियुक्तो यान निश्चितो वानो निर्वाण । यतो भगवान् निष्क्रान्त सन् वनवासी एव भवति जिनकल्पित्वात् न तु स्थविरकल्पिवत् वसत्यादौ तिष्ठति (१) । सागर —सा लक्ष्मीर्गले कण्ठ यस्य स सागर. अभ्युदयनिःश्रेयसलक्ष्मीसमालिंगितत्वात् । अथवा निष्क्रमणकल्याणावसरे सा राज्यलक्ष्मीर्गर विषसदृशी अरोचमानत्वात् सागर । अथवा सह गरेण वर्तते सगरो धरणेन्द्र, तस्यापत्यं संकल्पपुत्र सागर । भगवान् यदा बालकुमारो भवति तदा सिंहासने धरणेन्द्र उपविशति धरणेन्द्रस्योत्सगे भगवानुपविशति । सौधर्मेन्द्रस्तु अध उपविशति तदुत्संगे भगवान् पादौ

---

१ ब ७० सम सह भ्य इत्यधिक पाठ । २ ब लक्षण । ३ ब लिंगत्वात् ।

लालयति तेन शेषनागस्य पुत्रवत्प्रतिभासते स्वामी तस्मात् स्वामी सागर इत्युच्यते । अथवा सया लक्ष्म्या शोभया उपलक्षित अग पर्वतो गिरिराज साग मेरु जन्माभिषेकावसरे त राति गृह्णाति स्वीकरोति सागर । अथवा साया गता दरिद्रिण । तान् रायति शब्दयति आकारयति आह्वयति धनदानाथ सागर, भगवत कनकवर्षित्वात् दीन दु.स्थ दरिद्राणा दारिद्र्यस्फेटक इत्यर्थ (२)। **महासाधु**—दक्ष कुशलो हितश्च साधुरुच्यते । महांश्चासौ साधुर्महासाधु । राध साध ससिद्धौ । साधयति सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणीति साधु महान् तीर्थकरो भू वा रत्नत्रयेण भक्तिसौख्यसाधक इत्यर्थ (३)। **विमलाभः**—विमला कर्ममलकलङ्करहिता आभा शोभा यस्येति विमलाभ । गोरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादादीनां चेति ह्रस्व । अथवा विशिष्टा केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यत्र स विमो मोक्ष तस्य लाभ प्राप्तिर्यस्य स विमलाभ । अथवा विमला राह्वाद्युपरागरहिता आसमन्ताद्भा दीप्ति कोटिभास्कर चन्द्रकोटिभ्योऽप्यधिक भामण्डलं यस्य स विमलाभ (४)। **शुद्धाभ**—शुद्धा शुक्ला आभा दीप्तिर्यस्य स शुद्धाभ शुक्ललेश्यो वा शुद्धाभ । शुद्ध कर्ममलकलङ्करहित सन् आसमन्ताद्भाति शुद्धाभ (५)। **श्रीधर** – श्रिय बाह्या समवसरणलक्षणोपलक्षिता अभ्यन्तरा अनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणा धरति श्रीधर । श्रिया उपलक्षिता धरा समवसरणभूमिरष्टमी भूमिर्वा यस्य स श्रीधर । अथवा श्रिया निवासभूमि धरो हिमवान् गिरि श्रीधर श्रीनिवासपर्वत इत्यर्थ । अथवा श्रियोपलक्षितो धर कूर्मराज पृथिव्या आधारभूतत्वात् श्रीधर (६)। **दत्त**—दानं दत्तम् दत्तयोगाद्भगवानपि दत्त वाञ्छितफलप्रदायक इत्यथ । दातुमारब्धो दत्त । दीयते स्म निजा मनो ध्यानविषयीक्रियते दत्त । आदिकर्मणि क्त कर्तरि च दद्दो घ इति व्युत्पत्ते (७)।

अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्रि सयमश्च शिवस्तथा ।
पुष्पाञ्जलि शिवगण उत्साहो ज्ञानसङ्कक ॥८६॥

अमलाभ—अविद्यमाना मलस्य पापस्य आभा लेशोऽपि यस्य स अमलाभ । अथवा न विद्यते मा लक्ष्मीर्येषा ते अमा दीन दु स्थिते दरिद्रास्तेषा लाभो धनप्राप्तिर्यस्मादसौ अमलाभ । अथवा अमा निर्ग्रन्था मुनयस्तान् लान्ति गृह्णन्ति स्वीकुर्वन्ति ये ते अमला गणधरदेवास्तैरा समन्ताद् भाति शोभते अमलाभ (८)। **उद्धर**—उत् ऊर्ध्वस्थाने धरति स्थापयति भव्यजीवानिति उद्धर । अथवा उत् उत्कृष्टे हर पाप चोरक उद्धर । अथवा उत् उत्कृष्टा धरा समवसरणलक्षणा मुक्तिलक्षणा वा भूमिर्यस्य स उद्धर । अथवा उत्कृष्ट धर मेरुलक्षण पर्वत स्नानपर्वतो यस्य स उद्धर । अथवा उत्कर्षेण द्रन्ति गच्छति उद्धर वेगो यस्य स उद्धर । एकेन समयेन त्रैलोक्याग्रे गमनवेग इत्यर्थ (९)। **अग्रि**—अगति ऊर्ध्व गच्छति त्रैलोक्याग्र व्रजति ऊर्ध्व व्रज्यास्वभावत्वात् अग्रि । अगिग्रथिपृथुवहिभ्यो नि (१)। **सयम**—सम्यक् प्रकारेण यमो यावज्जीवव्रतो यस्य स संयम (११)। **शिव**—शिव परमकल्याणं तद्योगात् पञ्चकल्याणप्रापकत्वात् शिव श्रेयस्करत्वात् शिव । अथवा शिव शरीरसयुक्तो मुक्त , जीवन्मुक्त इत्यर्थ । सिद्धस्वरूपत्वाद्वा शिव (१२)। **पुष्पाञ्जलि**—पुष्पवत्कमलवत् अञ्जलि इन्द्रादीना करसंपुटो य प्रति स पुष्पाञ्जलि । पुष्पाणा बकुलचम्पक जाति-मन्दार मल्लिकाट्टहास कुमुद नीलोत्पल कमल शतपत्र कल्हार केतकी पारिजात मचकुन्द नवमालिका-नमेरु सन्तानक षट्पदाना षट्चरणसम्मतकदम्बादिकुसुमानामञ्जलयो यस्मिन् स पुष्पाञ्जलि , द्वादशयोजनप्रमाणे पुष्पवृष्टिरित्यर्थ (१३)। **शिवगण**—शिव श्रेयस्करो गणो निर्ग्रन्थादिद्वादशभेद सघो यस्य स शिवगण । अथवा गजाना सप्तविंशति रथाश्च तावन्त अश्वानामेकाशीति पञ्चत्रिंशदधिक शतं पत्तय इत्येको गण उच्यते । राज्यकाले शिवा श्रेयस्करा गणा यस्य स शिवगणः, सेनासमुद्र इत्यर्थ । अथवा शिवं मोक्षं गणयति सारतया मन्यतेऽन्यदसारमिति शिवगण (१४)। **उत्साह**—सहन साह । भावे घञ । उत्कृष्ट साह सहनं परीषहादिक्षमता उत्साह । अथवा उत्कृष्टा मा मोक्षलक्ष्मीं न हन्तीति अव श्यमेव मोक्षं सेव्यमानो ददतीति उत्साह । अथवा उत्कृष्टाया साया अह दिनं दानावसरदिवसो यस्य स उत्साहः । राजन् अहन् सखि अट् प्रत्यय । नस्तु क्वचित् नकारलोप इवर्णावर्णयो लोप स्वरे प्रत्यये

च । (१५) । ज्ञानसंज्ञकः—ज्ञानं जानाति विश्वमिति ज्ञानम् । कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि च, कर्तरि युट् । ज्ञानमिति संज्ञा यस्य स ज्ञानसंज्ञक । अथवा ज्ञान् पण्डितान् अनिति जीवयति ज्ञानः अन्तर्भूत इन् प्रत्यय (१६) ।

परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः ।
कृष्णो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीभद्र शान्तयुक् ॥८७॥

परमेश्वर परमश्चासौ ईश्वर स्वामी परमेश्वरः । अथवा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मी परमा, मोक्ष लक्षणोपलक्षिता लक्ष्मी परमा । परमाया परमलक्ष्म्या ईश्वर स्वामी परमेश्वर । अथवा पस्य परित्राणस्य रमा परमा नरकादिगतिगत्त पतनरक्षणा लक्ष्मी परमा । तस्या ईश्वर परमेश्वर । उक्तञ्च **विश्वप्रकाशे**—

प सूर्ये शोषणे वह्नौ पाताले वरुणेऽनिले ।
परित्राणे पमे पत्र पिपासे पक्षसंकुले ॥
उपदेशे स्फुटे ।

अथवा पर निश्चित अ अर्हन्, स चासावीश्वर परमेश्वर (१७) । **विमलेशः**—विमल कर्म मलकलङ्करहितो व्रतेष्वनतिचारो वा विमल । स चासावीश विमलेश । अथवा विविध म मल अघाति कर्म पञ्चाशीतिप्रकृतिवृन्दम् तल्लेशोऽल्पप्रायो यस्य स विमलेश बलवत्तरघातिकर्मघातकत्वात् विमलेश (१८) । **यशोधर**—यश पुण्यगुणकीर्तन धरतीति यशोधर (१९) । **कृष्ण**—कर्षति मूलादुन्मूल यति निर्मूलकाषं कषति घातिकर्मणां घात करोतीति कृष्ण । इण जि-कृषिभ्यो नक् । कृष विलेखने भ्वादौ परस्मैपदी धातुरयम् (२) । **ज्ञानमति**—ज्ञान केवलज्ञानं मति ज्ञान यस्य स ज्ञानमति (२१) । **शुद्धमति**—शुद्धा कर्ममलकलङ्करहिता मति सकलविमलकेवलज्ञान यस्य स शुद्धमतिः (२२) । **श्रीभद्र**—श्रिया अभ्युदय निःश्रेयसलक्षणाया लक्ष्म्या भद्रो मनोहर श्रीभद्र । (२३) । **शान्तः**—शाम्यति स्म शान्त रागद्वेषरहित इत्यर्थ । (२४) ।

वृषभस्तद्वदजित सम्भवश्चाभिनन्दन ।
मुनिभि सुमति पद्मप्रभ प्रोक्त सुपार्श्वक ॥८८॥

वृषभ—वृषेण अहिंसालक्षणोपलक्षितेन धर्मेण भाति शोभते वृषभ (२५) । **अजित**—न केनापि कामक्रोधादिना[1] शत्रुणा जित अजित (२६) । **सम्भव**—स समीचीनो भवो जन्म यस्य स सम्भव । शम्भव इति पाठे शं सुखं भवति यस्मादिति सम्भव सपूर्वेभ्य संज्ञायां अच् । अथवा स समीचीनोऽरौद्र अक्रूराशय शान्तमूर्त्ति कपाल शूल-खट्वाङ्गनादिरहितो भवो रुद्रः सम्भव (२७) । **अभिनन्दन**—अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपाद्यतिशयेन प्रजानामानन्दमुत्पादयतीति अभिनन्दन । अथवा न विद्यते भीर्भयं यत्र तानि अभीनि भवभयरहितानि । स्वरो ह्रस्वो नपुंसके । अभीनि निर्भयानि शान्तप्रदेशानि नन्द नानि अशोक सप्तवर्ण चम्पक चूताना वनानि समवसरणे यस्य स अभिनन्दन (२८) । **सुमति**—शोभना लोकालोकप्रकाशिका मति केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता बुद्धिर्यस्य स सुमति (२९) । **पद्मप्रभः**—पद्मवत् रक्तकमलवत् प्रभा वर्णो यस्य स पद्मप्रभ । रक्तवर्ण बन्धूकपुष्पवर्णशरीर प्रातरर्कसन्निभशरीर इत्यर्थ । अथवा पदोश्चरणयोर्मा लक्ष्मीर्यस्य स पद्म । प्रकृष्टा भा दीप्तिर्यस्य स प्रभ । पद्मश्चासौ प्रभ पद्मप्रभ । अथवा पद्मै सुर नरादिसमूहैः निधिविशेषैश्च प्रभाति प्रकर्षेण शोभते पद्मप्रभ । अथवा पद्मैः योजनैकप्रमाणपादद्विशतहेममयकमलै प्रभाति शोभते य स पद्मप्रभः (३) । उक्तञ्च—

हस्तिबिन्दौ भवं पद्म पद्मोऽपि अब्जे नरः ।
संख्याहिनिधिविद्वन्नेषु पद्म[2]व्यक्तिस्तं स्मृतः ॥

---

१ ब क्रोधादिशत्रुणा । २ ब पद्माध्वनि ।

सुपार्श्व—सुष्ठु शोभने पार्श्वे वाम दक्षिणशरीरप्रदेशौ यस्य स सुपार्श्व (३१)।

चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त शीतल श्रेय आह्वय ।
वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८६॥

चन्द्रप्रभ—चन्द्रादपि प्रकृष्टा कोटिचन्द्रसमाना भा प्रभा यस्य स चन्द्रप्रभ (३२)। **पुष्पदन्त**—पुष्पवत् कुन्दकुसुमवदुज्ज्वला दन्ता यस्य स पुष्पदन्त । अथवा भगवान् छद्मस्थावस्थाया यस्मिन् पर्वत तटे तपाध्याननिमित्त तिष्ठति तत्र वनस्पतय सर्वर्तुपुष्पाणि फलानि च दधति तेन पुष्पदन्त (३३)। **शीतल**—शीतो मन्दो लो गतिर्यस्य स शीतल । उक्तञ्च—

गिरिभिरयवदानवत श्रीमत इव दन्तिन स्रवद्दानवत ।
तव समवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवत ॥

अथवा शीत लाति सहते छद्मस्थावस्थाया शीतल, तदुपलक्षण उष्णस्य वर्षाणा च त्रिकाल योगवानित्यर्थ अथवा शीतल शान्तमूर्त्ति अक्रूर इत्यर्थ । अथवा ससारसतापनिवारकशीतलवचन रचनायोगाद् भगवान् शीतल उच्यते । अथवा शी आशीर्वाद तल स्वभावो यस्य स शीतल प्रिय हितवचनत्वात् । भगवान् आशीर्वादमेव दत्ते न तु शाप परम कारुणिकत्वात् (३४)। उक्तञ्च—

शस्ये स्वभावेऽप्यधरे चपेटे तालपादपे ।
तल पुसि तल क्लीबे प्रोक्त ज्याघातवारणा ॥

तथा च—

आद्य न हीन जघन्यावरस्य मध्येन हीन भुवि वर्णनीयम् ।
अन्तेन हीन चलयच्छरीर यस्याभिधान स जिन श्रियेऽस्तु ॥

श्रेयान्—अतिशयेन प्रशस्य श्रेयान् । प्रशस्यस्य श्र । गुणादिष्ठेयन्सौ वा (३५)। **वासुपूज्य**—वासु शक्र तस्य पूज्य वासुपूज्य । अथवा वेन वरुणेन पवनेन वा इन्द्रादीना वृन्देन वा वेन गन्धेन वा आ समन्तात् सुष्ठु अतिशयेन पूज्य वासुपूज्य । अथवा वा इतिशब्द स्त्रीलिंगे वर्तमान मन्त्रवाची वर्तते अमृतात्मकत्वात् । तेनायमर्थ—वया ॐ ह्रीं श्रीं वासुपूज्याय नम इति मन्त्रेण सुष्ठु अतिशयेन पूज्य वासुपूज्य (३६)। उक्तञ्च विश्वप्रकाशे—

वो दन्त्यौष्ठ्यस्तथोष्ठ्यश्च वरुणे वारुणो वरे ।
शोषणे पवने गन्धे वासे वृन्दे च वारिधौ ॥
वन्दने वदने वादे वेदनायां च वा स्त्रियाम् ।
कम्पावाते तथा मन्त्रे सर्वमन्त्रेऽमृतात्मके ॥

विमल—विगतो विनष्टो मल कर्ममलकलङ्को यस्य स विमल । अथवा विविधा विशिष्टा वा मा लक्ष्मीर्येषा ते विमा इन्द्रादयो देवा तान् लाति निजपादाक्रान्तान् करोति विमल । अथवा विगता दूरी कृता मा लक्ष्मीर्यैस्ते विमा निर्ग्रन्थमुनय तान् लाति स्वीकरोति विमल । अथवा विगतं विनष्ट मलमुच्चार प्रस्रावश्च यस्याऽऽजन्म स विमल (३७)। **अनन्तजित्**—अनन्त ससार जितवान् अनन्तजित् । अथवा अनन्तं अलोकाकाश जितवान् केवलज्ञानेन तत्पार गतवान् अनन्तजित् । अथवा अनन्तं विष्णु शेषनागं च जितवान् अनन्तजित् (३८)। उक्तञ्च नेमिस्तुतौ—

द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डल ।
नीलजलदजलराशिवपु सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वर ॥

स्त्र वदनीय ।

इत्यमुत्र ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयो [illegible]।
धर्मजिनवरसिंहो सुकरो चरणारविन्दयुगलं प्रवेमतु ॥

धर्मः—संसारसमुद्र निमज्जन्त जन्तुमुद्धृत्येन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दिते पदे धरतीति धर्मः । [illegible] हु सु धृतिवीपद्मायायतुभ्यो म । (३९) ।

शान्ति कुन्थुररो मल्लि सुव्रतो नमिरप्यतः ।
नेमि पार्श्वो वर्धमानो महावीर सुवीरक ॥९०॥

शान्ति – शाम्यतीति सर्वकर्मक्षयं करोतीति शान्तिः । **क्तिच्क्तौ च संज्ञायामाशिषि** । सशाया पुल्लिंगे तिक्प्रत्यय (४) । **कुन्थु**—कुथि पुथि लुथि मथि हिंसा-संक्लेशयो इति तावत् भ्वादिक कुथुधातु । कुन्थति समीचीनं तप क्लेशं करोतीति कुन्थु । पटि असि वसि हनि मनि अपि हृ दि कंदि नंधि वहि **अविभ्यश्च** इत्यस्य उणादौ षष्ठस्य सूत्रस्य वृत्तौ चकारोऽनुक्तसमुच्चय मात्रे उप्रत्यय स तु उप्रत्यय उणादौ पञ्चमे सूत्रे गृहीतोऽस्ति । तथाहि—**भृ मृ तृ चरित्सरितनिधनिमस्जि शीलभ्य उ** इत्यत उप्रत्ययस्य ग्रहणम् (४१) । **अर**— ऋ गतौ धातु भ्वादौ वर्तते । तत्र अरति गच्छति केवलज्ञानेन लोकालोक जानाति इति अर । **सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था** इति वचनात् । अथवा ऋ सृ गतौ इति धातु अदादौ वर्तते । तत्र इयर्ति गच्छति त्रैलोक्यशिखरमारोहतीत्यर । एकेन समयेन मुक्तिं प्राप्नोतीत्यरः । अच् **पचादिभ्यश्च** अच्प्रत्ययेन सिद्धमिदं रूपम् । अथवा अर्यते मोक्षार्थिभिर्गम्यते ज्ञानिभि र्ज्ञायते इत्यर **स्वरवृदृगमिग्रहामल** । कर्मणि अल् प्रत्यय । **नाम्यन्तयोर्धातुविकरणयोर्गुणः** । अथवा संसार मोक्षणे अर शीघ्र शीघ्रगो वा । अथवा धर्मरथप्रवृत्तिहेतुत्वादरश्चक्राङ्गभूत (४२) । **मल्लि** — मल मल्ल च इत्यय धातुधारणे[1] वतते तेन मल्लते धारयति भव्यजीवान् मोक्षपद स्थापयतीति मल्लि । **सर्वधातुभ्य इ** । अथवा मल्ल्यते धार्यते निजशिरस्सु देवेन्द्रादिभिर्मल्लि । अथवा मल्लिमुक्तबन्धनपुष्पाणि तत्सुरभिगन्धत्वान्मल्लि । अतएवाह **मल्लिमल्लिजये मल्ल** (४३) । उक्तञ्च **धन्वन्तरिवैद्येन**—

वार्षिकी त्रिपुटा भ्यक्ता सुरूपा सुभगा प्रिया ।
श्रीपदी षट्पदानन्दा सुवर्णा मुक्तबन्धना ॥

इति मोगरनामानि । तथा मल्लिकावेलनाम—

मल्लिका शीतभीरुश्च मदयन्ती प्रमोदिनी ।
मदनी च भवाणी च भूपदाह्वपदी तथा ॥

सुव्रत—शोभनानि व्रतानि अहिंसासत्याचौर्यब्रह्मचर्याकिंचन्यादीनि रात्रिभोजनपरिहारषष्ठाणुव्रतानि यस्य स सुव्रत (४४) । **नमि**—नम्यते इन्द्र चन्द्र मुनीन्द्रैर्नमि । **सर्वधातुभ्य इ** (४५) । **नेमिः**—नयति स्वधर्म नेमि । **नीदलिभ्यां मि** (४६) । **पार्श्वः**—निजभक्तस्य पार्श्वं अदृश्यरूपेण तिष्ठति पार्श्व । यत्र कुत्र प्रदेशे स्मृत सन् स्वामी समीपवर्त्येव वर्तते पार्श्व । उक्तञ्च—

[illegible] सुमना [illegible] च सर्वेश्वरो [illegible] ।
समस्तविज्ञानमयो [illegible] पार्श्व [illegible] गिरी गिरी ॥

अथवा पार्श्वं वक्रोपाय । वक्रस्य मनस कामस्य वा साधनस्य उपाय वक्रोपाय रागद्वेषपरिहार[2] तद्योगात् भगवानपि पार्श्वः (४७) । **वर्धमान**—वर्धते ज्ञानेन वैराग्येण च लक्ष्म्या द्विविधया वर्धमानः । अथवा अव समन्तात् ऋद्ध परमातिशयं प्राप्तो मानो ज्ञान पूजा वा यस्य स वर्द्धमान । **अवाप्योरल्लोपः** । (४८) । उक्तञ्च—

---

[1] ग धातुधारणे । [2] ब रहित ।

यष्टि मागुरितस्त्रोपमबाम्बोकपक्षणीयो ।
आप चैव इवन्त्वाची यथा वाचा निका दिशा ॥

महावीर—महान् वीर सुभट महावीर मोहमल्लविनाशत्वात् । अथवा महतीं विशिष्टा इ लक्ष्मीं निःश्रेयसलक्षणां राति ददात्याददाति वा महावीर । अथवा महाश्चासौ वीर श्रेष्ठो महावीर (४९) । **वीर**· वीरः श्रेष्ठत्वात् । अथवा विशिष्टा इ लक्ष्मीं राति मोक्षलक्ष्मीं ददाति निजभक्ताना वीर । (५) । उक्तञ्च

य वीरपादौ प्रणमन्ति नित्य ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ता ।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके ससारदुर्गं विषम तरन्ति ॥

सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ ।
महापद्म सूरदेव सुप्रभश्च स्वयम्प्रभ ॥६१॥

सन्मति—सती समीचीना शाश्वती वा मतिर्बुद्धि केवलज्ञान यस्य स सन्मति । अथवा सता विद्वज्जनानां मति सद्बुद्धिर्यस्मात्सौ सन्मति (५१) । **महतिमहावीर**—मस्य मलस्य पापस्य हृतिर्हननं विध्वसन समूलकाष कषण महति । महतौ कर्ममलकलंकसुभटनिर्घाटने महावीरो महासुभट अनेकसहस्रभट लक्षभटकोटीभटानां विघटनपटुर्महतिमहावीर (५२) । **महापद्म**—महती पद्मा लक्ष्मी सर्वलोकावकाश दायिनी समवशरणविभूतिर्यस्य स महापद्म । अथवा महती लोकालोकव्यापिनी पद्मा केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीर्यस्य स महापद्म । अथवा महान्ति पद्मानि योजनकप्रमाणसहस्रपत्रकनकमयकमलानि सपादद्विशतस ख्यानि यस्य स महापद्म । अथवा महती पदाश्चरणयोर्मा लक्ष्मीरिन्द्रादिमनोनयनहारिणी शोभा यस्य स महापद्म । अथवा महान्त प्रत्येकसख्यातकोटिगणना पद्माश्चतुर्णिकायिकदेवसमूहा यस्य स महापद्म (५३) । **सूरदेव**—सूराणा मारभयनां सूर्याणा वा देव सूरदेव परमाराध्य । **शूरदेव** इति तालव्यपाठ शूराणा मिन्द्रियजय सुभटाना देव परमाराध्य स्वामी वा शूरदेव । तथा चोक्तं—

यो न च याति विकार युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि ।
सत्वे च शूरशूरो रणशूरो न भवेच्छूर ॥

अथवा सूराणा देवानि मनोनयनादीन्द्रियाणि यस्मिन् स सूरदेव । अथवा सू सोम र सूर्य अग्निश्च कामश्च सूरा तेषा देवो राजा सूरदेव । अथवा सुष्ठु अतिशयवान् म त्रमहिमयुक्तत्वात् उ रुद्र सू । सूश्च रश्च अग्निसूर्यौ तयोदव स्वामी सूरदेव (५४) । **सुप्रभ**—शोभना चन्द्रार्ककोटिसमा नेत्राणा प्रिया च प्रभा द्युतिमडल यस्य स सुप्रभ । दिवाकर सहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम् इति **गौतमस्वामिना** जिनरूपवर्णनत्वात् (५५) । **स्वयम्प्रभ**—स्वय आमना प्रभा तेजोमहिमा वा यस्य स स्वयम्प्रभ । अथवा स्वयमात्मना प्रकर्षेण भाति शोभते स्वयम्प्रभ । उपसर्गे स्वातो ड । स्वय न अन्य प्रकृष्ट पिता भ्राता च लोकाना हितकारकत्वात् स्वयम्प्रभ (५६) ।

सर्वायुधो जयदेवो भवेदुदयदेवक ।
प्रभादेव उदङ्कश्च प्रश्नकीर्तिर्जयाभिध ॥६२॥

सर्वायुध—सर्वाणि ध्यानाध्ययनसंयमतपासि आयुधानि कर्मशत्रुविध्वंसकानि शस्त्राणि यस्य स सर्वायुध (५७) । **जयदेव**—जयेनोपलक्षितो देवो जयदेवः । जयस्य जयन्तस्य देवेन्द्रपुत्रस्य वा देव परमा राध्यो जयदेव (५८) । **उदयदेव** चय उपचयश्चयोपचयश्चेति त्रिविध उदय । तत्र जन्मान्तर सञ्चितं निदान

१ अ निर्घोटने ।

षोडशविधं त्रिविधं तीर्थंकरनामोच्चगोत्रादिलक्षणं पुण्यबन्धनं चयः । स्वर्गादागत्य पुनरपि प्रजापालनादिपुण्योपार्जन-मुपचयः । पुनर्निर्वाणगमनं चयोपचयः । तेन त्रिविधेनापि उदयेनोपलक्षितो देवः उदयदेवः । अथवा उत्कृष्टोऽयः शुभावहो विधिः उदय, तेनोपलक्षितो देव उदयदेवः । अथवा यस्य कदाचिदपि क्षुधो न भवति, अस्तमनं नास्ति, स उदयदेवः (५९) । प्रभादेवः—प्रभा चन्द्रार्ककोटितेजस्तयोपलक्षितो देव सर्वज्ञवीतराग प्रभादेव । अथवा प्रभा महिमा, तयोपलक्षितो देवः प्रभादेवः । अथवा प्रभानाम एकत्रिंशत्तम स्वर्गपटलं तत्र देवो दक्षिणश्रेणौ अष्टादशे विमाने देवो देवेन्द्रः सौधर्मेन्द्रः प्रभादेव । प्रभादेवसेवायोगात् भगवानपि प्रभादेवः । उक्तञ्च त्रिलोकसारे—

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे ।
तित्थिय एक्केक्किदयणामा उडुआदि तेसट्ठी ॥

अथवा प्रकृष्टा भा लोकालोकप्रकाशिनी दीप्ति केवलाख्यं ज्योतिस्तयोपलक्षितो देव प्रभादेव (६०) । उदङ्कः—उत्कृष्टो अङ्को चिह्न कामशत्रुरिति उदङ्क मुक्तिकान्तापतिरिति मोहारिविजयीति उदङ्क । अथवा उद्गतो निर्नष्टोऽङ्कोऽपराध आगो यस्य स उदङ्क । अथवा अङ्को भूषा उद्गता विरामस्य भासुरमिति वचनात् यस्य स उदङ्क । अथवा उत्कृष्टः अङ्कः स्थान मोक्षलक्षणं यस्य स उदङ्क । अथवा उत्कृष्ट अङ्कश्चिह्नं प्रातिहार्याष्टक यस्य स उदङ्क (६१) । प्रश्नकीर्ति —प्रश्ने गणधरदेवानुयोगे सति कीर्तिः संशब्दन ध्वनिप्रवृत्तिर्यस्य स प्रश्नकीर्ति । अथवा प्रश्नस्य पृच्छाया कीर्तिर्विस्तारो यस्य स प्रश्न कीर्ति । अथवा प्रश्ने सति कीर्तिर्यशो यस्माद्गणधरदेवादीनां स प्रश्नकीर्तिः (६२) । जय —जयति मोहारातिमभिभवतीति जय (६३)।

पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विज्ञेयो विमलप्रभ ।
बहलो निर्मलश्चित्रगुप्त समाधिगुप्तक ॥ ९३ ॥

पूर्णबुद्धि — पूर्णा सम्पूर्णा लोकालोकसर्वतत्त्वप्रकाशिका केवलज्ञान दर्शनलक्षणा बुद्धिर्यस्य स पूर्ण बुद्धि (६४) । नि कषाय—निर्गता कषाया क्रोधमानमायालोभा यस्य स नि कषाय । निष्केन सुवर्णेन सदृशी (सा) सरस्वती कषादिपरीक्षोत्तीर्णा निष्कषा । तस्या आय आगमनं यस्य स निष्कषाय । अपरपदेऽपि क्वचित्सकारस्य षत्वम् । यथा संहितायां ह्यायां कारिमानं त्वायजीवत्वम् । आलभते इति क्रियापदं दूरे वर्त्तते । अथवा निष्कस्य सा लक्ष्मीस्तस्या आयो रत्नवृष्टिसमागमो यस्य स निष्कषाय । दातृगृहे मातुर्मन्दिरे च पञ्चाश्चर्यविधायक इत्यर्थ (६५) । तदुक्तं—

सुरपय-साहुक्कारो गंधोदय-रयण-पुप्फवुट्ठी य ।
तह दुंदुहिणिग्घोसो पंचच्छरिया मुणेयव्वा ॥

विमलप्रभः—विमले घातिसंघातघाते सति प्रभा तेजोमण्डल यस्य स विमलप्रभ । उक्तञ्च—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्य सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स ॥

अथवा विगतं मं मलं येषा ते विमा गणधरदेवानगारकेवल्यादय । विमान् लाति गृह्णाति विमला । तादृशी प्रभा यस्य स विमलप्रभ (६६) । उक्तञ्च—

मो चन्द्र सन्धिरे मामे सूर्ये चन्द्रे शिवे विधौ ।
मात्रायामि बुधा मन्त्रे मारवा-प्रतिवानयो ॥
म मौलौ मोऽव्ययस्तो मं ।

बहल —बं स्कन्धदेशं लाति ददाति संयमभारोद्धरणे बहलः । अथवा बह वायु लाति गृह्णाति पूजा उपभोगतया बहल । अथवा बो वायुर्हंसः सखा यस्य, पुष्ठतो गामित्वात् बहल । अथवा बो वंदनं

हलं लांगलं यस्य, पुण्यकर्षणोत्पादकत्वात् मङ्गल । अथवा मङ्गति मोक्षं प्रापयति मङ्गल । सांकि शांति कृति-
ष्णोऽक्षः । व्यापकत्वाद्विस्तीर्णा (६७) । निर्मल—निर्गतं मलं विण्मूत्रादिर्यस्य स निर्मल । उक्तञ्च—

तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य ।
देवा य भोगभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ॥

अथवा निर्गतानि निर्मलानि पापकर्माणि यस्मादसौ निर्मल । अथवा निर्गता मा लक्ष्मीर्येभ्यस्ते
निर्मा निर्ग्रन्थमुनय चतुःप्रकारास्तान् लाति स्वीकरोति य स निर्मल । उक्तञ्च—

निग्रन्था शुद्धमूलोत्तरगुणमणिभिर्येऽनगारा इतीषु
सञ्ज्ञां ब्रह्मादिधर्मैं ऋषय इति च ये बुद्धिलब्ध्यादिसिद्ध ।
श्रेण्योरारोहणार्थैं यतय इति समग्रेतराध्यक्षबोधै
र्ये मुन्याख्यां च सर्वान् प्रभुमह इह तानचयामो मुमुक्षून् ॥

अथवा निर्मान् पञ्चप्रकारनिर्ग्रन्थान् लाति निर्मल । के ते पञ्चप्रकारा निर्ग्रन्था इत्याह पुलाकबकुश
कुशीलनिग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पत साध्या । इत्यनयो
सूत्रयोर्विवरणं तत्त्वार्थतात्पर्यवृत्तौ नवसहस्रश्लोकप्रमाणाया श्रुतसागरकृतायां ज्ञातव्य विस्तारतया मयात्र नैव
लिखितम् (६८) । चित्रगुप्त – चित्रवत् आकाशवत् गुप्त अलक्ष्यस्वरूप चित्रगुप्त । अथवा चित्रा
विचित्रा मुनीनामाश्चर्यकारिण्यो गुप्तयो मनोवचनकायगोपाया विद्यन्ते यस्य स चित्रगुप्त । अथवा चित्रं
तिलकदानं प्रतिष्ठाया गुप्त रूपदेशप्राप्य यस्य स चित्रगुप्त । अथवा चित्रास्त्रैलोक्यमनोनयनविस्मयाह्लादका
रिण्यो गुप्तयस्त्रय समवसरणप्राकारा यस्य विद्यन्ते स चित्रगुप्त (६९) । उक्तञ्च—

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन
कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन ।
माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥

समाधिगुप्त—सम्यक् समीचीनानि अबाधितानि वा आ समन्तात् धीयन्ते आत्मनि आरोप्यन्ते
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि परलोकपर्यन्तं निर्विघ्नेन प्रतिपाल्यन्ते उपसर्गपरीषहादिविनिपातेऽपि न त्यज्यन्ते
यस्मिन्निति समाधि । उपसर्गे द कि । समाधिना गुप्तो रक्षित न संसारे पतितु दत्त समाधिगुप्त । समैस्तृ
णकाञ्चन शत्रुमित्र वनभवन सुखदु ख स्त्रीदन्दशूकनिजानिजेषु समानचित्तैर्मुनिसत्तमैरधिगुप्त अधिकतया वेष्टित
समाधिगुप्त । अथवा सह मेन मन्दिरेण वर्तन्त इति समा गृहमधिनो गृहस्थ तैरधिगुप्त सेवित समाधि
गुप्त सद्दृष्टिभि श्रावकैराराधित इत्यर्थ । अथवा सह मेन मन्त्रेण वर्तन्ते ये ते समा विद्याधरा, तैरधिगुप्त
समाधिगुप्त । अथवा सह मेन मानेन अहङ्कारतया वर्तन्ते ते समा असुरादयस्तैरधिगुप्त समाधिगुप्त । अथवा
मै सूर्याचन्द्रमसौ शिवैरुद्रैर्वा मायाविभिरनेकपाखण्डिभिर्वृथामन्त्रैश्च अधिगुप्त सेवित समाधिगुप्त । अथवा
समाभिर्वर्षैरधिक अतिवृद्धैरपि सेवित समाधिगुप्त । अथवा सम शोभित आधिर्धर्मचिन्ता येषां ते समा
धयो लौकान्तिकाहमिन्द्रदेवास्तैर्गुप्त हृदयकमलेषु स्थिरतया स्थापितोऽहर्निशं तत्रस्थैरपि चिन्तित समाधि
गुप्त । अथवा सह मया लक्ष्म्या वर्तत इति समो नारायण तेन अधिकतया गुप्त सेवित:
समाधिगुप्त (७०) ।

स्वयम्भूश्चापि कन्दर्पो जयनाथ इतीरित ।
श्रीविमलो दिव्यवादोऽनन्तवीरोऽप्युदीरित: ॥१४॥

स्वयम्भूः—स्वयमात्मना गुरुनिरपेक्षतया भवति निर्वेदं प्राप्नोति लोकालोकस्वरूपं जानाति स्वयम्भूः । स्वयं भवति निजस्वभावे तिष्ठति स्वयम्भूः । स्वयं भवति मंगलं करोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति निजगुणैर्वृद्धिं गच्छति स्वयम्भूः । स्वयंभवति निर्वृतो भवति स्वयम्भूः । स्वयं भवति केवलज्ञान दर्शन द्वयेन लोकालोके व्याप्नोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति सम्पत्तिं करोति भव्यानामिति स्वयम्भूः । स्वयं भवति जीवानां जीवनाभिप्रायं करोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति द्रव्यपर्यायान् ज्ञातुं शक्नोति स्वयम्भूः । स्वयं भवति ध्यानिनां योगिनां प्रत्यक्षतया प्रादुर्भवति स्वयम्भूः । स्वयं भवति ऊर्ध्व व्रज्यास्वभावेन त्रैलोक्याग्रे गच्छति स्वयम्भूः (७१) । तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः ।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

कन्दर्पः—कं सुखं तस्य दर्पोऽप्रतिहतोऽभवत् कन्दर्पः, अनन्तसौख्य इत्यर्थः । कं कुत्सितो दर्पो यस्य भवे यस्याग्रे वा स कन्दर्पः । भगवदग्रे यः पुमान् ज्ञानादिदर्पं करोति स कुत्सित इत्यर्थः । अथवा अति शीयरूपत्वाद्भगवान् कन्दर्प उच्यते । अथवा—

कशब्दः पावके सूर्ये धर्मे ज्ञाने धने पुमान् ।
का धरौ अर एतानि अर चारौ च अ शसि ॥

इति वचनात् कन्दान् कन्दमूलानि रे धर्माय लोकानां पुण्यनिमित्तं पाति रक्षति भक्षितुं न ददाति, कन्दमूलानि धर्माय निषेधति, तेन भगवान् कन्दर्पः कथ्यते । ऋवर्णो अर् इति सन्धिकार्ये सति 'कन्द + ऋ + प' इत्यस्य कन्दर्प इति रूपं निष्पद्यते (७२) । उक्तञ्च समन्तभद्रैः रत्नकरण्डके—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥

जयनाथः—जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी जयनाथः सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यखण्डे धर्मतीर्थप्रवर्तक इत्यर्थः । अथवा जयस्य जयः तस्य इन्द्रपुत्रस्य नाथः स्वामी जयनाथः । अथवा जयाय जयार्थं जयनिमित्तं संसारदुःखच्छेदनाय नाथ्यते याच्यते जयनाथः । अथवा जय नाथ जय स्वामिन्निति धर्मोपदेश समये पुनः पुनर्भव्या वदन्ति तत्प्रसिद्धया जयनाथ इति नामोच्यते (७३) ।

श्रीविमलः—विमलः कर्ममलकलङ्करहितो व्रतशीलातिचाररहितो वा विमलः श्रिया बाह्याभ्यन्तर लक्ष्म्या उपलक्षितो विमलः, श्रीविमलः । अथवा विविधं मं मलं पापं लुनाति छिनत्ति भक्तानां विमलः । डोऽसंज्ञायामपि डिति टेर्लोपः । ऊकारलोपः । पश्चात् श्रीमांश्चासौ विमलः श्रीविमल इति कर्मधारयः क्रियते (७४) । **दिव्यवादः**—दिव्योऽमानुषो वादो ध्वनिर्यस्य स दिव्यवादः । अथवा दिवि स्वर्गे भ्योम्नि पाताले स्वर्गे व्यन्तरलोके वा भवा दिव्याश्चातुर्णिकायदेवास्तेषां वा वेदनां संसारसागरपतनादुःखं आसमन्तात् द्यति खंडयति निवारयति दिव्यवादः । अथवा दिव्यान् मनोहरान् त्रिजगज्जनमनोहरान् अर्थान् पूर्वापर विरोध रहितान् जीवादीन् पदार्थान् वदति दिव्यवादः । कर्मण्यण् । अथवा दिव्यं मन्त्रं ददाति दिव्यवादः, पञ्च त्रिंशदक्षरमन्त्रोपदेशक इत्यर्थः (७५) ।

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः ... ।
इहाइहफलो सति परम मन्त्रे कर्म लसतु ॥
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवंगताः ॥

अनन्तवीर —न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य स अनन्तोऽविनश्वर । स चासौ वीर सुभट कर्मशत्रु विनाशकः अनन्तवीर । अथवा न विद्यते अन्तो विनाशो यस्या सा अनन्ता, सा चासौ वी विशिष्टकैवल्य लक्ष्मीस्ता राति आददाति ददाति वा भक्ताना सोऽनन्तवीर । अथवा अनन्ते ऊर्ध्वमन्तरिक्षे अनुयातव्यत्वे स्यास्यतीति वीर अनन्तवीर । भाविनि भूतवदुपचार इति परिभाषया सिद्ध एव स्वामी कथित । अथवा समवसरणे ग धकुटीमध्य सिंहासनोपरि तिष्ठन्नपि चतुरगुलमाकाश परिहृत्यान्ते वियति स्थितत्वात् वीर अनन्त-वीर । अथवा जयति प्रलय गतेऽपि शिष्यत इति वचनात् अनन्त शेषनागो नारायणो वा । ताभ्यामपि अधिको वीर अनन्तवीर । अथवा अनन्ता सख्याविवर्जिता वीरा नम्रीभूता यस्य सोऽनन्तवीर (७६) ।

पुरुदेवोऽथ सुविधि प्रज्ञापारमितोऽव्यय ।
पुराणपुरुषो धर्मसारथि. शिवकीर्त्तन ॥ ९८ ॥

पुरुदेव —पुरुमहान् इन्द्रादीनामाराध्यो देव पुरुदेव । अथवा पुरव प्रचुरा असख्या देवा यस्य स पुरुदेव असख्यातदेवसेवित इत्यर्थ । अथवा पुरो स्वर्गस्य देव पुरुदेवः देवदेव इत्यर्थ (७७) । **सुविधि** —शोभनो विधिर्विधाता सृष्टिकर्त्ता सुविधि । अथवा शोभनो निरतिचारो विधिश्चारित्र यस्य स सुविधि । अथवा शोभनो विधिर्दैव पुण्य यस्य स सुविधि । अथवा शोभनो विधि कालो यस्य स सुविधि (७८) । **प्रज्ञापारमित** —प्रज्ञाया बुद्धिविशेषस्य पार पर्यन्त इत प्राप्त प्रज्ञापारमित । अथवा प्रज्ञापारे महापण्डिते उभयमीमांसाविचक्षणै मित प्रमाणीकृत प्रज्ञापारमित प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणचतुरैर्गणधरदेवादि भिर्मानित इत्यर्थ (७९) । **अव्यय** —न व्ययो विनाशो यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सोऽव्यय । अथवा अविना मेषेण अय गमनं यस्य सोऽव्यय । अव्यया अग्निकुमारा सेवापरा यस्य सोऽव्यय । अथवा सिद्धपर्यायं प्राप्त स न क्वापि नोपचयापचय गच्छतीति अव्यय भाविनि भूतवदुपचार इति वचनात् (८०) । **पुराणपुरुष**—पुराणश्चिरन्तन पुरुष आत्मा यस्येति पुराणपुरुष । अथवा पुराणेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु प्रसिद्ध पुरुष पुराणपुरुष । अथवा पुराणे अनादिकालीनैकरूपे पुरुणि महति स्थाने शेते तिष्ठति पुराणपुरुष । अथवा पुरे शरीरे परमौदारिककाय अनिति जीवति मुक्तिं यावद् गच्छति तावत्पुराण । स चासौ पुरुष आत्मा पुराणपुरुष । मुक्तिं प्राप्त सन् न शरीरे तिष्ठती त्यर्थ जीवन्मुक्त इत्यर्थ । लोकमते तु पुराणपुरुषो नारायण कथ्यते शिरसा खल्वाट यात् (८१) । **धर्मसारथि** —धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य सारथि प्रवर्तको धर्मसारथि । अथवा सह रथैर्वर्तते सरथ क्षत्रिय । सरथस्य क्षत्रियस्यापत्य सारथि । इणत वृद्धिरादौ णिण । धर्मस्य चारित्रस्य सारथि प्ररक धर्मसारथि । अथवा धर्माणा मध्ये सारो धर्मो धर्मसार श्रीमद्भगवदर्हत्प्रणीतो धर्म । धर्मसारे तिष्ठति धर्मसारथि । सज्ञाशब्दाना व्युत्पत्तिस्तु यथा[2] कथञ्चित् । तेन स्थाधातो सकारलोप किप्रत्ययश्च । आलोपोऽसार्व धातुके इत्यनेन आकारलोपस्तु न्यायसिद्धः (८२) । **शिवकीर्त्तन** —शिव श्रेयस्कर, शिव परमकल्याण इति वचनात् । शिव पञ्चपरमकल्याणदायक तीर्थकरनामगोत्रकारकं कीर्त्तनं स्तुतिर्यस्य स शिवकीर्त्तन । शिव क्षेमकर सुखकरं वा कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तन । शिवे वेदे कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तन । अथवा शिवेन रुद्रेण कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तन । शिवाना सिद्धाना वा कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः । दीक्षावसरे नम सिद्धेभ्य इत्युच्चारणत्वात् । शिवाय मोक्षाय वा कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः (८३) ।

विश्वकर्माऽक्षरोऽछद्मा विश्वभूर्विश्वनायक ।
दिगम्बरो निरातङ्को निरारेको भवान्तकः ॥९९॥

विश्वकर्मा—विश्व कृत्स्न कष्टमेव कर्म यस्य मते स विश्वकर्मा । अथवा विश्वेषु देवविशेषेषु त्रयो दशसख्येषु कर्म सेवा यस्य स विश्वकर्मा । अथवा विश्वस्मिन् जगति कर्म लोकजीवनकर क्रिया यस्य स विश्व कर्मा । कर्म अत्र असिमषिकृष्यादिक गत्यावस्थाया ज्ञातव्यम् (८४) । **अक्षर**—न क्षरति, स्वभावात् न

[1] इणत सज्ञा रावौ सणि अ सणे । २ द यथाकथञ्चित् ।

भवान्तक— भवस्य संसारस्य अन्तको विनाशको भक्तानां भवान्तकः । अथवा भवस्य रुद्रस्य अन्तको मृत्युर्यस्य मते स भवान्तकः । इत्यनेन रुद्रस्य ये मृत्युञ्जयं कथयन्ति ते प्रत्युक्ताः (६२) ।

दृढव्रतो नयोत्तुङ्गो निःकलङ्कोऽकलाधरः ।
सर्वक्लेशापहोऽक्षय्यः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्षणः ॥ ६७ ॥

दृढव्रत — दृढं निश्चलव्रतं दीक्षा यस्य प्रतिज्ञा वा यस्य स दृढव्रतः (६३) । **नयोत्तुङ्ग** — नया नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः सप्त । अथवा स्यादेकं स्यादनेकं स्यादुभयं स्यादवाच्यं स्यादेकं चावक्तव्यं च स्यादनेकं चावक्तव्यं च स्यादेकानेकं चावक्तव्यं च । तैरुत्तुङ्ग उन्नतः नयोत्तुङ्गः सर्वैकान्तवादि इत्यर्थः । ततो वान्यः परमगुरुरेकान्ततत्त्वप्रकाशनो दृष्टेष्टविरुद्धवचनत्वादविश्वासपदत्वाद्वीतकल्मषत्वाभावा-त्वाच्चेति न तस्य ध्यानं युक्तमिति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके उक्तत्वात् । नयोत्तुङ्ग (६४) । उक्तञ्च—

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः ॥

निःकलङ्क — निर्गतः कलङ्कः अपवादो यस्य स निःकलङ्कः । यथा गोपनाथस्य दुहितरं नारायणो जगाम सन्तनो कलत्रं ईश्वरोऽगमत् देवराजो गौतमभार्यां बुभुजे । तदुक्तं—

किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्यः
त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
हृदयतृणकुटीरे दह्यमाने स्मराग्नौ
उचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ॥

चन्द्रः किल बृहस्पतिभार्यायां व्यभिचचार । तदुक्तं—

विधुर्गुरोः कलत्रेण गौतमस्यामरेश्वरः ।
सन्तनोश्चापि दुश्चर्मा समगस्त पुरा किल ॥

एवं सर्वेऽपि देवाः सकलङ्काः सन्ति सर्वज्ञवीतरागस्तु निःकलङ्कः (६५) । **अकलाधर**— कलां कलनं धरतीति कलाधरः । न कलाधरः अकलाधरः न केनापि कलायितुं शक्य इत्यर्थः । अथवा अकं दुःखं लाति ददाति अकलः संसारः । तं न धरति न स्वीकरोति अकलाधरः । अकलः संसारोऽधरो नीचो यस्य स अकलाधरः । अथवा न कलां शरीरं धरति अकलाधरः चरमशरीर इत्यर्थः । अथवा न कलां चन्द्रकलां धरति शिरसि धारयति अकलाधरः, निराभरणत्वात् (६६) । **सर्वक्लेशापह** —सर्वान् शारीरमानसागन्तून् क्लेशान् दुःखानि अपहन्ति सर्वक्लेशापहः । अथवा सर्वेषां भक्तानां प्राणिनां क्लेशान् नरकादिदुःखानि अपहन्ति सर्वक्लेशापहः । अपात् क्लेशतमसोरिति डप्रत्ययः (६७) । **अक्षय्य** —न क्षयितुं शक्यः अक्षय्यः (६८) । **क्षान्त** —क्षमते स्म क्षान्तः सर्वपरीषहादीन् सोढवानित्यर्थः (६९) । **श्रीवृक्षलक्षण**— श्रीवृक्षोऽशोकवृक्षो लक्षणं यस्य स श्रीवृक्षलक्षणः । गन्धकुट्या उपरि मण्डपो योजनैकप्रमाणः, तदुपरि योजनैकप्रमाणमण्डपोपरि योजनैकप्रमाणोऽशोकवृक्षो मणिमयो दिव्यहंसादिपक्षिमण्डितः । महामण्डपशिखरो परिस्थितः स्कन्धः तेन भगवान् दूरादपि लक्ष्यते, तेन श्रीवृक्षलक्षणः (१) ।

इति निर्वाणशतं समाप्तम् । इति [1]सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामटीकायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

---

१ द श्रीसूरि ।

अथाष्टमोऽध्यायः

●

यदि संसार समुद्रादुद्धिषी[1] पुण्यराशिरीतमनाः ।
तज्जिनसहस्रनाम्नामध्ययनं कुरु समाधानः ॥

यो नामानि जिनेश्वरस्य सततं प्रचिन्तयेद्भूतल-
श्रीमद्धर्मविबोधनस्य बुधसंराध्यस्य श्रीमासिधि ।
स स्यात्पुण्यचयी जगत्त्रयजयी तीर्थकरः शंकरो
लोकाग्रपरिपूरणे गुणमणिश्चिन्तामणिः शुद्धधीः ॥

अथ विद्यानन्दिगुरु सूरिवरं संप्रणम्य शुद्धमना ।
विवृणोमि ब्रह्मशतं सुसम्मतं साधुहृदयानाम् ॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासन ।
अब्जभूरात्मभूः स्रष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापतिः ॥९८॥

ब्रह्मा—बृहि बृहि वृद्धौ इ इति वृद्धिं गच्छति केवलज्ञानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा । बृहे र्नम् अम् चान्त्यलोप इति सूत्रेण मन् प्रत्यय । अनिदनुबन्धानामगुणेऽनुषङ्गलोप इत्यनेन नकारलोपो न भवति तथापि विशेषातिदिष्ट प्रकृत न बाधते इति न्यायात् विशेषेण कारानुबन्धप्रत्ययग्रहणात् नलुक् । ऋकारात् पूर्वं अकारागमश्च तेन रत्वेन ब्रह्मन् जातं । धुटि चासंबुद्धौ व्यञ्जनाच्च सिलोप । लिंगान्तनकारस्य नकारलोप, तेन ब्रह्मा इति जातम् (१) । **चतुर्मुख**—चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुख । घातिसंघात घातने सति भगवतस्तादृशं परमौदारिकशरीरनैर्मल्यं भवति यथा प्रतिदिशं मुखं सन्मुखं दृश्यते, अयमतिशयः स्वामिनो भवति तस्माच्चतुर्मुख । अथवा चत्वारोऽनुयोगा प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग द्रव्यानुयोगा मुखे यस्यार्थरूपा स भवति चतुर्मुख । अथवा चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा पदार्था मुखे परिपूर्णास्तत्फलदायका यस्य स चतुर्मुख । अथवा चत्वारि प्रत्यक्ष परोक्षागमानुमानानि प्रमाणानि मुखानि यस्य स चतुर्मुख । अथवा चत्वारि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि मुखानि कर्मक्षयागमनद्वाराणि यस्य स चतुर्मुख । (२) । **धाता**—दधाति चतुर्गतिषु पतन्तं जीवमुद्धृत्य मोक्षपदे स्थापयतीति धाता । अथवा दधाति प्रतिपालयति सूक्ष्मबादर पर्याप्तापर्याप्तलब्ध्यपर्याप्तैकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तान् सर्वजन्तून् रक्षति परमकारुणिकत्वात् धाता (३) । **विधाता**—विशेषेण दधाति स्वर्गमोक्षयो स्थापयति प्रतिपालयति वा विधाता । अथवा वीनां पक्षिणां धाता प्रतिपालकः । तर्हि अनर्थदण्डप्रसंगो भविष्यति ? इति चेन्न, भगवान् सर्वप्राणिनां प्रतिपालक । पक्षिणां तु पोषणेऽनर्थदण्ड न तु पालने[2] । अथवा सेवागतानां सुर नरनिकराणां प्रमादपतिततन्दुलादीनां समवसरणाद्बहिर्भक्षणेऽपि पक्षिणां श्रावकीभूताना न कश्चिदनर्थदण्ड सेवागताना पादक्षालनजलपानेऽपि न कश्चिदनर्थदण्ड (४) । **कमलासन**—पद्मासने स्थित्वा सदा धर्मोपदेशं करोति भगवान् तेन कमलासन स उच्यते । अथवा योजनैकप्रमाणसहस्रदलकनककमलं आसनं उपवेशनस्थानं विहरतो भगवतो यस्य स कमलासनः । अथवा नि क्रमणकाले कमला राज्यलक्ष्मीं अस्यति त्यजति य स कमलासन । अथवा कमलौ मृगा आसने उपवेशनस्थाने यस्य स कमलासन । भगवान् यदा वने तपश्चरणं करोति तदा स्वामिनः समीपे सिंह गजा व्याघ्र गावः सर्प-मयूरा श्येन शशकाः अहि-नकुला मार्जार-मूषका काकोलूका हरिणा इत्यादय परस्परवैरिणो जीवा वैरं परिहृत्य स्वामिन समीपे उपविशन्ति परस्परं स्नेहं च कुर्वन्ति, तेन भगवान् कमलासन उच्यते । तथा समवसरणेऽपि । उक्तञ्च—

---

१ द हुद्धिणो । २ क द प्रतिपालने ।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि शमितधियो जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥

अथवा कस्य आत्मनो मलानि अष्टकर्माणि अस्यति निराकरोति मूलादुन्मूलयति निर्मूलकाषं कषति कमलासन । अथवा दीक्षाग्रहणकाले कमला पृथ्वीं नारीं च अस्यति मुञ्चति कमलासन । अथवा कमलं जल छद्मस्थ सन् चारित्रे गृहीते सति भोजनान्तर न कदाचिदपि पिबति क्षुल्लकानामपि पातुं न ददाति कमलासन (५)। **अब्जभू** —अब्जै कमलैरुपलक्षिता भूर्जन्मभूमियस्य स अब्जभू । अथवा मातु रुदरे अष्टदलं कमलं निजशक्त्या निधाय तत्कर्णिकायां स्वामी नवमासान् स्थित्वा वृद्धिङ्गत योनिमपि अस्पृष्ट्वा सञ्जातस्तेन अब्जभूरुच्यते । अथवा अब्जस्य चन्द्रस्य भूर्निवासस्थान अब्जभू सदा चन्द्रेण सेवित इत्यर्थ । अथवा अब्जस्य धन्वन्तरेभू स्थान अब्जभू वैद्यानामायुर्वेदस्य गुरुत्वात् (६)। **आत्मभू** —आत्मा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावश्चिच्चमत्कारैकलक्षण परमब्रह्म कस्वरूपष्टङ्कोत्कीर्णस्फटिकमणि मतल्लिकाबिम्बसदृशो भूर्निवासस्थानं यस्य स आत्मभू । अथवा आत्मा चक्षुषामगम्योऽपि सत्तारूपतयाऽस्त्येव यन्मते स आत्मभू । अथवा आत्मा भूर्वृद्धिर्यस्य स आत्मभू । अथवा आत्मना भवति केवलज्ञानेन चराचर व्याप्नोति आत्मभू । अथवा आत्मा भू सम्पद् यस्येति आत्मभू । आत्मा भू अभिप्रायो यस्य स आत्मभू । अथवा आत्मा भू शक्तिर्यस्य स आत्मभू । अथवा आत्मनि भवति प्रादुर्भवति आत्मभू ध्यानेन योगिना प्रत्यक्षीभवति आत्मभू । अथवा आत्मना भवति गच्छति त्रिभुवनस्वरूपं द्रव्य पर्यायसहितं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं जानाति करणक्रमव्यवधानरहिततया स्फुट पश्यति च आत्मभू (७)।
उक्तञ्च—

स्थिति जनन निरोधलक्षण चरमचर च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिनसकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥

स्रष्टा—सृजति करोति निंद्यमान पापिष्ठैर्नारकतिर्यग्गतौ उत्पादयति मध्यस्थैर्न स्तूयते न निंद्यते तेषां मानवगतिं करोति । यै स्तूयते पूज्यते आराध्यते तान् स्वर्गं नयति । यैर्ध्यायते तान् मुक्तान् करोति ।
तदुक्त—

सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्माति निर्मिमीते च ।
अनुतिष्ठति विदधाति च रचयति कल्पयति चेति करणार्थे ॥

तृण् तृची तृच् प्रत्यय सृजि दृशो रागमोऽकार स्वरापरो धुटि गुणवृद्धिस्थाने छशोश्च षत्वं, तवर्गस्य टवर्गाद्दवर्ग आसौ सिलोपश्च स्रष्टा इति जातम् (८)। **सुरज्येष्ठ** —सुराणां देवानां मध्ये ज्येष्ठो वृद्धो महान् श्रेष्ठो वा । प्रशस्यस्य श्र । वृद्धस्य च ज्य । प्रकृष्ट श्रेष्ठ प्रकृष्टो वृद्धो वा ज्येष्ठ उच्यते । प्रकृष्ट गुणान्विदन्ते यन्त्सी वा । अथवा सुराणां देवानां ज्यावत् मातेव हितकारक सुरज्येष्ठ । अथवा सुराणां ज्या भूमि स्वर्गलोक तस्यामिष्ट सुरज्येष्ट । यत सुराणां ज्या भूमिरिष्टा ततस्ते स्वर्गलोकं त्यक्त्वा सम वसरणं समागच्छति भगवत समे भूमौ तिष्ठन्ति स्वामिन सेवां कुर्वन्ति तेन सुरज्येष्ठ (९)। **प्रजापति** — प्रजानां त्रिभुवनस्थित लोकानां स्वामी प्रजापतिः (१)।

हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारगः ।
अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमय ॥११॥

हिरण्यगर्भः—हिरण्येन सुवर्णेनोपलक्षितो गर्भो यस्य स हिरण्यगर्भः। भगवति गर्भस्थिते नव-मासान् रत्नकनकवृष्टिर्मातुर्गृहाङ्गणे भवति तेन हिरण्यगर्भः। गर्भागमनात् पूर्वमपि षण्मासान् रत्नैरुपलक्षिता सुवर्णवृष्टिर्भवति तेन हिरण्यगर्भः। अथवा हि निश्चयेन रण्यो रवो साधुर्गर्भो यस्य स हिरण्यगर्भः। भगवतः पिता केनापि रवो भेत्तुं न शक्यो यस्मात्तेन भगवान् हिरण्यगर्भः (११)। **वेदज्ञः**—वेदेन श्रुतज्ञानेन मति-श्रुतावधिभिर्वा त्रिभिर्ज्ञानैर्विश्वं वेदितव्यं जानाति वेदज्ञः। अथवा वेदान् स्त्रीपुन्नपुंसकवेदान् जानाति वेदज्ञः। अथवा वेदं परवेदनां जानाति वेदज्ञः। अथवा येन शरीराद् भिन्न आत्मा ज्ञायते स वेदो भेदज्ञानं तं जानाति वेदज्ञः (१२)। उक्तञ्च निरुक्ते—

> विवेकं वेदयेदुच्चैर्यं शरीर-शरीरिणोः।
> स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम्॥

वेदाङ्गः—शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं निरुक्तं चेति मिथ्यावेदस्य अङ्गानि षड् वदन्ति कर्मचाण्डाला अक्षरम्लेच्छापरनामानः। स्वमते तु वेदो ज्ञानं तन्मय अङ्गं आत्मा यस्य स वेदाङ्गः। अथवा वेदस्य केवलज्ञानस्य प्राप्तौ भव्यप्राणिनां अङ्गं उपायो यस्मादसौ वेदाङ्गः (१३)। **वेदपारगः**—वेदस्य ज्ञानस्य पारं गच्छतीति सर्वज्ञत्वसाधनात् असम्भवद्बाधकसद्भावात् वेदपारगः। अथवा वेदेन ज्ञानेन संसारसमु-द्रस्य पारं पर्यन्तं गच्छतीति वेदपारगः। अथवा वेदान् द्वादशाङ्गानि पान्ति रक्षन्ति जिह्वाग्रे कल्पयन्ति[1] ये ते वेदपाः श्रुतज्ञानिनः। वेदपानां आ समन्तात् र कामं गमयतीति निराकरोतीति वेदपारगः। अथवा रगि शंकायां वेदपान् न रगयति न शङ्कयति निःसन्देहं तत्त्वमुपदिशति वेदपारगः (१४)। **अजः**—न जायते नोत्प-द्यते संसारे इत्यजः। (१५) **मनुः**—मन्यते जानाति तत्त्वमिति मनुः। पठि असि वसि हनि मनि त्रपि इंदि कदि अधि वह्याणिभ्यश्च उ प्रत्ययः (१६)। **शतानन्दः**—शतमानन्दानां यस्य स शतानन्दः अनन्तसुख इत्यर्थः। अथवा शतानामसंख्यानामानन्दो यस्मादसौ शतानन्दः, सर्वप्राणिसुखदायक इत्यर्थः (१७)। **हंसयानः**—हंसे परमात्मनि यानं गमनं यस्य स हंसयानः। अथवा हंसैः श्रेष्ठैः सह यानं विहारो यस्य स हंसयानः। अथवा हंसं श्रेष्ठं यानं वाहनं सहस्रदलकनककमलं यस्य स हंसयानः। अथवा हंसवत् सूर्यवत् अनीहित स्वभावेन यानं विहारो यस्य स हंसयानः। अथवा हंसवत् यानं मन्दगमनं यस्य स हंसयानः (१८)। **त्रयीमयः**—त्रयाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां समाहारस्त्रयी। त्रय्या निर्वृत्तस्त्रयीमयः (१९)। उक्तञ्च—

> जातिजरामृति पुंसां त्रयी संसृतिकारणम्।
> एषा त्रयी यतस्त्रय्या[2] क्षीयते सा त्रयी मता॥

> **विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः।**
> **वैकुण्ठः पुण्डरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः॥३॥**

विष्णुः—वेवेष्टि केवलज्ञानेन विश्वं व्याप्नोतीति विष्णुः। विषेः किच्चेति नुः। उक्तञ्च—

> यस्याय न विदारितं करुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलं
> सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान्।
> नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतं
> विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुर्विशिष्टो मम॥

इति भट्टाकलङ्कः (२०)। **त्रिविक्रमः**—त्रयो विक्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां शक्तिसम्पदो यस्य स त्रिविक्रमः। अथवा त्रिषु लोकेषु विशिष्टक्रमः परिपाटी यस्य स त्रिविक्रमः (२१)। **शौरिः**—शूरस्य सुभटस्य क्षत्रियस्य अपत्यं शौरिः (२२)। **श्रीपतिः**—श्रीणां अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणानां लक्ष्मीणां पतिः

---

१ द कल्पयन्ति। २ द यतस्त्रय्या।

२७

श्रीपति (२३)। **पुरुषोत्तम**—पुरुषेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु उत्तम पुरुषोत्तम (२४)। **वैकुण्ठ**—विकुण्ठा विकुमारीणां प्रश्नानामुत्तरदाने विचक्षणा तीर्थकृन्माता तस्या अपत्य पुमान् वैकुण्ठ (२५)। **पुण्डरीकाक्ष**—पुण्डरीकवत् कमलवत् अक्षिणी लोचने यस्य स पुण्डरीकाक्ष । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो स्वाङ्गात्षच् । अथवा पुण्डरीक प्रधानभूत अक्ष आत्मा यस्य स पुण्डरीकाक्ष । (२६)। उक्तञ्च श्रीगौतमेन—

> गणधरचक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुण्डरीक पुरुष ।
> बहुभि स्नातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥

हृषीकेश—हृषीकाणामिन्द्रियाणा ईशो वशिता हृषीकेश जितेन्द्रिय इत्यर्थ (२७)। **हरि**—हरति पापं हरि । इ सर्वधातुभ्य (२८)। **स्वभू**—स्वेन आत्मना भवति वेदित य वेत्ति स्वभू । अथवा स्वस्य धनस्य भू स्थानं स्वभू । भक्ताना दारिद्र्यविनाशक इत्यर्थ । अथवा सुष्ठु अतिशयेन न भवति पुनर्भवे स्वभू (२९)।

> **विश्वम्भरोऽसुरध्वंसी माधवो बालब धन ।**
> **अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रव ॥८८॥**

विश्वम्भर—विश्वं त्रैलोक्यं बिभर्त्ति धारयति न नरकादौ पतितु ददाति विश्वम्भर । भृ तॄ वृ जि धारि तपि दमि सहां संज्ञायां खश् प्रत्यय । ह्रस्वारुषोर्मोऽन्त (३)। **असुरध्वंसी**—असुरो मोहो मुनिभिरुच्यते तं ध्वंसते इत्येवंशील असुरध्वंसी । नाम्न्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । अथवा असून् प्राणान् राति गृह्णाति असुरो यम तं ध्वंसते मारयति असुरध्वंसी यमस्य यम इत्यर्थ (३१)। उक्तञ्च—

> अन्तक क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखा सदा ।
> त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्त कामकारत ॥

माधव—माया लक्ष्म्या समवसरणकेवलज्ञानादिकाया धवो भर्त्ता माधव । राज्यकाले राज्यलक्ष्म्या धव स्वामी माधव । अथवा मा शब्देन प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणद्वय लभ्यते । माया प्रमाणद्वये धवो धूर्त अतिविचक्षण माधव कथ्यते । अथवा मधुवसन्त सदा वसन्त सदा नित्य सुखानुभवनत्वात् लीलाविलासकत्वाच्च तत्पिता तस्यापत्य माधव । अथवा मधुर्मद्य क्षौद्र च पुष्परसश्च एतत्त्रयास्वादन पाप स्वरूपं वेत्ति माधव (३२)। उक्तञ्च—

> महु लिहिवि मुणइ सुणहु एहु ण मज्जहो दोसु ।
> मक्खउ बहिरिणि जि अहिलसइ तें तहो णरयपवेसु ॥

तथा—

> महु आसइउ थोडउ वि णासइ पुण्णु बहुत्त ।
> वइसाणरह तिडिक्किउ वि काणणु डहइ बहुत्तु ॥

तथा च स्मृति —

> सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते ।
> तत्पाप जायते तस्य मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥

तथा च स्मृति —

> मक्षिकागर्भसम्भूतबालाण्डकनिःपीडनात् ।
> जातं मधु कथं सन्त सेवन्ते कललाकृति ॥

कलशं गर्भवेष्टनम् । तथा च—

> प्राय: पुष्पाणि नाऽश्नीयात् मधुव्रतविशुद्धये ।
> वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती ॥

बलिबन्धन—बलि कर्मबन्धन जीवस्य यस्य मते स बलिबन्धन । उक्तञ्च—

> कम्मइ दिढघणचिक्कणइ गरुवइ वज्जसमाइ ।
> णाणवियक्खण जीवडउ उप्पहे पाडहि ताइ ॥

अथवा बलमस्यास्तीति बलि बलवत्तरं त्रैलोक्यक्षोभकरणकारणं बन्धनं तीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रद्वयं यस्य स बलिबन्धन । अथवा बलिन् पदेयकरस्तस्य बन्धनं षष्ठांशनिर्धारणं यस्मात् राज्यावसरे स बलिबन्धन । अथवा बलिः पूजाबन्धन विशिष्टपुण्योपार्जनकारणं यस्य स बलिबन्धन । (३३) उक्तञ्च—

> देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
> कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥
> अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
> भेक प्रमोदमत्त कुसुमेनैकेन राजगृहे ।

अधोक्षज—अधोक्षाणां जितेन्द्रियाणां दिगम्बरगुरूणां जायते ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति अधोक्षजः । डोऽसंज्ञायामपि डप्रत्यय । अक्षज ज्ञानं अधो यस्य स अधोक्षज केवलज्ञान सर्वेषां ज्ञानानामुपरि वर्तत इत्यर्थः । उक्तञ्च—

> सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमूढ ण पत्तियइ ।
> सो णिंदिउ पंचिंदिय णिरउ वइतरिणिहि पाणिउ पियइ ।

इत्यनेनेन्द्रियजनित ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणमिति ब्रुवाणा नैयायिका निर्मूलमुन्मूलिता भवन्ति (३४) । **मधुद्वेषी**—मधुशब्देन मद्य सारघं च द्वयमुच्यते । तद्द्वयमपि द्वेष्टि दूषित कथयति पापमूलं महद् ब्रूते इत्येवंशील मधुद्वेषी । मिथ्यादृष्टीनां तु मधुशब्देन जरासन्ध कथ्यते, तस्य द्वेषी गोपीवल्लभ । स तु नमस्कर्तु न योग्य (३५) । तदुक्तं **अकलङ्कभट्टेन**—

> यस्माद्य न विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्ष स्थल
> सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान् ।
> नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतं
> विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुर्विशिष्टो मम ॥

केशव—प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णा केशा मस्तके विद्यन्ते यस्य स केशवः । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् इत्यनेन सूत्रेण अस्त्यर्थे वप्रत्यय । तीर्थकरपरमदेवस्य शिरसि केशा भवन्ति, न तु मुखे श्मश्रुणी कूर्चश्च वर्तते । उक्तञ्च—

> देवास्तीर्थंकराश्चक्रिबलकेशवनारदाः ।
> भोगभूभूचराः कामाः सर्वे कूर्चविवर्जिताः ॥

अथवा के परमब्रह्मणि ईशते समर्था भवन्ति महामुनयस्तेषां वो वासो यत्र स केशव । ध्यानिनां योगिनां महामुनीनां निवास इत्यर्थः (३६) । **विष्टरश्रवा**—विष्टर इव श्रवसी कर्णौ यस्य स विष्टरश्रवा । सर्वधातुभ्योऽसुन् । अथवा विस्तरे सकलश्रुतज्ञाने श्रवसी कर्णौ आकर्णितवती यस्य स विष्टरश्रवा (३७) ।

श्रीवत्सलाञ्छन श्रीमानच्युतो नरकान्तक ।
विष्वक्सेनश्चक्रपाणि पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥

श्रीवत्सलाञ्छन—श्रीवत्सनामा वक्षसि लाञ्छनं रोमावर्तो यस्य स श्रीवत्सलाञ्छन । अथवा श्रीवत्स लक्ष्मीसुत कामदेव स लाञ्छनं भंगमापितोऽभिज्ञान यस्य स श्रीवत्सलाञ्छन । अथवा श्रीवत्सले लक्ष्मीकान्ते आञ्छन आयाम ससारदैर्घ्य यस्य मते स श्रीवत्सलाञ्छन । य किल लक्ष्म्या स्नेहलो भवति लोभिष्ठो भवति स दीर्घ ससार प्राप्नोति पिण्याकगन्धवत् (३८) । उक्तञ्च—

बहुधा क्षितेस्तृतीयेऽस्मिन् खल्लके तु समल्लके ।
पेते[1] पिण्याकगन्धेन धनायाविष्टचेतसा ॥

श्रीमान्—श्रीर्बहिरङ्गा समवसरणलक्षणा अन्तरङ्गा केवलज्ञानादिका विद्यते यस्य स श्रीमान् (३६) । **अच्युत**—न च्यवते स्म स्वरूपादच्युत परमात्मनिष्ठ इत्यर्थ (४०) । **नरकान्तक**—मिथ्या दृष्टय खल्वेव वदन्ति नरकनामा दैत्य स वरदानबलेन ईश्वरमेव भस्मीकर्तु लग्न पार्वतीग्रहणार्थ । नारायणेन तु पार्वतीरूप गृहीत्वा स नर्तित शिरसि यावत्कर करोति तावत्स एव भस्मीबभूव । तेन नारायण किल नरकान्तक कथ्यते । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु सद्धर्ममार्गप्रकाशकत्वात् नरके घर्मा वंशा शिलाञ्जना रिष्टा मघवी माघवीनामसप्तप्रकारेऽपि न कमपि पतितु ददाति, तेन नरकान्तक उच्यते । नरकस्य रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तम प्रभा महातम प्रभा इति सप्तभूमिषु पतितु न ददाति तेन नरकस्य अन्तको विनाशकः स्वर्ग मोक्षप्रदायक इत्यर्थ (४१) । **विष्वक्सेनः**—मिथ्यादृष्टय खल्वेव निर्वचन्ति—विश्वञ्चो यादवा सेनाया यस्य स विष्वक्सेनो नारायण । भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु विष्वक् समन्तात् सेना द्वादशविधो गणो यस्य स विष्वक्सेन । अथवा विष्वक् समन्तात् स्वर्गमर्त्यपाताललोकेषु या सा लक्ष्मीर्वर्तत तस्या इन स्वामी विष्वक्सेन इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्रादिभिर्निजलक्ष्मीभि पूजितत्वात् (४२) । **चक्रपाणि**—मिथ्यादृष्टय किलैवं निर्वचन्ति चक्र अमिल आयुधविशेष पाणौ करे यस्य स चक्रपाणि । भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु चक्रलक्षण पाणौ यस्य स चक्रपाणि । तदुपलक्षण रवीन्दुकुलिशादीना अष्टाधिकलक्षण सहस्रं यस्य । अथवा चक्रं पृथ्वीमण्डल पाणौ हस्ते यस्य स चक्रपाणि त्रिभुवनजनप्रभुत्वात् । अथवा चक्रं पान्ति रक्षन्ति चक्रपा अर्धमण्डलश्वराध चक्रवर्तिसकलचक्रवर्तिपर्यन्ता राजान, तेषामणि सीमा चक्रपाणि धर्मचक्रवर्तित्वात् । एतादृशश्चक्रवर्ती ससारे कोऽपि नास्तीत्यर्थ । अथवा अण रण वण भण मण कण क्वण इन वन शब्दे इत्यनेन धातुपाठसूत्रेण तावत् अण धातु चक्रपान् सुरेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्रान् अणति शब्दं करोति परमधर्मोपदेश ददाति चक्रपाणि । इ सर्वधातुभ्य इति सूत्रेण इ प्रत्यय (४३) । **पद्मनाभ**—पद्मवत् कमलपुष्पवत् नाभिर्यस्य स पद्मनाभ । समासान्तगतानां वा राजादीनाम दन्तता इत्यधिकारे सज्ञाया नाभि । अन् प्रत्यय (४४) । **जनार्दन**—जनान् जनपदलोकान् अर्दति सम्बोधनार्थ गच्छति जनार्दन । अथवा जनास्त्रिभुवनस्थितभव्यलोका अर्दना मोक्षयाचका यस्य स जनार्दन । अथवा जनान् अर्दयति मार्क्ष गमयति जनार्दन । नन्द्यादेयु । इनन्तस्य युप्रत्यय (४५) ।

श्रीकण्ठ शंकर शम्भु कपाली वृषकेतन ।
मृत्युञ्जयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचन ॥१०३॥

श्रीकण्ठ—श्रीर्मुक्ति लक्ष्मी कण्ठे आलिंगनपरा यस्य स श्रीकण्ठ (४६) । **शङ्कर**—श परमानन्दलक्षण सुख करोतीति शङ्कर । शं पूर्वेभ्यः संज्ञायां अच् प्रत्यय (४७) । उक्तञ्च—

दग्धं येन पुरत्रयं शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना
यो वा नृत्यति मत्तवत्पितृवने यस्यात्मजो वा गुह ।

1 ब पिते ।

कोऽयं किं भव शङ्करो [illegible]
[illegible] शङ्करः[1] ॥

शम्भु —शं परमानन्दलक्षणं सुखं भवत्यस्माच्छम्भुः । शुभो हुविंशमेषु च (४८) । कपाली—कान् आत्मनः सर्वजन्तून् पालयतीति कपाली । अथवा क परमब्रह्मस्वरूपमात्मानं पान्ति रक्षन्ति संसारपतना न्निवारयन्ति कपा मुनय , तान् लाति भूषयति शोभितान् करोतीत्येवंशील: कपाली । नाम्न्यजातौ णिनिस्ता च्छील्ये (४९) । वृषकेतन—वृषोऽहिंसालक्षणो धर्मः केतनं ध्वजा यस्य स वृषकेतनः । (५) । मृत्युञ्जय —मृत्यु अन्तकं यम कृतान्त धर्मराजं जयतीति मारयित्वा पातयतीति मृत्युञ्जय । [illegible] वृ जि धारि तपि दमि सहां सज्ञायां खशप्रत्यय । एज खश् इत्यतो वर्तते, ह्स्वारुषोर्मोऽन्तः (५१)। विरूपाक्ष —मिथ्यादृष्टय किलैव वदन्ति यत् रुद्रो विरूपाक्ष कथ्यते । तन्निरुक्ति —विरूपाणि त्रित्वात् अमनोहराणि अक्षीणि लोचनानि यस्येति विरूपाक्षो रुद्र । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु विरूप रूपरहितं सूक्ष्मस्व भाव अक्षि केवलज्ञानलक्षणं लोकालोकप्रकाशकं लोचनं यस्य स विरूपाक्ष । सक्थ्यक्ष्णो स्वाङ्गे इत्यनेन सूत्रेण बहुव्रीहौ अत् प्रत्यय । अथवा विरूपे विशिष्टरूपे कर्णान्तविश्रान्ते त्रिभुवनमनोहरे अक्षिणी लोचने यस्य स विरूपाक्ष । उक्तञ्च—

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूय ।
प्राप्तो महाजनगाराजगराजि तत्र सूते न चारु जगदे जगदेकनाथ ॥

अथवा विरूप केवलज्ञानगम्य अक्ष आत्मा यस्य स विरूपाक्ष । अथवा विगर्ड तद्रूपः संसार विषनिषेधक अक्ष आत्मा यस्य स विरूपाक्ष (५२) । उक्तञ्च शुभचन्द्रेण सूरिणा—

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तित ।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मत ॥

अन्यच्च—

आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुख पुमान् ।
परमात्मा विप कन्तुरहो माहात्म्यमात्मन ॥

वामदेव – वामो मनोहरो देवो वामदेव । अथवा वामस्य कामस्य रुद्रस्य प्रतिकूलस्य शत्रोरपि देवः परमाराध्यो वामदेव । अथवा वामानि वक्राणि विषमाणि रक्षितुमशक्यानि दुर्जयानि देवानि इन्द्रियाणि यस्य मते स वामदेवः । अथवा वामा मनोहरा देवा सौधर्मेन्द्रादय सेवापरा देवा यस्य स वामदेव । अथवा वाम्र वन्दनायां मा लक्ष्मीर्यस्य स वाम । वामश्चासौ देवो वामदेव । अथवा वायां वन्दनायां म सूर्यश्चन्द्रो रुद्रो विधाता च यस्य स वाम , स चासौ देवो वामदेव । अथवा वामाना शचीप्रभृतीनामत्यर्थं सन्तोषोत्पादिकानां देवीनां राजपत्नीनां देव परमाराध्यो वामदेव । याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचित् (५३) । त्रिलोचन —त्रयाणां स्वर्ग मर्त्य पातालस्थितानां भव्यजीवानां लोचनप्राय नेत्रस्थानीय त्रिलोचनः । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ विना लोका न किमपि पश्यन्ति अन्धसदृशा एव भवन्ति, तेन त्रिलोचन । अथवा त्रिषु भुवनेषु लोचने केवलज्ञान दर्शने नेत्रे द्वे यस्य स त्रिलोचन । अथवा जन्मारभ्य मतिश्रुतावधिलक्षणानि लोचनानि नेत्राणि यस्य स त्रिलोचन । अधिकाङ्ग हीनाङ्ग च मिथ्यात्वकर्मोदयाद्भवति रुद्रस्य तादृशं ललाटे लोचनं भवति तत्तु न श्लाघ्यम् । उक्तञ्च कालिदासेन कुमारसम्भवे महाकाव्ये—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥

१ [illegible] इति [illegible] पाठः ।

अथवा त्रिषु मनोवचनकायेषु लोचनं मुण्डन यस्य स त्रिलोचन । अथवा त्रिकरणशुद्ध पञ्चमुष्टि त्रिलोचन केशोत्पाटन यस्य स त्रिलोचन । अथवा त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि लान्ति गृह्णन्ति त्रिला महामुनयः तेषा ओचन समवायो यस्य स त्रिलोचन । चकाराधिकारात् क्वचित्पूर्वोऽपि लुप्यते त्रिल शब्दस्यावर्णलोप (५४)।

उमापति पशुपति स्मरारिस्त्रिपुरान्तक ।
अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्ग सदाशिव ॥१४॥

उमापति —

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।
उ मेति मात्रा तपसे निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥

इति **कालिदास** । स्वमते तु उमानाम्नी राजकन्या मातुर्दुर्भाग्यदायिका पर्वते परिहृता सा केनचिद् विद्याधरेण लब्धा मम पुत्रीति पोषिता परिणायिता च । तत्र भर्तुर्मरणे विधवा सती रुद्रणाङ्गीकृता । सा उमा कथ्यते । तस्याः पतिरीश्वर उमापति । भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु उमाया कान्ते कीर्तेश्च पति स्वामी उमापति । अथवा उ समुद्र क्षीरसागर तस्य ताय च उमेरुपर्वत एतेषा त्रयाणा उशब्देन कथ्यमाना मा लक्ष्मी शोभा उमा तस्या पतिरुमापति (५५)। **पशुपति** — पशूना सुर नर तिरश्चा पति स्वामी पशुपति । पश्यन्ते कर्मभ बन्धनैरिति पशव 'अपष्टवादि वादुप्रत्ययान्तो निपात । पशव इति संसारिणो जीवास्तेषा पति प्रभु पशुपति (५६)। **स्मरारि** – स्मरस्य कन्दर्पस्य अरिः शत्रु स्मरारिः । प्रसंख्यानपविपातकण्ठुकोत्थानमन्मथमददरिद्रितत्रस्मरविजय इत्यर्थ । (५७)। **त्रिपुरान्तक** —तिसृणा पुरा जन्मजरामरण लक्षणाना नगराणा अन्तको विनाशकस्त्रिपुरान्तक । अथवा मोक्षगमनकाले त्रयाणा शरीराणा परमौदारिक तैजसकार्मणनाम्नामन्तको विपरिहारकस्त्रिपुरान्तक । अथवा त्रिपुर त्रैलोक्यं तस्यान्ते त्रिजगदग्र क आत्मा ज्ञानकायो यस्य स त्रिपुरान्तक (५८)। **अर्धनारीश्वर** —अध न विद्यन्ते अरय शत्रवो यस्य सोऽर्ध नारि घातिसंघातघातन । स चासावीश्वर स्वामी अर्धनारीश्वर (५९)। उक्तञ्च **उमास्वामिना**— मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । **रुद्र** —कर्मणा रौद्रमूर्त्तित्वात् रुद्र रोदिति आनन्दाश्रूणि मुञ्चति आत्मदर्शने सति रुद्र । स्फायि तञ्चि वञ्चि शकि क्षिपि क्षुदि सृदि मदि मन्दि चन्द्यु न्दीदिभ्यो रक् (६०)। **भव** —भव यस्माद्विश्वमिति भव । भगवन्त यो विराधयति स नरके तिरश्चि वा उत्पद्यते । यो मध्यस्थो भवति स मनुष्यो भवति । य आराधयति स स्वर्गी भवति । यो ध्यायति स मुक्तो भवति । तेनेय निरुक्तिः — भवत्यस्माद्विश्वमिति भव (६१)। **भर्ग** —भ्रस्ज भ्रूजी भर्जने इत्यय धातु भौवादिकः आत्मनेपदी । भृज्यन्तेऽनेन कामक्रोधादयो ध्यानाग्निना पच्यन्ते भस्मीक्रियन्ते भर्ग । अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् प्रत्यय । नामिनश्चोपधाया लघोगु ण चजो कगौ धुड् धात्वन्त्ययो । अस्य ग । अथवा डुभृञ् डुभृञ् धारण पोषणयो इत्यय धातु आदादिको जुहोत्यादिगणे वर्तते, तेन बिभर्त्ति धारयति केवलज्ञानादीन् गुणा निति भर्ग । अथवा बिभर्त्ति पोषयति स्वर्गमोक्षदानेन सुखेन पुष्टान् करोति भव्यजीवानिति भर्ग । ब भृभ्यां ग । उणादौ पञ्चमाध्याये षष्ठितमं सूत्रमिदम् (६२)। **सदाशिव** —सदा सर्वकालं शिव परमकल्याणं अनन्तं सुखं वा यस्य सदाशिव । अथवा सदा सर्वकाल अश्नन्ति दिवारात्रौ च भुञ्जते भोजनं कुर्वन्ति, रात्रि भोजनदोषं न मन्यन्ते, ते सदाशिन । तेषां व समुद्रः संसारसागरनिमज्जनं यस्य मते स सदाशिवः । उक्तञ्च प्रभाचन्द्रगणिना—

विरूपो विकलाङ्ग स्यात् स्वल्पायुः रोगपीडित ।
दुर्भगो दुष्कुलश्चैव नक्तभोजी सदा नरः ॥

अपि च—

[illegible] ।
[illegible] ॥

अथवा सत् समीचीन आ समन्तात् शिव कल्याणपञ्चकं यस्य स सदाशिव (६३)।

जगत्कर्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हर ।
महासेनस्तारकजिद् गणनाथो विनायक ॥ १०५ ॥

जगत्कर्ता—जगता कर्ता स्थितिविधायक मर्यादाकारक जगत्कर्ता। अथवा जगतः कं सुखं इयर्ति गच्छति जानाति जगत्कर्ता। ऋ सृ गतौ ऋ गतौ वा। तृचादिसिद्धं रूपमिदम् (६४)। **अन्धकारातिः**—अन्धश्चक्षुर्रहित सम्यक्त्वविघातक क काय स्वरूप यस्य स अन्धक मोहकर्म, तस्यारातिः शत्रुः मूलाद्युन्मूलक अन्धकाराति। अथवा कुत्सित अन्ध अन्धकारं तद्योगात्मरक अन्धक उच्यते तस्य अराति रभिमाति[1] र्नरके पतितु न ददाति स्वर्गादौ गमयति य स अन्धकाराति। अथवा अन्धा घोरान्धकारसहिता यासौ कारा बन्दीगृह शरीरलक्षणा मातुरुदर वा, तस्यां न अतिर्न गमनं यस्मादसौ अन्धकाराऽस्ति, अकारस्य प्रश्लेषात्। सर्वधातुभ्य इ इति च लक्षणेन रूपमिदम् (६५)। **अनादिनिधन**—न विद्येते आदिनिधने उत्पत्तिमरणे यस्य स अनादिनिधन। अथवा अनस्य जीवितस्य आदिर्जन्म तत्पर्यन्तं न्यतिशयेन धनं लक्ष्मीर्यस्य सोऽनादिनिधन आजन्मपर्यन्तं लक्ष्मीवान् इत्यर्थ। भगवान् समवसरणे स्थितोऽपि लक्ष्म्या नवनिधिलक्षणया न त्यक्तो यत (६६)। **हर**—अनन्तभवोपार्जितानि अघानि पापानि जीवानां हरति निराकरोतीति हर। अथवा हं हर्ष अनन्तसुखं राति ददाति आदत्ते वा हर। अथवा राज्यावस्थायां हं लक्षसर तरलमध्यगं हारं मुक्ताफलदाम राति वक्षस्थल दधाति कण्ठे धरति स हर। अथवा हस्य हिंसाया रो अग्निदाहक अश्वमेधादियागाधर्मनिषेधक इत्यर्थ (६७)। **महासेन**—महती द्वादशगण लक्षणा सेना यस्य स महासेन। राज्यावस्थाया वा महती चतु सागरतटवनवासिनी सेना चमूर्यस्य स महासेनः। अथवा महस्य पूजाया आ समन्तात् सा लक्ष्मी शोभा महासा तस्या इन स्वामी महासेनः। अथवा महती केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता सा देवी सरस्वती तस्या इन स्वामी महासेनः। उक्तञ्च महत्व सरस्वत्या **दुर्गसिंहेन** कविना—

[illegible] ।
या बुद्धिरीड्या विदुषां हृदब्जे मुखे च सा मे वशमस्तु नित्यम् ॥

अथवा आसनमास आस्यतेऽस्मिन्निति वा आस। अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायां घञ् प्रत्यय। महांश्चासावास सिंहविष्टर त्रिमेखलापीठोपरि स्थितरचितगन्धकुटीमध्ये स्थितं सिंहासन महास उच्यते। तदुपरि स्थितो भगवान् इन इव सूर्य इव प्रतिभासते महासेन (६८)। **तारकजित्**—परमते तारको नाम दैत्यविशेष स किल इन्द्रादीन् संतापितवान्। तन्मारणाय रुद्रं तपोभ्रष्टं कृत्वा पार्वत्या कार्त्तिकेयं पुत्रं रुद्रेण जनयित्वा तमिन्द्र सेनापतिं कृत्वा तारकं मारितवान्। तेन कार्त्तिकेयं तारकजितमाहुर्मिथ्यादृष्टय। स्वमते तु भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तारकजित्। कस्मात्? तारयन्ति संसारसमुद्रस्य पार नयन्ति भव्यजीवान् तारका गणधरदेवा नगारकेवलिसूर्युपाध्यायसर्वसाधव तान् जितवान्, सर्वेषामप्युपरि बभूव, तेन तारकजिदुच्यते। अथवा तारम् त्युच्चै शब्द, त कायन्ति ध्वनन्ति गर्जनं कुर्वन्ति तारका उद्वेलसजलधरा, तान् निजेन ध्वनिना जितवान् तारकजित्। उक्तञ्च देवनन्दिना भट्टारकेन।

[illegible] ।
[illegible] ॥

---

१ द अरातिरभिमातिरमिमातिर्नरके। २ द पाठोऽयं नास्ति।

अथवा तार रूप्य शुक्लमित्यर्थः । तारवत् रूप्यवत् शुक्लक परमात्मा, त जितवान् हस्ते कृतवान् प्रासवानिति यावत् । कममलकलङ्करहित परमात्मान प्रासवानित्यर्थ । अथवा ताडयति आत्मानं ताडको मोहः तं जितवान् तारकजित् । अथवा तालयति मुद्रयति मोक्षपुरद्वारे कपाटरूपतया तिष्ठति तालकोऽन्तरायः पञ्च प्रकार', त जितवान् मूलादुन्मूलितवान् तारकजित् । अथवा हस्तताल दत्वा श्मशाने नृत्यति तालको रुद्र, तं जयति निजपादाक्रान्तं करोति तारकजित् (६६) । **गणनाथ** — परमते दण्डी वामन इत्यादयो रुद्रगणा स्तेषां नाथो रुद्र गणनाथ । स्वमते गणस्य द्वादशभेदसघस्य नाथ स्वामी गणनाथ । अथवा गणे संख्याया नाथ समथ गणनाथ अचलात्मकपर्यन्तगणितशास्त्र समर्थ इत्यर्थ । अथवा नाथृ नाथृ उपतापैश्वर्याशीष्षु च इति धातुयोगात् गणसघ नाथत ऐश्वर्य ददाति आशीर्विषय वा करोति गणनाथ । अथवा गणनाया मुख्यत्वे तिष्ठति गणनाथ । सञ्ज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिस्तु यथाकथञ्चित् इति वचनात् । आतोऽनुपसर्गात्क आलोपोऽसार्वधातुके । आकारलोप सकारलोपश्च (७) । **विनायक** विशिष्टाना गणीन्द्र सुरेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र विद्याधरचारणादीना नायक स्वामी विनायक । अथवा विगतो नायको यस्य स विनायक सर्वेषा प्रभु रित्यर्थ । अथवा वेर्गरुडस्य नायक विनायक ससारविषनि सूदकत्वात् । (७१) ।

विरोचनो वियद्रत्न द्वादशात्मा विभावसु ।
द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चित्रभानुस्तनूनपात् ॥१ ६॥

विरोचन —विशिष्ट रोचन क्षायिक सम्यक्त्व यस्य स विरोचन । अथवा विशिष्ट लोकालोकप्रकाशनं लोचन केवलज्ञानलक्षण चक्षुर्यस्य स विरोचन । अथवा विगतं रोचन कूटशाल्मलिर्यस्मादसौ विरोचन नरकदु खनिवारक इत्यर्थ । अथवा विशिष्टा रोचना उत्तमा स्त्री मुक्तिवनिता यस्य स विरोचन । अथवा विगत रोचन ससारप्रीतिर्यस्य स विरोचन । अथवा विशिष्ट रोचन दीप्तिर्यस्य स विरोचन । अथवा विरूपिका जिनपूजाया विरुद्धा रोचना गोपित्त यस्य स विरोचन । अथवा विशेषेण रोचते शोभते विरोचन निराभरणभासुरत्वात् (७२) । **वियद्रत्नम्** —वियत आकाशात् रत्न रत्नवृष्टिर्यस्य यस्माद्वा दातुर्गृहे वियद्रत्नम् । अथवा वियत आकाशस्य रत्नं अन्तरिक्षचारित्वात् । अथवा वियतस्तनुवातवातवलयस्य रत्नं भविष्यति वियद्रत्नम् । अथवा विशिष्ट यन्ता गच्छन्तो मन्दगमना महामुनयस्तेषु रत्न स्वजात्युत्तमा (७३) । उक्तञ्च—

मदगमणा मोक्ष च भासणं कोह लोहपरिहरणा ।
इ वियदप्पुरुहणा समयाणा विहूसणं एवं ॥

द्वादशात्मा —द्वादशानां गणानामात्मा जीवप्राय द्वादशात्मा । अथवा द्वादश अङ्गानि आत्मा स्वभावो यस्य स द्वादशात्मा । अथवा द्वादश अनुप्रेक्षा आत्मनि छद्मस्थावस्थाया यस्य स द्वादशात्मा (७४) । **विभावसु** — कर्मेन्धनदहनकारित्वात् विभावसु अग्निरूप । मोहान्धकारविघटनपटुत्वात् विभावसु सूर्य । लोकलोचनामृतवर्षित्वाद्विभावसुश्चन्द्र । कमसृष्टिप्रलयकरित्वाद् विभावसु रुद्र । आत्मकर्मबन्धसविभेदकत्वाद् विभावसुर्भेदज्ञानरूप । विभा विशिष्ट तेजो वसु धन यस्य स विभावसु, केवलज्ञान धन इत्यर्थ । अथवा विशिष्टया भया दीप्त्या युक्तानि वसूनि रत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि यस्य स विभावसु । अथवा विभा विगततेजस्का आ समन्ताद् वसवो देवविशेषा यस्य स विभावसु । यादृशो घातिक्षयजस्तेज समूहो भगवति वर्तते न तादृशोऽन्यदेवे वर्तत इत्यर्थ । अथवा विशिष्टा भा दीप्तिं अवति रक्षति विभावा । ईदृशी सूर्जननी यस्य स विभावसु । पुंवद्भावितपुंस्कादनूङ्पूरण्यादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे इति विभावा शब्दस्य पुंवद्भावत्वाद् ह्रस्वत्व । अथवा विभावं रागद्वेषमोहादिपरिणाम विनाशयति विभावसुः । षोऽन्त कर्मणि इति धातु । सर्वधातुभ्य ड । आलोपोऽसार्वधातुके (७५) । **द्विजाराध्य** —द्विजानां मुनीनामाराध्यो द्विजाराध्यः, जैनब्राह्मणैराराध्यो न तु कर्मचाण्डालैरक्षरम्लेच्छापरनामभि । अथवा द्विजा विप्रक्षत्रियवैश्या द्विजशब्देन सम्यग्दृष्टयो लभ्यन्ते, तैराराध्यः । तथा चोक्तं जिनसेनदेवैः—

वदन्निवास भूतस्य वर्जिता शुभ दीक्षितम् ।
यतो रत्नत्रयाधारस्तस्मात् तेऽपि तद्गुणाः ॥

तेन मुनिभ्यः क्षीणा यद्यत इति तात्पर्यम् । अथवा द्विजे पर्यायादिभिराराध्य । उक्तञ्च पूज्यपादैः—

येनात्मबोधमधिशिखरगिरा विनापि
नेमिः स्तुतोऽपि पटुनापि गिरा विनापि ।
कन्दर्पदर्पदलनं हतमोहजालं
स्तस्य श्रियो दिशतु नः खलमोहजालम् ॥

अथवा द्विजा ब्राह्मणा आरो मङ्गलः शनैश्चरश्च द्विजारा तेषामाधिर्मानसी पीडा तस्यां साधुर्मानस दु खनिवारक द्विजाराध्य । यदुगवादिव । ईदृशो भगवान् यत् शनैर्मङ्गलग्रहस्यापि मन पीडा निषेधति, सर्वे ग्रहा अपि स्वामिन शरणं प्रविशन्ति स भगवांस्तेषा दु ख निवारयति । अथवा द्विजाना दन्तानामुपरि दन्तान् धृत्वा योगिजना भगवन्तमेकाग्रतया ध्यायन्ति द्विजाराध्य । स द्विजो यो न जन्मवान् इति निरुक्तः (७६) । **बृहद्भानु** — बृहत अलोकस्यापि अपर्यन्तकस्यापि व्यापिनो भानव केवलज्ञानकिरणा यस्य स बृहद्भानु । वृषभ देव बलकल पल भा इति अलतनिपाता । अथवा भाति शोभते भानु दिनम् । दाभाभी भूभ्यो नु । तनायमथ बृहत् महत्तरा भानुर्दिनं पुण्य यस्य स बृहद्भानु । तीथकरनामलक्षणमहा पुण्ययुक्त इत्यथ । अथवा बृह महान लोकालोकप्रकाशको भानू रवि बृहद्भानुः । अथवा बृहद्भानुर्वैश्वा नर पापकर्मदाहक पावकश्चेत्य र (७७) । **चित्रभानु** —चित्रा विचित्रास्त्रैलोक्यलोकचित्तचमत्कार कारिणो विश्वप्रकाशक वाद् भानव केवलज्ञानकिरणा यस्य स चित्रभानु । अथवा चित्रा आश्चर्यजनका भानवा दिनानि पुण्यानि यस्य स चित्रभानु । अथवा चित्रेण आश्चर्येण युक्तो भानु सूर्यो यत्र स चित्रभानु भानोरधिकतेजस्कत्वात् (७८) । **तनूनपात्**— तनूं कार्य न पातयति छद्मस्थावस्थायां नियत वृत्तानुपवासान् कृत्वापि लोकाना मार्गदर्शनाथ पारणां करोति तनूनपात् । केवलज्ञाने उत्पन्ने तु भगवान् कवलाहार न गृह्णात्येव तद्ग्रहणे मोहसद्भावात् । उक्तञ्च **जिनसेनदेवै** [२]—

न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात् ।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तु कवलाहारभुग्भवेत् ॥
असद्वेद्योदयाद् भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधी ।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्य जरद्घृतम् ॥
असद्वेद्यविषं घातिविध्वंसध्वस्तशक्तिकम् ।
त्वय्यकिञ्चित्कर मन्त्रशक्त्येवाऽपबलं विषम् ॥
असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायत ।
त्वय्यकिञ्चित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदय [३] ॥

अथवा तनूनपात् भगवान् मुक्तिगतो यदा भविष्यति तदा तनो परमौदारिकचरमशरीरात् किञ्चिदून शरीराकार निजसिद्धपर्यायाकार भव्यजीवान् पातयति प्रापयतीति तनूनपात् (७९) ।

द्विजराज सुधाशोचिरौषधीशः कलानिधिः ।
नक्षत्रनाथः शुभ्रांशुः सोम कुमुदबान्धवः ॥१०७॥

द्विजराज —द्विजाना विप्रक्षत्रियवैश्यानां राजा स्वामी द्विजराजः । तर्हि शूद्राणा स्वामी किं न भवति ? भवत्येव, ते तु वर्णत्रयस्य शुश्रूषका , तेषां सह समानां विशेषेण स्वामी । अथवा द्वौ वाराणु

[१] महापुराण पर्व ४२ श्लोक २८ । २ ज सेनपादैः । ३ महापुराण पर्व २५ श्लोक ३९ ४१ ।

त्कृष्टतया ससारे आयन्त उत्पद्यन्ते द्विजा अहमिन्द्रविशेषा विजयादिषु द्विचरमा इति सूत्रकारवचनात् । तेषां राजा द्विजराज । अथवा द्वे च ते जरे वार्धिक्ये द्विजरे वलित पलितलक्षणे ते द्वे अपि जरे द्विप्रकारे अपि जरे न जायेते नोत्पद्येते यस्य स द्विजराजः । भगवति जीवितपर्यन्तेऽपि न वलय त्वक् संकोचाः न पाण्डुरकेशा शिरसि जायन्ते इति भगवान् द्विजराज । अथवा द्विजरो जराजीर्ण उर्वशीवेश्यायां च वलित चित्तो विकलबुद्धि घात् द्विजगेऽजो ब्रह्मा यस्य स द्विजराज । इय व्युत्पत्तिस्तु लोकसिद्धान्तानुसारिणी ज्ञात या ब्रह्मणो जैनशासनेऽभावात् । तदुक्तम्—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्म ति गी प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा[१] ॥

अथवा द्वयो स्त्रीपुरुषयो संयोगे सति जायते उत्पद्यते द्विज कन्दर्प । तं राति गृह्णन्ति ये ते द्विजरा हरिहरहिरण्यगर्भा तान् अजति क्षिपति त मत निराकरोतीति द्विजराज (८) । **सुधाशोचि** —सुधावत् अमृतवत् लोचनसौख्यदायकं शोची रोचिर्यस्य स सुधाशोचि (८१) । **ओषधीश** —औषधीनां जन्म जरामरणनिवारणभेषजाना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामधीश स्वामी औषधीश जन्मजरामरणनिवारणक इत्यथ । शरीराणा शरीररोगाणामपि निमूलने समथ इत्यर्थ । अथवा उषस्य शरीरदाहस्य धी बुद्धिरोषधी दहनप्रवेशादिबुद्धि स्त्रीणा मृतपुरुषेण सह गमन छुरिकयोदरविदारण गलपाशेन मरण कूपवापीनदीसाग रादिपात करपत्रदानादिनाऽऽत्महनन सर्वमपि दुर्मरण औषधीरुच्यते । ता श्यति तनूकरोति औषधीश आत्म घातनिषेधक इत्यर्थ । उक्तञ्च **संहितायां** चत्वारिंशत्तमेऽध्याये —

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
तां ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥

आत्मोऽनुपसर्गात्क । अथवा ओषधिया तपश्चरणादिना कर्मदाहधिया श सुख यस्य मते स औष धीश (८२) । **कलानिधि** – कलाना द्वासप्ततिसंख्याना लोके प्रसिद्धाना निधिर्निधानभूत कलानिधि । कास्ता द्विसप्ततिकला इति चेदुच्यते– गीत वाद्य -बुद्धि[४] शौच[४] नृत्य[५] वाच्य[६] विचार मन्त्र वास्तु विनोद नेपथ्य[११]-विलास[१२] नीति[१३] शाकुन क्रीडनक[१५] चित्र[१६] संयोग हस्तलाघव[१९] -कुसु [२०] मेन्द्रजाल[२१] सूचीकर्म स्नेह[२३] पाना हार[२५] विहार[२६] सौभाग्य[२७] गन्ध वस्त्र[२९] रत्न[३०] पत्र[३१] वैद्य[३२] देशभाषित[३३] -विजय[३४]-वाणिज्या[३५] युध[३६] युद्ध[३७]-नियुद्ध समय[३९] वर्त्तन[४०] -गज[४१] तुरङ्ग[४२] पुरुष[४३] स्त्री[४४] पक्षि[४५] भूमि[४६] लेप[४७] काष्ठ[४८] शिल्प[४९] वृक्ष छद्म[५१] प्रश्न[५२] उत्तर[५३] शास्त्र§ शस्त्र[५५] गणित[५६] पठन[५७] लिखित[५८] वक्तृत्व[५९] कवित्व[६०] कथा[६१] वचन[६२] व्याकरण[६३] नाटक[६४] छन्दो[६५]ऽलंकार[६६] दर्शना[६७] वधान[६८] धातु[६९] धर्मा[७०] र्थ काम -शरीरकला[७२]श्चेति । अथवा कलानिधि —क परमब्रह्म आत्मानं लान्ति ददति स्फुटीकुर्वन्ति यास्ता कला द्वादशानुप्रेक्षा वैराग्या दिभावना वा तासां निधिरक्षयस्थानं कलानिधि । अथवा कलाना मधुरालापाना आ समन्तात् चतुर्दिक्षु निधि प्रश्नोत्तरवादीत्यर्थ (८३) । **नक्षत्रनाथ** नक्षत्राणा अश्विनी यादीना नाथ स्वामी नक्षत्रनाथ । अथवा नक्षत्रात् अन्यायात् नाथ उपताप संताप संसारपर्यटनं य मते स नक्षत्रनाथ । नाथृ नाधृ उपतापैश्वर्याशीषु च । अथवा णक्ष सक्ष चक्ष गतौ इतिधातो प्रयोगात् नक्षणं नक्ष गतिरित्यर्थ । सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था भवन्ति तेन नक्षं ज्ञान त्रायन्ते पालयन्ति स्वीकुर्वन्ति नक्षत्रा महामुनयो ज्ञानिन इत्यर्थ । नक्षत्राणां ज्ञानिनां नाथ स्वामी नक्षत्रनाथ (८४) । **शुभ्रांशु** —शुभ्रा उज्ज्वला कर्ममलकलङ्करहिता अंशव केवलज्ञानकिरणा यस्य स शुभ्रांशु । अथवा शुभ्राश्चण्डदीधितिसमाना दीप्तिमन्त अंशवः सूक्ष्मांशा आत्मप्रदेशा यस्य स शुभ्रांशु लोकालोकप्रकाशकात्मप्रदेश इत्यर्थ । अथवा शुभ्रा उज्ज्वला पापरहिता अंशव इव अंशव शिष्या यस्य स शुभ्रांशु । तत्र केचिद् गणधरदेवा केचित् श्रुतज्ञानिन , केचित् पूर्व

१ यशस्ति ६, १ २६६ । † द्व नै । § द्व पाठोऽयं नास्ति ।

धराः, केचित् शिक्षकाः, केचिदवधिज्ञानिनः केचित् केवलज्ञानिनः केचिद्विक्रियर्द्धिसहिताः, केचिन्मनः पर्ययज्ञानिनः, केचिद् वादिनः । एते सर्वेऽपि भगवद्भास्करस्य किरणसदृशाः शुभांशव उच्यन्ते (८५)। सोमः— सूते उत्पादयति अमृतं मोक्षं सोमः । सूयते मेरुमस्तके अभिषिच्यते वा सोमः । अर्ति स्तु सु हु सृ धृ क्षि-क्षायिवामाभासुभ्यो मः । अथवा सा लक्ष्मी सरस्वती च, ताभ्यां उमा कीर्तिर्यस्य स सोमः । अथवा सह उमया कान्त्या वर्तते यः स सोमः (८६)। कुमुदबान्धवः—कुमुदानां भव्यकैरवाणां बान्धव उपकारकः मोक्षप्रापकः कुमुदबान्धवः। अथवा कुषु तिसृषु पृथ्वीषु मुदो हर्षो येषां ते कुमुदाः इन्द्र-नरेन्द्र धरणेन्द्राः तेषां बान्धव उपकारकः कुमुदबान्धवः। अथवा कुत्सिते अश्वमेधादिहिंसाकर्मणि मुद् हर्षो येषां ते कुमुदः तेषामबान्धवः तन्मतोच्छेदकः कुमुदबान्धवः (८७)।

लेखर्षभोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः ।
धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिनन्दनः ॥१९८॥

लेखर्षभः —रिषि ऋषी गतौ तुदादौ परस्मैपदी धातुः, तेन ऋषति गच्छतीति ऋषभः । ऋषि वृषिभ्यां अभक् इति उणादिसूत्रेण अत्र अभ प्रत्ययः । स च यण्वत्, तेन गुणो न भवति। लेखेषु देवेषु ऋषभः श्रेष्ठो लेखर्षभः देवानां मध्ये उत्तमो देव इत्यर्थः (८८)। अनिलः — न विद्यते इला भूमिर्यस्य स अनिलः त्यक्तराज्यत्वात् उर्ध्वान्तरिक्षचारित्वाद्वा तनुवातवातवलये निराधारः स्थास्यतीति वा अनिलः । अथवा न विद्यते इरा वाग् यस्य स अनिलः । अथवा न विद्यते इरा मद्यं यस्य मते स अनिलः रलयोरैक्यं, श्लषत्वात् (८९)। पुण्यजनः —पुण्याः पवित्राः पापरहिता जनाः सेवका यस्य स पुण्यजनः पुण्यजननो वा पुण्यजनः अन्तर्गर्भितार्थमिदं नाम पुण्यं जनयतीति पुण्यजन इति भावः (९०)। पुण्यजनेश्वरः — पुण्यवत्पुरुषाणां ईश्वरः पुण्यजनेश्वरः पुण्यजनानां राक्षसेन्द्राणां सज्जनानां पञ्चाश्चर्यकारकगुह्यकानां वा ईश्वरः स्वामी पुण्यजनेश्वरः । कानि तानि पञ्चाश्चर्याणीति चेदुच्यते (९१)। उक्तञ्च—

सुरयणं साहुक्कारो गंधोदग रयण पुप्फविट्ठीओ ।
तह दुंदुहीणिघोसो पञ्चच्छरिया मुणेयव्वा ॥

धर्मराजः — धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य चारित्रस्य रत्नत्रयस्य उत्तमक्षमादेश्च राजा स्वामी धर्मराजः । अथवा धर्मार्था रो अग्निः पशुहोमनिमित्तं गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निसंज्ञो येषां ते धर्मराः ब्राह्मणास्तानजति क्षिपति निराकरोतीति धर्मराजः (९२)। भोगिराजः —भोगिनां नागेन्द्रादिदेवानां राजा भोगिराजः । अथवा भोगिनां दशाङ्गभोगयुक्तानां चक्रवर्तिनां राजा भोगिराजः (९३)। के ते दशाङ्गभोगा इति चेदुच्यते—

सरत्ना निधयो देव्यः पुरं शय्यासने चमूः ।
भाजनं भोजनं नाट्यं भोगस्तस्य दशांगकः ॥

प्रचेता —प्रकृष्टं सर्वेषां दुःखदारिद्र्यनाशनपरं चेतो मनो यस्य स प्रचेताः । अथवा प्रगतं प्रणष्टं चेतो मनोव्यापारो यस्य स प्रचेताः सङ्कल्पविकल्परहित इत्यर्थः । (९४)। भूमिनन्दनः —भूमीनां अधोमध्योर्ध्वलक्षणत्रैलोक्यलोकान् नन्दयति समृद्धिदानेन वर्धयतीति भूमिनन्दनः । नन्दि वसि मदि दूषि साधिशोभिवर्द्धिभ्य इन्नन्तेभ्यः सञ्ज्ञायां यु नन्द्यादेर्युः । त्रिजगदानन्दकारक इत्यर्थः (९५)।

सिंहिकातनयश्छायानन्दनो ग्रहणांपतिः ।
पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०१॥

सिंहिकातनयः —सिंहिका त्रिजगज्जयनशीला सिंहिका तीर्थकरजननी तस्यास्तनयः पुत्रः सिंहिकातनयः । राहुवत्पापकर्मसु क्रूरचित्तत्वाद्वा सिंहिकातनयः (९६)। छायानन्दनः — छायां शोभां नन्दयति

वर्धयति छायानन्दन । अथवा छायायां अशोकतरुच्छायायां त्रैलोक्यलोक सेवायां मिलितं नन्दयति आनन्दितं शोकरहितं च करोति छायानन्दन । अथवा छाया निजशरीरप्रतिबिम्बं अनातपं च न नन्दयति, अच्छायत्वात् छायानन्दन । अथवा छाया अर्कभार्या तत्प्रभृतिका सर्वापि स्त्री नन्दना पुत्री यस्य स छायानन्दन । अथवा छायाप्रभृतिकाना सर्वासा स्त्रीणां नन्दन पुत्रश्छायानन्दन । अथवा छायां सर्वं प्राणिप्रतिपालन कान्तिं च नन्दयति छायानन्दन । अथवा छाया अन्धकार न नन्दति न तिष्ठति यस्मिन् स छायानन्दन (६७) । उक्तञ्च—

शोभा तमोऽकभार्यायां प्रतिमापंक्त्यनातपे ।
कान्तौ च पालने चवोत्कोचे छाया प्रवर्त्तते ॥

बृहतांपति — बृहता सुरेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्राणा पति स्वामी बृहतांपति । तत्र बृहस्पते किमुच्यते ? अत्र अलुक् समास । **क्वाचद् विभक्तयो न लुप्यत** इति वचनात् (६८) । **पूर्वदेवोपदेष्टा** —पूर्वदेवा नामसुरादीनामुपदष्टा संक्लेशपरिणामनिषेधक पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वैश्चतुर्दशपूर्वै श्रुतज्ञानार्थविशेष देवाना साधर्मैशान सनत्कुमारमाहेन्द्र ब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तवकापिष्ट शुक्रमहाशुक्र शतारसहस्रारानतप्राणतारणा युतान्ताना समवसरणस्थिताना भवनवासि व्यन्तर यातिष्क कल्पोपपन्नाना पूर्वदेवानामुपदेष्टा गुरु । तर्हि अहमिन्द्राणा नवग्रैवेयक नवानुदिश पञ्चानुत्तराणा किमुपदष्टा न भवति ? भवत्येव यतस्ते स्थानस्थिता एव भगवद्वचनानि शृण्वन्ति न समवसरण समागच्छन्ति तेन कारणेन पूर्वेषामेवोपदेष्टा भगवान् कथ्यते । अथवा पूर्व प्रथमतो देवानि पञ्चेन्द्रियाणि तपामुपदष्टा पञ्चेन्द्रियविषयव्यावृत्तिनिषेधकर्त्ता पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वदेवा गणधरदेवा श्रुतज्ञानधराश्चेत्यादयो निर्ग्रन्थास्तेषामुपदेष्टा धर्मकथकोऽधर्मनिषेधकश्च पूर्व देवोपदेष्टा । अथवा पूर्वाभिमुख स्थित सन् देवश्चासावुपदेष्टा पूर्वदेवोपदेष्टा (६९) । **द्विजराज समुद्भव** द्विजाना राज्ञा च समुत् सहर्ष भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भव । लौकिकव्युत्पत्तिस्त्वेवं द्विजराजश्चन्द्रस्तस्मात्समुद्भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवो बुध । स्वमते तु द्विजेषु मुनिषु राजन्ते द्विज राजानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तेभ्य समुद्भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भव रत्नत्रययोनि अयोनिसम्भव इत्यर्थ (१) ।

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिताया जिनसहस्रनामटीकाया ब्रह्मशतनामाष्टमोऽध्याय समाप्त ।

— —

अथ नवमोऽध्याय

शब्दस्तोषग्रन्थिप्रभेदनो जैनसन्मते निपुण ।
विद्वज्जनसान्यतमो जयति श्रुतसागरो वीर ॥
विद्यानन्द्यकलङ्क गौतम-महावीर प्रभाचन्द्रवाक्
लक्ष्मीचन्द्र समन्तभद्र जिनसेनाचार्यवर्याश्च ये ।
श्रीमन्मल्लिमुनीन्द्रभूषणपति श्रीकुन्दकुन्दप्रभु
श्रीश्रीपाल सुपात्रकेसरियुता कुर्वन्तु मे मङ्गलम् ॥
अथ शुभशते टीकां करोमि वीर जिनेन्द्रनामभिवन्द्य ।
शृण्वन्तु मोक्षमार्गे पिपासवो भव्यनव्यतराद् ॥

स प्रै वर्यपंथ ।

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिज्ञस्तथागतः ।
समन्तभद्रः सुगतः श्रीघनो भूतकोटिदिक् ॥ ११० ॥

ॐ नमः । बुद्धः — बुद्धिः केवलज्ञानलक्षणा विद्यते यस्य स बुद्धः । प्रज्ञादित्वाण्णः । अथवा बुध्यते जानाति सर्वमिति बुद्धः । श्रनुबन्धमतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः क्तः । वर्तमाने क्तप्रत्ययः (१) । दशबलः — बौद्धमताभिप्रायेण दश बलानि यस्य स दशबलः । कानि तानि दशबलानीति चेदुच्यते—

दानं शीलं क्षान्ति वीर्यं ध्यानं च शान्तिमपि च बलम् ।
प्राहुरुपाय सुधियः प्रणिधान ज्ञानमिति च दश ॥

स्वमते उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दश लक्षणानि धर्माणाम् । इत्युक्तानां दशानां बलं सामर्थ्यं यस्य स दशबलः । अथवा दो दया बोधश्च ताभ्यां सबलः समर्थो दशबलः, श्लेषत्वात्स-शयोर्न भेदः (२) । शाक्यः — परमते शकेषु जातः शाक्यः बुद्धावतारः । बुद्धस्य किल एते ऽवताराः — एकः शाक्यमुनिर्बुद्धावतारः । शाक्यश्चासौ मुनिः शाक्यमुनिः । शकोऽभिजनोऽस्य शाक्यः । शण्डिकादिभ्यो ञ्यः । यथा शण्डिका अभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः तथा शकाभिजनोऽस्य शाक्यः । द्वितीयो वतारः शाक्यसिंहः सिंह इव शाक्यः शाक्यसिंहः । उपमितं व्याघ्रादिभिरिति समासः । भीमसेनो यथा भीमः कथ्यते सत्यभामा यथा भामा कथ्यते तथा शाक्यमुनिः शाक्य उच्यते । तृतीयोऽवतारः सर्वार्थसिद्धः — सर्वार्थेषु सिद्धो निष्पन्नः सर्वार्थसिद्धः । चतुर्थोऽवतारः शौद्धोदनिः । शुद्धोदनस्य राज्ञोऽपत्यं शौद्धोदनिः । इत्यादि । गौतमः गौतमगोत्रावतारात् पञ्चमोऽवतारः । षष्ठोऽर्कबन्धुरवतारः अर्कबन्धुः सूर्यवंश्यत्वात् । सप्तमोऽवतारो मायादेवीसुतः । स्वमते शक्नोतीति शकः तीर्थकृत्पिता । शकस्यापत्यं पुमान् शाक्यः । अथवा अक अग कुटिलायां गतौ भ्वादौ परस्मैपदी । अकनं आकः केवलज्ञानम् शं सुखं अनन्तसौख्यम् । शं च आकश्च शाकौ तयोर्नियुक्तः शाक्यः । यद्गवादित (३) । षडभिज्ञः बौद्धमते दिव्यं चक्षुर्दिव्यं श्रोत्रं पूर्वनिवासानुस्मृतिः परचित्तज्ञानं आस्रवक्षय ऋद्धिश्चेति षट् अभिज्ञा यस्य स षडभिज्ञः । स्वमते षट् जीव पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशान् षड्द्रव्यसंज्ञान् पदार्थान् अभिसमन्तात् जानातीति षडभिज्ञः (४) । तथा गतः — तथेति सत्यभूतं गतं ज्ञानं यस्य स यथागतः (५) । समन्तभद्रः —समन्तात् सर्वत्र भद्रं कल्याणं यस्य स समन्तभद्रः । अथवा समन्तः सम्पूर्णः स्वभावः भद्रं शुभं यस्य स समन्तभद्रः (६) । सुगतः — शोभनं गतं मन्दगमनं यस्य स सुगतः । अथवा सुष्ठु शोभनं गतं केवलज्ञानं यस्य स सुगतः । अथवा सुगा सुगमना अग्रेऽग्रे गामिनी ता लक्ष्मीर्यस्य स सुगतः (७) । श्रीघनः — श्रिया लक्ष्म्या घनो मेघः कनकव र्षित्वात् श्रीघनः । अथवा श्रिया लक्ष्म्या केवलज्ञानादिलक्षणया निर्वृतः श्रीघनः (८) । भूतकोटि दिक्—भूतानां प्राणिनां कोटीरनन्तजीवान् दिशति कथयति मुक्तिं गतेष्वपि अनन्तजीवेषु संसारे अनन्ता नन्तजीवाः सन्तीति न कदाचिदपि जीवराशिक्षयो भवतीति शिक्षयति भूतकोटिदिक् । उक्तञ्च—

जइया होहिदि पिच्छा जिणमग्गे अत्थि उत्तरं तइया ।
एक[1]णिगोदसरीरे जीवाणंतं तु सिद्धिगया ॥

अथवा भूतानां अतीतानां भवान्तराणां कोटीरनन्तभवान्तराणि दिशति कथयति भूतकोटिदिक् । अथवा भूतान् जीवान् कोटयन्ति कुटिलान् कुर्वन्ति मिथ्यात्वं ग्राहयन्ति भूतकोटिनो जिमिनि कपिल कणचर चार्वाक शाक्याः । तान् दिशति भेदान्तभेदान् कथयति भूतकोटिदिक् । अथवा भूतकोटीनां दिक् विश्रामस्थानं भूतकोटिदिक् । अथवा भूतानां जीवानां कोटिं परमप्रकर्षं अनन्तज्ञानादिगुणातिशयं दिशति भूतकोटि दिक् (९) ।

---

[1] अ एक ।

सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षणः ।
बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्वयवाद्यपि ॥१११॥

सिद्धार्थ —सिद्धा प्राप्तिमागता अर्थाः धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो यस्य स सिद्धार्थ । अथवा सिद्धानां मुक्तात्मनामर्थ प्रयोजन यस्य स सिद्धार्थ सिद्धपर्यायादपर प्रयोजनं किमपि भगवतो न वर्तत इत्यर्थः । अथवा सिद्धा विदुषा प्रसिद्धिं गता अर्थाः जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापलक्षणा नव पदार्था यस्मादसौ सिद्धार्थ । अथवा सिद्धो अर्थो हेतुर्मोक्षकारणं रत्नत्रयं यस्य स सिद्धार्थः (१) । **मारजित्**—मार कन्दर्प जितवान् मारजित् । बौद्धमतानुसारेण तु स्कन्धमार क्लेशमारो मृत्युमारो देवपुत्रमारश्चेति चतुरो मारान् जितवान् मारजित् । अथवा मा लक्ष्मीं इयूति गच्छन्ति मारा । अथवा मा लक्ष्मीरारात्समीपे येषां ते मारा सुरेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्रास्तान् जितवान् निजपादयोर्नामितवान् मारजित् (११) । **शास्ता**—शास्ति विनेयवारान् धर्म शिक्षयति शास्ता (१२) । **क्षणिकैकसुलक्षण**—सर्वे उर्वीपर्वतमेर्वादय पदार्था एकस्मिन् क्षणे एकस्मिन् समये उत्पाद व्यय ध्रौव्यत्रयेण युक्ता क्षणिका ईदृश वचन एकमद्वितीय शोभन लक्षणं सर्वज्ञत्वलाञ्छनं यस्य स क्षणिकैकसुलक्षण (१३) उक्तञ्च **समन्तभद्रस्वाम्याचार्येण**—

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥

बोधिसत्त्व रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधि बोधे सत्त्व विद्यमानत्वं अस्तित्व सत्तारूपतया सर्वेषु प्राणिषु शक्तिरूपतया विद्यते यस्य मते स बोधिसत्त्व । अथवा निःक्रमणकल्याणावसरे बोधेर्वैराग्यस्य सत्त्वं समीचीनत्व यस्य स बोधिसत्त्व (१४) । **निर्विकल्पदर्शन** – निर्विकल्प क्षणविनश्वरत्व निर्विचारतया दर्शने मते यस्य बुद्धस्य स बुद्धो निर्विकल्पदर्शन । स्वमते तु निर्विकल्प अविशेष सत्तावलोकनमात्र दर्शन यस्य स निर्विकल्पदर्शन । उक्तञ्च —

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं
साकार च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते नेत्र क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः
स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगा[१] ॥

अथवा निर्विकल्पानि विचाररहितानि दर्शनानि अपरमतानि यस्य स निर्विकल्पदर्शन । तथा चोक्तं **सोमदेवेन** सूरिणा—

[७]अन्तर्दुरन्तसंचार बहिराकारसुन्दरम् ।
न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किंपाकसन्निभम् ॥
श्रुतिशाक्यशिवाम्नाय वौद्धमांसासवाश्रय ।
वदन्ते मखमोक्षाय विधिरत्र तदन्वय ॥
[५]भस्मभस्मजटाजूटयोगपट्टकटासनम् ।
मेखला प्रोक्षया मुद्रा वृसी दण्डः करण्डकः[६] ॥
शौचमज्जनमाचाम पितृपूजानजाचनम् ।
अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥
को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपः क्रम ।
को बन्धः कश्च मोक्षो वा यत्रवेदं न विद्यते ॥

---

१ ज प्रतिरंति । २ द नैत्रेति । स तेनैव ३ प्रतिष्ठा सा २ ६ । ४ स दूरस्त । ५ ज भस्मि । ६ द कुक्क । ७ यशस्ति ६ २६६ ।

[illegible] क्रिया शुद्धापि देहिषु ।
[illegible]कल्पाप्ये[1] चिन्तामणिरिव जायते ॥
तत्संस्तवं प्रशंसां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु ।
ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चित्व च विभ्रमेत्[2] ॥

अथवा निश्चितो विशिष्ट कल्प स्वर्गो मोक्षश्च दर्शने आर्हते मते यस्य स निर्विकल्पदर्शनः । अथवा निर्गतो विशिष्टशास्त्रबहिर्भूतो वीरषट्कल्याणगर्भापहरणप्रतिपादक कल्प प्राकृतशास्त्रविशेषो दर्शने मते यस्य स निर्विकल्पदर्शन (१५) । **अद्वयवादी**—बौद्धमताभिप्रायेण अद्वय विज्ञानाद्वैतं वदती त्यवश्यं अद्वयवादी । स्वमते निश्चयनयमाश्रित्य आत्मा च कर्म च एतद्द्वयं न द्वय वदतीत्येवमवश्य अद्वयवादी । उक्तञ्च—

बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ शुभाशुभौ ।
इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते ॥

अथवा न द्वयं रागद्वेषद्वयं वदति मोक्षप्राप्तये अद्वयवादी । न सर्वथा नित्य न सर्वथा अनित्य, एतद्द्वय न वदतीति अद्वयवादी (१६) ।

महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी सन्तानशासक ।
सामान्यलक्षणचण पञ्चस्कन्धमयात्मदृक् ॥१९॥

महाकृपालु कृपा विद्यते यस्य, स कृपालु । महांश्चासौ कृपालुः महाकृपालु । तद्धित आलु । तथा च । **शाकटायनवचनं**—शीतोष्णतृप्रादसह आलु शीतं न सहते इत्यर्थे आलु । शीतालु उष्णालु तृप्तालु । कृपायाश्च आल । दयि पति गृहि स्पृहि श्रद्धा तन्द्रा निद्राभ्य आलु । यथा दयालु स्तथा कृपालु (१७) । **नैरात्म्यवादी** —बौद्धमते किल निर्गत आत्मा निरात्मा, क्षणविनश्वरत्वात् । निरात्मनो भाव नैरात्म्यम् । नैरात्म्य वदतीत्येवमवश्य नैरात्म्यवादी । तथा च **भट्टाकलंक** —

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्य प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ॥
राज्ञ श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगत पादेन विस्फालित[4] ॥

एष वादो वाराणस्या बभूव । स्वमते नीरस्य जलस्य अप्कायिकस्य भावो नैर नीरसमूहस्तदुपलक्षणा पञ्चस्थावराणा तत्र आत्मा शक्तिरूपतया केवलज्ञानादिस्वभावो नैरात्मा । नैरात्मनो भाव नैरात्म्यम्, तद्वदतीति नैरात्म्यवादी । अतएव महाकृपालुरिति पूर्वमुक्तम् । (१८) **सन्तानशासक** — बौद्धमते किलात्मा क्षण विनश्वरो वर्तते सन्तानेन ज्ञान प्रकाशते । अन्वय विना सन्तान कुतस्त्य स्यात् । उक्तञ्च —

सोऽहं योऽभूवं बालवयसि निखिलन् [illegible] अहासि ।
सन्तानोऽप्यत्र न वासनापि यदन्वयभावस्तेन नापि[5] ॥

अन्यच्च —

सन्तानो न निरन्वये विसदृशे सादृश्यमेतन्न हि
प्रत्यासत्तिरिहो कुतः समुदयः का वासना वासिते ।
तत्त्वे चापि समस्तमानरहिते तावागते साम्प्रतं
धर्माधर्मनिबन्धनो विधिरयं कौतस्कुतो वर्तताम्[6] ॥

---

१ ब कल्पमाते । २ ब कुदृष्टिषु जायते । ३ यशस्ति० ६, २६९ । ४ अकलंकस्तो १४ । ५ यशस्ति० ५,२५८ । ६ यशस्ति० ५,२५६ ।

एवं च सति सन्तानं शास्तीति सन्तानशासक, इति न घटते । स्वमते तु अनादिसन्तानवान् जीवस्त सन्तानं शास्तीति सन्तानशासक । (१६) । **सामान्यलक्षणचण** —शुद्धनिश्चयनयमाश्रित्य सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति वचनात् सर्वेषा जीवाना सामान्यलक्षणम् । तत्र चणा विचक्षणः सामान्यलक्षणचणा (२०)। **पञ्चस्कन्धमयात्मदृक**—बौद्धमते पञ्चस्कन्धा विज्ञान वेदना संज्ञा संस्कार रूप-नामानः । तन्मयमात्मान पश्यतीति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक । [1]स्वमते तु शुद्धाशुद्धनयमाश्रित्य पञ्चस्कन्धमय पञ्चज्ञानमय मात्मान पश्यतीति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक् (२१) ।

भूतार्थभावनासिद्ध चतुर्भूमिकशासन ।
चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वय ॥११२॥

भूतार्थभावनासिद्ध —चार्वाकमते किलैवं कथयन्ति भूतना पृथिव्यप्तेजोवायूनामर्थाना भावनायां[2] सयोग सति आत्मा सिद्ध उत्पन्न पृथगात्मा न वर्तते । उक्तञ्च **चार्वाकमतम्**—

पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तो पश्यन्ति ये धर्ममदृष्टसाध्यम् ।
पश्यन्ति यऽन्य पुरुष शरीरात्पश्यन्ति ते नीलक पीतकानि ॥

प्राणापानसमानादान यानव्यतिकीर्णेभ्य कायाकारपरिणतिसकीर्णेभ्यो जलपवनावनिपवनसखेभ्य पिष्टोदकगुडधातकीप्रमुखेभ्य इव मदशक्ति पर्णचूर्णक्रमुकेभ्य इव रागसम्पत्तिस्तदात्मकायगुणस्वभावतया चैतन्यमुपजायते । तच्च गर्भादिमरणपर्यन्त तत्पर्यायमतीत सत् पादपात्पतित पत्रमिव न पुन प्ररोहति । उक्तञ्च—

जलबुद्बुदस्वभावेषु जीवेषु मदशक्तिप्रतिज्ञाने च विज्ञाने किमर्थोऽयं ननु लोकस्यात्मसम्पन्नप्रयत्नस्तद पहायार्माणां जीवन्मृतमनीषाणां मनीषितमेतत्कुशलाशयैराश्रयम्[4] ।

यावज्जीवेत्सुख जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरम् ।
भस्मीभूतस्य कायस्य पुनरागमन कुत ॥

स्वमते तु भूतार्थभावनासिद्ध भूत सत्य सत्यरूपो योऽसावर्थो भूतार्थ शुद्धनिश्चयनयस्तस्य भावना वासना पुन पुनश्चिन्तन भूतार्थभावना । [6]भूतार्थभावनया कृत्वा स्वामी सिद्धो घातिसघातघातनो बभूव केवलज्ञान प्राप्तवानित्यर्थ । उक्तञ्च **कुन्दकुन्दाचार्यैं** समयसारग्रन्थे—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवे जीवो ॥

अतोऽयमेव परमगुरुरनेकान्ततत्वप्रकाशनो दृष्टेष्टाविरुद्धवचनत्वात्प्रक्षीणकल्मषसमूह वाच भूतार्थ भावनासिद्ध (२२)। **चतुर्भूमिकशासन** – चतस्रो भूमयो यस्य तच्चतुर्भूमिकम् । चार्वाकमते चतुर्भूमिक पृथिव्यप्तेजोवायुभूतचतुष्टयरूपमेव सर्व जगद्वर्तते । स्वमते तु चतुर्भूमिकं नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिलक्षणं शासनं शिक्षणमुपदेशो यस्य स चतुर्भूमिकशासन । आगमे पूर्वं प्रकीर्णकैश्चतुर्गतीनामेव विस्तरो वर्तते । अथवा चतुर्भूमिकं प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग द्रव्यानुयोगलक्षणं शासन मत यस्य स चतुर्भूमिक शासन (२३)। **चतुरार्यसत्यवक्ता** – बौद्धमते किल बुद्धश्चतुरार्यसत्यवक्ता भवति । चत्वारि च तानि आर्यसत्यानि चतुरार्यसत्यानि । तेषा वक्ता चतुरार्यसत्यवक्ता । कानि तानि बौद्धमते चत्वारि आर्यसत्यानि ?

---

१ ज स्वमते पचस्कन्धमय औदारिकादिपंचशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्न वा आहारभाषामनस्तेज कार्मणवर्गणानिष्पन्नं वा स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियसमूहमय वा आत्मान अशुद्धनयेन द्रव्यभावरूप संसारिपर्याय पश्यति सम्यग्जानाति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक । ईदृक् पाठ । २ स म भावनां । ३ ज वत० । ४ स म तथा च परलोकाभावे इति पाठ । ५ ज रार्थ्यं । ६ भूतार्थभावनाप्रकरणपर्यन्तज्ञं योगिज्ञानम् । न्यायवि १ ११, । ७ स प्रे भावनयात् तत्त्वात् स्वामी इति पाठः ।

इति चेदुच्यते—विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कार रूपनामानः पंच संसारिणः स्कन्धाः दुःखमितीदमार्यसत्यम् । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रनामानि तावत्पंचेन्द्रियाणि स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दनामानः पंचविषयाः, मानस धर्मायतनं चेति द्वादश आयतनानि इति द्वितीयमार्यसत्यम् । आत्मा तृतीयमार्यसत्यं मोक्षश्चतुर्थमार्यसत्यम् । चतुर्णामार्यसत्यानां वक्ता प्रतिपादक चतुरार्यसत्यवक्ता । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु चतुरार्यसत्यवक्ता—चतुर्षु मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टये प्रवीणाश्चतुरा श्रीमद्गणधरदेवा । अर्यन्ते सेव्यन्ते गुणैर्गुणवद्भिर्वा आर्या । चतुराश्च ते आर्याश्चतुरार्या तेषां आर्यभूमिभवमनुष्यादीनां वा सत्यस्य वक्ता चतुरार्यसत्यवक्ता (२४) । **निराश्रयचित्**—निर्गतो निर्नष्ट आश्रय स्थानं यस्याः सा निराश्रया, निराश्रया चित् चेतना यस्य बुद्धस्य स निराश्रयचित् । बौद्धमते किल चेतना निराश्रया भवति । उक्तञ्च—

> दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
> दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेत क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

स्वमते तु श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु निराश्रयचित् निराश्रया रागद्वेषमोहसमस्तसंकल्पविकल्पादिजाल रहिता चित् चेतना शुक्लध्यानैकलोलीभाव आत्मा यस्य स निराश्रयचित् (२५) । **अन्वय**—अनु पृष्ठतो लग्न अय पुण्यं यस्य सोऽन्वय (२६) ।

> **यौगो वैशेषिकस्तुच्छाभाववित् षट्पदार्थदृक् ।**
> **नैयायिक षोडशार्थवादी पञ्चार्थवर्णक ॥ ११४ ॥**

यौग—यौगो नैयायिक । भगवांस्तु ध्यानयोगाद् यौग , मनोवचनकाययोगाद् यौगः । अथवा *य सूर्यश्चन्द्रश्च या रमा या याचका या युक्ति यो यथार्थं यो योग उ शंकर ऊ रक्षी*[1] एते यं गच्छन्ति स यौग (२७) । **वशेषिक**—वैशेषिकाः काणादा[2]स्तेषां मते षट् पदार्था भवन्ति । ते के ? द्रव्यं गुण कर्म सामान्यं विशेष समवायश्चेति । तत्र द्रव्य नवप्रकारम् । के ते नव प्रकारा—भूमिर्जलं तेज पवन आकाश कालो दिक् आत्मा मनश्चेति । चतुर्विंशतिः गुणाः । के ते ? आर्याद्वयेन कथयामि—

> स्पर्शरसगन्धवर्णा शब्दा संख्या वियोग-संयोगौ ।
> परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥
> बुद्धिसुखदु खेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्कारा ।
> द्वेष स्नेहगुरुत्वे द्रवत्वयोगौ गुणा एते ॥

कर्म पञ्च प्रकारम्—

> उत्क्षेपावक्षेपावाकुंचनकं प्रसारणं गमनम् ।
> पञ्चविधं कर्मैतत्परापरे द्वे च सामान्ये ॥
> तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
> निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥
> य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
> सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स च भवति समवाय ॥

यथा तन्तव आधार , तन्तुषु पट आधेयः । एव छिदिक्रिया आधारः, छेद्यः आधेय । अमुना प्रकारेण तन्तुपटयो समवाय, छिदिक्रिया-छेद्ययो समवाय । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति प्रमाणानि त्रीणि ।

---

१ व रक्षी । २ व कण ।

नित्यानित्यैकान्तो वाद । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु वैशेषिक —इन्द्रियजं ज्ञाने सामान्यं अतीन्द्रियज्ञानं विशेष , केवलज्ञानमित्यर्थ । विशेषेण केवलज्ञानेन सह दीव्यति संसृष्ट तपति चरति वा वैशेषिकः (२८) । **तुच्छाभावभित्**—तुच्छश्च गुणातुच्छत्वं अभावश्च आत्मनाश तुच्छाभावौ तौ भिनत्ति उत्थापयति उच्छेद यति तुच्छाभावभित् (२६) । उक्तञ्च —

> तुच्छोऽभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी ।
> घरादिषु धियो हानौ विकल्पे सिद्धसाध्यता ॥

तथा च **पूज्यपादै** —

> नाभाव सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिन युक्त
> रस्त्यात्माऽनादिबद्ध स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ।
> ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा
> ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धि ॥

षट्पदार्थदृक्—काणादमते द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायाभावा (सामान्यविशेषसमवाया) षट् पदार्था । स्वमते जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशनामान षट् पदार्था । तान् पश्यति जानाति च द्रव्यगुण पर्यायतया सम्यग वेत्ति षट्पदार्थदृक् (३)। **नैयायिक** —न्याये स्याद्वादे नियुक्तो नैयायिक । अन्ये तु शैवादय सर्वेऽपि अन्यायकारका अनैयायिका नाममात्रेण नैयायिका (३१)। **षोडशार्थवादी**— नैयायिकमते षोडशार्था । ते के १ प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास जल जाति निग्रहस्थानानि चेति । तेषा विवरण तु **तर्कपरिभाषादिषु** मिथ्याशास्त्रेषु ज्ञातव्यम् । स्वमते तु षोडश—**दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य** । इति सूत्रेण सूचितानि षोडशकारणानि षोडशार्था तान् वदतीत्येव शील षोडशार्थवादी (३२) । **पञ्चार्थवर्णक** —पञ्चार्थवर्णक काणादो वैशेषिकश्च कथ्यते । स तु पञ्चार्थ वर्णक द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान् पञ्च पदार्थान् वर्णयति । अभावस्तु तत्त्वं न वर्तते । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्व ज्ञस्तु पञ्च ते अर्था पञ्चार्था । ते क १ कुन्द चन्द्र हिमपटल मौक्तिक मालादय एक शुभ्रोऽर्थ । इन्द्रनीलमणिभिन्नाञ्जन निरभ्रमाकाश उद्वर्तिततरवारिश्चेत्यादिक कृष्णोऽथ द्वितीयोऽर्थ । बन्धूकपुष्प रक्त कमल पद्मरागमणिरित्यादिको रक्तार्थवर्णपदार्थस्तृतीयोऽर्थ । प्रियगु परिणतशिखिग्रीवा शालिपत्र शुकपक्षो मरकतमणिश्चेत्यादिको नीलवर्णश्चतुर्थोऽथ । सन्तप्तकनक चेत्यादि पञ्चमोऽथ । पञ्चार्थै समानो वर्ण पञ्चार्थवर्ण । पञ्चार्थवर्ण क कायो यस्य तीर्थकरपरमदेवसमुदायस्य स पञ्चार्थवर्णक । तथा चोक्त —

> जम्बूधातकिपुष्करार्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवा
> श्चन्द्राम्भोजशिखण्डिकण्ठकनकप्रावृड्घना भाजिन ।
> सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धना
> भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नम ॥

इति पञ्चार्थवर्णक । अथवा पञ्चाना जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशलक्षणाना पञ्चास्तिकायानां वर्णक प्रतिपादक पञ्चार्थवर्णक । अथवा पञ्चाना नैयायिक बौद्ध वैशेषिक-जैमिनीय साख्यपञ्चमिथ्यादृष्टीनामर्थवर्णक पञ्चार्थवर्णक । के ते पञ्च मिथ्यादृष्टय क च तेषामर्था इति चेदुच्यते—नैयायिकाः—पाशुपता जटाधरविशेषाः तेषां दर्शने ईश्वरो देवता । प्रमाण प्रमेय-सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा-हेत्वाभास-छल जाति निग्रहस्थानानि षोडश तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति चत्वारि प्रमाणानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायेऽभावो

मोक्षमार्गः मोक्ष । षडिन्द्रियाणि षड् विषया षड् बुद्धयः सुखं दुःखं शरीरं चेत्येकविंशतिभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तोच्छेदो मोक्ष ।

बौद्धा-रक्तपटा भिक्षुका, तेषां दर्शने बुद्धो देवता । दुःखायतनसमुदयनिरोधमोक्षमार्गलक्षणानि चत्वारि आर्यसत्यानि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे प्रमाणे । क्षणिकैकान्तवादः । सर्वक्षणिकत्व-सर्वनैरात्म्यवासना मोक्षमार्गः । वासनाक्लेशसमुच्छेदे प्रदीपस्येव ज्ञानसंतानस्य अत्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

काणाद शैवदर्शन वैशेषिकमिति । तत्र शिवो देवता । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया षट्पदार्थास्तत्त्वम् । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति त्रीणि प्रमाणानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायेऽभावो मोक्षमार्ग । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्ष ।

जैमिनीय भट्टदर्शन—तत्र देवो नास्ति । नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्य एव तत्त्वनिश्चय । तत्र चोदनालक्षणो धर्मस्तत्त्वम् । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमोऽर्थापत्तिरभावश्चेति षट् प्रमाणानि । नित्यानित्याद्येकान्तवाद । वेदविहितानुष्ठानं मोक्षमार्ग । नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मोक्ष ।

साख्यदर्शनं मरीचिदर्शनम् । तत्र केषाञ्चिदीश्वरो देवता केषाञ्चित्तु कपिल एव । पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि । सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति । प्रकृतेर्महान् बुद्धिरित्यर्थः । महतोऽहङ्कार अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि एकादश चेन्द्रियाणि । तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम् रूपतन्मात्रात्तेज गन्धतन्मात्रात्पृथ्वी रसतन्मात्रादाप स्पर्शतन्मात्राद्वायु । स्पर्शन-रसन घ्राण चक्षुःश्रोत्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादश मन इति । अमूर्तश्चैतन्यरूपोऽकर्त्ता भोक्ता च पुरुष ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

पंग्वन्धवत्प्रकृतिपुरुषयोगात् । प्रत्यक्षानुमानशब्दास्त्रीणि प्रमाणानि । नित्यैकान्तवाद । पञ्चविंशति तत्त्वज्ञानं मोक्षमार्ग । प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनान्निवृत्तायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष । अथाहो भगवान् पञ्चार्थानामेव वर्णको निजं जैनमथ किं न वर्णयति ? सत्यम्, वर्णयत्येव पूर्वमेव स्वस्वरूपनिष्ठत्वात्स्वयमेव तद्रूपत्वात् वर्णित एव सोऽर्थ । तथापि जडजनानां सम्बोधनार्थं वर्ण्यते ।

जैनं नैयायिकं बौद्धं काणादं जैमिनीयकम् ।
सांख्यं षड् दर्शनान्याहुर्नास्तिकीयं तु [illegible] ॥
देवं तत्त्वं प्रमाणं च वादं मोक्षं च बिभ्रति ।
तेषां वीर प्रवक्तारो [illegible] ॥

जैनदर्शनेऽर्हन् देवता, तेन ते आर्हता उच्यन्ते । जीवाजीवास्रवपुण्यपापबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वानि । प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे प्रमाणे । नित्यानित्याद्यनेकान्तवाद । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । कृतकर्मक्षयो नित्यनिरतिशयसुखाविर्भावश्च मोक्षः । पञ्च मतानि तु पूर्वमेवोक्तानि । तर्हि चार्वाकदर्शनं कीदृशं भवति ? चार्वाका नास्तिका लोकायतिकाश्चेति नामानि । तेषां दर्शने देवो नास्ति, पुण्यं नास्ति, पापं नास्ति, जीवो नास्ति, नास्ति मोक्ष इति । पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । पृथिव्यादेः समवायान्मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यशक्तिः । [illegible] दृष्टसुखोपभोग एव पुरुषार्थः । दुर्नयबलप्रवर्त्तिताः हि सर्वेऽपि प्रवादाः । तथाहि—

नैगमनयानुसारिणौ नैयायिक वैशेषिकौ । संग्रहनयानुसारिणः सर्वेऽपि मीमांसकविशेषाः अद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुसारिणः प्रायश्चार्वाकाः । ऋजुसूत्रनयानुसारिणो बौद्धाः । शब्दादिनयाव

शब्दिनो वैयाकरणादयः । ते एते नित्यानित्याद्यनन्तात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतैकधर्मसमर्थनप्रवणा शेषधर्म तिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्णया इत्युच्यन्ते । स्वाभिप्रेतैकधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मस्वीकार-तिरस्कारपरिहारेण प्रवर्तमाना नयाः । सर्वनयमतं तु जिनमत स्याद्वादरूपं प्रमाणमिति (३३) ।

ज्ञानान्तराध्यक्षबोध समवायवशार्थभित् ।
भुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृत ॥११५॥

ज्ञानान्तराध्यक्षबोध —ज्ञानान्तरेषु मतिश्रुतावधिमनःपर्ययेषु अध्यक्ष प्रत्यक्षीभूत उपरि मुक्तो[1] नियुक्तो बोध केवलज्ञानं यस्य स ज्ञानान्तराध्यक्षबोध (३४) । **समवायवशार्थभित्**—समवायस्य वशा ये अर्थास्तन्तुपटवत् मिलितास्तान् भिनत्ति पृथकतया जानाति य स समवायवशार्थभित् (३५) । तथा चोक्तम्—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओग्गासमण्णमण्णस्स ।
मेलता वि य णिच्चं सगसब्भाव ण विजहंति ॥

भुक्तैकसाध्यकर्मान्त —भुक्तेन अनुभवनेन एकेन अद्वितीयेन साध्य कर्मणामन्त स्वभावो यस्य स भुक्तैकसाध्यकर्मान्त । उक्तञ्च—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्त संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥

अथवा अनादौ ससारे कर्मफल भुञ्जानो जीव आयात कदाचित्सामग्रीविशेष सम्प्राप्य कर्मणामन्तं विनाश करोति । ईदृश मत यस्य स भुक्तैकसाध्यकर्मान्त (३६) । एव च सतीद प्रत्युक्त भवति—

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव हि भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम् ॥

निर्विशेषगुणामृत —निर्विशेषा विशेषरहितास्तीर्थकरपरमदेवाना अनगारकेवल्यादीना च घाति सघातघातने सति गुणा अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखादयो यस्य मते स निर्विशेषगुणामृत । गुणा एवामृत पीयूष जन्मजरामरणादु खनिवारकत्वात् । निर्विशेष गुणामृतं यस्य स निर्विशेषगुणामृत । अथवा निर्विशेषैगु णोपलक्षित अमृत मोक्षो यस्य मत स निर्विशेषगुणामृत (३७) ।

साख्य समीक्ष्य कपिल पञ्चविंशतितत्त्ववित् ।
व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेदृक् ॥११६॥

साख्य —सख्यान सख्या तस्यां नियुक्त साख्य ।

प्रथमोऽप्ययमेव संख्याते मध्यमोऽप्ययमेव कथ्यते ।
अन्त्योऽप्ययमेव भगवान् तेन सांख्य स साख्यवान् ॥

स सांख्यो य प्रसंख्यावान् इति तु निरुक्ति (३८) । **समीक्ष्यः**—सम्यक् ईक्षितु द्रष्टु योग्य समीक्ष्य । अथवा समिना योगिनामीक्ष्यो दृश्य समीक्ष्य । अन्ये त्वेनमवलोकयितुमसमर्था सूक्ष्मकेवल ज्ञानदृष्टिरहितत्वादित्यर्थ । येनाय दृष्टस्तेन सर्वं दृष्टमिति वचनात् । अतएव वेदा तवादिभिरप्युक्तं—द्रष्टव्यो ऽयमात्मा श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्र य्याऽऽत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुतेऽनुमिते विज्ञातं इदं सर्वं विदितम् (३९)। **कपिल** —कपिरिव कपिः, मनोमर्कट । कपिं लाति विषय कषायेषु गच्छन्त लाति आत्मनि स्थापयति निश्चली

---

[1] ब मुक्तो ।

करोति यो भगवान् तीर्थंकरपरमदेवः स कपिल उच्यते । अन्यस्तु विषयकषायकलिलचित्तः ज्ञापेन पण्डितम्मन्यान् लोकपुरुषान् भस्मीकरोति, स पापीयान् कपिल: कुक्कुर एव ज्ञातव्य: । अथवा कपिल कं परमब्रह्मस्वरूप मात्मानमपि निश्चयेन लाति गृह्णाति आत्मना सहैकलोलीभावो भवति कपिल । अवाप्योरल्लोपः इति व्याकरणसूत्रेण अपिशब्दस्य अकारलोप (४) । उक्तञ्च—

> वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो ।
> आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा गिरा[१]

पञ्चविंशतितत्त्ववित्— साङ्ख्यमतस्य पञ्चविंशति तत्त्वानि पूर्वोक्तानि ज्ञातव्यानि । स्वमते पञ्चविंशतिभावनानां तत्त्वं स्वरूप वेत्तीति पञ्चविंशतितत्त्ववित् । कास्ता पञ्चविंशतिर्भावना ? अहिंसामहाव्रतस्य पञ्च भावना— वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च । सत्यवचनस्य पंच भावना —क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च । अचौर्यव्रतस्य पच भावना —शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादा पञ्च । ब्रह्मचर्यव्रतस्य पञ्च भावनाः स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागा पञ्च । आकिंचन्यव्रतस्य पञ्च भावना — मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।

अथवा त्रयोदश क्रिया द्वादश तपांसि चेति पञ्चविंशतिभावना । कास्तास्त्रयोदश क्रिया ? षडावश्यकानि पञ्चनमस्कारा अस्सही निस्सही चेति । अथवा पचविंशते क्रियाणा तत्ववित् स्वरूपज्ञायकः । कास्ता पचविंशति क्रिया ? उच्यन्ते—शुभाशुभकर्मादानहेतवो व्यापारा पञ्चविंशतिक्रिया । तथाहि—चैत्यगमन गुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया १ । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका कर्मप्रवृत्ति मिथ्यात्वक्रिया २ । गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभि प्रयोगक्रिया ३ । संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्य समादानक्रिया ४ । ईर्यापथनिमित्ता ईर्यापथक्रिया ५ । एता पञ्च क्रिया । क्रोधादिवशात् प्रादोषिकी क्रिया १ । प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यम कायिकी क्रिया २ । हिंसोपकरणादानात् आधिकरणिकी क्रिया ३ । स्वदुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया ४ । आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातकी क्रिया ५ । एता पञ्च क्रिया । रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनो रमणीयरूपावलोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया १ । प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसचेतनानुबन्ध स्पर्शनक्रिया २ । अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्ययिकी क्रिया ३ । स्त्रीपुरुषपशुपाषण्डसम्पातदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरण समन्तानुपातक्रिया ४ । अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिक्षेपो अनाभोगक्रिया ५ । एता पञ्च क्रिया । या परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति स स्वहस्तक्रिया १ । पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया २ । पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया ३ । यथोक्तमावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणात् आज्ञाव्यापादिका क्रिया ४ । शाठ्यालस्याभ्या प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकांक्षक्रिया ५ । एता पञ्च क्रिया । छेदन भेदन विशसनादिक्रियादिपरत्वं अन्येन वाऽऽरम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष प्रारम्भक्रिया १ । परिग्रहाद्यविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया २ । ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिवचनं मायाक्रिया ३ । अन्य मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्ट प्रशसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति मिथ्यादर्शनक्रिया ४ । संयमघातिकर्मोदयवशात् अनिवृत्तिरप्रत्याख्यान क्रिया ५ । एता पञ्च क्रिया । एतासु पञ्चविंशतिक्रियासु मध्ये या प्रथममुक्ता सम्यक्त्ववर्धनी सम्यक्त्वक्रिया सा शुभा, अन्या अशुभाः । इति पञ्चविंशतिक्रियाणां तत्त्व स्वरूपं वेत्तीति पञ्चविंशतितत्त्ववित् (४१) ।

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी—सांख्यमते किल व्यक्तं विवेकवत् । अव्यक्तस्य प्रकृतेर्ज्ञस्य आत्मनश्च विवेके सति विज्ञानं ज्ञानरहितत्वं मोक्षो भवति । तदुक्तं—

स यदा तु स [illegible] स्फटिक[illegible]

[illegible]

मायावत्याः [illegible] व्यापिगुणाधिकृते प्रकृते स्वरूपमवगच्छति सदाऽयोमयगोलक[illegible] [illegible] [illegible]कर्तृत्वेऽपि सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसम्बन्धवैकल्यं कैवल्यमवलम्बते । तथा प्रभुः [illegible] वचनात् । ततश्च —

> अनुभवत पिबत खादत विलसत मानयत कामितं लोका ।
> आत्मव्यक्तिविवेकान्मुक्तिर्ननु किं वृथा तपत ॥

एवं सति तन्मतखंडनायायं श्लोक —

> अव्यक्तनरयोर्नित्य नित्यव्यापिस्वभावयो ।
> विवेकेन कथं ख्यातिं सांख्यमुख्या प्रचक्षते ॥

श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी । अस्यायमर्थ —व्यक्ता लोचनादीना गोचरा संसारिणो जीवा अव्यक्ता केवलज्ञानस्य गम्या सिद्धपरमेष्ठिन व्यक्ताश्च अव्यक्ताश्च व्यक्ताव्यक्ताः ते च ते ज्ञा जीवा व्यक्ताव्यक्तज्ञा तेषा विशिष्ट ज्ञानं शक्तितया व्यक्तितया केवलज्ञानं विद्यते यस्य मते स व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी । सर्वे जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा इत्यभिप्रायवानित्यर्थ (४९) । ज्ञानचैतन्यभेददृक्—चेतना त्रिविधा ज्ञानचेतना कर्मचेतना कर्मफलचेतना चेति । तत्र केवलिना ज्ञानचेतना । त्रसाना कर्मचेतना कर्मफलचेतना चेति द्वे । स्थावराणा कर्मफलचेतनैव । चेतनाया भाव चैतन्यम् ज्ञानस्य चैतन्यस्य च भेद पश्यतीति ज्ञानचैतन्यभेददृक् । अथवा ज्ञान मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानभेदात्पञ्चविधम् मार्गणाश्रितत्वात् कुमति कुश्रुति कुअवधिभेदात् त्रिविध कुज्ञानमपि ज्ञानोपचारात् ज्ञानमष्टविधम् । दर्शनं चतुर्भेदमेव—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् । तदेव द्वादशविधमपि उपयोगाश्रितवान् जीवलक्षणत्वात् ज्ञानमेव चैतन्य तु सूक्ष्मनित्यनिगोदादौ ज्ञानलेशत्वात् चैतन्यमुच्यते सग्रहनयबलात् । तदुक्त—

> णिच्चणिगोवपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
> हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥

इति गाथया पर्यायनाम्ना लब्ध्यक्षरापराभिधेयस्य भावश्रुतभेदस्य लक्षण प्रोक्तम् । भावश्रुतस्य भेदा विंशतिर्भवन्ति । ते के ?

> पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन् ।
> प्राभृतकप्राभृतकं प्राभृतकं वस्तु पूर्व च ॥
> तेषां समासतोऽपि च विंशतिभेदात् समश्नुवान तत् ।
> वंदे द्वादशधोक्तं गभीरवरशास्त्रपद्धत्या ॥

सूक्ष्मनित्यनिगोदजीवस्य अपर्याप्तस्य यत्प्रथमसमये प्रवृत्त सर्वजघन्यज्ञान तत्पर्याय इत्युच्यते तदेव लब्ध्यक्षरमुच्यते । तथा चोक्तम्

> त्वं लब्ध्यक्षरबोधनेन भविनो नित्यप्रतापीयस
> स्तत्तद्विकल्पकलया परास्त्रिभुवनानुग्राहिणी सर्वदा ।
> विश्वव्यक्त्याऽखिलवेदिन परमया सञ्जीवयन्त्या तथा
> मुक्तानप्यनुगृह्णती भगवति ध्येयाऽसि कस्येह न ॥

इत्यत्र पर्यायस्य लब्ध्यक्षरमित्यपरनाम सूचित भवति । अक्षरश्रुतानन्तभागपरिमाणत्वात् सर्वविज्ञाने भ्यस्तज्जघन्य नित्योद्घाटितं निरावरणं च वर्तते । न हि भावतस्तस्य कदाचिदप्यभावो भवति आत्मनोऽपि अभावप्रसंगात् उपयोगलक्षणत्वाज्जीवस्य । तदेव ज्ञानं अनन्तभागवृद्ध्या असंख्येयभागवृद्ध्या संख्येयभाग

वृद्ध्या संख्येयगुणवृद्ध्या असंख्येयगुणवृद्ध्या अनन्तगुणवृद्ध्या च वर्धमानं असंख्येयलोकपरिमाणं अक्षरात् श्रुतज्ञानात् पर्यायसमास कथ्यते। अक्षरश्रुतज्ञानं तु एकाक्षराभिधेयावगमरूपं श्रुतज्ञानसंख्येयभागमात्रम्। तस्योपरिष्टादक्षरसमासोऽक्षरवृद्ध्या वर्धमानो द्विव्याद्यक्षरावबोधस्वभावः पदावबोधात्पुरस्तात्। उक्तञ्च—

षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनां त्र्यशीतिमेव लक्षाणि।
शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टाशीतिं च पदवर्णान्॥

पदात्परत पदसमास अक्षरादिवृद्ध्या वर्धमाना प्राक् सघातात्। संख्यातपदसहस्रपरिमाणा संघातो नारकाद्यन्यतमगतिप्रपञ्चप्ररूपणप्रवणः प्रतिपत्तिकात् सख्यातसघातपरिमाणाद् गतिचतुष्टयव्याख्यानसमर्थात्पूर्वं मक्षरादिवृद्ध्या वर्धमान संघातसमास। एवमुत्तरत्राप्यनयैव दिशा समासवृद्धि प्रतिपत्तव्या। प्रतिपत्तिकात्पूर्वं प्रतिपत्तिसमास संख्यातप्रतिपत्तिकरूपादनुयोगात् समस्तमार्गणानिरूपणसमर्थात्। तस्मादप्युपरिष्टादनुयोगसमास संख्यातानुयोगस्वरूपात् प्राभृतकप्राभृतकादधस्तात् प्राभृतकप्राभृतकात् चतुर्विंशत्या भवति प्राभृतकं प्राभृतकात्प्राक् प्राभृतकप्राभृतकसमास। प्राभृतकसमासोऽपि प्राभृतकविंशतिपरिमाणाद्वस्तुन पूर्व वस्तुसमास। पुनर्वस्तुन परतो दशादिवस्तुपरिमाणात् पूर्वात् प्रागवगन्तव्य। तत पूर्वसमास एव पूर्वसमुदये पर श्रुतसज्ञाया अभावादिति।

अथ के ते द्रव्यश्रुतभेदा इति चेदुच्यन्ते—अष्टादशपदसहस्रपरिमाणं गुप्तिसमित्यादियत्याचरणसूचक माचारांगम् १८ (१)। षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणं ज्ञानविनयादिक्रियाविशेषप्ररूपक सूत्रकृतमंगम् ३६ (२)। द्विचत्वारिंशत्पदसहस्रसख्य जीवादिद्रव्यैकाद्येकोत्तरस्थानप्रतिपादक स्थानम् ४२ (३)। चतु षष्टिसहस्रैकलक्षपदपरिमाणं द्रव्यतो धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवाना क्षेत्रतो जम्बूद्वीपावधिष्ठाननरक-नन्दीश्वरवापी सर्वार्थसिद्धिविमानादीना कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यादीना भावत क्षायिकज्ञान दर्शनादिभावानां सम्यक् प्रतिपादक समवायनामधेयम् १६४ (४)। अष्टाविंशतिसहस्रलक्षद्वयपरिमाणा जीव किमस्ति नास्तीत्यादिगणधरषष्टिसहस्रप्रश्न व्याख्याविधायिका व्याख्याप्रज्ञप्ति २२८ (५)। षट्पञ्चाशत्सहस्राधिकपञ्चलक्षपदपरिमाणा तीर्थकराणा गणधराणा च कथोपकथाप्रतिपादिका ज्ञातृकथा ५५६ ० (६)। सप्ततिसहस्रैकादशलक्षपदसख्य श्रावकानुष्ठानप्ररूपकमुपासकाध्ययनम् ११७ (७)। अष्टाविंशतिसहस्रत्रयोविंशतिलक्षपदपरिमाणा प्रतितीर्थ दश दशानगाराणा निर्जितदारुणोपसर्गाणा निरूपकमन्तकृद्दशम् २३२८ (८)। चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रद्विनवतिलक्षपदपरिमाण प्रतितीर्थ निर्जितदुर्द्धरोपसर्गाणा समाधादितपंचानुत्तरोपपदानां दश दशमुनीनां प्ररूपकमनुत्तरोपपादिकदशम् ९२४४ (९)। षोडशसहस्रत्रिनवतिलक्षपदपरिमाणं नष्ट मुष्ट्यादीन् परप्रश्नानाश्रित्य यथावस्तदर्थप्रतिपादक प्रश्नानां व्याख्यात् प्रश्नव्याकरणम् ९३१६ (१०)। चतुरशीतिलक्षाधिकैककोटीपदपरिमाण सुकृत दु कृतविपाकसूचक विपाकसूत्रम् १८४ (११)। एकादशांगानां पदसमुदायाक ४१५ २ ।

द्वादशमङ्ग पञ्चप्रकार। के ते पञ्च प्रकारा:—एक परिकर्म द्वितीय सूत्रं तृतीय प्रथमानुयोगः चतुर्थ पूर्वगतं पंचमी चूलिका चेति। तत्र परिकर्मणः पंच भेदा। ते के? चन्द्रप्रज्ञप्ति १ सूर्यप्रज्ञप्ति २ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ४ व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चेति ५। तत्र पञ्चसहस्राधिकषट्त्रिंशल्लक्षपदपरिमाणा चन्द्रायुर्गतिवैभवादिप्रतिपादिका चन्द्रप्रज्ञप्ति ३६०५ ०। त्रिसहस्रपञ्चलक्षपदपरिमाणा सूर्यायुर्गतिविभवादिप्रतिपादिका सूर्यप्रज्ञप्ति ५०३००० । पञ्चविंशतिसहस्रलक्षत्रयपदपरिमाणा जम्बूद्वीपस्याखिलवर्ष वर्षधरादिसम्बन्धिसत्त्व प्ररूपिका जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ३२५००० । षट्त्रिंशत्सहस्रद्विपञ्चाशल्लक्षपदपरिमाणा असंख्यातद्वीपसमुद्रस्वरूपप्ररूपिका द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः ५२३६००० । चतुरशीतिलक्षषट्त्रिंशत्सहस्रपदपरिमाणा जीवादिद्रव्याणां रूपित्वादिस्वरूपनिरूपिका व्याख्याप्रज्ञप्तिः ८४३६००० । अष्टाशीतिलक्षपदपरिमाणं जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मविधायकं पृथिव्यादिभूतचतुष्टयसमुत्पन्नस्य सर्वगतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम्

८८०००००। पञ्चलक्षपदपरिमाणस्त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराणानां प्ररूपक प्रथमानुयोगः ५ ० । पंचनवति-कोटिपञ्चाशल्लक्षपञ्चपदपरिमाण निखिलार्थानां उत्पादव्ययध्रौव्याद्यभिधायक पूर्वगतम् ९५५००० ५। जलगता स्थलगता मायागता रूपगता आकाशगता चेति पञ्चविधा चूलिका। तत्र कोटीद्वयनवलक्षैकाननवतिसहस्रशतद्वयपरिमाणा जलगमन स्तम्भनादिहेतूना मन्त्र-तन्त्र तपश्चरणानां प्रतिपादिका जलगता २ ९८९२० । स्थलगताप्येतावत्पदपरिमाणैव भूमिगमनकारणमन्त्र तन्त्रादिसूचिका पृथिवीसम्बन्धिवास्तुविद्यातिप्रतिपादिका च। मायागताप्येतावत्पदपरिमाणैव इन्द्रजालादिक्रियाविशेषप्ररूपिका। रूपगताप्येतावत्पदपरिमाणैव व्याघ्र सिंह हरिणादिरूपेण परिणमनकारणमन्त्र तन्त्रादेश्चित्रकर्मादिलक्षणस्य प्रतिपादिका। आकाशगताप्येतावत्पदपरिमाणैव आकाशगतिहेतुभूतमन्त्र तन्त्र तप प्रभृतीनां प्रकाशिका।

अथ चतुदशपूर्वस्वरूपं निरूप्यते—जीवादेरुत्पादव्ययध्रौव्यप्रतिपादक कोटिपदमुत्पादपूर्वम् १ । षण्णवतिलक्षपदमगानामग्रभूतार्थस्य प्रधानभूतार्थस्य प्रतिपादकमग्रायणीयम् ९६ ० । सप्ततिलक्षपद चक्रधर सुरपति धरणेन्द्र केवल्यादीना वीर्यमाहात्म्यव्यावर्णकं वीर्यानुप्रवादम् ७ । षष्टिलक्षपद षट्पदार्थानामनेकप्रकारैरस्तित्व नास्तित्वधर्मसूचकं अस्तिनास्तिप्रवादम् ६ । एकोनकोटिपद अष्ट ज्ञानप्रकाराणा तदुदयहेतूना तदाधाराणा च प्ररूपक ज्ञानप्रवादम् ९९९९९९९। षडधिकैककोटिपदं वाग्गुप्ति वाक्संस्काराणा कण्ठादिस्थानाना आविष्कृतवक्तृत्वपर्यायद्वीन्द्रियादिवक्तृणा शुभाशुभरूपवच प्रयोगस्य च सूचक सत्यप्रवादम् १ ६। षड्विंशतिकोटिपद जीवस्य ज्ञानसुखादिमयत्व कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मप्रतिपादक आत्मप्रवादम् २६ । अशीतिलक्षैककोटिपद कर्मणा बन्धोदयोदीरणोपशम निर्जरादिप्ररूपक कर्मप्रवादम् १८ । चतुरशीतिलक्षपद द्रव्यपर्यायाणा प्रत्याख्यानस्य निवृत्तेर्व्याख्यापक प्रत्याख्याननामधेयम् ८४ । दशलक्षैककोटिपद क्षुद्रविद्यासप्तशतीं महाविद्यापञ्चशती महानिमित्तानि च प्ररूपयत्पृथु विद्यानुप्रवादम् ११ । षड्विंशतिकोटिपद अर्हद्बलदेव वासुदेव—चक्रवर्त्यादीना कल्याणप्रतिपादक कल्याणनामधेयम् २६ । त्रयोदशकोटिपद प्राणापान विभागायुर्वेद मन्त्रवाद गारुडादीना प्ररूपक प्राणावायम् १३ । नवकोटिपद द्वासप्ततिकलाना छदोऽलकारादीना च प्ररूपकं क्रियाविशालम् ९ । पञ्चाशल्लक्षद्वादशकोटिपद लोकबिन्दुसारं मोक्षसुखसाधनानुष्ठानप्रतिपादकम् १२५ । पूर्वाणामनुक्रमेण वस्तुसंख्या दश १ चतुर्दश २ अष्ट ३ अष्टादश ४ द्वादश ५ द्वादश ६, षोडश ७ विंशति ८ त्रिंशत् ९, पञ्चदश १ दश ११, दश १२ दश १३ दश १४। एवमेकत्र वस्तुसंख्या १९५। एकैकस्मिन् वस्तुनि प्राभृतानि २ । एव प्राभृतानि ३९ । द्वादशानामगाना समुदितपदसंख्या—११२८३५८ ५।

कोटीशत द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव।
पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुत पञ्चपद नमामि॥

त्रिविध हि पद अर्थपद प्रमाणपदं मध्यमपदं चेति। तत्र अनियताक्षर अर्थपदं समासगतमसमासगत क्रियापदं अव्यय वा अर्थपदमुच्यते। याव त्यक्षराणि अर्थादनपेतानि तावत्प्रमाणमर्थपदम्। प्रमाणपद तु अष्टाक्षर अगबाह्यश्रुतसंख्यानिरूपक श्लोकचतुर्थपादरूपम्। मध्यमपदं तु अंगप्रविष्टश्रुतसंख्याख्यापकम्। तस्य मध्यमपदस्य वर्णास्तु एते भवन्ति—चतुस्त्रिंशदधिकषोडशशतकोट्य त्र्यशीतिलक्षाणि सप्तसहस्राणि अष्टशतानि अष्टाशीतिश्चेति। १६३४८३ ७८८८। अंगबाह्यश्रुतं प्रकीर्णकसंज्ञकम्। तस्य वर्णा अष्टौ कोट्य एको लक्षः अष्टौ सहस्रा एकं शतं पंचसप्ततिश्चेति ८ १ ८१७५। कानि तानि चतुर्दशप्रकीर्णकानि ? अनगारसागार यतीनां नियतानियतकाल समय समता, तत्प्रतिपादनं प्रयोजनं यस्य तत्सामयिकम् (१)। वृषभादीना चतुस्त्रिंशदतिशयप्रातिहार्यलांछन वर्णादिव्यावर्णक चतुर्विंशतिस्तवम् (२)। अर्हदादीनामेकैकशान्तिवन्दनाभिधानबोधिका वन्दना (३)। दिवस-रात्रि पक्ष चतुर्मास संवत्सरेर्यापथोत्तमार्थप्रभवसप्रतिक्रमणप्ररूपकं प्रतिक्रमणम् (४)। ज्ञान-दर्शन-तपश्चारित्रोपचारलक्षणपंचविधविनयप्ररूपकं वैनयिकम् (५)। दीक्षाग्रहणादि

क्रियाप्रतिपादकं कृतिकर्म (६)। द्रुमपुष्पितादिदशाधिकारैर्मुनिजनाचरणसूचकं दशवैकालिकम् (७)। नानोपसर्गसहनतत्फलादिनिवेदकं उत्तराध्ययनम् (८)। यतीनां कल्प्यं योग्यमाचरणं आचरणव्यवने प्रायश्चित्त प्ररूपयत्कल्पव्यवहारम् (६)। सागारानगारयतीना कालविशेषमाश्रित्य योग्यायोग्यविकल्पमाचरणं निरूपयत्कल्प्याकल्प्यम् (१०)। दीक्षा शिक्षा गणपोषणात्मसंस्कारभावनोत्तमार्थभेदेन षट्कालप्रतिबद्धं यतीनामाचरणं प्रतिपादयत् महाकल्पं (११)। भवनवास्यादिदेवेषूत्पत्तिकारणतप प्रभृतिप्रतिपादकं पुण्डरीकम् (१२)। अप्सरामरांगनाप्सर सूत्पत्तिहेतुप्ररूपक महापुण्डरीकम् (१३)। सूक्ष्म स्थूलदोषप्रायश्चित्त पुरुषवय -सत्त्वाद्यपेक्षया प्ररूपयन्ती अशीतिका (१४)। परमावधि सर्वावधी चरमदेहाना भवत । देशावधिस्तु सर्वेषामपि । मनःपर्ययस्तु अर्धतृतीयद्वीपक्षेत्रम्। केवलं सर्वव्यापकम्। मतिज्ञानस्य तु षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदा पूर्वमेवोक्ता । एवं ज्ञानचैतन्यभेददृक्। अथवा चैतन्याद् ज्ञानं भिन्नं वर्तते हिमवन्मकराकरवत् इति केचिन्मन्यन्ते । भगवास्तु नययोगेन ज्ञानचैतन्यभेददृक् तत्प्रमाणशास्त्राद्युत्पन्नयम् (४३)।

अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात्।
त्रिप्रमाणोऽक्षप्रमाण स्याद्वादकारिकाक्षदिक् ॥११७॥

अस्वसंविदितज्ञानवादी—सांख्यमते किलात्मा मुक्त सन् स्वं आत्मानं न वेत्ति, ईदृशं ज्ञानं वदतीति अस्वसंविदितज्ञानवादी। स्वमते तु निर्विकल्पसमाधौ स्थित आत्मा रागद्वेषमोहादिसंकल्प विकल्प रहितत्वान्न स्वो विदितो येन ज्ञानेन तत् अस्वसंविदितज्ञानम्। ईदृशं ज्ञानं वदतीत्येवंशील अस्वसंविदितज्ञानवादी (४४)। **स कार्यवादसात्**- सत्कार्यं साख्य । सत्कार्ये सांख्यकपिलौ इति वचनात्। सत्कार्यस्य सांख्यस्य वाद सत्कार्यवाद । असत्कार्यवाद सन् सत्कार्यवादो भवति सत्कार्यवादः अभूततद्भावे सातिर्वा सात्। सत्कार्यवादसात्। तन्न घटते। किं तर्हि सगच्छते? सत्समीचीन काय संवर निर्जरादिलक्षणं काय कर्तव्यं करणीयं कृत्यं सत्कायम्। तस्य वाद शास्त्र सत्कार्यवाद । असत्कार्यवाद सन् भगवान् सत्कार्यवादो भवतिसत्कार्यवादसात्। अभिव्याप्तौ संपद्यतौ सातिर्वा इत्यनेन सूत्रेण सात्प्रत्ययः, सादन्तमव्यय ज्ञातव्यम्। अथवा सत्कार्यवादस्य सा शोभा लक्ष्मीस्ता अस्ति भक्षयति चर्वति चूर्णीकरोति निराकरोतीति सत्कार्यवादसाद्। एव सति दकारान्तोऽय शब्द (४५)। **त्रिप्रमाण**—सांख्यमते त्रीणि प्रमाणानि प्रत्यक्षमनुमान शब्दश्चेति। तानि त्रीणि प्रमाणानि न संगच्छन्ते **न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेण** भगवता शतखण्डीकृतत्वात्। भगवान् त्रिप्रमाणो घटते। तत्कथम्? त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि प्रमाणं मोक्षमार्गतयाऽभ्युपगतं यस्य स त्रिप्रमाण । अथवा त्रिषु लोकेषु इन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्रादीना प्रमाणतयाऽभ्युपगतः त्रिप्रमाण । अथवा तिस्र प्रभा सम्यग्दशनज्ञानचारित्राणि अनिति जीवयति त्रिप्रमाणः (४६)। **अक्षप्रमाण**—सांख्यादिमते अक्षैश्चक्षुरादीन्द्रियैर्यल्लब्ध तत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, तेन अक्षप्रमाण सांख्यादिक । भगवास्तु अक्ष आत्मा प्रमाणं यस्य सोऽक्षप्रमाण (४७)। **स्याद्वादकारिकाक्षदिक**—स्याद्वा इत्यस्य शब्दस्य अहंकारो वाद स्याद्वादकार । स्याद्वाहंकारे नियुक्त स्याद्वाहंकारिक अक्ष आत्मा स्याद्वादकारिकाक्षः ईदृशमक्षमात्मान दिशति उपदेशयति स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् स्याच्छब्दपूवकवादविधायीत्यर्थं (४८)। उक्तञ्च **समन्तभद्राचार्यैः**—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्[1] ॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतन पुमान्।
अकर्ता निर्गुणोऽमूर्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥

क्षेत्रज्ञः—क्षियन्ति अधिवसन्ति तदिति क्षेत्रम्। सर्वधातुभ्यष्ट्रन्। क्षेत्रं अधोमध्योर्ध्वलोकलक्षण त्रैलोक्यं अलोकाकाश च जानाति क्षेत्रज्ञ । नाम्युपधाप्रीकृगृज्ञां क । आतोपोऽसार्वधातुके। अथवा क्षेत्र मर्गं भगस्वरूप जानातीति क्षेत्रज्ञ । उक्तञ्च भगस्वरूप शुभचन्द्रेण मुनिना—

---

[1] स्वयम्भूस्तो० श्लो० १०२।

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटय[1] ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिता ॥

एकैकस्मिन् घाते असंख्येया पञ्चेन्द्रियादयो जीवा म्रियन्त इत्यर्थ । घाए घाए असंखेज्जा इति वचनात् । अथवा क्षेत्राणि वंशपत्र कूर्मोन्नत शंखावर्त्तयोनीर्जानातीति क्षेत्रज्ञ । वंशपत्रयोनि सर्वलोकोत्पत्ति सामान्या । कूर्मोन्नतयोनौ शलाकापुरुषा उत्पद्यन्ते । शंखावर्तयोनौ न कश्चिदुत्पद्यते । अथवा क्षेत्रं स्त्री, तत्स्वरूप जानातीति क्षेत्रज्ञ । उक्तञ्च—

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां मुनिप्रेयसीं
मुक्तिश्रीललना गुणप्रणयिनीं गन्तु तवेच्छा यदि ।
तां त्व संस्कुरु वर्जया परवनितावार्त्तामपीह स्फुट
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रिय[1]॥

अथवा क्षेत्र शरीर शरीरप्रमाणमात्मानं जानातीति क्षेत्रज्ञ । न हि श्यामाककणमात्र न चांगुष्ठप्रमाण, न च घटस्थितचटकवदेकदेशस्थित न च सर्वव्यापी जीवपदार्थः । किन्तु निश्चयनयेन लोकप्रमाणोऽपि व्यवहारेण शरीरप्रमाण इति जानातीति क्षेत्रज्ञ (४६)। **आत्मा**—अत सातत्यगमने अतति सतत गच्छति लोकालोकस्वरूप जानातीति आत्मा । सर्वधातुभ्यो मन् घोषवत्योश्च कृति इट् निषेध (५)। **पुरुष**—पुरुणि महति इन्द्रादीना पूजित पदे शेते तिष्ठतीति पुरुष (५१)। **नर**—नृणाति नर्यं करोतीति नर । नॄ नये । अचपचादि यश्च । अथवा न राति न किमपि गृह्णाति नर । रोऽसंज्ञायामपि । परमनिर्ग्रन्थ इत्यर्थ । उक्तञ्च **समन्तभद्रेण** भगवता—

प्रातिहार्यविभवै परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरानापि शासनफलैषणातुर[2] ॥

अथवा न विद्यतेऽर कामो यस्य स नर । उक्तञ्च—

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जित ।
ह्रेपयामास त धीरे त्वयि प्रतिहतोदय[3] ॥

अन्यच्च—प्रसंख्यानपविपावकप्लुष्टानस्थानमन्मथमदद्विरदरिंगितरुद्रस्मरविजय । अथवा न विद्यते रा रमणी यस्य स नर (५२)। उक्तञ्च—

यो न च याति विकार युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूर ॥

तथा चाह **भोजराज**—

कान्ता सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम् ।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपात
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराजमल्ल[4] ॥

ना नयति समर्थतया भव्यजीवं मोक्षमिति ना । नयतेर्डिच्चेति तृन्प्रत्यय (५३)। **चेतन**—चेतति लोकालोकस्वरूपं जानाति ज्ञापयति वा चेतन । नन्द्यादेयु (५४)। **पुमान्**—पुनाति पुनीते वा पवित्रयति

१ आत्मानुशा श्लो १२८ । २ स्वयम्भूस्तो श्लो ७३ । ३ स्वयम्भूस्तो श्लो० ८४ । ४ भूपालचतुर्वि० श्लो० १२।

आत्मानं निजानुगं त्रिभुवनस्थितभव्यजनसमूहं च पुनाति । पूञो ह्रस्वश्च डिमंसन्तश्च पुमन्तु । पातीति पुमानिति केचित् (५५) । अकर्त्ता—न करोति पापमिति अकर्त्ता । अथवा अं शिवं परमकल्याणं करोतीति अकर्त्ता । अथवा अस्य परमब्रह्मणः कर्त्ता अकर्त्ता संसारिणं जीवं मोचयित्वा सिद्धपर्यायस्य कारक इत्यर्थः । अ शिवे केशवे वायौ ब्रह्मचन्द्राग्निभानुषु इति विश्वप्रकाशे (५६) । निर्गुणः—निश्चिता केवलज्ञानादयो गुणा यस्य स निर्गुणः । अथवा निर्गता गुणा रागद्वेषमोहक्रोधादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः । उक्तञ्च—

> क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः ।
> न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते[1] ॥

चकाराच्चिन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया लभ्यन्ते । अष्टादशदोषरहित इत्यर्थः । अथवा निर्गता समुदिता गुणास्तन्तवो वस्त्राणि यस्मादिति निर्गुणो दिगम्बर इत्यर्थः । अथवा निर्नीचैः स्थितान् पादप्रणतान् तत्परान् भव्यजीवान् गुणयतीति आत्मसमानगुणयुक्तान् करोतीति निर्गुणः (५७) । उक्तञ्च—

> आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
> ध्यातो जिनेन्द्र भवतीह भवत्प्रभावः ।
> पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
> किं नाम नो विषविकारमपाकरोति[2] ॥

इति कुमुदचन्द्रः । तथा च मानतुङ्गोऽपि—

> नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ
> भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
> भूत्याऽऽश्रितं य इह नात्मसमं करोति[3] ॥

अमूर्त्तः—मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः । मूर्च्छयते स्म मूर्त्तः । निष्ठा क्तः । नामिनोर्वोरकुर्छुरोर्व्यञ्जने इत्यनेन मूर्च्छः राल्लोपौ इत्यनेन छकारलोपः । निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः इत्यनेन चकारलोपः । रादिष्टात्तो नोऽपूर्च्छिमदिख्याध्याभ्यः इत्यनेन निष्ठातकारस्य तकार एव न तु नकारः । आदनुबन्धाच्च निष्ठायां वेट् मूर्त्त इति निष्पन्नम् । कोऽर्थः ? मूर्त्तो मोहं प्राप्तः न मूर्त्तो न मोहं प्राप्तः अमूर्त्तः । अथवा अमूर्त्तो मूर्त्तिरहितः सिद्धपर्यायं प्राप्तः । ननु

> प्रत्यग्रजन्मोत्सव सकलकोपवह्निजयात्
> कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारितोद्रेकतः ।
> विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा
> मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्[4] ॥

इत्यादि गौतमेन भगवता जिनरूपवर्णनात् । अमूर्त्तः कथमिति चेन्न, भाविनि भूतवदुपचारः, इति परिभाषासूत्रबलेन भगवान् मूर्त्तोऽपि अमूर्त्त उच्यते । अमूर्त्तभावित्वात् । अथवा न विद्यते मूर्त्तिः प्रतिनमस्कारो यस्य स अमूर्त्तः । प्रज्ञादित्वात्पः । अथवा न विद्यते मूर्त्तिः काठिन्यं यस्य स अमूर्त्तः, मार्दवोत्तमधर्मोपेतत्वात् । सांख्यमते तु—

---

१ रत्नक० श्लो० ६ । २ कल्याणमं० श्लो० १७ । ३ भक्ताम० श्लो० १४ । ४ चैत्यभक्ति श्लो० ११ ।

अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान् कपिलशासने[1] ॥

एतच्च बाधयति[2] । कस्मात् ? सोमदेवेन सूरिणा खण्डितत्वात् (५८) ।

अकर्तापि पुमान् भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता ।
नित्योऽपि जातसंसर्गो सर्वगोऽपि वियोगभाक् ॥
शुद्धोऽपि देहसम्बद्धो निर्गुणोऽपि स मुच्यते ।
इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः[3] ॥

भोक्ता—भुक्ते परमानन्दसुखमिति भोक्ता (५९) । **सर्वगतः**—सर्वं परिपूर्णं गतं केवलज्ञानं यस्य स सर्वगतः । अथवा ज्ञानापेक्षया न तु प्रदेशापेक्षया सर्वस्मिन् लोकेऽलोके च गतः प्राप्तः सर्वगतः । अथवा लोकपूरणान्तसमुद्घातापेक्षया निजात्मप्रदेशैस्त्रिभुवनव्यापकः सर्वगतः (६०) । **अक्रियः**—भगवान् खलु प्रमादरहितस्तेन प्रतिक्रमणादिक्रियारहितत्वादक्रियः (६१) ।

द्रष्टा तटस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः ।
बहिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधानकम् ॥ ११६ ॥

द्रष्टा—केवलदर्शनेन सर्वं लोकालोकं पश्यतीत्येवंशीलः द्रष्टा । तृन् (६२) । **तटस्थः**—तटे संसारपर्यन्ते मोक्षनिकटे तिष्ठतीति तटस्थः । नाम्नि स्थश्च कप्रत्ययः (६३) । **कूटस्थः**—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात्कूटस्थः त्रैलोक्यशिखराग्रे स्थित इत्यर्थः । तदपि भावनयापेक्षया ज्ञातव्यम् (६४) । **ज्ञाता**—जानातीत्येवंशीलो ज्ञाता केवलज्ञानवानित्यर्थः (६५) । **निर्बन्धनः**—निर्गतानि बन्धनानि मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायकर्माणि यस्य स निर्बन्धनः (६६) । **अभवः** न विद्यते भवः संसारो यस्य सोऽभवः (६७) **बहिर्विकारः**—बहिर्बाह्यो विकारो विकृतिर्यस्य स बहिर्विकारः । अनग्नत्वरहितो नग्न इत्यर्थः । वस्त्रादिकस्वीकारो विकारः तस्माद् रहितो बहिर्विकारः । अथवा विरूपिकाकारा बन्दीगृहं विकारा प्राणिनां शरीरम् । बहिर्गता आत्मनो भिन्ना विकारा यस्य मते स बहिर्विकारः । अथवा विशिष्टपरमौदारिकशरीरं कर्म च बहिर्यस्येति बहिर्विकारः । अथवा वयः पक्षिणः वय एव विका दिव्यपक्षिणः बहिः श्रीमण्डपाद्बाह्ये अशोकवृक्षोपरिस्थितः विका दिव्यपक्षिण आरात् समीपे यस्य स बहिर्विकारः । योजनैकप्रमाणश्रीमण्डपोपरिस्थितयोजनैककटप्रमाणाशोकवृक्षोपरिनानादिव्यपक्षिशोभितसमीप इत्यर्थः बहिर्विकारः । अथवा बाह्यर्गतो विकारो ऽणिमादिविक्रिया यस्य स बहिर्विकारः । अणिमा महिमादयो विक्रिया विकृतयः षष्ठे गुणस्थाने भवन्ति भगवांस्तु त्रयोदशे गुणस्थाने वर्तते (६८) । **निर्मोक्षः** निश्चितो नियमेन मोक्षो यस्येति निर्मोक्षः तद्भव एव मोक्षं यास्यतीति नियमोऽस्ति भगवतो निर्मोक्षस्तेनोच्यते (६९) । **प्रधानम्**—सांख्यमते प्रधानं चतुर्विंशतिप्रकृतिसमुदाय उच्यते अव्यक्तं बहुधानकं च कथ्यते । स्वमते डु धाञ् डुभृञ् धारणपोषणयोरिति तावद्धातुर्वर्तते । प्रधीयते एकाग्रतया आत्मनि आत्मा धार्यते इति प्रधानं परमशुक्लध्यानम् तद्योगाद्भगवानपि प्रधानमित्याविष्टलिंगतयोच्यते (७०) । **बहुधानकम्**—बहु प्रचुरा निर्जरा तयापलक्षितं धानकं पूर्वोक्तलक्षणं परमशुक्लध्यानं बहुधानकम्, तद्योगाद् भगवानपि बहुधानकं अजहल्लिंगतया तथोच्यते । अथवा बहुधा बहुप्रकारा आनका पटहानि यस्मिन् समवशरणे तत्समवशरणं बहुधानकम् द्वादशकोटिपञ्चाशल्लक्षवादित्रोपलक्षितं समवशरणं बहुधानकमुच्यते तद्योगाद् भगवानप्याविष्टलिंगतया बहुधानकमुच्यते । उक्तञ्च—

अम्बरचरकुमारहेलास्फालितवेणुवल्लकीपणवानक
मृदङ्गशंखकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरीभम्भा
प्रभृत्यनवधिघनसुषिरततावनद्धवाद्यनाद-
निवेदितनिखिलविष्टपाधिपोपासनावसरम्[4] ॥

---

१ यशस्ति ५ पृ २५ । २ यशस्ति ५ पृ १५३ । ३ यशस्ति पृ १४ ।

अथवा अनन आनी जीवितव्यम् । बहुधा बहुप्रकारेणोपलक्षितं कं सुखं बहुधानकम् । बहुधानकमपि बहुधा जीवितेनोपलक्षितं दुःखं चेति लभ्यते तेन तावद् दुःखमेव जीवितव्यं निरूप्यते । निगोतमध्येऽन्तर्मुहूर्तेन षट्षष्टिसहस्रत्रिशतषट्त्रिंशद्वारान् जीवा म्रियन्ते, तन्मरणापेक्षयाऽल्पजीवितं ज्ञातव्यम् । उक्तञ्च—

> छत्तीसा तिण्णिसया छावट्ठिसहस्सवारमरणाई ।
> अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोदमज्झम्मि[1] ॥
> वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीस एव जाणेह ।
> पंचक्खे चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स[2] ॥

एवं नारकाणां दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । प्रथमनरके सागरोपमेनैकम् । द्वितीये त्रयः सागराः, तृतीये सप्त सागराः चतुर्थे दश सागराः पञ्चमे सप्तदश सागराः षष्ठे द्वाविंशतिसमुद्राः सप्तमे त्रयस्त्रिंशदुदन्वन्तः । क्षुल्लायुर्वर्ण्यते कुभोगभूमिमनुष्येषु पल्यमेकम् । भोगभूमनुष्यतिर्यक्षु जघन्यमध्यमोत्कृष्टायुः पल्य द्विपल्य त्रिपल्यानि क्रमात् । भवनवासिषु जघन्यं दशवर्षसहस्राणि । असुरेषु सागर उत्कृष्टम् । नागेषु त्रीणि पल्यानि । सुपर्णकुमाराणां आयु सार्धपल्यद्वयम् । द्वीपकुमाराणा पल्यद्वयम् । विद्युत्कुमाराग्निकुमारवातकुमारस्तनितकुमारोदधिकुमारदिक्कुमाराणां प्रत्येक षट्कुमाराणामायु सार्द्ध पल्यम् । व्यन्तराणां पल्यमेकम् । ज्योतिष्काणा च पल्यमेकम् । जघन्य पल्याष्टमो भाग । सौधर्मैशानयो सागरद्वय सातिरेकम् । सानत्कुमारे माहेन्द्रे च सप्त सागरा । ब्रह्मणि ब्रह्मोत्तरे च दश सागरा । तत्र ब्रह्मणि लौकान्तिकानामष्टावर्णवा इति विशेष । लान्तवे कापिष्ठे च चतुर्दशोदधय । शुक्र महाशुक्रे च षोडश समुद्रा । शतारे सहस्रारे चाष्टादश जलधय । आनते प्राणते च विंशतिरब्धय । आरणे अच्युते च द्वाविंशति सरस्वन्त । नवसु ग्रैवेयकेषु च एकैक सागरो वर्धते । नवानुदिशेषु द्वात्रिंशत्सागरा । पञ्चानुत्तरेषु त्रयस्त्रिंशदब्धय । अन्यदायुर्भेदस्वरूपमागमाद् बोधव्यम् । एव बहुधानकनामस्वरूप व्याख्यात भवति (७१) ।

प्रकृति ख्यातिरारूढप्रकृति प्रकृतिप्रिय ।
प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृति कृती ॥८२ ॥

प्रकृति—साख्यमते प्रकृति सत्त्वरजस्तमसाम्यावस्थाऽपरनाम्नी चतुर्विंशतिप्रकारा । सा किल नित्यस्वरूपा । पञ्चविंशतितम आत्मा । स किल व्यापिस्वभाव । तयोर्भेदज्ञाने ख्यातिर्मुक्तिर्भवति । सा प्रकृतिः पङ्गुसदृशी आत्मा तु अन्धसदृश । तन्मतनिरासार्थमयं श्लोक —

> अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयो ।
> विवेकेन कथं ख्याति सांख्यमुख्या प्रचक्षिरे[3] ॥

प्रकृतिर्नित्या, आत्मा तु व्यापी तयोर्विवेकोऽपि न भवति कथ मुक्ति स्यात् ? श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु प्रकृति । कृति करणं कर्तव्य तीर्थप्रवर्तनम् प्रकृष्टा त्रैलोक्यहितकारिणी कृतिस्तीर्थप्रवर्त्तनं यस्य स प्रकृति । अथवा आविष्टलिंगमिद नाम चेत् तदा प्रकृतिस्वभावाद्भगवानपि प्रकृति । अथवा तीर्थकरनामप्रकृतियुक्तत्वात् प्रकृति । अथवा प्रकृति स्वभाव , धर्मोपदेशादिस्वभावयुक्तत्वात् प्रकृति (७२) । उक्तञ्च—

> न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोग ।
> न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशु स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति[4] ॥

ख्यातिः—सांख्यमते ख्यातिर्मुक्तिरुच्यते । ख्यानं प्रकृष्टं कथनं यथावत्तत्त्वस्वरूपनिरूपणं ख्यातिः तद्योगाद्भगवानपि ख्यातिरित्याविष्टलिंगमिदं नाम । सकलतत्त्वस्वरूपप्रकथक इत्यर्थ (७३) । **आरूढप्रकृति**—आ समन्ताद् रूढा त्रिभुवनप्रसिद्धा प्रकृतिस्तीर्थंकरनामकर्म यस्येति स आरूढप्रकृति (७४) ।

---

१ भावपा २८ । गो जी १२२ । २ भावपा० २९ । ३ यशस्ति०२ पृ २७१ । ४ विषाप ६ ।

प्रकृतिप्रियः—प्रकृत्या स्वभावेन प्रियः सर्वजगद्वल्लभः प्रकृतिप्रियः । अथवा प्रकृतीनां लोकानां प्रियः प्रकृतिप्रियः सर्वलोकवल्लभ इत्यर्थः (७५) । प्रधानभोज्यः—सांख्यमते प्रधानं प्रकृतिरुच्यते, तन्मते प्रधानं प्रकृतिर्भोग्यमास्वादनीयम् । तदुक्तं—

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

एवं च सति मुक्त्यभावो भवति । भगवांस्तु प्रधानभोज्यः । प्रकृष्टं धानं सावधानं आत्मन एकाग्रचिन्तनं अध्यात्मरसः तद्भोज्यं आस्वाद्यं यस्य स प्रधानभोज्यः, आत्मस्वरूपामृतखिल्यचर्वण इत्यर्थः (७६) । अप्रकृतिः—दुष्टप्रकृतीनां त्रिषष्टेः कृतक्षयत्वात् शेषा अघातिप्रकृतयः सत्योऽपि असमर्थत्वात्तासां सत्त्वमपि असत्त्वं दग्धरज्जुरूपतया निर्बलत्वं अकिंचित्करत्वं यतस्तेन भगवानप्रकृतिः । सर्वेषां प्रभुत्वाद्वा अप्रकृतिः । (७७) । विरम्यः—विशिष्टानामिन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्र चन्द्रादीनां विशेषेण रम्योऽतिमनोहरो विरम्यः अतिशयरूपसौभाग्यप्रकृतित्वात् । तथा चोक्तं—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः[1] ॥

अथवा विगतं विनष्टं आत्मस्वरूपत्वाद् यन्मनोहरं वस्तु इष्टस्रग्वनिताचन्दनादिकं यस्य स विरम्यः । आत्मस्वरूपं विना भगवतोऽन्यद्वस्तु रम्यं मनोहरं न वर्तत इत्यर्थः (७८) । तथा चोक्तम्—

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव न ।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरेऽपि रम्यता ॥

विकृतिः—विशिष्टा कृतिः कर्तव्यता यस्येति विकृतिः । अथवा विगता विनष्टा कृतिः कर्म यस्येति विकृतिः, कृतकृत्यः कृतार्थ इति यावत् (७९) । कृती—सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं इति वचनात् कृतं पुण्यं विद्यते यस्य स कृती निदानदोषरहितविशिष्टपुण्यप्रकृतिरित्यर्थः । अथवा कृती योग्यः हरि हर हिरण्यगर्भादीनामसम्भविन्या शक्रादिकृताया पूजाया योग्य इत्यर्थः । अथवा कृती विद्वान्—अनन्तकेवलज्ञानानन्तकेवलदर्शनतदुत्थलोकालोकविज्ञानसामर्थ्यलक्षणानन्तशक्ति-तद्विज्ञानोत्थानन्तसौख्यसमृद्धः कृती त्युच्यते अनन्तचतुष्टयविराजमान इत्यर्थः (८०) ।

मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः ।
परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२१॥

मीमांसकः—मान पूजायाम् इति तावदयं धातुः मान् बध दान् शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य अनेन सूत्रेण सन् प्रत्ययः । सन्यङोरिति (?) द्विर्वचनम् इत्यनेन मान् सह द्विर्वचनम् । अभ्यासस्यादिव्यञ्जनमवशेष्यम् । अभ्यासस्य नकारलोपः । ह्रस्व इति ह्रस्वः । अभ्यासविकारेष्वपवादो नोत्सर्गं बाधते इति ज्ञापकात् सन्यवर्णस्य अभ्यासस्य इत्वं । पश्चात् दीर्घश्चाभ्यासस्य इत्यनेन ईकारः । मनोरनुस्वारो धुटि । मीमांस इति जातम् । मीमांसते मीमांसकः वुण् तृचौ । युवुलामनाकान्ताः मीमांसक इति जातम् । परसमये भाट्टप्राभाकरवेदान्तवादिनः सर्वेऽप्यमी मीमांसका उच्यन्ते । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञैस्तु जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमिति सप्त तत्त्वानि पुण्यपापसहितानि नव पदार्थाः जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशाः षड् द्रव्याणि । जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशाः पञ्चास्तिकायाः कथ्यन्ते । एतानि स्वसमयतत्त्वानि । प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति-निग्रहस्थाननामानि

---

[1] स्वयम्भू स्तो० ९२ ।

षोडश नैयायिकमततत्त्वानि । दुःख-समुदय-निरोध-मोक्षमार्गरूपाणि चत्वारि आर्यसत्यनामानि बौद्धमते तत्त्वानि । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभिधानानि षट् तत्त्वानि काणादमते वर्तन्ते । चोदना-लक्षणो धर्मस्तत्त्वं जैमिनीयानाम् । सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् बुद्धिः, बुद्धेरहंकारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि । सत्त्वादीनि त्रीणि च तत्त्वानि । पृथ्वीतन्मात्रं अप्तन्मात्रं तेजस्तन्मात्रं वायुतन्मात्रं आकाशतन्मात्रं चेत्यष्ट । पृथ्वी अप् तेजो वायुराकाशश्च पञ्च । एवं त्रयोदश । स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं इति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । एवं त्रयो विंशतिः चतुर्विंशं मनः पञ्चविंशतितमो जीवः । एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यानाम् । पृथ्वी अप् तेजो वायुश्चत्वारि तत्त्वानि नास्तिकानाम् । एतानि स्वसमय परसमयतत्त्वानि तत्तत्समयप्रमाणादीनि च मीमांसते विचारयति मीमांसकः । मीमांसको विचारकस्तर्हि पूजार्थं कथं लभ्यते ? युक्तमुक्तं भवता यो विचारको यथावत्तत्त्वस्वरूपप्रतिपादकः स पूजां लभत एव (८१) । अस्तसर्वज्ञः—मीमांसकानां मते सर्वज्ञ-सर्व-दर्शादिविशेषणविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति ततो वेद एव शाश्वत प्रमाणमिति अस्तसर्वज्ञः । श्रीमद्भगव-दर्हत्सर्वज्ञस्तु अस्तसर्वज्ञः । तत्कथम् ? उच्यते—सर्वे च ते ज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वविद्वान्सः जिमिनि कपिल कणचर चार्वाक शाक्यादयः अस्ताः प्रयुक्ताः सर्वज्ञा येन सोऽस्तसर्वज्ञः । उक्तञ्च—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

एवं रुद्रोऽपि सर्वज्ञो न भवति एकेन कवलेन बहुप्राणिगणभक्षकत्वात् । तदुक्तं पात्रकेसरिणा महापण्डितेन—

पिशाचपरिवारितः पितृवने नरीनृत्यते
क्षरद्रुधिरभीषणद्विरदकृत्तिहेलापटः ।
हरो हसति चायतं कहकहाट्टहासोल्वणं
कथं परदेवेति परिपूज्यते पण्डितः ॥

मुखेन किल दक्षिणेन पृथुनाऽखिलप्राणिनो
समत्ति शवपूतिमज्जरुधिरान्त्रमांसानि च ।
गणैः स्वसदृशैर्भृशं रतिमुपैति रात्रिंदिवं
पिबत्यपि च यः सुरां कथमसावतामाजनम् ॥

कमण्डलु-मृगाजिनाक्षवलयादिभिः श्रयते
शुचित्वविरहादिदापकलुषत्वसम्भूयते ।
भयं विवृणुता च विष्णुहरयोः सशस्त्रत्वतः
स्वतो न रमणीयता परिवृढता भूषणात् ॥

एवं सर्वेऽपि लोकदेवता सर्वज्ञेन निराकृता भवन्तीति भावः । अतएव अस्तसर्वज्ञो भगवानुच्यते (८२) । श्रुतिपूतः—मीमांसकानां मते ऋग्वेद यजुर्वेद-सामवेद अथर्ववेदाः चत्वारिंशदध्यायलक्षणा संहिता च मन्त्रः सर्वोऽपि ग्रन्थः श्रुतिरुच्यते तेन पूतः पवित्रो वेदधर्मः । स्वमते श्रुतिः सर्वज्ञस्य प्रथमवचनम् । उक्तञ्च—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः ।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः—
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै[1] ॥

---

१ आत्मानुशा० ६ ।

श्रुतिशब्देन सर्वज्ञवीतरागध्वनि तथा पूतः पवित्र सर्वोऽपि पूर्वसर्वज्ञश्रुत्वा[1] तीर्थंकरनामकर्मणा अथवा पवित्रो भूत्वा सर्वज्ञः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते। अथवा श्रुतिर्वात पृष्ठतो गमनेन पूत पवित्रो यस्य स श्रुतिपूत, अतएव लोकानां व्याध्यादिकं दुःखं निवारयति (८३)। तथा चोक्त—

हृत्य प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्तिशैलोपवाही
सद्य पुसा निरवधिरुजा धूलिबन्ध धुनोते।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्व प्रविष्ट-
स्तस्याशक्य क इह भुवने देव लोकोपकार ॥

सदोत्सव —सदा सर्वकालं उत्सवो महो महार्चा यस्य स सदोत्सव । अथवा सदा सर्वकालं उत् उत्कृष्ट सवो यज्ञो यस्य स सदोत्सव (८४)। उक्तञ्च—

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

तथा चामरसिंह —

पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पण बलि ।
एते पच महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामका ॥

परोक्षज्ञानवादी— नैयायिकमते इन्द्रियजनितं चक्षुरादिज्ञानमेव ज्ञानं प्रमाणं वदन्ति। स्वमते अक्षाणामिन्द्रियाणां पर परोक्ष केवलज्ञानम् तदात्मन वदतीत्येवशील परोक्षज्ञानवादी। उक्तञ्च खण्डेन महाकविना—

स वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमहु न पत्तियइ।
सो णिंदियउ पचिंदिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥

अनिन्द्रियं परमकेवलज्ञानं यो न मन्यते स नरके पततीति भाव (८५)। इष्टपावक —नैयायिक मते अग्निमुखा व देवा इति वेदवाक्यादग्नावेव जुह्वति। स्वमते इष्टा अभीष्टा पावका पवित्रकारका गणधर देवादयो यस्य स इष्टपावक । अथवा पावकेषु पवित्रकारकेषु भगवानेवेष्ट सर्वस्मिन् लोके भगवानेव पावक पवित्र कारकतया स्थित इति भव्यलोकेषु प्रतीतिमागत इष्टपावक । इष्टश्चासौ पावक इष्टपावक (८६)। सिद्ध कर्मक – प्राभाकरमते यागादिक कम सिद्धमेव वतते तद्वाक्यार्थ वदन्ति प्राभाकरा पुनर्नियोगं कुर्वन्ति अग्निहोत्रेण यजेत स्वर्गकाम। भट्टास्तु चोदनैव वाक्यार्थ वदन्ति। वेदान्तवादिनस्तु आत्मा सिद्धो वर्तते तथापि उपदिशन्ति आत्मप्राप्त्यर्थ द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति। एव परस्परं विरुद्धा ब्रुवन्ति। आत्मा तु न केनापि लब्ध । प्राभाकरमते यद्यागादिक कर्म सिद्धं ब्रुवन्ति तदुपरि भगवत इदं नाम सिद्धकर्मक इति। अस्यायमर्थ —सिद्धकर्मक सिद्ध समाप्तिं गतं परिपूर्ण जात कर्म क्रिया चारित्र यथाख्यात लक्षण यस्येति सिद्धकर्मा यथाख्यातचारित्रसंयुक्त इत्यर्थ । सिद्धकर्मक आत्मा यस्येति सिद्धकर्मक यथा ख्यातचरित्रसंयुक्तात्मस्वरूप इत्यर्थ । अथवा कुत्सितं कर्म कर्मकं सिद्धं आगमे प्रसिद्धं कर्मणो ज्ञानावरणादे कुत्सितत्वं यस्येति सिद्धकर्मक (८७)।

चार्वाको भौतिकज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतन ।
प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुति ॥१२२॥

---

१ द्र पूर्वसर्वज्ञश्रुत्वा। २ एकीभा १ ।

चार्वाक —बृहस्पत्यपत्यं शिष्यो वा चार्वाको नास्तिकाचार्यः। तन्मते जीवो नास्ति, पुण्यं नास्ति पापं नास्ति, परलोको नास्ति, पृथिव्यप्तेजोवायुसंयोगे चैतन्यमुत्पद्यते। गर्भादिमरणपर्यन्तं तद्वर्तते। प्रत्यक्षमेकं प्रमाणम्। एवंविधो लोकायतिकनामा चार्वाक उच्यते। भगवांस्तु चार्वाक इत्यस्य नाम्नो निरुक्तिः क्रियते— अक अग कुटिलायां गतौ इति धातुद्वयं भ्वादिगणे घटादिमध्ये परस्मैपदम्। अकनं आकः कुटिला अकुटिला च गतिरुच्यते। यावन्तो गत्यर्था धातवस्तावन्तो ज्ञानार्थाः इति वचनादाकः केवलज्ञानं चार्विति विशेषणत्वात् चारुर्मनोहरस्त्रिभुवनस्थितभव्यजीवचित्तानन्दकारक आकः केवलज्ञानं यस्येति चार्वाकः (८८)। **भौतिकज्ञान** — चार्वाकमते चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यप्तेजोवायुषु भवं भौतिकं ज्ञानं यस्येति भौतिकज्ञानः। स्वमते भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति वचनात् भूतिः समवसरणलक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीरष्टौ प्रातिहार्याणि चतुस्त्रिंशदतिशयादिकं देवेन्द्रादिसेवा च भूतिरुच्यते। भूत्या चरति विहारं करोति भौतिकम्। भौतिकं समवसरणादिलक्ष्मीविराजितज्ञानं केवलज्ञानं यस्येति भौतिकज्ञानः। अथवा भूतेभ्यो जीवेभ्य उत्पन्नं भौतिकं ज्ञानं यस्य मते स भौतिकज्ञानः, इत्यनेन पृथिव्यादिभूतसंयोगे ज्ञानं भवतीति निरस्तम् (८९)। **भूताभिव्यक्तचेतन** — चार्वाकमते भूतैः पृथिव्यप्तेजोवायुभिरभिव्यक्ता चेतना यस्येति भूताभिव्यक्तचेतनः। तदयुक्तम्। स्वमते भूतेषु जीवेषु अभिव्यक्ता प्रकटीकृता चेतना ज्ञानं येनेति भूताभिव्यक्तचेतनः (९०)। **प्रत्यक्षैकप्रमाण** —चार्वाकमते प्रत्यक्षमेकं प्रमाणं यस्येति प्रत्यक्षैकप्रमाणः। स्वमते प्रत्यक्षं केवलज्ञानमेव एकमद्वितीयं न परोक्षं प्रमाणं अश्रुतादिकत्वात्केवलिनः स प्रत्यक्षैकप्रमाणः (९१)। **अस्तपरलोक**:—चार्वाकमते परलोको नरकस्वर्गमोक्षादिकं जीवस्य नास्तीति अभ्युपगतत्वादस्तपरलोकः। स्वमते अस्ता निराकृतास्तत्तन्मतखण्डनेन चूर्णीकृत्वा अधः पातिताः परे लोकाः जिमिनि कपिल कणचर चार्वाक शाक्यादयो जैनबहिर्भूता अनादृता येनेति अस्तपरलोकः। अथवा भगवान् मुक्तिं विना मोक्षमन्तरेणान्यां गतिं न गच्छतीति अस्तपरलोकः (९२)। **गुरुश्रुति** – चार्वाकमते गुरुणा बृहस्पतिनाम्ना दुराचारेण कृता श्रुतिः शास्त्रान्तरं येनेति गुरुश्रुतिः। स्वमते गुर्वी केवलज्ञानसमाना श्रुतिः शास्त्रं यस्येति गुरुश्रुतिः। तथा चोक्तम्—

> **स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।**
> **भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्**[1] ॥

अथवा गुरुर्योजनैकव्यापिका सजलजलधरवद्गर्जनशीला क्षुभितसमुद्रवेलेव गभीररवा श्रुतिर्ध्वनिर्यस्येति गुरुश्रुतिः। उक्तञ्च **देवनन्दिना** भट्टारकेन—

> **ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगभीरः।**
> **ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्तराशावलयम्**[2] ॥

अथवा गुरुषु गणधरदेवेषु श्रुतिर्द्वादशाङ्गग्रन्थो यस्येति गुरुश्रुतिः। उक्तञ्च—

> **लोकालोकदृशः सर्वस्य सुकृतैरास्वाद्यवद्यश्रुतं**
> **निर्यातं प्रथितं गणेश्वरवृषभान्तमुहूर्तेन यत्।**
> **आरातीयमुनिप्रवाहपतितं यत्पुस्तकेष्वर्पितं**
> **तज्जैनेन्द्रमिहार्चयामि विधिना षट्खण्डश्रुतं शाश्वतम्** ॥

अथवा गुरुर्दुर्जरा मिथ्यादृष्टीनामभव्यानां श्रुतिर्वाग्यस्य स गुरुश्रुतिः (९३)।

> **पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविदद्वयी।**
> **शब्दाद्वैती स्फोटवादी पाखण्डघ्नो नयौघयुक्** ॥१०३॥

पुरन्दरविद्धकर्ण —पुरन्दरेण विद्धौ वज्रसूचिकया कर्णौ यस्य स पुरन्दरविद्धकर्णः। भगवान् खलु छिद्रसहितकर्ण एव जायते। परं जन्माभिषेकावसरे कौलिकपटलेनेव त्वचा अचेतनया मुद्रितकर्णच्छिद्रो

[1] आप्तमीमांसा १०५। [2] नन्दीश्वरभक्ति श्लो० २१।

भवति । शक्रस्तु वज्रसूचीं करे कृत्वा तत्पटलं दूरीकरोति, तेन भगवान् पुरन्दरविद्धकर्णः कथ्यते (६४) । **वेदान्ती**— वेदस्यान्तश्चतुर्दश कांड उपनिषद् । मिथ्यादृष्टीनामध्यात्मशास्त्रं इत्यर्थः एकवायो अध्वर्यु काण्ड-अश्वमेध-अष्टाध्यायी अग्निरहस्य सूचीकाण्ड-सप्तीकाण्ड इत्यादय प्रान्ते उपनिषद् चतुर्दश काण्डः स वेदान्त कथ्यते । वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती । स्वमते वेदस्य मति श्रुतावधि मन:पर्यय केवलज्ञान लक्षणज्ञानस्य अन्त केवलज्ञान वेदान्त । वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती केवलज्ञानवानित्यर्थ । अथवा स्त्रीपुन्नपु सकलिंगानि त्रीणि त्रयो वेदा कथ्यन्ते । तेषामन्तो विनाशो विद्यते यस्य स वेदान्ती (६५) । **संविदद्वयी**— बौद्धा केचित् ज्ञानमात्रमेव जग मन्यन्ते तन्न संगच्छते । उक्तञ्च—

> अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न सोऽपि
> यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसंस्था कुतोऽत्र शिवशमसदन
> हेतावनेकधर्मप्रसिद्धि[1]राख्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धि
> मन्यत्पुनरखिलमत व्यतीतमुद्राति सवमुरु[2]नयनिकेत[3] ॥

संविद् समीचीनं ज्ञान केवलज्ञानम् तस्य न द्वितीयं ज्ञान संविदद्वयम् । उक्तञ्च—

> क्षायिकमेकमनन्त त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
> सकलसुखधाम सततं वन्देऽह केवलज्ञानम्[5] ॥

संविदद्वय विद्यते यस्य स संविदद्वयी । केवलज्ञानिनि खलु मतिज्ञानादिचतुष्टय न योजनीयम् सव मपि तदन्तर्गर्भितत्वात् । तेन संविदद्वयी भगवानुच्यते (६६) । **शब्दाद्वैती**— मिथ्यादृष्टय किलैव वदन्ति—शब्द एव ससारे वर्तते शब्दाद् यत्किमपि नास्ति ते शब्दाद्वैतिन उच्यन्ते । स्वमते तु यावत्यो वाग्वर्गणा विद्यन्ते शक्तिरूपतया तावत्य शब्दहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यं सव शब्द एव इति कारणाद्भगवान् शब्दाद्वैतीत्युच्यते (६७) । उक्तञ्च **आशाधरेण** महाकविना—

> लोकेऽन्योन्यमनुप्रविश्य परितो या सन्ति वाग्वर्गणा
> अध्यात्मक्रमवत्तिवर्णपरतां ता लोकयात्राकृते ।
> नेतु संविभजत्युर प्रभृतिषु स्थानेषु यन्मारुत
> तन्नायुष्मति जम्भित सव ततो दीर्घायुरास्तौमि तत् ॥

स्फोटवादी—भट्टमते स्फुटत्यर्थो यस्मादिति स्फोट शब्दस्तं वदतीत्येवमवश्य स्फोटवादी । शब्द विना ससारे किमपि नास्तीत्यर्थ । स्वमते स्फुटति प्रकटीभवति केवलज्ञान यस्मादिति स्फोट निजशुद्धबुद्धैक स्वभाव आत्मा त वदति मोक्षहेतुतया प्रतिपादयति स्फोटवादी । उक्तञ्च **कुन्दकुन्दाचार्यदेवै** समय सारग्रन्थे—

> णाणम्मि भावणा खलु कादव्वा दसणे चरित्ते य ।
> ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे[6] ॥

स्फोटमात्मानं मोक्षस्य हेतुतया वदतीत्येवशील स्फोटवादी । वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारे** निराकृतत्वात् (६८) । **पाखण्डघ्न** —पाशं पापबन्धन खण्डयतीति पाषण्डा । पाषण्डा सर्वलिंगिन पाषण्डान् हन्ति शुद्धान् करु गच्छति पाषण्डघ्न । अथवा पाषण्डा खण्डितव्रतास्तान् हन्ति योग्यप्राय श्चित्तेन शोधनदण्डेन ताडयति **कच्छ-महाकच्छादिकानिव वृषभनाथवत्** पाषण्डघ्न । **अमतुष्कतु** केऽपि

---

१ यश प्रशस्ति । २ यशस्ति मति । ३ यशस्ति नयनांकित । ४ यशस्ति ८ ३ । ५ अ समकि स्ती २६ । ६ समय गा ११ ।

चट्क् प्रत्यय.। भगवान् देवत्वादमनुष्य । नाम इव अन-अन घलाभुपघाया: स्वराद्यवनन्यगुणे उपधा लोप:। लुप्तोपधस्य च ह्रस्य चत्वम् (९९) । नयौघयुक्—नयानामोघ: समूहस्त युनक्तीति नयौघयुक्। अत्र समाससद्भावासद्भावात् युजेरसमासे युञ् दीति वचनात् त्वागमो न भवति, अश्वयुगादिवत् । अथ के ते नया, यान् भगवान् युनक्ति, इति चेदुच्यते—अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय: । स द्विधा, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात् । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविध, नैगम-संग्रह-व्यवहारभेदात् सामान्य-ग्राहक । पर्यायार्थिकश्चतुर्विध ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदाद् विशेषग्राहक । तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्प मात्रग्राही नैगम । यथा कश्चित्पुरुष परिगृहीतकुठारो वने गच्छन् केनचित्पुरुषेण पृष्ट किमर्थ भवान् गच्छतीति ? स आह—प्रस्थमानेतुमिति । प्रस्थ इति कोऽर्थ ?

शार्षं पाणितलं मुष्टि कुडवं प्रस्थमाढकम् ।
द्रोणा वह च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम् ॥

द्वादशपलो भवेत् शार्ष इति गणितशास्त्रवचनात् चतु सेरमात्रो मापविशेष प्रस्थ उच्यते । नासौ प्रस्थपर्यायो निष्पन्नो वर्तते तन्निष्पत्तये संकल्पमात्र काष्ठे प्रस्थव्यवहार इति । एवं मञ्चकपाटकेषाद्यला दिष्वपि ज्ञातव्य १ । स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय अर्थान् आक्रान्तभेदान् अविशेषेण समस्तग्रहण संग्रह । स च परापरभेदाद् द्विविध । तत्र सदात्मना एकत्वमभिप्रैति सर्वमेकं सदविशेषादिति पर । द्रव्यत्वेन सर्वद्रव्याणामेकत्वमभिप्रैति कालत्रयवर्तिद्रव्यमेकं द्रव्यत्वादित्यपर २ । संग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वक मवहरण विभजनं भेदेन प्ररूपण व्यवहार । संग्रहार्थ विभागमभिप्रैति—यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेति । यद् द्रव्य त जीवादिषड्विध । य पर्याय स द्विविध—सहभावी क्रमभावी चेति ३ । ऋजु प्राञ्जल वर्तमानलक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्र । सुखक्षण सम्प्रत्यस्तीत्यादि ४ । कालकारक संख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थ शपति गच्छतीति शब्द ५ । नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढ समभिरूढ । इन्द्र शक्र पुरंदर इति ६ । एवमित्थ विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूत परिणतमर्थ योऽभिप्रैति स नय एवम्भूत । शकनक्रियापरिणतिक्षण एव शक्रमभिप्रैति इन्दनक्रियापरिणतिक्षण एवेन्द्रम भिप्रैति पुरदारणक्रियापरिणतिक्षण एव पुरन्दरमभिप्रैति ७ । इति नया आगमभाषया कथिता: । अध्यात्म भाषया तु नयविभाग कथ्यते सर्वे जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति शुद्धनिश्चयलक्षणम् । रागादय एव जीवा इत्यशुद्धनिश्चयलक्षणम् । गुणगुणिनोरभेदेऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम् । भेदेपि सत्यभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षण चेति । तथाहि जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । जीवस्य मतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरितसशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । मदीयो देह इत्यादिसंश्लेषस म्बन्धसहितपदार्थे पुनरनुपचरितसंज्ञासद्भूत व्यवहारलक्षणम् । यत्र तु संश्लेषसम्बन्धो नास्ति तत्र मदीयो गेह इत्याद्युपचरिताभिधानासद्भूत व्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूत सक्षेपेण नयषट्क ज्ञातव्यमिति । तथा स्यात् नित्यमेव स्यादनित्यमेव स्यादुभयमेव स्यादवक्तव्यमेव स्यान्नित्यावक्तव्यमेव स्यादनित्यावक्तव्यमेव स्यादुभया वक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् । एव सत् असत्, एकं अनेक आपेक्षिकमनापेक्षिक हेतुसिद्धमागमसिद्धं भ्रान्त मभ्रान्तं दैव पौरुषं पापं पुण्यमित्यादौ सप्तभगनया योजनीया । एवं नयानामसंख्यत्वात् तत्स्वरूपप्ररूपकत्वा द्भगवान्नयौघयुक् कथ्यते (१) ।

इतीह बुद्धाधिशतं निदर्शन स मुक्तमभ्याहृतदर्शनेऽर्चितम् ।
अधीयते येन स्वभावनार्थिना स मंक्षु मोक्षोत्थसुखं समश्नुते ॥

इत्याचार्यश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामस्तुतिटीकायां बुद्धशतविवरणो नाम नवमोऽध्याय समाप्त: ।

—०:—

अथ दशमोऽध्याय

अथ जिनवरचरणयुगं प्रणम्य भक्त्या विनीतमतिविशदम् ।
अन्तकृदादिशतस्य क्रियते विवरणमनावरणम् ॥
जिह्वाग्र वसतु सदा सरस्वती विश्वविबुधजनजननी ।
मम भुजयुगे च विद्यानंदकलंकौ मराळवताम् ॥

अन्तकृत्पारकृत्तीरप्राप्त पारेतमःस्थित ।
त्रिदण्डी दण्डितारातिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयी । १२४ ॥

अन्तकृत्—अन्त ससारस्यावसान कृतवान् अन्तकृत् । अथवा अन्तं विनाश मरण कृन्ततीति अन्तकृत् । अथवा अन्तं आत्मन स्वरूप करोतीति अन्तकृत् । अथवा अन्तं मोक्षस्य सामीप्य करोतीति अन्तकृत् । अथवा व्यवहार परित्यज्य अन्त निश्चयं करोतीति अन्तकृत् । अथवा अन्त मुक्तेरवयवभूतमात्मान करोति मुक्तिस्थानस्यैकपार्श्वे तिष्ठतीति अन्तकृत् (१) । उक्तञ्च—

निश्चयेऽवयवे प्रान्ते विनाशे निकटे तथा ।
स्वरूपे षट्सु चार्थेषु अन्तशब्दोऽत्र भण्यते ॥

पारकृत्—पार ससारस्य प्रान्त ससारसमुद्रस्य पारतट कृतवान् पारकृत् (२) । **तीरप्राप्त** —तीर ससारसमुद्रस्य तट प्राप्तस्तीरप्राप्त (३) । **पारेतम स्थित** — तमस पापस्य पारे पारेतम । पारेतमसि पापरहितस्थाने **अष्टापद सम्मेद चम्पापुरी-पावापुरी-ऊर्जयन्तादौ** सिद्धक्षेत्र स्थित योगनिरोधार्थ गत पारेतम स्थित । अथवा अज्ञानादतिदूर स्थित पारेतमःस्थित । पारे मध्ये अन्त षष्ठ्या वा अव्ययीभाव समास । अथवा तृतीया सप्तम्यो स्थितशब्देन उद्भासने पर्यकासने वा मोक्षगमनार्थ स्थित सिद्धशिलाया मुपविष्ट (४) । **त्रिदण्डी**—मिथ्यादृष्टय केचित् त्रिदण्डिनो भवन्ति केचिदेकदण्डिनो भवन्ति । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु त्रयो दण्डा मनोवाक्कायलक्षणा योगा विद्यन्ते यस्य स त्रिदण्डी । अथवा त्रीणि शल्यानि माया मिथ्यानिदाननामानि दण्डयतीत्येवशीलस्त्रिदण्डी । अथवा त्रयाणा छत्राणामेकमेव दण्ड विद्यते यस्मिन् स त्रिदण्डी (५) । **दण्डितारातिः** —दण्डिता जीवन्तोऽपि मृतसदृशा कृता मोहप्रमुपातनादसद्यादिशत्रवो येन स दण्डितारातिः । अथवा दण्डिता दण्ड सजात येषा ते दण्डिताः तारकितादिदर्शनात् सजातेऽर्थे इतच्प्रत्यय । अत्राय भाव —निर्ग्रन्थलक्षण मोक्षमार्ग विलोपयन्ति सग्रन्थानामपि गृहस्थाना मोक्ष स्थापयन्ति तेन ते सितपटादय पञ्चप्रकारा जैनाभासा दुर्जनस्पृष्टान्नभोजिन श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्य अरातय कथ्यन्ते निर्ग्रन्थमार्गविलोपकत्वात् । ते स्वपापेनैव दण्डकरा कम्बलरक्षधारकवत् गृहे गृहे अवंदिता अपि धर्मलाभाशीर्वादं ददति बहुवारान् भुंजते ते उपचारेण सर्वज्ञेन वीतरागेण दण्डिता । दण्डिता अरातयो येनेति दण्डितारातिः । उक्तञ्च तेषा मतम्—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य ।
समभावभावियप्पा लहेइ मोक्खं ण संदेहो ॥

अथ क ते पञ्चविधा जैनाभासा ये सर्वज्ञवीतरागेण दण्डिता इति चेदुच्यते—

गोपुच्छिक श्वेतवासा द्राविडो यापनीयक ।
निष्पिच्छश्चेति पञ्च ते जैनाभासा प्रकीर्तिता ॥

तथा च—

इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्त ।
कक्कसकेसग्गहणं छट्टं च गुणव्वदं णाम ॥

इत्यादिभिर्वचनैस्तत्सूत्रादिन आहारदानायापि योग्या न भवन्ति, कथं मुक्तेर्योग्या इति सर्वज्ञेन दण्डिता परमार्थभूतश्रीमूलसंघोत्तमामन्दिरात् श्रीमूलसंघमहापत्तनात् श्रीमूलसंघकर्मदेशात् निर्वासिता, तेन भगवान् दंडितारातिरुच्यते (६)। **ज्ञानकर्मसमुच्चयी**—ज्ञानं च केवलज्ञानम्, कर्म च पापक्रियाया विरमणलक्षणोपलक्षिता क्रिया यथाख्यातचारित्रमित्यर्थ । (ज्ञानं च कर्म च) ज्ञानकर्मणी, तयोः समुच्चय समूह ज्ञानकर्मसमुच्चयः। ज्ञानकर्मसमुच्चयो विद्यते यस्य स ज्ञानकर्मसमुच्चयी । अर्शआद्यच्च । अथवा सह मुदा हर्षेण परमानन्दलक्षणसौख्येन वर्तत इति समुत् । समुत्काशी चयो द्वादशविधो गण समुच्चयः । ज्ञान कर्मभ्यां सम्यग्ज्ञान चारित्राभ्यां कृत्वा समुत्सहर्षश्चयो विद्यते यस्य स ज्ञानकर्मसमुच्चयी (७) ।

संहृतध्वनिरुत्सन्नयोग सुप्तार्णवोपम ।
योगस्नेहापहो योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः ॥ १२५ ॥

संहृतध्वनि—संहृत संकोचितो मोक्षगमनकालनिकटे ध्वनिर्वाणी येन स संहृतध्वनि । यथाऽस्यामवसर्पिण्यां वृषभादयस्तीर्थकरा नियतकाले ध्वनिं संहरन्ति इति नियम (८) । उक्तञ्च **पूज्यपादेन** भगवता—

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमान ।
शेषा विधूतघनकर्मनिबद्धपाशा
मासेन ते जिनवरास्त्वभवन् वियोगा [१] ॥

उ**त्सन्नयोग** [२]—उत्सन्ना विनाश प्राप्ता मनोवचनकायाना योगा आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनहेतवो यस्येति उत्सन्नयोग । अथवा उच्छन्नो विच्छित्तिं गतो योगो विश्वासघाती पुमान् यस्मिन् धर्मोपदेशिनि स उच्छन्नयोग । परमेश्वरे धर्मोपदेशके सति कश्चिदपि पुमान् विश्वासघाती नाभूत् विश्वासघातिनो महापातकप्रोक्तत्वात् (९) तदुक्त—

उपाये भेषजे च धलाभे युक्तौ च कार्मणे ।
सन्नाहे सगतौ ध्याने धने विश्वासघातिनि ॥
विष्कम्भादौ तनुस्थैर्यप्रयोगे योग उच्यते ।

तथा—

न सन्ति पर्वता भारा नाप्त सर्वेऽपि सागरा ।
कृतघ्नो मे महाभारो भारो विश्वासघातक ॥

सुप्तार्णवोपम—सुप्त कल्लोलरहितो योऽसावर्णव समुद्र तस्य उपमा सादृश्यं यस्येति सुप्तार्णवोपम, मनोवाक्काय व्यापाररहित इत्यर्थः (१०)। **योगस्नेहापह**—योगाना मनोवाक्कायव्यापाराणा स्नेह प्रीतिमपहन्तीति योगस्नेहापह । अपाक्लेश-तमसोरित्यनेन हनोर्धातोडप्रत्यय (११)। **योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः**—योगानां मनोवाक्कायव्यापाराणा या कृता किट्टिश्चूर्ण मण्डूरादिदलानिवत् तस्या निर्लेपनं निजात्मप्रदेशेभ्यो दूरीकरणं तत्र उद्यतो तत्पर योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यत (१२)।

स्थितस्थूलवपुर्योगो गीर्मनोयोगकार्श्यक ।
सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थ सूक्ष्मीकृतवपु क्रिय ॥१२६॥

स्थितस्थूलवपुर्योग—स्थितस्तावद्यातिनिवृत्तिमागत स्थूलवपुर्योगो बादरपरमौदारिककाययोगो यस्य स स्थितस्थूलवपुर्योग (१३)। **गीर्मनोयोगकार्श्यक**—गीश्च वाक् मनश्च चित्तं तयोर्योग आत्मप्र

---

१ निर्वाण भ० २६ । २ उच्छन्नयोग इत्यपि पाठः ।

देहपरिस्पन्दहेतुः, तस्य कार्श्यक कृशाकारक सूक्ष्मकारक श्लक्ष्णविधायक श्रीर्मनोयोगकार्श्यकः (१४)। **सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थ** —पश्चाद्भगवान् सूक्ष्मवाग्मनसोर्योगे तिष्ठति सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थ (१५)। **सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय** — असूक्ष्मा सूक्ष्मा कृता सूक्ष्मीकृता वपुष' क्रिया काययोगो येन स सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः (१६)।

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा ।
एकदण्डी च परमहस परमसवर ॥१२७॥

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी – सूक्ष्मकायक्रियाया सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठतीत्येवशील सूक्ष्मकायक्रियास्थायी । पश्चाद्भगवान् कियत्कालपर्यन्त सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठति (१७)। **सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा** वाक् च चित्त च वाक्चित्त, तयोर्योगो वाक्चित्तयोग । सूक्ष्मश्चासौ वाक्चित्तयोग सूक्ष्मवाक्चित्तयोग त हन्ति विनाशयतीति सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा (१८)। **एकदण्डी**—एकोऽसहायो दण्ड सूक्ष्मकाययोगो विद्यते यस्य स एकदण्डी भगवानुच्यते । कियत्काल सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामनि परमशुक्लध्याने स्वामी तिष्ठतीति एकदण्डी कथ्यते । न तु काष्ठादिदण्ड (करे) करोति भगवान् दण्डग्रहणस्य हिंसानन्दरौद्रध्यानसद्भावात् । एकदण्डा ये केचिद्दण्डं करे कुर्वन्ति तेषा धर्मध्यानस्यापि लेशोऽपि नास्तीति ज्ञातव्यम् । उक्तञ्च — लक्कडिया केण [illegible] इति वचनात् । (१९)। **परमहस** —परम उत्कृष्टो हस आत्मा यस्येति परमहस भेदज्ञानवानित्यर्थः । तथा च निरुक्तिशास्त्रम्—

> कर्मात्मनो विवेक्ता य क्षीर नीरसमानयो ।
> भवेत्परमहसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षक [1] ॥

विद्युच्चुतकमिद भगवतो नाम तेनायमर्थ – परस्य उत्कृष्टस्य महस्य पूजाया सा लक्ष्मीर्यस्य स परमहस (२०)। **परमसवर** परम उत्कृष्ट सवरो निर्जराहेतुर्यस्य स परमसवर । आस्रवनिरोध संवर [2] इति वचनात् (२१)।

नैष्कर्म्यसिद्ध परमनिर्जर प्रज्वलत्प्रभ ।
मोघकर्मा त्रुटत्कर्मपाश शैलेश्यलकृत ॥१२८॥

नैष्कर्म्यसिद्ध —निर्गतानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि यस्येति निष्कर्मा । निष्कर्मणो भाव कर्म वा नैष्कर्म्यम् नैष्कर्म्ये सिद्ध प्रसिद्धो नैष्कर्म्यसिद्ध । परमते येऽश्वमेधादिकं हिंसायज्ञकर्म न कुर्वन्ति ते वेदान्तवादिन उपनिषदि पाठका नैष्कर्म्यसिद्धा उच्यन्ते । ते द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि उपनिषद पाठ पठन्ति पर परमात्मानं न लभन्ते । तेषा वाक्यार्थो नास्ति नियोग वादिप्रभृतिवत् । भगवास्तु प्रत्यक्षमात्मानं लब्ध्वा कर्माणि मुक्त्वा लोकाग्र गत्वा तिष्ठति स साक्षान्नैःकर्म्यसिद्ध उच्यते (२२)। **परमनिर्जर** —परमा उत्कृष्टा असख्येयगुणा कर्मनिर्जरा यस्येति परमनिर्जर । तथा चोक्तम्—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा [4] ।

अस्यायमर्थ —सम्यग्दृष्टिश्च श्रावकश्च विरतश्च अनन्तवियोजकश्च दर्शनमोहक्षपकश्च उपशमकश्च उपशान्तमोहश्च क्षपकश्च क्षीणमोहश्च जिनश्च सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना । एते दशविधपुरुषाः अनुक्रमेण असख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति । तथाहि—एकेन्द्रियेषु विकलत्रये च प्रचुरतरकाल भ्रान्त्वा पञ्चेन्द्रियत्वे सति कालादिलब्धिसजनितविशुद्धपरिणामक्रमेणापूर्वकरणपक्त्योत्प्लवमानतोऽयं जीवः प्रचुरतरनिर्जरावान् भवति । स एव तु औपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तिकारणानैकट्ये सति सम्यग्दृष्टिः सन् असंख्येयगुणनिर्जरां लभते । स एव तु प्रथमसम्यक्त्वचारित्रमोहकर्मभेदाप्रत्याख्यानक्षयो

---

१ यशस्ति ४१२ । २ तत्त्वा० अ ९ सू १ । ३ हृ गि । ४ तत्त्वार्थसू अ ९ सू ४५ ।

शमहेतुपरिणामप्राप्त्यवसरे प्रकृष्टविशुद्ध श्रावक सन् तस्मादसंख्येयगुणनिर्जरा प्राप्नोति । स एव तु प्रत्याख्यानावरणकषायक्षयोपशमहेतुभूतपरिणामैर्विशुद्धो विरत सन् श्रावकादसंख्येयगुणनिर्जरां विन्दति । स एव तु अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य यदा वियोजको वियोजनपरो विघटनपरो भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धः सन् विरतादपि असंख्येयगुणनिर्जरामासादयति । स एव तु दर्शनमोहप्रकृतित्रयशुष्कतृणराशिं यदा निर्दग्धुमिच्छन् भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धः सन् दर्शनमोहक्षपकनामा अनन्तवियोजकादसंख्येयगुणनिर्जरां प्रपद्यते । एवं स पुमान् क्षायिकसद्दृष्टि सन् श्रेण्यारोहणमिच्छन् चारित्रमोहोपशमे प्रवर्तमान प्रकृष्टविशुद्ध सन् उपशमकनामा सन् क्षपकनामकादसंख्येयगुणनिर्जरामधिगच्छति । स एव तु समस्तचारित्रमोहोपशमकारणे कथ्ये सति समाप्तोपशान्तमोहनामक संप्राप्तोपशान्तकषायापरनामक दर्शनमोहक्षपकादसंख्येयगुणनिर्जरां प्रतिपद्यते । स एव तु चारित्रमोहक्षपणे सन्मुखो भवन् प्रवर्धमानपरिणामविशुद्धि सन् क्षपकनाम दधत् उपशान्तमोहात् उपशान्तकषायापरनामकात् असंख्येयगुणनिर्जरामश्नुते । स पुमान् यस्मिन् काले समग्रचारित्रमोहक्षपणपरिणामेषु सम्मुख क्षीणकषायाभिधान गृह्णमाणो भवति तदा क्षपकनामकादसंख्येयगुणनिर्जरामासीदति । स एव चैकत्ववितर्कावीचारनामशुक्लध्यानाग्निभस्मसात्कृतघातिकर्मसमूह सन् जिननामधेयो भवन् क्षीणमोहादसंख्येयगुणनिर्जरामादत्त तेन जिनो भगवान् परमनिर्जर इत्युच्यते (२३)। **प्रज्वलत्प्रभ** —प्रज्वलन्ती लोकालोक प्रकाशयन्ती प्रभा केवलज्ञानतेजो यस्य स प्रज्वलत्प्रभ (२४)। **मोघकर्मा**—मोघानि निष्फलानि कर्माणि असद्वेद्यादीनि यस्येति मोघकर्मा फलदानासमर्थाघातिकर्मेत्यर्थ वेदनीयायुर्नामगोत्रसंज्ञकानामघातिकर्मणामनुदय इत्यर्थ । (२५)। **त्रुटत्कर्मपाश** —त्रुटन्ति स्वयमेव छिद्यन्ते कर्माण्येव पाशा यस्येति त्रुटत्कर्मपाश उत्कृष्टनिर्जरावानित्यर्थ । (२६)। **शैलेश्यलंकृत** —शीलानामष्टादशसहस्रसंख्यानामीश शीलेश । शीलेशस्य भाव शैलेशी । यथा च स्त्रीनपुंसकाख्या । शैलेश्या शीलप्रभुत्वेन अलंकृत शैलेश्यलंकृत । (२७)।

एकाकाररसास्वादो विश्वाकाररसाकुल ।
अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्त शून्यतामय ॥१२९॥

एकाकाररसास्वाद —एकश्चासावाकार एकाकार एकं विशेषज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थ । एकाकार एव रस परमानन्दामृत तस्यास्वादोऽनुभवनं यस्य स एकाकाररसास्वाद निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मज्ञानामृतरसानुभवनवानित्यर्थ (२८)। **विश्वाकाररसाकुल** —विश्वस्य लोकालोकस्य आकारो विशेषज्ञान स एव रस अनन्तसौख्योत्पादन तत्र आकुला व्यापृत विश्वाकाररसाकुल (२९)। **अजीवन्**—ज्ञान प्राणवायुरहितत्वात् अजीवन (३०)। उक्तञ्च—

> णास विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ ।
> तुट्टइ मोहु तडित्ति तहिं मणु अत्थवणह जाइ[1] ॥

अमृत —न मृत अमृत जीवन्मुक्तत्वात् (३१)। **अजाग्रत्**—न जागर्तीति अजाग्रत् योगनिद्रास्थितत्वात् (३२)। **असुप्त** —आत्मस्वरूपे सावधानत्वात् न मोहनिद्रां प्राप्त (३३)। **शून्यतामय** —शून्यतया मनोवचनकायव्यापाररहितत्वात् शून्यतामय (३४)। उक्तञ्च—

> मणवयणकायसुण्णो णाणसुण्णो ण सुद्धसब्भावे ।
> ससहावे जो सुण्णो हवइ सो गयणकुसुमणिहो ॥

प्रेयानयोगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः ।
निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशक ॥१३०॥

प्रेयान्—अतिशयेन प्रियः प्रेयान् (३५)। **अयोगी**—न विद्यन्ते योगा मनोवाक्कायव्यापारा यस्येति अयोगी (३६)। **चतुरशीतिलक्षगुण** —चतुरशीतिलक्षा गुणा यस्येति चतुरशीतिलक्षगुण ।

---

[1] परमात्मप्रकाश २।१६२।

के ते चतुरशीतिलक्षगुणा ? हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहवर्जनानि पञ्च । क्रोधमानमायालोभवर्जनमिति नव । जुगुप्साभयरत्यरतिवर्जनमिति त्रयोदश । मनोवाक्कायदुष्टत्ववर्जनमिति षोडश । मिथ्यात्वप्रमादपिशुनत्वाज्ञानवर्जनमिति विंशति । इन्द्रियनिग्रहश्चेत्येकविंशति । अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारवर्जनैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीति ८४ । दशशुद्धि दशकायसंयमैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि ८४ । ते आकम्पितादिभिर्दशभिर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि ८४ । ते च दशधर्मैर्गुणिता चतुरशीतिलक्षाणि ८४० ००० । के ते दश कायसंयमा ? एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तजीवरक्षणमिति पञ्च । निजपञ्चेन्द्रियविषयवर्जनं चेति पञ्च, इति दश कायसंयमा ।

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥

इत्याकम्पितादयो दश । धर्मास्तु दश प्रसिद्धाः सन्ति (३७) । **अगुण** —न विद्यन्ते गुणा रागादयो यस्य सोऽगुण (३८) । **निपीतानन्तपर्याय** —निपीता अविवक्षिता केवलज्ञानमध्ये प्रविशिता अनन्ता पर्याया सर्वद्रव्याणा येन स निपीतानन्तपर्याय (३९) । **अविद्यासंस्कारनाशक** —अविद्या अज्ञान तस्या संस्कार आससारमभ्यासोऽनुभवन तस्य नाशक मूलादुन्मूलक निर्मूलकाषकशक । अथवा अविद्या अज्ञान संस्कारैरष्टचत्वारिंशता नाशयतीति अविद्यासंस्कारनाशक । अथ के ते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा इति चेदुच्यते — १ सद्दर्शनसंस्कार २ सम्यग्ज्ञानसंस्कार ३ सच्चारित्रसंस्कार ४ सत्तप संस्कार ५ वीर्यचतुष्कसंस्कार ६ अष्टमातृप्रवेशसंस्कार ७ अष्टशुद्धिसंस्कार ८ परीषहजयसंस्कार ९ त्रियोगासंयमच्युतिशीलनसंस्कार १० त्रिकरणासंयमारतिसंस्कार ११ दशासंयमोपरमसंस्कार १२ अक्षनिर्जयसंस्कार १३ संज्ञानिग्रहसंस्कार १४ दशधर्मधृतिसंस्कार १५ अष्टादशशीलसहस्रसंस्कार १६ चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कार १७ विशिष्टधर्मध्यानसंस्कार १८ अतिशयसंस्कार १९ अप्रमत्तसंयमसंस्कार २० दृढश्रुततत्त्वोऽकप्रकरणश्रेण्यारोहणसंस्कार २१ अनन्तगुणशुद्धिसंस्कार २२ अप्रवृत्तिकृतिसंस्कार २३ पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानसंस्कार २४ अपूर्वकरणसंस्कार, २५ अनिवृत्तिकरणसंस्कार २६ बादरकषायकिट्टिकरणसंस्कार २७ सूक्ष्मकषायकिट्टिकरणसंस्कार २८ बादरकषायकिट्टिनिर्लेपनसंस्कार २९ सूक्ष्मकषायकिट्टिनिर्लेपनसंस्कार ३० सूक्ष्मकषायक्षपणसंस्कार ३१ प्रक्षीणमोहत्वसंस्कार ३२ यथाख्यातचारित्रसंस्कार ३३ एकत्ववितर्काविचारध्यानसंस्कार ३४ घातिघातनसंस्कार ३५ केवलज्ञानदर्शनोद्गमसंस्कार ३६ तीर्थप्रवर्तनसंस्कार ३७ सूक्ष्मक्रियाध्यानसंस्कार ३८ शैलेशीकरणसंस्कार ३९ परमसंवरवर्तिसंस्कार ४० योगकिट्टिकरणसंस्कार ४१ योगकिट्टिनिर्लेपनसंस्कार ४२ समुच्छिन्नक्रियसंस्कार ४३ परमनिर्जराश्रयणसंस्कार ४४ सर्वकर्मक्षयसंस्कार ४५ अनादिभवपर्ययविनाशसंस्कार, ४६ अनन्तसिद्धत्वादिगतिसंस्कार ४७ अदेहसहजज्ञानोपयोगैश्वर्यसंस्कार ४८ अदेहसहोत्थाक्षयोपयोगैश्वर्यसंस्कार (४०) ।

वृद्धो निर्वचनीयोऽणुरणीयाननणुप्रिय ।
प्रष्ठ स्थेयान् स्थिरो निष्ठ श्रेष्ठो ज्येष्ठ सुनिष्ठित ॥१३१॥

वृद्ध —वर्धते स्म वृद्ध । केवलज्ञानेन लोकालोक व्याप्नोति स्मेति वृद्ध । समुद्घातापेक्षया लोकप्रमाणो वा वृद्ध (४१) । **निर्वचनीय** —निर्वक्तु निरुक्तिमानेतु शक्य निर्वचनीय । अथवा निर्गतवचनीयमपकीर्तिर्यस्य यस्माद्वा निर्वचनीय (४२) । अण रण वण भण मण कण क्वण ध्वन ध्वन शब्दे । अणति शब्द करोति अणुः । पदि असि वसि-हनि-मनि-अपि हृ दि-कंदि बंधि बहुलमिन्वस्थ उप्रत्यय, अणुरिति जातम् । कोऽर्थ ? अणु अविभागी अतिसूक्ष्म पुद्गलपरमाणुरणुरुच्यते । स अणुरतिसूक्ष्मत्वाद् द्विखण्डो न भवति अत्यल्पत्वात् । उक्तञ्च—

१ मूला० ११ ।

परमाणो परं नाल्पं नभसो न परं महत् ।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥

इति वचनात्पुद्गलपरमाणुरतिसूक्ष्मो भवति । स उपमानभूतो नो भगवान्, तद्गुणग्रहणत्वात् योगि नामप्यगम्योऽणुरुच्यते (४३) । अणीयान्—अणोरप्यतिसूक्ष्मस्वादतिशयेन अणु सूक्ष्म अणीयान् । प्रकृष्टेऽर्थे गुणाद्विष्ठेयन्सौ वा इति सूत्रेण ईयन्सु प्रत्ययस्तद्धितम् । पुद्गलपरमाणुस्तावत्सूक्ष्मो वर्तते, सोऽपि अवधि-मनःपर्ययज्ञानवतां गम्योऽस्ति । पर भगवान् तेषा योगिनामप्यगम्यस्तेन स अणीयानुच्यते (४४) । अनणुप्रिय—न अणव न अल्पा अनणवो महान्त , इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र मुनीन्द्र चन्द्रादय । तेषां प्रिय , अतीवाभीष्ट अनणुप्रियः, चरणसेवकत्रिजगत्पतीनामाराध्य इत्यर्थ । अथवा न अणव पुद्गलपरमा णव प्रिया यस्येति अनणुप्रिय । भगवत समयं समय प्रति अनन्यसामान्या पुद्गलपरमाणव समाग च्छन्ति स्वामिन शरीरं सश्लिष्यन्ति । ते किल भगवत शरीर तिष्ठति । ते परमाणवो नोआहार उच्यते । योगनिरोधे सति न अणव प्रिया यस्येति अनणुप्रिय (४५) । प्रेष्ठ —अतिशयेन इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र मुनीन्द्र चन्द्रादीनां प्रिय प्रेष्ठ । गुणाद्विष्ठेयन्सौ वा इष्ठप्रत्यय । इष्ठप्रत्यये सति प्रियशब्दस्य प्रआदेश । तद्धितेष्ठेमेयस्सु बहुलमिति वचनात् । प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घहस्ववृद्धवृन्दारकाणां प्रस्थस्फुवरगार वंहत्रपद्राघहसवर्षवृन्दा । प्रियश दस्य प्रआदेश । अस्मिन् सूत्रे तृप्रशब्द तृप्यन्ति पितरोऽनेनेति तृप्र , पुरोडाश यज्ञशेषान्नमित्यर्थ । स्फायि तचि वचि शकि क्षिपि क्षुदि-सहि-मदि-मंदि-वदि-तुंदादिभ्यो रक् । इत्य धिकारेषु सूत्राणि गृधिश्रिति वृति छिदि मुदि तृपि दृपि[1] शुभिभ्यश्च इति सूत्रेण रक् प्रत्यय (४६) । स्थेयान्—अतिशयेन स्थिर स्थेयान् । गुणाद्विष्ठेयन्सौ वा इति सूत्रेण ईयन्सप्रत्ययः । तद्धितेष्ठेमेयःसु बहुल मित्यनेन सूत्रेण स्थिरशब्दस्य स्थ आदेश । प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घहस्ववृद्धवृन्दारकाणां प्रस्थस्फुवरगरवंहत्रपद्राघहसवर्षवृन्दा इति वचनात् स्थिरशब्दस्य स्थआदेश अवर्णे इवर्णे ए स्थेयस् जातम् । प्रथमैकवचन सि । सान्तमहतोर्नोपधाया दीर्घं व्यञ्जनाच्च सिलोप , संयोगान्तस्य लोपः स्थेयान् (४७) । स्थिर —योगनिरोधे सति उद्भासनेन पद्मासनेन वा तिष्ठति निश्चलो भवतीति स्थिरः । तिमि रुधि-मदि मंदि चदि वधि रुचि-सुषिभ्य किर इत्यधिकारे अजिरादय अजिर शिशिर शिथिर स्थिर-खदिराः इत्यनेन सूत्रेण किरप्रत्ययान्तो निपात (४८) । निष्ठ —न्यतिशयेन तिष्ठतीति निष्ठ । आतश्चोपसर्गे आङ् प्रत्यय (४९) । श्रेष्ठ —अतिशयेन प्रशस्य श्रेष्ठ । गुणाद्विष्ठेयन्सौ वा । प्रशस्यस्य श्र (५०) । ज्येष्ठ —अतिशयेन वृद्ध प्रशस्यो व ज्येष्ठ । गुणाद्विष्ठेयन्सौ वा । वृद्धस्य च ज्य । चकारात् प्रशस्यस्य च ज्य (५१) । सुनिष्ठित —सुष्ठु शोभन यथा भवति न्यतिशयेन स्थितः सुनिष्ठित । द्यति स्यति मास्थान्त्यगुणे इत्वम् । अथवा शोभना निष्ठा योगनिरोध सजातोऽस्येति सुनिष्ठित । तारकितादिदर्शनात् संजातेऽर्थे इतच् प्रत्यय (५२) ।

भूतार्थशूरो भूतार्थदूर परमनिर्गुण ।
व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थित ॥ १३२ ॥

भूतार्थशूर —भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूर पापकर्मसेनाविध्वंसनसमर्थत्वात् । उक्तञ्च—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूर ॥
[2]यो न च याति विकारं कर्मसमितिविकृष्टबाणविद्धोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूर ॥

---

१ द ऋषिशुभि० । २ द प्रतावय श्लोको नास्ति ।

अथवा भूतानां प्राणिनाम् अर्थे प्रयोजने स्वर्गमोक्षसाधने शूर सुभटः भूतार्थशूरः। अथवा भूतः प्राप्त अर्थ आत्मपदार्थो येन स भूतार्थः। स चासौ शूर कर्मक्षयसमर्थः भूतार्थशूरः। अथवा भूतार्थो मुक्तार्थस्तत्र शूरः। अकारान्त। भूतार्थशूर (५३)। **भूतार्थदूर**—भूतार्थ सत्यार्थो दूर केवलज्ञान विना अगम्यत्वात् विप्रकृष्ट। अथवा भूता अतीता येऽर्था पञ्चेन्द्रियविषया भुक्तमुक्ता, तेभ्यो दूरो विप्रकृष्ट सर्वेन्द्रियविषयाणामनिकट इत्यर्थ। अथवा भूताना प्राणिनामर्थ स्वर्गमोक्षादिसाधनम् स दूरमतिशयेन यस्मात् स भूतार्थदूर। अथवा भूता पिशाचप्राया अभव्यजीवा ये सम्बोधिता अपि न सम्बुध्यन्ते तेषा मर्थात् प्रयोजनात् दूरो दवीयस्तर भूतार्थदूर भव्यानामर्थसाधने समर्थ इत्यर्थ। तथा चोक्तम् आप्त मीमासायाम्—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये।

तत्र विहितेयमाप्तमीमासा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छता निःश्रेयसकामिना मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्यापि हितत्वघटनात् तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्याना तदनुपयोगात्। तत्त्वेतरपरीक्षा प्रति भव्यानामेव नियताधिकृति तथा मोक्षकारणानुष्ठानान्मोक्षप्राप्त्युपपत्ते (५४)। **परमनिर्गुण**—निर्गता गुणा रागद्वेषमोहाद्योऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुण। परम उत्कृष्टो निर्गुण परमनिर्गुण। अथवा पर निश्चयेन अनिर्गुण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसयुक्त परमनिर्गुण। इत्यनेन ज्ञान सुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसस्काराणा नवसख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिरिति वदन्तो वैशेषिका काणादापरनामान प्रत्युक्ता भवन्तीति। उक्तञ्च—

बोधो वा यदि वाऽऽनन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भव।
सिद्धसाध्य तदाऽस्माक न काचित्क्षतिरीक्ष्यते॥

अथवा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्मोक्षलक्षणोपलक्षिता कर्मक्षयोद्भूता यस्येति परम, पुवद्भाषित पुंस्कादनूङ्पूरण्यादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे इति वचनात्पराशब्दस्य पुवद्भाव। निश्चिता परमार्थभूता परमविज्ञानैर्गणधरदेवादिभिर्निर्धारिता गुणा अनन्ता केवलज्ञानादयो यस्येति निर्गुण। परमश्चासौ निर्गुण परमनिर्गुण (५५)। **व्यवहारसुषुप्त**—व्यवहारे विहारकर्मणि धर्मोपदेशादिके च सुष्ठु अतिशयेन सुप्तो निश्चिन्तः अव्यापृत व्यवहारसुषुप्त (५६)। **अतिजागरूक**—जागर्तीत्येवंशील जागरूक आत्मस्वरूपे सदा सावधान। अतिशयेन जागरूक अतिजागरूक। जागरूक इति वचनात् जागृधातो रूकप्रत्यय (५७)। **अतिसुस्थित**—अतिशयेन सुस्थित सुखीभूत अतिसुस्थित (५८)।

उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिम।
अमेयमहिमात्यन्तशुद्ध सिद्धिस्वयंवर॥१३३॥

उदितोदितमाहात्म्य—उदितादप्युदित परमप्रकर्षमागत माहात्म्य प्रभावो यस्य स उदितोदित माहात्म्य (५९)। **निरुपाधिः**—निर्गत उपाधिर्धर्मचिन्ता धर्मोपदेशविहारकर्मादिको यस्येति निरुपाधि। अथवा निर्गत उप समीपात् आधि मानसी पीडा यस्येति निरुपाधि जन्मजरामरणव्याधित्रयरहितत्वात् निश्चिन्त इत्यर्थ। अथवा निश्चित उपाधिरात्मधर्मस्यात्मस्वरूपस्य चिन्ता परमशुक्लध्यान यस्येति निरुपाधिः (६०)। **अकृत्रिम**—अकरणेन अविधानेन धर्मोपदेशादेरकृत्रिम। ड्वनुबंधात्त्रिमक् तेन निर्वृत्ते इति सूत्रेण त्रिमप्रत्यय। ककारो गुणार्थ। ड्वदित प्रध्वंसिनो ह्यनुबन्धा इति परिभाषणात् ककारप्रलय (६१)। **अमेयमहिमा**—महतो भावो महिमा। पृथिव्यादिभ्य इमन्। स अमेयोऽमर्यादीभूतो लोकालोकव्यापी महिमा केवलज्ञानव्याप्तिर्यस्यासावमेयमहिमा (६२)। **अत्यन्तशुद्ध**—अत्यन्तमतिशयेन शुद्धः

कर्ममलकलंकरहितः अत्यन्तशुद्ध , रागद्वेषमोहादिरहितो वा द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरहितो वा, सन्निकटतर सिद्धपर्यायत्वात् अत्यन्तशुद्धः (६३)। **सिद्धिस्वयंवर** —सिद्धेरात्मोपलब्धेः कन्यायाः स्वयंवर परिणेता सिद्धिस्वयंवर (६४)।

सिद्धानुज सिद्धपुरीपान्थ सिद्धगणातिथि ।
सिद्धसंगोन्मुख सिद्धालिंग्य सिद्धोपगूहक ॥१२४॥

सिद्धानुज —सिद्धाना मुक्तात्मना अनुजो लघुभ्राता पश्चाज्जातत्वात् सिद्धानुज (६५)। **सिद्धपुरीपान्थ**—सिद्धानां मुक्तात्मना पुरी नगरी मुक्तिः ईषत्प्राग्भारसंज्ञं पत्तनम्, तस्या पान्थ पथिक सिद्धपुरीपान्थ (६६)। **सिद्धगणातिथि** —सिद्धानां मुक्तजीवानां गण समूहः अनन्तसिद्धसमुदायः सिद्धगण, तस्य अतिथि प्राघूर्णक सिद्धगणातिथि (६७)। **सिद्धसंगोन्मुख** —सिद्धाना भवविच्युताना सगो मेलस्तं प्रति उन्मुखो बद्धोत्कण्ठ सिद्धसगोन्मुख (६८)। **सिद्धालिंग्य** —सिद्धै कर्मविच्युतै सत्पुरुषै महापुरुषैरालिंगितु योग्य आश्लेषोचित सिद्धालिंग्यः (६९)। **सिद्धोपगूहक** —सिद्धानां मुक्तिवल्लभानां उपगूहक आलिंगनदायक अंकपालीविधायक सिद्धोपगूहक (७०)।

पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलाश्व पुण्यशंबल ।
वृत्ताग्रयुग्य परमशुक्ललेश्योऽपचारकृत् ॥१२५॥

पुष्ट —पुष्णाति स्म पुष्ट पूर्वसिद्धसमानज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणैः सबल (७१)। उक्तञ्च—

ययोरेव सम वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्ट-विपुष्टयो ॥

अष्टादशसहस्रशीलाश्व —अश्नुवते क्षणेन अभीष्टस्थान प्राप्नुवन्ति जातिशुद्धत्वात् स्वस्वामिन मभिमतस्थानं नयन्तीति अश्वा । अष्टभिरधिका दश अष्टादश । अष्टादश च तानि सहस्राणि अष्टादशसहस्राणि । अष्टादशसहस्राणि च तानि शीलानि अष्टादशसहस्रशीलानि तान्येव अश्वा वाजिनो यस्य सोऽष्टादशसहस्रशीलाश्व । कानि तानि अष्टादशसहस्राणि शीलानाति चेदनूद्यते—

शील व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम् ।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ॥
गुणा संयमविकल्पा शुद्धय कायसंयमा ।
सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जनाः [1] ॥

शुभयोगवृत्तिं उपैतु, शुभमनोवचनकाययोगानाभोतु इतरहतिं उपैतु अशुभमनोवचनकायान् त्रीन् शुभमनसा हन्तु इति त्रीणि अशुभमनोवचनकायान् शुभवचसा हन्तु इति षट् अशुभमनोवचनकायान् शुभकायेन हन्तु, इति नव । एते नव । आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञापरिहारैश्चतुर्भिर्गुणिता षट्त्रिंशद्भवन्ति । ते षट्त्रिंशदिन्द्रियजयपंचकेनाहताः अशीत्यग्रं शत भवन्ति । क्षमादियममलात्यय पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियसंज्ञिपचेन्द्रियदशाना विराधनापरिहारदशकेनाहता अष्टादशशतानि भवन्ति । ते दशधर्मैराहता अष्टादशसहस्राणि जायन्ते १८००० । अथवा अपरेण प्रकारेण शीला उच्यन्ते—अशीत्यग्रद्विशताधिकसप्तदशसहस्राश्चेतनसम्बन्धिन १७२८० । विंशत्यग्रसप्तशतान्यचेतनसम्बन्धिन ७२० । तथाहि—देवी मानुषी तिरश्चीपरिहारास्त्रयः । कृतकारितानुमतपरिहारैस्त्रिभिर्गुणिता नव भवन्ति । मनोवचनकायपरिहारैस्त्रिभिराहता सप्तविंशतिर्भवन्ति । स्पर्शरसगंधवर्णशब्दलक्षणपंचविषयपरिहारपचकेनाहताः पंचत्रिं

---

1 अनगारधर्मा अ ४, १७२ १७३ ।

शत्यधिक शतं जागर्ति । द्रव्यभावपरित्यागद्वयेन गुणिताः सप्तत्यधिकद्विशतं जायते । चतुःसंज्ञापरिहारचतुष्केनाहता अशीत्यधिकं सहस्रं समस्ति १०८ । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनचतुष्कैः षोडशकषायपरिहारैराहता अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्रा संजायन्ते १७२८ । इति चेतनसम्बन्धिनो भेदाः । अचेतनसम्बन्धिनः प्रकाराः कथ्यन्ते । तथाहि— काष्ठपाषाणलेपकृता स्त्रियस्तिस्रः मनःकायपरिहारद्वयेन गुणिताः षट् भवन्ति । कृतकारितानुमतपरिहारैस्त्रिभिराहता अष्टादश स्युः । स्पर्शादिपञ्चविषयपरित्यागैर्गुणिताः नवतिर्भवति । द्रव्य भावपरिहारद्वयनाहता अशीत्यधिकं शतं स्यात् । कषायचतुष्टयपरिहृतिपरिगुणितं विंशत्यग्राणि सप्तशतानि जाग्रति (७२)। एवं एकत्रीकृता अष्टादशसहस्रा संजायन्ते । १८ । (७२) **पुण्यशबलः**—पुण्यं सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं शबलं पथ्योऽदनं यस्य स भवति पुण्यशबलः (७३) **वृत्ताग्रयुग्यः**—वृत्तं चारित्रं अग्रं मुख्यं युग्यं वाहनं यस्येति वृत्ताग्रयुग्यः (७४)। **परमशुक्ललेश्यः**—कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्योच्यते । जीवं हि कर्मणा लिम्पतीति लेश्या । कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि च इति सूत्रेण कर्तरि ध्यण्, नामिनोपधाया लघोरिति गुणः । पृषोदरत्वात्पकारस्य शकारः । स्त्रियामादा । उक्तञ्च—

> वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
> धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥
> वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः ।
> षोडशादौ विकारस्तु वर्णनाशः पृषोदरे ॥

परमशुक्ला लेश्या यस्य स परमशुक्ललेश्यः (७५)। उक्तञ्च **नेमिचन्द्रेण** मुनिना गोम्मटसारग्रन्थे लेश्यानां षोडशाधिकारप्रस्तावे शुक्ललेश्यस्य लक्षणं—

> ण कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
> णत्थि य राय दोसं णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स[1] ॥

अपचारकृत्—अपचरणमपचारो मारणम् कर्मशत्रूणामेवापचारो घातिकर्मणां विध्वंसनमित्यर्थः । अपचारं घातिसंघातनं पूर्वमेव कृतवान् भगवानित्यर्थः । यथा कश्चिद्विजिगीषुः शत्रूणां मन्त्रविषप्रयोगादिभिः शत्रूणामपचारं मारणं करोति तथा भगवानपि कर्मणां मारणं ध्यानमन्त्रविषप्रयोगेण कृतवानित्यर्थः । इत्यनेनास्मिन्नष्टकुच्छते भगवतो विजिगीषुस्वरूपनिरूपकानि नामानि स्वयमेवार्थापयितव्यानि । अथवा अपचारं मारणं कृन्तति उच्छेदयतीति अपचारकृत् । येऽत्वरम्लेच्छाः ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयाय अयोगूं, कामाय पुंश्चलूं, अतिकुष्टाय मागधं गीताय सूतमादित्याय स्त्रियं गर्भिणीमित्यादीनि हिंसाशास्त्रवचनानि पोषयन्ति तेषां मतमुच्छेदितवान् भगवान् परमकारुणिकत्वादिति ज्ञातव्यम् (७६)।

क्षेपिष्ठोऽन्त्यक्षणसखा पञ्चलघ्वक्षरस्थितिः ।
द्वासप्ततिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥ १३६ ॥

क्षेपिष्ठः—अतिशयेन क्षिप्रः शीघ्रतरः क्षेपिष्ठः । स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणामन्तस्थादेर्लोपो गुणश्च इत्यनेन इष्ठप्रत्यये रकारलोपः इकारः एकारश्च क्षेपिष्ठः अतिशयेन शीघ्रः एकेन क्षणेन त्रैलोक्यशिखरगामित्वात् (७७)। **अन्त्यक्षणसखा**—अन्त्यक्षणस्य सखा अन्त्यक्षणसखा संसारस्य पश्चिमः समयः, तेन सह यामुक्तो मित्रमित्यर्थः । उक्तञ्च—

> सतां सप्तपदं मैत्र्यं सप्तता च पदत्रयम् ।
> सज्जनामपि ये सन्तस्तेषां मैत्र्यं पदे पदे ॥

---

१ गो जी ५२६ ।

अथवा अन्त्यक्तयोरस्य पञ्चमकल्याणस्य सखा मित्रं अन्त्यक्तयसखा। अथवा अन्त्यक्तयसखः इति पाठे अन्त्यक्तयाः सखा मित्रं यस्येति अन्त्यक्तयसखः । समासान्ततस्तानो वा राजादीनामन्यत्वा इत्यधिकारे राजन् सखन् सखि इत्यनेन अत्प्रत्ययः (७८)। पञ्चलघ्वक्षरस्थितिः—पञ्च च तानि लघ्वक्षराणि पञ्चलघ्वक्षराणि, अ इ उ ऋ लृ इत्येवंरूपाणि, क च ट त प इति रूपाणि वा, क ख ग घ ङ इत्यादि रूपाणि वा। यावत्काल पञ्चलघ्वक्षराण्युच्चार्यन्ते तावत्कालपर्यन्तं चतुर्दशे गुणस्थाने अयोगिकेवल्यपरनाम्नि स्थितिर्यस्येति पञ्चलघ्वक्षरस्थिति । स पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमात्रोऽपि कालपर्यायोऽन्तमुहूर्तं उच्यते। उक्तञ्च—

आवलि असंखसमया संखेज्जावलि होइ उस्सासो।
सत्तुस्सासो थोवो सत्तत्थोओ लवो भणिओ॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु।
समऊणं तं भिन्नं अंतमुहुत्तं अणेयविहं[1]॥

एकावलि-उपरि एक समयो वर्धते स जघन्योऽन्तर्मुहूर्त उच्यते। एव द्वि त्रि चतुरादिसमया वर्धन्ते यावत् तावत् घटिकाद्वयमध्ये समयद्वयं हीनं तावदन्तर्मुहूर्त उच्यते। एकेन समयेनोनं नालीद्वय भिन्नमुहूर्तं कथ्यते। एकस्यापि अक्षरस्य (उच्चारणे) असख्येया समया भवन्ति (७९)। **द्वासप्ततिप्रकृत्यासी**— पञ्चानामक्षराणा मध्ये अन्त्याक्षरस्य येऽसख्याता समया भवन्ति तेषां समयाना मध्ये द्वौ द्वौ समयौ, तयो द्वयो समययोर्मध्ये य पूर्वं समय स समयो द्विचरम समय कथ्यते, उपान्त्यसमय चाभिधीयते। तस्मिन्नु पान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीर्भगवान् क्षिपति। द्विसप्ततिप्रकृतीरस्यति क्षिपते इत्येवशीलो द्वासप्ततिप्रकृत्यासी। कास्ता द्वासप्ततिप्रकृतयो या भगवानुपान्त्यसमये चतुर्दशे गुणस्थाने क्षिपयतीति चेदुच्यते—द्वौ गन्धौ सुरभि दुरभी २। मधुराम्लकटुतिक्तकषाया पञ्च रसा ७। श्वेतपीतहरितारुणकृष्णपञ्चवर्णा १२। औदारिकवैक्रियिका हारकतैजसकार्मणशरीराणि पञ्च १७। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरबन्धनानि पञ्च २२। औदारिक वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसघाता पञ्च २७। वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच नाराच अर्धनाराच कीलिका-ऽसंप्राप्तासृपाटिका षट् सहनानि ३३। समचतुरस्र न्यग्रोधपरिमडल वाल्मीक[2] कुब्जक वामन हुंडकसस्थानानि षट् ३९। देवगति ४० देवगत्यानुपुर्व्य ४१ प्रशस्तविहायोगति ४२ अप्रशस्तविहायोगति ४३ परघातक ४४ अगुरुलघु ४५ उच्छ्वासं ४६ उपघात ४७ अयश ४८ अनादेय ४९ शुभं ५० अशुभ ५१ सुस्वर ५२ दु स्वरं ५३ स्थिर ५४ अस्थिरं ५५ स्निग्धरूक्षकर्कशकोमलागुरुलघुशीतोष्णस्पर्शाष्टकं ६३ निर्माण ६४ औदा रिकवैक्रियिकाहारकागोपागत्रय ६७ अपर्याप्तं ६८ दुर्भगं ६९ प्रत्येक ७० नीचैर्गोत्रं ७१ द्वयोर्वेद्ययोर्मध्ये एकं वेद्यं ७२ इति द्वासप्ततिप्रकृत्यासी (८०)। **त्रयोदशकालिप्रणुत्**—त्रयोदशकलीन् त्रयोदशकर्मप्रकृती नुदति क्षिपते त्रयोदशकलिप्रणुत्। के ते त्रयोदश कलय इत्याह—आदेय १ मनुष्यगतिः २ मनुष्यगत्यानुपूर्व्यं ३ पञ्चेन्द्रियजाति ४ यश ५ पर्याप्त ६ त्रस ७ बादर ८ सुभग ९ मनुष्यायु १० उच्चैर्गोत्रं ११ द्वयोर्वेद्ययोर्मध्ये एकं वेद्यं १२ तीर्थंकरत्व च १३ इति त्रयोदशकलिप्रणुत् (८१)।

अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनग्निपरिग्रह ।
अनग्निहोत्रो परमनि स्पृहोऽत्यन्तनिर्दय ॥ १३७ ॥

अवेद:—न विद्यते वेदः स्त्रीपुंनपुंसकत्व यस्येति अवेद, लिंगत्रयरहित इत्यर्थः। किं स्त्रीत्व किं वा पुंस्त्वं किं च नपुंसकत्वमिति चेदुच्यते—

अविमायंबगिस्समकुंभसरिसपुंसवेयरहिया ।
पुंस्कामेन समं सह लिंगानि लोयसुकणे ॥
सरसं मेहुनं कमलं हीन्दीयंसमणुडता ।
स्त्रीकामेन समं सह लिंगानि नपुंसवेदो ॥

1 गो जीवकांड ५७३, ५७४। 2 ब स्वाति।

यानि स्त्रीपुंसलिङ्गानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।
उक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने[1] ॥

अथवा अवेद न विद्यन्ते ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्वणनामान कालासुरादिविहिता हिंसाशास्त्राणि वेदा यस्येति अवेद । तर्हि सर्वज्ञ कथ यदि पापशास्त्राणि न जानातीति चेन्न जानात्येव, परं हेयतयाऽवैति । नञा निर्दिष्टस्यानित्यत्वादवेद उच्यते । अथवा अव समन्तात् ई स्वर्गापवर्गलक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीं ददातीति अवेद, अभ्युदय निःश्रेयससंपत्तिप्रदायक इत्यर्थ । अथवा अस्य शिवस्य ईशानस्य केशवस्य च वासुदेवस्य ब्रह्मणश्चन्द्रस्य भानोश्च वस्य वरुणस्य इदं पापं द्यति खण्डयति अवेदः । ध्यायमान स्तूयमान पूज्यमान श्चैतेषा देवाना तदपत्याना उपलक्षणात्सर्वेषा पापविध्वंसक इत्यर्थ । तथा चोक्त **विश्वप्रकाशशास्त्रे**—

अ शिवे केशवे वायौ ब्रह्मचन्द्राग्निभानुषु ।

वो वरुणे । ई कुत्सायां पापे च । अवेद इति गत सिद्धमित्यर्थ (८२) । **अयाजक**—न याजयति न निजां पूजा कारयति अतिनिःस्पृहत्वात् अयाजक । तर्हि पूर्व किं सस्पृह इदानीमेव निःस्पृह संजातः ? इति चेन्न पूर्वमपि निःस्पृह इदानीमपि भगवान्निःस्पृह एव । पर पूर्व समवसरणस्थितः इन्द्रादिकृतामर्चनां लोचनाभ्या स्वभावेन विलोकते तदा भव्यानामानन्द उत्पद्यते—स्वाम्यस्मत्कृतां पूजा स्वीकरोतीति याजकवत्प्रतिभासते । इदानीं तु योगनिरोधकत्वात् साक्षादयाजक इव भव्यात्मना पूज्यमानोऽपि चेतसि प्रतिभासते तेन भगवानयाजक उच्यते । अथवा अयते अय **अच्पचादिभ्यश्चेति** अचा सिद्धत्वात् । **कर्त्तरि कृदिति** वचनात् अय इति गतिरुच्यते । सा तु तीर्थप्रवर्तनकाले भवति सूक्ष्मक्रियत्वादपि इदानीं तु व्युपरतक्रियो भगवान् बोभवीति स्म । तत्रायमर्थ —अयस्य गमनस्य तीर्थप्रवर्तनपर्यटनस्य विहारस्याभावात् अयाजक परिहारक अयाजक । अयजमानो वा (८३) । **अयज्य**—यष्टु शक्यो यज्यः न यज्य अयज्य । **शकि-सहि पवर्गान्ताच्च** यप्रत्यय । शकि ग्रहणात् शक्यार्थो ग्राह्य स्वामिनाऽलक्ष्यस्वरूपत्वात् केनापि यष्टु न शक्यते तेन अयज्य इत्युच्यते (८४) । **अयाज्य**—इज्यते याज्य न यष्टु शक्यते अयाज्य । **अथवा व्यञ्जनान्ताद् घ्यण्** । शक्यार्थ विना यो न भवति । किं सामान्येन घ्यणेव भवति अयाज्योऽपि अलक्ष्यस्वरूपत्वात् (८५) । **अनग्निपरिग्रह**—कर्मसमिधा भस्मीकरणाय अग्नि गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निनामत्रयवैश्वानरस्य न परिग्रह स्वीकारो यस्यासौ अनग्निपरिग्रह । अथवा अग्निश्च परिग्रहश्च पत्नी अग्निपरिग्रहौ न अग्निपरिग्रहौ यस्य सोऽनग्निपरिग्रह । ग्राम्यर्षीणा तु अग्नि भार्याश्च परिग्रहो भवति भगवांस्तु ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेन्धनत्वात् अनग्निपरिग्रह (८६) । उक्तञ्च—

प्रसंख्यानपविपावकप्लुष्टानुत्थानमन्मथमदद्विरद्विरदस्मरविजय ।

अनग्निहोत्री—अग्निहोत्रो यज्ञविशेष । अग्निहोत्रो विद्यते यस्य सोऽग्निहोत्री ब्राह्मणविशेष । न अग्निहोत्री अनग्निहोत्री अग्नि विनापि कर्मेन्धनदहनकारित्वात् । ननु त्रान्त शब्दरूपं[2] नपुंसके प्रोक्तत्वा त्कथमत्र अग्निहोत्रस्य पुंस्त्व सूचितम् ?

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् ।
परेण पूर्वबाधो वा प्रायशो दृश्यतामिह ॥

विशेषेण यज्ञनाम्न पुंस्त्वम् । तथा चोक्त **दुर्गसिंहेन** कविना—

स्वर्गविनमानसवत्सरनरयज्ञकुचकेशभालतुः ।
अरिगिरिअवदजलधिविषसुरास्यात्म[3] भुजभुजगा ॥
शरनखकपोलकर्दमतर्पकगुल्फोष्ठ[4] कण्ठदरमालिका ।
पुंसि सेशा ध्यान्याम्बुको नालीमयः पञ्च ॥

---

१ संस्कृत पञ्चसंग्रह १९७–१९८ । २ ज स्वरूपं । ३ द स्यात्मज । ४ द दरमालीकाः ।

तथा भान्ते नपुंसके उक्तेऽपि शुभलक्षणाक्रियाश्च इत्यमी च विशेषत्वात्पुंलिङ्ग एव (८७)। परम-निःस्पृहः—परम उत्कृष्टो निःस्पृहः परमनिःस्पृहः। अथवा परा उत्कृष्टा केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः। परमश्चासौ निःस्पृहः परमनिःस्पृहः। ननु यो भगवान् उत्कृष्टलक्ष्मीवान् स निःस्पृहः कथम्? विरुद्धमेतत्? परिह्रियते—परं निश्चयेन अनिःस्पृहः परमनिःस्पृहः मुक्तिकान्तायां संयोजिता भद्रहृदयस्वरूपत्वात् (८८)। अत्यन्तनिर्दयः—अत्यन्तं नितरां निर्दयो दयारहितः अत्यन्तनिर्दयः। ननु भगवतः परमकारुणिकत्वात्निर्दयत्वं कथम्? इदमपि विरुद्धम्? परिह्रियते—अतिगतो विनष्टोऽन्तो विनाशो यस्येति अत्यन्तः। निश्चिता सगुण-निर्गुण प्राणिवर्गरक्षणलक्षणा दया करुणा यस्येति निर्दयः। अत्यन्तश्चासौ निर्दयः अत्यन्तनिर्दयः। अथवा अतिशयेन अन्ते अन्तके यमे निर्दयो निःकरुणः अत्यन्तनिर्दयः। उक्तञ्च समन्तभद्रेण उत्सर्पिणीकाले भविष्यत्तीर्थंकरपरमदेवेन महाकविना—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः[1] ॥

अथवा अत्यन्ता अतिशयेन विनाशं प्राप्ता निर्दया अक्षरम्लेच्छादयो यस्मादिति अत्यन्तनिर्दयः। तीर्थंकरपरमदेवे सति मिथ्यादृष्टीनां निस्तेजस्कता भवतीति भावः। तथा चोक्तं तेनैव भगवता समन्तभद्रस्वाम्याचार्येण—

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं
　　समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगवन्
　　अभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः[2] ॥

अथवा अतिशयेन अन्ते मोक्षगमनकाले निश्चिता दया स्वपरजीवरक्षणलक्षणा यस्येति अत्यन्तनिर्दयः। तदप्युक्तं तेनैव देवागमस्तुतिकारिणा समन्तभद्रेण—

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्[3] ॥

अलमतिविस्तरेण (८९)।

अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः।
अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥ १२८ ॥

अशिष्यः—न केनापि शिष्यते अशिष्यः। अथवा मोक्षगमनकाले मुनिशिष्यसहस्रादिगणैर्वेष्टितोऽपि परमनिःस्पृहत्वात् निरीहत्वाच्च अशिष्यः (९०)। **अशासकः**—न शास्ति न शिष्यान् धर्मं ब्रूते अशासकः, योगनिरोधत्वात् (९१)। **अदीक्ष्यः**—न केनापि दीक्ष्यते अदीक्ष्यः स्वयंबुद्धत्वात् (९२)। **अदीक्षकः**—न कमपि दीक्षते व्रतं ग्राहयति अदीक्षकः, साधुचरितार्थत्वात् (९३)। **अदीक्षितः**—न केनापि व्रतं ग्राहितः अदीक्षितः स्वयमेव स्वस्य गुरुत्वात्। (९४)। **अक्षयः**—नास्ति क्षयो विनाशो यस्य सोऽक्षयः। अथवा न अक्षाणि इन्द्रियाणि याति प्राप्नोति अक्षयः। आतोऽनुपसर्गात्कः (९५)। **अगम्यः**—न गन्तुं शक्यः अगम्यः। शकि-सहि पवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः, अविज्ञेयस्वरूप इत्यर्थः (९६)। **अगमकः**—न कमपि गच्छतीत्यगमकः, निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थित इत्यर्थः (९७)। **अरम्यः**—आत्मस्वरूपं विना न किमपि रम्यं मनोहरं वस्तु यस्येति अरम्यः (९८)। उक्तञ्च—

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरेऽपि रम्यता ॥

---

१ स्वयम्भूस्तो० ९६। २ स्वयम्भूस्तो० ११७। ३ रत्नक० १२३।

अरत्नक:—आत्मस्वरूपमन्तरेण न क्वापि रमति अरमकः (९९) । **ज्ञाननिर्भरः**—ज्ञानेन केवलज्ञानेन निर्भरः परिपूर्णो ज्ञाननिर्भरः, आकण्ठममृतभृतसुवर्णघटवदित्यर्थ (१००) ।

इत्यन्तकृच्छतम् ।

महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भव ।
ज्ञानैकचिज्जीवघन सिद्धो लोकाग्रगामुक ॥ १३९ ॥

महायोगीश्वर—महायोगिनां गणधरदेवादीनामीश्वर स्वामी महायोगीश्वर (१ १) । **द्रव्यसिद्ध**—द्रव्यरूपेण सिद्धो द्रव्यसिद्ध साक्षात्सिद्ध इत्यर्थ (१ २) । **अदेह**—न विद्यते देह शरीरं यस्येति अदेह परमौदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयरहित इत्यर्थ (१ ३) **अपुनर्भव**—न पुनः संसारे संभवतीति अपुनर्भव । अथवा न विद्यते पुनर्भव संसारो यस्येति अपुनर्भव । अथवा न पुन भवो रुद्र उपलक्षणाद् ब्रह्मविष्ण्वादिको देव संसारेऽस्ति अयमेव श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ एव देव इत्यर्थ (१ ४) । **ज्ञानैकचित्**—ज्ञानमेव केवलज्ञानमेव एका अद्वितीया चित् चेतना यस्येति ज्ञानैकचित् (१ ५) । **जीवघन**—जीवेन आत्मना निर्वृतो निष्पन्नः जीवघन जीवमय इत्यर्थ । मूर्त्तौ घनिश्च[1] (१ ६) । उक्तञ्च—

असरीरा जीवघणा उवजुत्ता दसणे य णाणे य ।
सायारमणायारो लक्खणमेय तु सिद्धाणं[2] ॥

सिद्ध—सिद्धि स्वात्मोपलब्धि सजाता यस्येति सिद्ध (१ ७) । **लोकाग्रगामुक**—लोकस्य त्रैलोक्यस्य अग्र शिखरे तनुवातवलये मुक्तिशिलाया उपरि मनागूनैकगव्यूतिप्रदेशे गच्छतीत्येवशील लोकाग्रगामुक । लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ् इति सूत्रेण उकञ्प्रत्यय । ञकार ञ्णिति इति सिद्धिरिज्वद् विशेषणार्थस्तेन अस्योपधाया दीर्घो वृद्धिर्नामिनमि च चटत्सु (१ ८) । इत्यन्ताष्टकम् । एवमेकत्र १ ८ ।

इदमष्टोत्तर नाम्ना सहस्र भक्तितोऽर्हताम् ।
योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्ता भुक्तिमश्नुते ॥ १४ ॥

इद प्रत्यक्षीभूत **अनन्ताना** अतीतानागतवर्तमानकालापेक्षया अनन्तसंख्याना **अर्हता** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञाना **अष्टोत्तर** अष्टाधिक सहस्र दशशतप्रमाण **य** पुमान् आसन्नभव्यजीव **भक्तित** परमधर्मानुरागेण विनयत **अधीते** पठति **असौ** भव्यजीव **मुक्त्यन्ता** मुक्तिरन्ते यस्या सा मुक्त्यन्ता ता **भुक्तिं** अभ्युदयलक्ष्मीभोगं **अश्नुते** भक्त संसारे उत्तमदेवोत्तममनुष्यपदस्य अभ्युदयसौख्यं भुक्त्वा मोक्षसौख्य प्राप्नोतीत्यर्थ ।

इद लोकोत्तम पुसामिद शरणमुल्बणम् ।
इद मगलमग्रीयमिद परमपावनम् ॥ १४१ ॥
इदमेव पर तीर्थमिदमेवेष्टसाधनम् ।
इदमेवाखिलक्लेशसक्लेशक्षयकारणम् ॥ १४२ ॥

इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं **लोकोत्तम** अर्हल्लोकोत्तम सिद्धलोकोत्तम-साधुलोकोत्तम केवलिप्रज्ञप्तधर्मलोकोत्तमवत् । इद जिनसहस्रनामस्तवनमेव लोकोत्तम ज्ञातव्य अर्हत्सिद्धसाधुधर्मलोकोत्तमवत् अनुसरणीयमित्यर्थ । **पुसा** भव्यजीवाना **इद शरण** अर्हच्छरण सिद्धशरण साधुशरण केवलिप्रज्ञप्तधर्मशरणवत् । इद जिनसहस्रनामस्तवनमेव शरण आर्त्तिमथनसमर्थ ज्ञातव्यम् । अर्हत्सिद्धसाधुधर्मशरणवदनुसर्तव्यमित्यर्थ । शरण कथंभूतं **उल्बणं** उद्रिक्तम् । **इद मगलमग्रीय**—इद प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवन मंगल म मल पापं अनन्तभवोपार्जितमशुभं कर्म गालयतीति मंगलम् । अथवा मगं सुख अभ्युदय-नि श्रेयसलक्षण लाति ददातीति मगलम् । अर्हन्मंगल सिद्धमंगल-साधुमगल-केवलिप्रज्ञप्तधर्ममंगलवत् इद जिनसहस्रनामस्तवनमेव मंगलं ज्ञातव्यम् । कथभूत मगलम् ? **अग्रीयं**—अग्राय त्रैलोक्यशिखराय मोक्षाय हितं

[1] द मूर्त्तौ घनिश्च । [2] तत्त्वसार ७२ ।

अभीष्टं सुखं मंगलमित्यर्थः । **इद परमपावनम्**—इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं परमपावनं परमपवित्रं, तीर्थंकरपरमदेवपंक्तौ मानुषमात्रस्यापि स्थापकमित्यर्थः । **इदमेव पर तीर्थम्** इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परमुत्कृष्टं तीर्थं संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं—**अष्टापद गिरनार-चम्पापुरी-पावापुरी अयोध्या शत्रुञ्जय-तुङ्गीगिरि गजध्वजापरनाम नाभेयसीमापरनाम गजपथ चूलगिरि-सिद्धकूट मेढ्गिरि तारा गिरि-पावागिरि-गोमट्टस्वामि माणिक्यदेव श्रीपर्वत रेवातट रत्नपुर हास्तिनपुर-वारा णसी राजगृहा**दिसर्वतीर्थंकरकर्मक्षयस्थानातिशयक्षेत्रस्पर्शन यात्राकरणपरमपुण्यदानपूजादिसमुद्भूतसुकृतदानसमर्थमित्यर्थः । **इदमेवेष्टसाधनम्**—इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव इष्टसाधनं मनोऽभीष्टवस्तुदायकम् । **इद मेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम्**—इदमेव इद जिनसहस्रनामस्तवनमेव अखिलाना शारीर मानसागन्तुकानां क्लेशानां दुःखानां संक्लेशानामार्तरौद्रध्यानाना क्षयकारण विध्वंसविधायका हेतुरित्यर्थ ॥१४१ १४२॥

एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नघैः ।
मुच्यते किं पुन सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥१४३॥

एतेषा पूर्वोक्ताना अष्टाधिकसहस्रसंख्याना **अर्हन्नाम्ना** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवानां मध्ये **एकमपि** नाम **उच्चारयन्** जिह्वाग्र कुर्वन् पुमान् **अघै** अनन्तजन्मोपार्जितपापै **मुच्यते** परिह्रियते परित्यज्यते । **किं पुन सर्वाणि**—य सर्वाणि अर्हन्नामानि अष्टाधिकैकसहस्रसंख्यानि उच्चारयति पठति भक्तिपूर्वमधीते स पुमान् पापैर्मुच्यत इति किं पुनरुच्यते सर्वाणि नामान्युच्चारयन् पुमान् भव्यजीवोऽनन्तभवोपार्जित महापातकैरपि मुच्यत एवात्र संदेहो न कर्तव्य । **अर्थज्ञस्तु जिनायते**—तुशब्दो भिन्नप्रक्रमे । अष्टाधिक-सहस्रनाम्ना यो विद्वज्जनशिरोरत्न अर्थं जानाति अर्थज्ञ स पुमान् जिनायते—जिन इवाचरति जिनायते । उपमानादाचारे आयन्ताच्च ति सूत्रद्वयेन क्रमादायिप्रत्यय आत्मनेपद च सिद्धम् । स पुमान् सद्दृष्टिभिर्गुणाव द्भिर्दानपूजातपश्चरणशरणैर्महाभव्यवरपुण्डरीकै **रामस्वामिपाण्डवसमानधर्मानुरागरञ्जितहृदयकमलै** सर्वज्ञवीतरागवन्मान्यत इत्यर्थ ।

इति सूरिश्रीश्रुतिसागरविरचिताया जिनसहस्रनामटीकायामन्तकृच्छत विवरणो नाम दशमोऽध्याय ॥ १ ॥

टीकाकारस्य प्रशस्ति

अर्हन्त सिद्धनाथास्त्रिविधमुनिजना भारती चार्हतीया
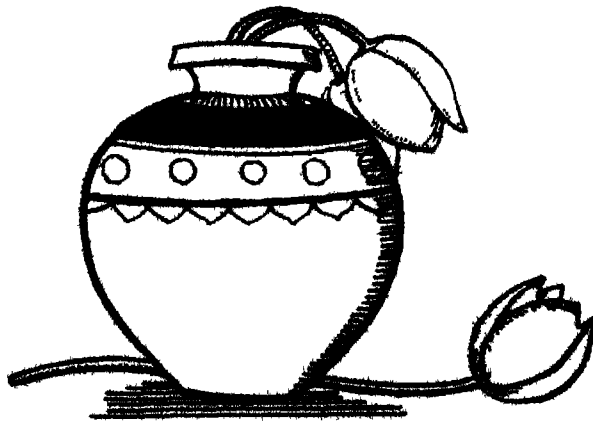
सद्रत्न कुन्दकुन्दो विबुधजनहृदानन्दनः पूज्यपादः ।

विद्यानन्दोऽकलंक कलिमलहरण श्रीसमन्तादिभद्रो

भूयान्मे भद्रबाहुभवभयमथनो मंगलं गौतमाद्यः ॥ १ ॥

श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपर पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्य ।

विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोध श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मंगलं मे ॥ २ ॥

अद पट्ट भट्टारकमलघटाघट्टनपटु

घटद्धर्मध्यान स्फुटपरमभट्टारकपद ।

प्रभापुञ्ज संयद्विजितवरवीरस्मरनर

सुधीलक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥

आलम्बन सुविदुषां हृदयाम्बुजानामानन्दन मुनिजनस्य विमुक्तिहेतो ।

सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृति कृत श्रुतसागरेण ॥ ४ ॥

श्रीश्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।

जन्मजरामरणहरं निरन्तर तैः शिवं लब्धम् ॥ ५ ॥

अस्ति स्वस्तिसमस्तसंघतिलके श्रीमूलसंघेऽनघ

वृत्त यत्र मुमुक्षुवर्गशिवद संसेवितं साधुभि ।

विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिर साम्प्रतं

तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिर नन्दतु ॥६॥

॥ इति श्रीश्रुतसागरी टीका समाप्ता ॥

परिशिष्ट

पं० आशाधरजीके प्रस्तुत जिनसहस्रनामका नवां शतक दार्शनिक दृष्टिसे बहुत महत्वपूर्ण है, यह बात प्रस्तावनामें बतला आये हैं। इस शतकके सौ नामोंमें से केवल तीन नाम छोड़कर शेष सत्तानवे नाम बौद्ध, सांख्य यौग, नैयायिक, वैशेषिक मीमांसक चार्वाक और वेदान्तियों जैसे प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिकोंके ही हैं। पं० आशाधरजीने इन नामोंकी निरुक्ति करके किस पाण्डित्यके साथ उनका अर्थ बदल कर जिनेन्द्र-परक अर्थका उद्भावन किया है यह उनकी स्वोपज्ञ विवृत्ति और श्रुतसागरी टीकाके देखनेसे ही भली-भांति ज्ञात हो सकेगा। श्रुतसागरसूरिने अपनी टीकामें उक्त दार्शनिकोंके द्वारा मान गये देव तत्त्व प्रमाण, वाद और मोक्षकी भी चर्चा की है। जो पाठक संस्कृत भाषासे अपरिचित हैं उनकी जानकारीके लिए यहां संक्षपमें उक्त विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—

(१) भगवान् महावीरके समयमें हुए गौतमबुद्धके अनुयायियोंको बौद्ध कहते हैं। बौद्धोंने गौतमबुद्धको ही अपने इष्ट देवके रूपमे स्वीकार किया है। बुद्धने दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध रूप चार तत्त्व माने हैं, जिन्हें कि चार आर्यसत्य कहा जाता है। नानाप्रकारके संकल्प-विकल्पोंके अनुभवका दुःख कहते हैं। बौद्धोने रूप वेदना विज्ञान संज्ञा और संस्कार नामसे दुःखकी पांच जातियां मानी हैं जो पंचस्कन्धके नामसे प्रसिद्ध हैं। बौद्धमतमें जिस प्रकार वेदना दुःख है, उसी प्रकार विज्ञान, संज्ञा संस्कार और चित्र विचित्र स्वरूप रूपको भी दुःख माना है क्योंकि ये सब अशान्ति या क्लेशरूप ही हैं। इस प्रकारके विचारको दुःख नामका आर्यसत्य कहते हैं। 'यह मैं हूं, और यह मेरा है इस प्रकारके राग और यह पर है यह परका है इस प्रकारके द्वेषके समुदायको समुदयनामका आर्यसत्य कहते हैं। सब संस्कार क्षणिक है इस प्रकारकी नैरात्म्य वासनाको मार्ग या मोक्षमार्ग नामका आर्यसत्य कहते हैं। सब प्रकारके संस्कारोंके अभाव होंने को निरोध कहते इसीका दूसरा नाम मोक्ष हैं, यह चौथा आर्यसत्य है। बौद्धोंका सारा दर्शन या तत्त्वज्ञान इन चार आर्यसत्योंमें ही निहित है। व प्रत्यक्ष और अनुमानरूप दो प्रमाण मानते हैं। बौद्धमत क्षणिकैकान्तवादी है अतएव आत्मा नामका कोई स्थायी या नित्य पदार्थ उनके यहां नहीं है। वे मोक्षको भी दीपक बुझ जानेके समान शून्यरूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि बुझनेवाला दीपक न आकाशमें जाता है, न पातालमें जाता है और न इधर उधर पृथिवी पर ही कहीं जाता है। किन्तु शून्यतामें परिणत हो जाता है इसीप्रकार ज्ञान-सन्तान भी मुक्त होती हुई ऊपर-नीचे या इधर उधर कहीं नहीं जाती है किन्तु शून्यतामें परिणत हो जाती है। उपर्युक्त चार आर्यसत्योंके वक्ता होनेसे बुद्धको चतुरार्यसत्यवक्ता कहा जाता है।

(२) यौग दर्शनके दो भेद हैं, वैशेषिक दर्शन और नैयायिक दर्शन। दोनों ही दर्शनकार शिवको अपना इष्ट देव मानते हैं, और उसे ही जगत् का कर्त्ता हर्त्ता कहते हैं इतनी एकमात्र समता दोनो दर्शनों मे हैं किन्तु तत्त्वव्यवस्था दोनों में भिन्न भिन्न है। वैशेषिक दर्शनमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायरूप छह पदार्थ माने गये हैं। द्रव्यके नौ भेद माने हैं—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इस मतमें आत्मानामक द्रव्यसे ज्ञानादि गुणोंको सर्वथा भिन्न माना गया है। ये लोक समवाय सम्बन्ध नामके एक स्वतंत्र पदार्थकी कल्पना करके उसके द्वारा द्रव्य और गुणका सम्बन्ध होना मानते हैं। इस मतमें गुणके २४ भेद माने हैं।—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द संख्या, संयोग, वियोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, स्नेह, योग, गुरुत्व, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमनके भेदसे कर्म पांच प्रकारका है। पर और अपरके रूपसे सामान्यके

दो भेद हैं। नित्य द्रव्योंमें रहनेके कारण विशेषके अनन्त भेद हैं। समवाय एक ही रूप है। वैशेषिक दर्शनमें प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण माने गये हैं। यह मत नित्यानित्यै-कान्तकान्तवादी है। इसके अनुसार दुःख जन्म, प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञानका उत्तरोत्तर अभाव मोक्षमार्ग और बुद्धि, सुख दुःख इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म अधर्म और संस्कार रूप नौ आत्मिक-गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। इनके मतानुसार मोक्षमें जैसे दुःखका अभाव है, वैसे ही सुखका भी अभाव है। यहा तक कि मोक्षमें ज्ञानका भी अभाव रहता है।

(३) नैयायिक दर्शनमें सोलह पदार्थ माने गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं —प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय, वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास, छल जाति और निग्रहस्थान। इस मतमें इन सोलह तत्त्वोंके ज्ञानसे दुःखका नाश होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति मानी गई है।

(४) कपिलके द्वारा प्रतिपादित मतका साख्य दर्शन कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं। एक भेदवाले तो ईश्वरको मानते है पर दूसरे भेदवाले ईश्वरको नहीं मानते हैं। कपिलने तत्त्वके पचीस भेद निरूपण किये हैं—प्रकृति महान् अहंकार ये तीन स्पर्श रस गन्ध रूप और शब्दरूप ५ तन्मात्रायें, स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये ५ ज्ञानेन्द्रियां वाक् पाणि (हस्त) पाद (पैर) पायु (टट्टीका द्वार) उपस्थ (मूत्रका द्वार) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन पृथिवी अप् तेज वायु और आकाशरूप पाँच भूत और पुरुष। इनमे से एकमात्र पुरुष या आत्मा चेतन है और शेष चौबीस तत्त्व अचेतन हैं। एक पुरुषको छोड़कर शेष तेईस तत्त्वों की जननी प्रकृति है, क्योंकि उससे ही उन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। साख्य दर्शनमे पुरुष या आत्माको अमूर्त अकर्त्ता और भोक्ता माना है। इस मतमे प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं। यह मत सर्वथा नित्यैकान्तवादी हैं। पचीस तत्त्वोके ज्ञानको मोक्षमार्ग कहते हैं। जबतक प्रकृति और पुरुषका सयोग बना रहता है तब तक संसार चलता है और जब दोनों पृथक् पृथक् हो जाते हैं तब पुरुषका मोक्ष हो जाता है। साख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुषके सयोगसे संसार चलता है। इन दोनोके संयोगको अंधे और पंगु पुरुषके संयोग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार अन्धा चल सकता है, पर देख नहीं सकता और पंगु देख सकता है पर चल नहीं सकता। किन्तु दोनोंका सयोग दोनों की पारस्परिक कमीको पूरा कर देता है इसी प्रकार स्वतन्त्र रूपसे प्रकृति और पुरुष भी अपांग हैं, किन्तु दोनोंके संयोगसे संसार चलता है। जब विवेक प्राप्त होने पर पुरुषसे प्रकृतिका संयोग छूट जाता है, तब पुरुषको मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

(५) मीमासक लोग सर्वज्ञता-युक्त किसी पुरुष विशेषको देव नहीं मानते हैं। वे लोग वेदको ही प्रमाण मानते हैं और वेद वाक्योंसे ही पदार्थका यथार्थ बोध मानते हैं। इस मतमें प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने गये हैं। मीमासक नित्या-नित्याद्येकान्तवादी हैं। इनके मतानुसार वेद विहित यज्ञादिका अनुष्ठान करना ही मोक्षमार्ग है और नित्य निरतिशय सुखकी अभिव्यक्ति होना ही मुक्ति है।

(६) जो लोग पुण्य, पाप, ईश्वर, आत्मा आदिका अस्तित्व नहीं मानते हैं उन्हें नास्तिक कहते हैं। इनके मतमें पृथिवी, जल अग्नि और वायु ये चार भूतरूप तत्त्व माने गये हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक पदार्थोंके समुदायसे मद उत्पन्न करनेवाली एक शक्तिविशेष उत्पन्न हो जाती है, जिसे कि मदिरा कहते हैं, उसी प्रकार भूत चतुष्टयके संयोगसे एक जीवन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसे कि लोग जीव, आत्मा आदि कहते हैं। जब आत्मा नामका कोई पदार्थ है ही नहीं, तो परलोक या पुण्य पापकी क्यों चिन्ता की जाय? क्यों न आराममे रहा जाय और जीवन-पर्यन्त भोगोंका आनन्द लूटा जाय।

जिनसहस्रनामकी अकाराद्यनुक्रमणिका

प्रथम अङ्क शतक या अध्यायका और द्वितीय अंक नाम-संख्याका बोधक है।

प

शा

स्वोपज्ञटीकागत पद्यसूची

स्वोपज्ञटीकागत-वाक्यांशसूची

स्वोपज्ञटीका गतव्याकरण सूत्रानुक्रमणिका

स्वोपज्ञविवृति-गत धातुपाठः

६ धूर्तसङ्काररीतिकोश्गत सूत्रानुक्रमणिका

श्रुतसागरी टीका-गत धातुपाठ

श्रुतसागरी टीकागत संस्कृत पद्यानुक्रमणी

श्रुतसागरीटीकागतप्राकृतपद्यानुक्रमणिका

श्रुतसागरी टीकागत अनेकार्थक पद्यानुक्रमणिका

श्रुतसागरीटीकोद्धृत-सन्दर्भवाक्यांकसूची

श्रुतसागर विरचित-पद्यानुक्रमणिका

श्रुतसागरी टीकागत-पौराणिक नामसूची

श्रुतसागरी टीकागत-ग्रन्थनाम सूची

श्रुतसागरीटीकागत ग्रन्थकारनामसूची

श्रुतसागरीटीकागत दार्शनिकनामसूची

ग्रन्थनाम-संकेतसूची

ग्रन्थनाम	संकेत
अकलंकस्तोत्र	अकलं० स्तो०
अनगारधर्मामृत	अनगा
अमरकोश	अमरको०
अष्टशती	अष्टश
आचारसार	आचार
आप्तमीमांसा	आप्तमी
आत्मानुशासन	आ मानु
एकीभावस्तोत्र	एकीभा
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	कल्याण०
कातन्त्रव्याकरण	का कात कातन्त्र०
कुमारसम्भव	कुमारस
गोम्मटसारजीवकाण्ड	गो जी
चैत्यभक्ति	चैत्यभ
जैनेन्द्रव्याकरण	जै जैनेन्द्र
ज्ञानार्णव	ज्ञाना
तत्त्वसार	तत्त्वसा
त्रिलोकसार	त्रिलो०
दर्शनसार	दर्शन
देवागमस्तुति	देवाग
द्रव्यसंग्रह	द्रव्य
धनञ्जय अनेकार्थनाममाला	धन अ ना
नन्दीश्वरभक्ति	नन्दी
निर्वाणभक्ति	निर्वा
परमात्मप्रकाश	परमा
पाणिनीयशिक्षा	पाणि शि
पाहुडदोहा	पाहु
पात्रकेसरिस्तोत्र	पात्रके
प्रतिष्ठासारोद्धार	प्रतिष्ठा
पार्श्वनाथस्तोत्र	पार्श्व
प्राकृतदेवपूजाजयमाला	प्रा देवपू
पंचसंग्रह प्राकृत	पंच प्रा
पञ्चसंग्रह संस्कृत	पञ्च सं
पंचास्तिकाय	पंचास्ति०
बृहदारण्यक	बृहदा
भक्तामरस्तोत्र	भक्ता स्तो
भगवती आराधना	भग आरा
भावपाहुड	भावपा
भूपालचतुर्विंशतिका	भूपालच
मनुस्मृति	मनु
महापुराण	महापु
मूलाचार	मूलाचा
यशस्तिलक	यश यशस्ति
रत्नकरण्डश्रावकाचार	रत्नक
वसुनन्दिश्रावकाचार	वसु श्रा
वाग्भटालंकार	वाग्भट
विषापहारस्तोत्र	विषाप
वीरभक्ति	वीरभ०
शाकटायन उणादिसूत्रपाठ	शाक उणा
शाकटायन व्याकरण	शाक० व्या०
शुक्ल यजुर्वेद	शुक्लयजु
श्रुतभक्ति	श्रुतभ
षड्दर्शन समुच्चय	षड्दर्श
समयसार	समयसा
समवसरणस्तोत्र	समव
सावयधम्मदोहा	सावय
सूत्रपाहुड	सूत्रपा
सौन्दरनन्द	सौन्दर
सांख्यतत्त्वकौमुदी	सा त
संस्कृतसामायिकपाठ	सं सामा
स्वयम्भूस्तोत्र	स्वयम्भू
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वा० का

ज्ञानपीठके सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—हमारे आराध्य [ख्यातिप्राप्त विदेशी महापुरुषोंका जीवन परिचय] [illegible])

संस्मरण [भारतके नेताओं साहित्यिकोंके मधुर संस्मरण] ३)

रेखाचित्र , ४)

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय—शेरोशायरी [उर्दूके महान् ३१ शायरोंका परिचय] ८)

शेरोसुखन [चारों भाग] [उर्दू शायरीका प्रामाणिक इतिहास] १७)

गहरे पानी पैठ [मर्मस्पर्शी छोटी कहानियां] २॥)

जैन जागरणके अग्रदूत [संस्मरण] ५)

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आकाश के तारे धरती के फूल २)

जिन्दगी मुसकराई [इन्सान बननेकी कुंजी] ४)

श्री मुनि कान्तिसागर—खण्डहरोंका वैभव [मूर्तिकला चित्रकला आदिपर आंखों देखी शोध खोज] ६)

खोजकी पगडण्डियां , ४)

श्री राजकुमार वर्मा—रजतरश्मि [एकाङ्की नाटक] २॥)

श्री विष्णु प्रभाकर—संघर्षके बाद [कहानियां])

श्री राजेन्द्र यादव—खेल खिलौने [कहानियां] २)

श्री मधुकर—भारतीय विचारधारा [दर्शनशास्त्र] २)

श्री सम्पूर्णानन्द जी—हिन्दू विवाहमें कन्यादानका स्थान १)

श्री हरिवंशराय बच्चन मिलनयामिनी [गीत] ४)

श्री अनूप शर्मा—वर्द्धमान [महाकाव्य] ६)

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी—पथचिह्न [संस्मरण] २)

श्री वीरेन्द्रकुमार एम ए —मुक्तिदूत [पौराणिक उपन्यास] ५)

श्री रामगोविन्द त्रिवेदी—वैदिक साहित्य [वेदों पर अधिकार पूर्वक हिन्दीमें प्रथमबार अध्ययन] ६)

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य—भारतीय ज्योतिष [ज्योतिषकी हिन्दीमें महान् पुस्तक] ६)

श्री जगदीशचन्द्र जैन—दो हजार वर्ष पुरानी कहानियां ३)

श्री नारायणप्रसाद जैन—ज्ञानगंगा [सूक्तियां] ६)

श्रीमती शान्ति एम ए —पञ्चप्रदीप [गीत] २)

श्री 'तन्मय' बुखारिया—मेरे बापू [महात्मा गांधीके प्रति श्रद्धाञ्जलि] २॥)

मुद्रक—शिवनारायण उपाध्याय बी ए० 'विशारद' नया संसार प्रेस भदैनी, बनारस ।